0 २५६

विधि साहित्य
प्रकाशन

उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान सम्पादक
जगत नारायण

मई, 1984

सम्पादक
हेतराम बाल्मीकि

लि० प० 1984

विधि साहित्य प्रकाशन
विधि और न्याय मन्त्रालय (विधायी विभाग), भारत सरकार

एम० चाको बनाम केरल रा The State of Kerala)	
एस० एस० कुंवर बनाम भारत संघ और ए (S. S. Kunwar *Vs.* Union of India and another)	ल्ली-15
कर्नल एस० जे० चौधरी बनाम राज्य (Col. S. J. Chowdhary *Vs.* State)	दिल्ली-177
कानू शर्मा बनाम श्यामपदा शर्मा (Kanu Sharma *Vs.* Shyamapada Sharma)	कलकत्ता-69
गडी चेलुवरैया चेट्टी बनाम आय-कर आयुक्त (Gadi Cheluvaraya Chetty *Vs.* The Commissioner of Income-Tax)	कर्नाटक-63
जसवंत सिंह और अन्य बनाम राजस्व बोर्ड (Jaswant Singh and others *Vs.* Board of Revenue)	राजस्थान-233
जादवबेन एण्ड नागजीभाई इजवाला एजूकेशनल एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट (मै०) बनाम गुजरात राज्य और अन्य (M/s. Jadavben and Nagjibhai Ijwala Educational and Charitable Trust *Vs.* The State of Gujarat and others)	गुजरात-88
जानकी प्रसाद बनाम द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश, मुरादाबाद (Janki Prasad *Vs.* IInd Additional Distt. Judge, Muradabad)	इलाहाबाद-344
जीवन पाण्डेय और एक अन्य बनाम महेन्द्र राय (Jiwan Pandey and another *Vs.* Mahendra Rai)	पटना-222

जे० ए० त्रिवेदी ब्रदर्स **बनाम** आय-कर आयुक्त (J. A. Trivedi Brothers *Vs.* Commissioner of Income-Tax) मध्य प्रदेश-196

दुखन शाह और एक अन्य **बनाम** गजेन्द्र शाह और अन्य (Dukhan Sah and another *Vs.* Gajendra Sah and others) पटना-202

द्विजेन्द्र नाथ बोस **बनाम** गोविन्द चंद्र साहू और अन्य (Dwijendranath Bose *Vs.* Govinda Chandra Sahu and others) उड़ीसा-61

निरोद चन्द्र मिश्र **बनाम** दिजाबारा स्वेन (Nirod Chandra Mishra *Vs.* Dijabara Swain) उड़ीसा-66

प्रीतम सिंह और अन्य **बनाम** सुरजीत सिंह और अन्य (Pritam Singh and others *Vs.* Surjit Singh and others) पंजाब-हरियाणा-160

बन्देला नागराजू और अन्य **बनाम** आन्ध्र प्रदेश राज्य (Bandela Nagaraju and others *Vs.* State of Andhra Pradesh) आन्ध्र प्रदेश-79

बी० जनार्दन भट्ट **बनाम** ललिता (B. Janardhana Bhat *Vs.* Lalitha) कर्नाटक-72

मर्मेश्वर दास **बनाम** पीठासीन अधिकारी, श्रम न्यायालय और अन्य (Marmeswar Das *Vs.* The Presiding Officer, Labour Court and others) गोहाटी-68

मुन्ना लाल अग्रवाल **बनाम** जिला मजिस्ट्रेट (Munna Lal Agarwal *Vs.* The District Magistrate) इलाहाबाद-353

मोती मण्डल और अन्य **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Moti Mandal and others *Vs.* State of Bihar and others) पटना-211

मोहम्मद शब्बीर **बनाम** आय-कर आयुक्त, मध्य प्रदेश (Mohammad Shabbir *Vs.* Commissioner of Income-tax, Madhya Pradesh) मध्य प्रदेश-205

राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम **बनाम** न्यायाधीश, श्रम न्यायालय, राजस्थान, जयपुर और अन्य (Rajasthan State Road Transport Corporation *Vs.* Judge, Labour Court, Rajasthan, Jaipur and others) राजस्थान-201

राजेन्द्र शर्मा **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Rajendra Sharma *Vs.* The State of Bihar and others) पटना-216

राम नाथ **बनाम** जम्मू-कश्मीर राज्य और एक अन्य (Shri Ram Nath *Vs.* State of Jammu & Kashmir and another) जम्मू-कश्मीर-72

विश्वनाथ सिह **बनाम** भारत संघ और अन्य (Vishwanath Singh *Vs.* The Union of India and others) पटना-231

शरबती **बनाम** साही राम (Sharbati *Vs.* Sahi Ram) राजस्थान-223

श्री जे० जे० पंचोली **बनाम** श्री श्रीधरजी और अन्य (Sri J. J. Pancholi *Vs.* Sri Sridharjee and others) इलाहाबाद-316

श्रीमती प्रकाश मेहता **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य (Smt. Prakash Mehta *Vs.* State of M. P. and another) मध्य प्रदेश-212

श्रीमती बिमला देवी **बनाम** पेप्सू रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन, पटियाला (Smt. Bimla Devi *Vs.* Pepsu Road Transport Corporation, Patiala) पंजाब-हरियाणा-152

शार्दूल कुमार जयंत कुमार पासवाला और अन्य **बनाम** अहमदाबाद नगर विकास प्राधिकरण और अन्य (Shardul Kumar Jayant Kumar Pasawala and others *Vs.* Ahmedabad Urban Development Authority and another) गुजरात-100

सुमित्रा सिंह **बनाम** नाहर सिंह (Sumitra Singh *Vs.* Nahar Singh) कलकत्ता-74

सुभाष चन्द्र गोयल **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Subhash Chandra Goel *Vs.* the State of Uttar Pradesh) इलाहाबाद-375

विषयानुसार अनुक्रमणिका
मई, 1984 अंक

अपकृत्य विधि

—उपेक्षा—मोटर यान में अंतर्निहित यांत्रिक त्रुटि के कारण दुर्घटना—इसे 'दैवी कृत्य' या 'अनिवार्य दुर्घटना' बताकर प्रत्यर्थी प्रतिकर से उन्मुक्त नहीं हो सकता।

पंजाब-हरियाणा-152

—उपेक्षा—मोटर यान में यांत्रिकी त्रुटि के कारण दुर्घटना—ऐसी त्रुटि के बारे में 'अनिवार्य दुर्घटना' या 'दैवी कृत्य' की प्रतिरक्षा—जब ऐसा प्रतिरक्षा का अभिवाक् किया जाता है तो प्रत्यर्थी को यह सिद्ध करना चाहिए कि उक्त अन्तर्निहित यांत्रिक त्रुटि का पता सम्यक् सावधानी और सतर्कता के बावजूद भी नहीं लग सका था।

पंजाब-हरियाणा-152

आय-कर अधिनियम, 1961

—विनिधान और व्यापारिक गतिविधि में अन्तर—यह बात प्रत्येक मामले के सम्पूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है—यदि शेयरों की कीमत में उत्तरोत्तर घटत ज्ञात होती है तो शेयरों को सम्परिवर्तित करने का संव्यवहार व्यापारिक गतिविधि माना जाएगा।

मध्य प्रदेश-233

—धारा 41(2) और 32(i)(iii)—कराधान हेतु लाभ या हानि का प्राक्कलन जिला न्यायालय द्वारा अवधारित प्रतिकर पर आधारित होता है, इसका प्राक्कलन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि जिला न्यायालय द्वारा अधिनिर्णय न दे दिया गया हो।

मध्य प्रदेश-196

—धारा 45 और 3(1)(क), 3(1)(ख) तथा 3(3)—पूंजी अभिलाभों के रूप में प्रभार्य आय उस पूर्वतन वर्ष की आय मानी जाएगी, जिसमें अन्तरण हुआ है। सामान्यतया पूर्वतन वर्ष का अवधारण धारा 3(3)

द्वारा यथा अनुध्यात आय के उसी स्रोत की बाबत निर्धारिती के प्रति निर्देश से किया जाता है। किन्तु जब एक बार पूंजी अभिलाभों के लिए निर्धारिती के प्रति निर्देश से पूर्वतन वर्ष का अवधारण कर लिया जाता है, तो वह निर्धारण वर्ष विक्रय के सभी संव्यवहारों के लिए लागू किया जाना होता है, जो उस पूर्वतन वर्ष के दौरान किया गया था।

मद्रास-49

—धारा 63 सपठित धारा 60, 61 और 62—'प्रतिसंहरणीय अन्तरण' पद की अर्थव्याप्ति—यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबन्ध अन्तर्विष्ट है, तो ऐसा अन्तरण प्रतिसंहरणीय अन्तरण समझा जाएगा—अतः ऐसी फर्म से उद्भूत सम्पूर्ण आय प्रतिसंहरणीय व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी निर्धारिती पर आय-कर से प्रभार्य होगी।

कर्नाटक-63

—धारा 256(1)—अधिकरण द्वारा निकाले गए तथ्य के निष्कर्षों की अन्तिमता—यदि अधिकरण के निष्कर्ष किसी विसंगत साक्ष्य पर या ऐसी सामग्री पर आधारित होते हैं जो भागतः अटकल, अनुमान और संदेह पर आधारित होती है तो ऐसी परिस्थिति में विधि का विवाद्यक उद्भूत होगा—उच्च न्यायालय धारा 256(1) के अधीन निर्देश में अधिकरण के निष्कर्ष में हस्तक्षेप कर सकता है।

मध्य प्रदेश-233

—धारा 256(2) और 271(1)(ग) स्पष्टीकरण—उक्त अधिनियम की धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण के लागू होने के बारे में निकाला गया निष्कर्ष तथ्यविषयक निष्कर्ष होता है, अतः इससे विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता—यदि निर्धारिती ने उक्त धारा 271(1) (ग) के स्पष्टीकरण के अधीन आवश्यक सबूत दे दिया है और विभाग बिना किसी आधार के उसके सबूत से संतुष्ट नहीं है तो मात्र सही न होने की संभावना के आधार पर निर्धारिती के बारे में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाएगा कि उसने विवरणी देने में कोई कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर ऐसी उपेक्षा की है जिसके आधार पर उसे दाण्डिक उपबंध लागू नहीं होते।

मध्य प्रदेश-205

प्रक्रियात्मक हैं और वे विहित प्राधिकारी या अपील प्राधिकारी की, धारा 21(1)(क) अथवा (ख) के अधीन शक्तियों को और व्यापक नहीं बना सकते ।

इलाहाबाद-344

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947

—धारा 2(णण)—"छंटनी" शब्द का अर्थ और परिधि—कर्मकार के "स्वास्थ्य के निरन्तर खराब रहने" पर किया गया सेवा का पर्यवसान छंटनी की कोटि में नहीं आता है परन्तु यदि "चिकित्सीय दृष्ट्या अयोग्य" होने के आधार पर कर्मकार की सेवा का पर्यवसान किया जाता है तो इसे छंटनी माना जाएगा ।

गोहाटी-68

केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल अधिनियम, 1949

—धारा 9, 10, 11 और केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल नियमावली, 1955 नियम, 27—आन्तरिक जांच के, चाहे वह सरकारी सेवक के संबंध में हो या औद्योगिक कर्मकार/कार्यकर्ता के संबंध में, साक्ष्य अधिनियम के अधीन साक्ष्य के कठोर और शुद्ध नियम लागू नहीं किए जा सकते हैं । ऐसी सम्पूर्ण सामग्री, जो किसी भी प्रज्ञावान् व्यक्ति के लिए तार्किक रूप से प्रमाणक है, अनुज्ञेय है । अनुश्रुति साक्ष्य के लिए कोई निषेध नहीं है, बशर्ते कि उसका तथ्यों से युक्तियुक्त संबंध हो और उसमें विश्वसनीयता हो ।

पटना-231

केन्द्रीय सिविल सेवा (अस्थायी सेवा) नियम, 1965

—नियम 5(1) सपठित भारत सरकार द्वारा जारी किया गया 1959 का ज्ञापन तथा संविधान, 1950, अनुच्छेद 311—कर्मचारियों की पदच्युति, पद से हटाया जाना या पंक्तिच्युत किया जाना—'धारणाजन्य पुष्टीकरण' (डीम्ड कनफरमेशन) पद की अर्थव्याप्ति—सरकारी ज्ञापन के अनुसार सेवा में किसी सिविल सेवक के चार वर्ष पूरे हो जाने पर 'धारणाजन्य पुष्टीकरण' के सिद्धान्त के आधार पर यह समझा जाएगा कि सेवा में उसकी पुष्टि हो गई है और पुष्टीकरण पर सिविल सेवक को ऐसे पद का अधिकार अर्जित हो जाता है—चूंकि इन परिस्थितियों में सिविल सेवक की सेवा समाप्ति उसको पद से हटाए जाने की कोटि में आती है, अतः सुनवाई का युक्तियुक्त

अवसर दिए बिना पारित, आदेश अनुच्छेद 311 के अतिक्रमण के आधार पर अवैध और असंवैधानिक होगा।

दिल्ली-155

कोल माइन्स नेशनलाइजेशन ऐक्ट, 1973 (कोयला खान राष्ट्रीयकरण अधिनियम, 1973)

—धारा 26(2) और 37 सपठित आय-कर अधिनियम, 1961 धारा 41(2) और 32(i) (iii)—दावा-आयुक्त द्वारा अवधारित प्रतिकर का कोयला खान के स्वामी और कोयला खान में पड़ी हुई मशीनरी के स्वामी के बीच प्रभाजन जिला न्यायालय द्वारा निर्देश के पश्चात् ही किया जा सकता है।

मध्य प्रदेश-196

गुजरात टाउन प्लानिंग एण्ड अर्बन डेवेलपमेंट ऐक्ट, 1976

—धारा 21(1) और (2) और 119(2) तथा विनियम—विकास फीस उद्ग्रहण—फीस प्रभारित करने की शक्ति अभिव्यक्त होनी चाहिए—यदि इस प्रकार की शक्ति का अभिव्यक्त रूप से उपबंध नहीं किया गया है तो उसके लिए कोई विवक्षित शक्ति नहीं हो सकती—अभिव्यक्त रूप से उल्लेख न होने पर यह माना जाएगा कि विधानमंडल ने अपने द्वारा स्पष्ट किए गए निकाय की फीस प्रभारित करने की शक्ति देना आवश्यक नहीं समझा।

गुजरात-100

—धारा 119—विनियम बनाने की शक्ति—उक्त धारा में विनियम बनाने की किसी शक्ति का उल्लेख नहीं है—फीस प्रभारित करने के लिए बनाए गए विनियम क्षमता से परे होने के कारण ऐसे विनियम के अधीन वसूल की गई फीस का प्रतिदाय करना होगा।

गुजरात-100

गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट, 1972

—धारा 35 सपठित विनियम 20—प्रधानाध्यापक की नियुक्ति करने की शक्ति—राज्य सरकार या जिला शिक्षा अधिकारी को प्रधानाध्यापक या किसी अध्यापक की नियुक्ति करने या ऐसा आज्ञापक निदेश देने की शक्ति नहीं है—अतः प्रबंधतंत्र द्वारा की गई नियुक्ति को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता—अतः सरकार या जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा प्रधानाध्यापक की नियुक्ति के लिए

जारी की गई संसूचना मे धारा 35(7) और विनियम 20(1) के उपवन्धों का अतिक्रमण होता है और उसे कायम नहीं रखा जाएगा ।

गुजरात-88

चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980

—धारा 3(1)—उक्त धारा में प्रयुक्त "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली किसी रीति में कार्य करना" पद की परिधि में केवल ऐसे कार्यकलाप आते हैं जो उक्त उपधारा में जोड़े गए स्पष्टीकरण के खण्ड (क) में विनिर्दिष्ट हैं और उसकी परिधि में कोई अन्य कार्यकलाप नहीं आता ।

इलाहाबाद-353

—धारा 3(1) का स्पष्टीकरण (क) सपठित आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955, धारा 10—उक्त धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के अधीन आवश्यक वस्तु के व्यवहारी से भिन्न अन्य व्यक्ति भी विधि के अधीन दण्डनीय अपराध का दोषी माना जा सकता है और 1955 के अधिनियम की धारा 10 के अनुसार कंपनी, निगमित निकाय या फर्म का भार-साधक आफिसर या अपराध के समय उसके प्रति उत्तरदायी प्रत्येक व्यक्ति अधिनियम के अधीन उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और उसका निरोध 1980 के अधिनियम के अधीन किया जा सकता है ।

इलाहाबाद-375

—धारा 3(1) का स्पष्टीकरण (क), सपठित गैस सिलेंडर नियम, 1981, नियम 51 तथा 52 तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम, 1884—इससे पूर्व कि किसी कार्यकलाप के सम्बन्ध में यह कहा जाए कि वह धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के द्वितीय भाग के अधीन समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, यह दर्शित करना होगा कि उस कार्यकलाप का परिणाम समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित किसी विधि का उल्लंघन है किंतु चूंकि न तो गैस सिलेंडर नियम और न ही भारतीय विस्फोटक अधिनियम में अंतर्विष्ट उपवन्ध किसी वस्तु में व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित विधियां अंतर्विष्ट करने वाले माने जा सकते हैं अत: उक्त नियम 51 तथा 52 के उल्लंघन के आधार पर निवारक निरोध नहीं किया जा सकता ।

इलाहाबाद-375

जम्मू-कश्मीर हाउसेस एण्ड शाप्स रेण्ट कन्ट्रोल ऐक्ट, 2009 (वि०)

—धारा 12(4)—इस धारा में यह उपबन्धित है कि बेदखली के लिए किए गए वाद का प्रतिवाद किए जाने पर न्यायालय प्रतिवादी को बकाया किराए के संदाय के लिए तथा अन्तिम बार जिस दर पर किराए का संदाय किया गया था उसके संदाय का आदेश दे सकेगा—ऐसा करने में असफल रहने पर प्रतिवादी का प्रतिवाद रद्द कर दिया जाएगा—इस धारा के प्रथम भाग के अनुसार विवेकाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है जबकि द्वितीय भाग आज्ञापक है और न्यायालय पर आबद्धकर है—न्यायालय इस धारा के आशय से भिन्न आशय नहीं लगा सकता।

जम्मू-कश्मीर-72

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973

—धारा 162, 173 और 207-क(3)—अभियुक्त व्यक्ति को अपनी प्रतिरक्षा करने की स्वतंत्रता देने के लिए अभियोजन पक्ष की यह बाध्यता है कि वह अपने उन सभी साक्षियों के कथनों की तथा उन दस्तावेजों की, जिनका उसने अवलम्ब लिया है, प्रतियां उसे उपलब्ध कराए—अभियोजन पक्ष ऐसा नहीं कर सकता कि साक्षियों के कुछ कथनों की या दस्तावेजों में से कुछ दस्तावेजों की प्रतियां तो अभियुक्त व्यक्ति को दे दे किन्तु बाकी के लिए इन्कार कर दे।

दिल्ली-177

—धारा 195—अभियोजन के विरुद्ध रक्षोपाय—धारा 195 का आशय प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा या पुलिस द्वारा न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाले या विधिपूर्ण प्राधिकारी का अवमान करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध अन्धाधुंध और परेशान करने वाले अभियोजनों के विरुद्ध एक रक्षोपाय के तौर पर है—संबंधित अधिकारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे जिम्मेदारी से कार्य करें और अभियोजन केवल तब ही प्रारम्भ करें जब आवश्यक हो।

केरल-83

—धारा 202—(सपठित धारा 203 और 204)—किसी अपराध का संज्ञान करने के लिए प्राधिकृत मजिस्ट्रेट आदेशिका जारी करने को मुल्तवी करने के लिए, उस अधिकारी से जांच करवा सकता है, जिसे वह उचित समझे। धारा 203 के अधीन उसे ऐसी रिपोर्ट के आधार पर आदेशिका

जारी न करने के अपने निर्णय के संबंध में कारण अभिलिखित करने होते हैं परन्तु अगर जांच रिपोर्ट के निष्कर्षों के विपरीत वह आदेशिका जारी करने का निर्णय लेता है तो धारा 204 के अधीन किसी प्रकार की बाध्यता न होते हुए भी उसे न्यायिक दृष्टिकोण से कारण अभिलिखित करने चाहिए।

उड़ीसा-66

पद्धति और प्रक्रिया

—सपठित आय-कर अधिनियम, 1961 धारा 256(1)—पूर्व न्याय और अभिलेख द्वारा विबन्ध का सिद्धान्त—आय-कर अधिकरण को उक्त सिद्धान्त लागू नहीं होते हैं किन्तु मुकदमेबाजी में अंतिमता और निश्चितता के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए अपील अधिकरण को आय-कर अधिनियम के अधीन उद्भूत मुकदमों सहित सभी मुकदमों में अधिकरण के निष्कर्षों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए।

मध्य प्रदेश-233

प्रशासनिक विधि

—नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत—ऐसे प्रशासनिक आदेश भी, जो पक्षकारों के अधिकारों पर प्रभाव डालते हैं, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अनुपालन करने के पश्चात् ही पारित किए जाने चाहिए।

गुजरात-88

प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम, 1887

—द्वितीय अनुसूची का अनुच्छेद 4[उत्तर प्रदेश शहरी भवन(किराए पर देने, किराया तथा वेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972 द्वारा यथा संशोधित]—उक्त अनुच्छेद 4 के उक्त उत्तर प्रदेश अधिनियम द्वारा संशोधन के पश्चात् पट्टाकर्ता द्वारा किसी भवन से पट्टेदार की उसके पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् वेदखली के लिए और उस भवन के उपयोग तथा अधिभोग के लिए प्रतिकर की वसूली के लिए बाद लघु वाद न्यायालय में फाइल किया जा सकता है।

इलाहाबाद-316

बिहार कंसोलिडेशन आफ होल्डिंग्स एण्ड प्रीवेंशन आफ फ्रैगमैंटेशन ऐक्ट, 1956

—धारा 4(ग)—यदि प्रथमदृष्टया यह पाया जाता है कि विक्रय विलेख सम्यक रूप से निष्पादित और समुचित रूप से रजिस्ट्रीकृत किए गए

हैं, तो अनिवार्यत: यह विधिक निष्कर्ष (परिणाम) निकलता है कि हक अन्तरक से अन्तरिती को सक्रान्त हो गया और इसलिए उससे संलग्न विधिक परिणामों से पीछा छुड़ाने के लिए उनका अनिवार्यत: रद्द किया जाना आवश्यक है, अपरंच, संयुक्त प्रकृति के वाद में यदि कोई अनुतोष मांगा जाता है या मांगे जाते हैं, जो भूमि के हक की घोषणा और अवधारण से असम्बद्ध है या हैं, तो वह (वाद) पूर्वोक्त स्वतन्त्र अनुतोष या अनुतोषों के संबंध में अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन उपशमित नहीं होगा।

पटना-22

बिहार लैण्ड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग एरिया एण्ड एक्वीजीशन आफ सरप्लस लैण्ड) ऐक्ट, 1961 (बिहार भूमि सुधार अधिकतम सीमा क्षेत्र नियतन और अधिशेष भूमि अर्जन) अधिनियम

—धारा 16(3)—"क्रय-रकम" पद का अर्थ—"क्रय रकम" के अंतर्गत प्रतिफल की वह कुल रकम आती है जो कि क्रेता द्वारा विक्रेता को या विक्रय विलेख या करार में विहित निबंधनों और शर्तों के अधीन किसी अन्य व्यक्ति को देय होती है—बंधक-ऋण का संदाय करने के लिए दी जाने वाली रकम भी प्रतिफल-रकम का एक अंश है।

पटना-202

—धारा 16(3)(1)—अग्र क्रय के लिए आवेदन अन्तरण के दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया जाना चाहिए और क्रय धन तथा उसके 10 प्रतिशत के बराबर राशि के निक्षेप के संबंध में चालान भी तीन मास के भीतर फाइल किया जाना चाहिए। जब अग्र क्रय के लिए केवल एक ही आवेदन हो, तो क्रय-धन और धृति को विभाजित नहीं किया जा सकता है।

पटना-211

भारतीय मानक संस्था (प्रमाणन चिह्न) अधिनियम, 1952

—धारा 3, 6 तथा 10—उद्देश्यों और कारणों का कथन—अधिनियम में क्वालिटी के नियत्रण के मामले में अधिनियम के अधीन स्थापित संस्था से अन्य संस्था या अभिकरण स्थापित करने के लिए उपवन्ध किया गया है—केन्द्र सरकार अधिनियम के प्रयोजनों के लिए किसी बाह्य प्राधिकरण को

भी नियुक्त कर सकती है क्योंकि क्वालिटी की अभिवृद्धि करना अधिनियम का प्रयोजन है ।

मध्य प्रदेश-212

मोटर यान अधिनियम, 1939

—धारा 130 सपठित धारा 112 और 113—मामलों का संक्षिप्त विचारण—धारा 112 और धारा 113 के अधीन दण्डनीय अपराधों का संक्षिप्त विचारण होगा—केवल जुर्माने से दण्डनीय अपराधों के विचारण में धारा 130 में उपबन्धित प्रक्रिया लागू होगी—धारा 130 में उपबन्धित प्रक्रिया का पालन करने में असफल रहने पर धारा 112 और 113 के अधीन दण्डनीय अपराधों के लिए की गई कार्यवाहियां दूषित हैं और अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं ।

मद्रास-61

राजस्थान काश्तकारी भू-अभिधृति अधिनियम, 1955

—धारा 88, सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 9—यदि किसी काश्तकारी के संबंध में काश्तकार या सहकाश्तकार होने तथा उसके कब्जे की घोषणा के मुख्य अनुतोष के लिए वाद हो तो आनुषंगिक अनुतोषों के सिविल न्यायालय द्वारा विचारणीय होने के बावजूद वाद राजस्व न्यायालय में ही चलेगा ।

राजस्थान-233

राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम के स्थायी आदेश

—स्थायी आदेश सं० 13, 35 और 36 की संविधान के अनुच्छेद 311(2) के संदर्भ में प्रयुक्ति—आरोप-पत्रक में अनेक बृहत् अथवा लघु दण्डों के प्रस्ताव मात्र से यह स्वयमेव द्योतित नहीं होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी अपचारी के विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रस्त था क्योंकि वहां, जहां जांच नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों और नियमों के अनुसार हुई हो तथा अपचारी को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने का अवसर दिया गया हो, यह द्योतित होता है कि अनुशासनिक कार्यवाही लोचदार तथा निष्पक्ष थी, तथापि यह वांछनीय है कि आरोप-पत्रक में संविधान के अनुच्छेद 311(2) के उपबंधों के संगत दण्ड का तनिक भी उल्लेख न किया जाए क्योंकि दण्ड के प्रस्ताव का प्रश्न आरोपों के विरुद्ध हो जाने के पश्चात् ही उत्पन्न होता है परन्तु यदि अनुशासनिक प्राधिकारी आरोप-पत्रक में किसी ऐसी शास्ति का प्रस्ताव कर देगा जिससे अपचारी के

विरुद्ध उसकी संकीर्ण बुद्धि और पूर्वाग्रह का संकेत मिलता हो तो स्थिति भिन्न होगी—जांच के प्रारंभ होने से पूर्व आरोप-पत्रक में दण्ड के ऐसे प्रस्ताव की अभिव्यक्ति से अपचारी के मस्तिष्क में ऐसी युक्तियुक्त आशंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं कि उसके मामले में पूर्वाग्रह बरता जा रहा है जिससे जांच दूषित हो जायेगी—अनुशासनिक कार्यवाही के मामलों का वर्गीकरण—एक, ऐसे मामले जिनमें अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक में अनेक वृहत् अथवा लघु शास्तियों का प्रस्ताव किया हो और दो, ऐसे मामले जिनमें अनुशासनिक प्राधिकारी ने किसी शास्ति विशेष का प्रस्ताव किया हो—प्रथम प्रकार के मामलों में जांच और दण्ड के आदेश दूषित नहीं होंगे तथा द्वितीय प्रकार के मामलों में वे दूषित होंगे।

राजस्थान-201

वेस्ट बंगाल प्रिमिसेस टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 (1956 का अधिनियम सं० 12)

—धारा 13(1)(क)—उक्त धारा के अधीन यदि किसी किराएदार ने किराए के परिसर के किसी भाग में प्यार और स्नेह के कारण अपने कुटुम्ब के किसी सदस्य को पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर दिया है तो केवल इसी आधार पर किराएदार को बेदखल नहीं किया जा सकता जब तक कि यह साबित न कर दिया जाए कि ऐसा मूल्यवान् प्रतिफल के आधार पर किया गया है।

कलकत्ता-74

संविधान, 1950

—अनुच्छेद 14—विधि के समक्ष समता—सरकार का कोई भी कार्यपालक या विधायी कृत्य यदि शक्ति का खुले तौर पर मनमाने ढंग से प्रयोग करके किया जाता है और उसमें अंतर्निहित रूप से असमानता के बीज अंतर्विष्ट होते हैं तो वह अनुच्छेद 14 के विरुद्ध होगा।

मध्य प्रदेश-212

—अनुच्छेद 226—विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब रिट फाइल करने वाले व्यक्ति के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा विरोधी पक्षकार का वैसा करने का कोई विधिक कर्त्तव्य हो।

कर्नाटक-58

—अनुच्छेद 226—जब तक रिट आवेदन में सरकार के उस विनिर्दिष्ट आदेश को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती नहीं दी जाती है, जिसके परिणामस्वरूप पिटीशनर ने स्वयं को वंचित महसूस किया है, तब तक पिटीशनर किसी निष्पादित करार के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता है। रिट आवेदन में संशोधन द्वारा सरकार की कार्यवाही को विनिर्दिष्ट रूप से चुनौती दिया जाना आवश्यक है।

पटना-216

—अनुच्छेद 311 सपठित केन्द्रीय सिविल सेवा (अस्थायी सेवा) नियम, 1965, नियम 5(1) तथा भारत सरकार द्वारा जारी किया गया 1959 का ज्ञापन—कर्मचारियों की पदच्युति, पद से हटाया जाना या पंक्तिच्युत किया जाना—'धारणाजन्य पुष्टीकरण' (डीम्ड कनफरमेशन) पद की अर्थव्याप्ति—सरकारी ज्ञापन के अनुसार सेवा में किसी सिविल सेवक के चार वर्ष पूरे हो जाने पर 'धारणाजन्य पुष्टीकरण' के सिद्धान्त के आधार पर यह समझा जाएगा कि सेवा में उसकी पुष्टि हो गई है और ऐसे पुष्टीकरण पर सिविल सेवक को ऐसे पद का अधिकार अर्जित हो गया है—चूंकि इन परिस्थितियों में सिविल सेवक की सेवा समाप्ति उसको पद से हटाए जाने की कोटि में आती है अतः सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिए बिना पारित, आदेश अनुच्छेद 311 के अतिक्रमण के आधार पर अवैध और असंवैधानिक होगा।

दिल्ली-155

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1872

—धारा 111(च)—उक्त धारा 111(च) के अधीन स्थावर संपत्ति का पट्टा विवक्षित अभ्यर्पण द्वारा भी पर्यवसित हो जाता है—विवक्षित अभ्यर्पण का निष्कर्ष पक्षकारों के असंदिग्ध आचरण के आधार पर निकाला जा सकता है—यदि कोई पट्टेदार किराएदारी की नई संविदा स्वीकार करता है तो वह पुराने किराएदारी के अभ्यर्पण के रूप में प्रवृत्त होगा क्योंकि पट्टा तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि पुरानी किराएदारी अभ्यर्पित नहीं की जाती।

इलाहाबाद-316

साक्ष्य अधिनियम, 1872

—धारा 6—एक ही संव्यवहार के भाग होने वाले तथ्यों की सुसंगति—धारा 6 के अर्थान्तर्गत वे सब व्यक्ति आते हैं जो घटना के समय

मौजूद हैं—दुकान के मालिक की उपस्थिति में अभियुक्तों द्वारा किसी व्यक्ति की हत्या किए जाने के लगभग एक घण्टे पश्चात् भी मालिक द्वारा की गई रिपोर्ट, कथन या घोषणा धारा 6 के अधीन ग्राह्य है बशर्ते यह विधिमान्यतः धारणा की जा सके कि प्रोद्दीपक (उत्तेजक) प्रभाव बना हुआ है और ऐसी घोषणा आदि विवाद्य तथ्य के साथ इतनी अधिक संसक्त है कि वह उसी संव्यवहार का भाग बन गई है—अतः घटना के समय मौजूद ऐसे व्यक्ति के घटना के तुरन्त पश्चात् पुलिस थाने न जाने पर यह धारणा नहीं की जाएगी कि ऐसी घोषणा समकालीन नहीं है और ऐसी घोषणा के आधार पर अभियुक्त को हत्या के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जा सकेगा।

आंध्र प्रदेश-79

—धारा 40, 41, 42 और 44—न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत होते हैं—किसी डिक्री का पक्षकार या उसके माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति कपट अथवा दुस्संधि के आधार पर प्राप्त की गई डिक्री के प्रभाव से बच सकता है और यह प्राख्यान कर सकता है कि धारा 40 में अनुध्यात प्रयोजन के लिए उक्त डिक्री का अवलम्ब नहीं लिया जा सकता।

इलाहाबाद-332

—धारा 43 व धारा 44—यद्यपि उक्त अधिनियम की धारा 44 में धारा 43 शामिल नहीं की गई है, फिर भी दुस्संधिपूर्ण डिक्री विबंध (एस्टापल) के अभिवाक् का समर्थन करने के लिएं सुसंगत है यदि विबंध के तत्त्व सिद्ध कर दिए जाते हैं।

इलाहाबाद-332

—धारा 114—जहां किसी किराएदार ने पट्टान्तरित परिसर के किसी भाग में अपने कुटुम्ब के किसी सदस्य को पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर दिया है वहां साक्ष्य के अभाव में युक्तियुक्त रूप से यह उपधारणा नहीं की जाएगी कि परिसर के भाग का कब्जा मूल्यवान् प्रतिफल के आधार पर किया गया है।

कलकत्ता-74

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908.

—धारा 9, सपठित राजस्थान काश्तकारी (भू-अभिधृति) अधिनियम, 1955, धारा 88—यदि किसी काश्तकारी के सम्बन्ध में काश्तकार या सहकाश्तकार होने तथा उसके कब्जे की घोषणा के मुख्य

अनुतोष के लिए वाद हो तो आनुषंगिक अनुतोषों के सिविल न्यायालय द्वारा विचारणीय होने के बावजूद वाद राजस्व न्यायालय में ही चलेगा ।

राजस्थान-233

—धारा 11 सहपठित आदेश 41, नियम 9—सामान्यतया पृथक् हक अपीलों में पारित डिक्रियों के विरुद्ध पृथक् अपीलें ही फाइल की जानी चाहिए । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एकल द्वितीय अपील चलने योग्य नहीं है—ऐसा मानकर उसे खारिज किया जा सकता है । अपरंच, जहां केवल एक वाद है, पूर्व न्याय का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता है । ऐसा इस आधार पर माना जाता है कि जहां एक ही विचारण, एक ही निष्कर्ष और एक ही विनिश्चय किया गया है, वहां दो अपीलों की आवश्यकता नहीं है, भले ही दो डिक्रियां तैयार की गई हों ।

पटना-193

—आदेश 7 नियम 11 सपठित हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 धारा 12(1)(ग)—वाद का प्रतिक्षेपण—पति द्वारा पत्नी की चित्त-विकृति के आधार पर विवाह की डिक्री द्वारा बातिल किए जाने के लिए किए गए आवेदन को प्रथमदृष्टया और प्रकटतः तुच्छ और तंग करने वाला नहीं कहा जा सकता—तथापि यह साबित करने का भार पति पर है कि पत्नी उस समय, जब विवाह का प्रस्ताव रखा गया था, पागलपन से ग्रस्त थी और उस तथ्य को उससे छिपाया गया है—अतः सिविल न्यायाधीश द्वारा पति के पिटीशन का तुच्छ और तंग करने वाला होने के आधार पर नामंजूर किया जाना अनधिकृत और विधि की दृष्टि में अमान्य होगा ।

कर्नाटक-72

—आदेश 20, नियम 18 तथा धारा 54—सम्पत्ति के विभाजन के लिए या उसमें के अंश पर पृथक् कब्जे के लिए वाद में डिक्री—कृषि भूमि की बाबत डिक्री को उस समय तक एक प्रारम्भिक डिक्री के रूप में माना जाएगा जब तक भूमि का विभाजन नहीं हो जाता और राजस्व प्राधिकारियों द्वारा उसका कब्जा परिदत्त नहीं कर दिया जाता—तथापि कलक्टर के समक्ष कार्यवाहियों पर सिविल न्यायालय का नियंत्रण होगा और वह ऐसे आदेश पारित कर सकेगा जो विभाजन को प्रभावी करने के लिए उचित समझे जाएं —यदि अन्तःकालीन लाभ के लिए वादी द्वारा की गई प्रार्थना न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दी गई है तो वादी निष्पादन न्यायालय में अन्तःकालीन लाभ के लिए पुनः प्रार्थना नहीं कर सकता ।

पंजाब-हरियाणा-160

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

—धारा 12(1)(ग) सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, आदेश 7 नियम 11—शून्यकरणीय विवाह—पति द्वारा पत्नी की चित्तविकृति के आधार पर विवाह की डिक्री द्वारा बातिल किए जाने के लिए किए गए आवेदन को प्रथमदृष्टया और प्रकटतः तुच्छ और तंग करने वाला नहीं कहा जा सकता—तथापि यह साबित करने का भार पति पर है कि पत्नी उस समय, जब विवाह का प्रस्ताव रखा गया था, पागलपन से ग्रस्त थी और इस तथ्य को उससे छिपाया गया है—अतः सिविल न्यायाधीश द्वारा पति के पिटीशन का तुच्छ और तंग करने वाला होने के आधार पर नामंजूर किया जाना अनधिकृत और विधि की दृष्टि में अमान्य होगा।

कर्नाटक-72

—धारा 24, सपठित धारा 28—यदि कोई पक्षकार उक्त धारा 24 के अधीन न्यायालय के आदेश का अनुपालन न करे, तो यदि वह अपीलार्थी है उसकी अपील खारिज कर दी जानी चाहिए और यदि वह प्रत्यर्थी है, उसके विरुद्ध अपील मंजूर कर ली जानी चाहिए।

राजस्थान-223

—धारा 28, सपठित धारा 24—यदि कोई पक्षकार उक्त धारा 28 के अधीन न्यायालय के आदेश का अनुपालन न करे, तो यदि वह अपीलार्थी है उसकी अपील खारिज कर दी जानी चाहिए और यदि वह प्रत्यर्थी है, उसके विरुद्ध अपील मंजूर कर ली जानी चाहिए।

राजस्थान-223

है और चाहे कोई भी दृष्टिकोण अपनाया जाए न्यायालय ने पंचाट में उक्त निदेश को अपास्त करते हुए वाद की तारीख से व्याज दिए जाने में गलती की है जोकि पूरी तरह अधिकारिता रहित है और जो अधिनियम की धारा 39 के विरुद्ध होने के कारण शून्य है।

4. प्रथम प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री वाई० शिवराम शास्त्री ने यह कहते हुए एक प्रारम्भिक प्रश्न उठाया है कि डिक्री के विरुद्ध कोई अपील नहीं होती है और पंचांट को अपास्त किए जाने के लिए कोई आवेदन नहीं किया गया है और परिणामत: ये अपीलें अधिनियम की धारा 39 के अधीन अक्षम हैं। गुणागुण के आधार पर उन्होंने यह दलील दी है कि दावा सम्बन्धी विवरण के पैरा 56 के अनुसार पंचाट में एक निदेश दिया गया है और परिणामत: मध्यस्थ द्वारा भावी ब्याज दिया ज़ाना सही है और निचले न्यायालय द्वारा उसकी पुष्टि भी कर दी गई है और इसलिए इस न्यायालय को डिक्री में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। तथापि, उन्होंने यह और दलील दी है कि यदि यह न्यायालय अधिकारिता का प्रयोग करता है और विचारण न्यायालय की डिक्री को ठीक करता है जहां तक वह अधिनियम की धारा 29 का अतिक्रमण करती है तो वह ऐसा विचारण न्यायालय के निष्कर्ष से संगत रहते हुए ही कर सकता है। अत: सर्वप्रथम मामले के गुणागुण पर विचार करना सुविधाजनक होगा।

5. गुणागुण के सम्बन्ध में यह सुस्थिर है कि मध्यस्थ एक युक्तियुक्त पंचाट देने के लिए आबद्ध नहीं है और यदि पंचाट दिए जाते समय वह विधि या तथ्य की कोई गलती कर देता है तो यह पंचाट की विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए कोई आधार नहीं है। **एन० चेल्लापन** बनाम **केरल राज्य विद्युत बोर्ड**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया गया है कि जब पंचाट में विधि की कोई गलत प्रतिपादना अधिकथित की गई हो और जो पंचाट का आधार हो केवल तभी पंचाट को अभिलेख को देखने से ही प्रकट होने वाली विधि की गलती के आधार पर अपास्त या विप्रेषित किया जा सकता है। ऐसा ही सिद्धान्त **फर्म मदन लाल रोशन लाल** बनाम **हुकुमचन्द मिल्स**[2] और **बंगो स्टील फर्नीचर** बनाम **भारत संघ**[3] में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित किया गया। उच्चतम न्यायालय द्वारा **ऐलन बेरी एण्ड कं०** बनाम **भारत संघ**[4] में यह अधिकथित किया

---

[1] [1975] 2 उम० नि० प० 323=ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 230.

[2] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1030.

[3] ए० आई० आर० 1967 एम० सी० 378·

[4] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 696.

गया है कि अभिलेख को देखने से ही प्रकट होने वाली भूल क्या होगी। उक्त मामले में यह विनिर्णीत किया गया है कि "जब कोई मध्यस्थ उसको निर्दिष्ट किए गए मामले का अवधारण करते समय विधि या तथ्य की कोई गलती कर देता है किन्तु ऐसी गलती पंचाट या उसके साथ संलग्न या उसमें सम्मिलित किसी दस्तावेज, जो उसका भाग हो, देखने से प्रकट न होती हो तो उस गलती के होते हुए भी पंचाट विप्रेषित या अपास्त नहीं किया जाएगा"। उक्त कसौटियों को लागू करते हुए अब हम विद्वान् महाधिवक्ता की दलीलों की परीक्षा करते हैं।

6. विद्वान महाधिवक्ता ने अपनी पहली दलील यह कहते हुए स्पष्ट की है कि जब 50,000 रु० के एकमुश्त अग्रिम धन पर अतिरिक्त ब्याज सम्बन्धी दायित्व के लिए प्रथम प्रत्यर्थी के दावे को नामंजूर कर दिया गया तब पंचाट में इस बात का इस प्रकार वर्णन किया गया कि अग्रिम धन की किस्त की प्राप्ति की तारीख से 12 मास की अवधि के बाद का ब्याज अधित्यक्त किया जाता है और इसलिए यह निष्कर्ष असंगत और परस्पर विरोधी है और वह अवैध घोषित किए जाने योग्य है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है दो अन्य अपीलों में भी ऐसा ही निष्कर्ष दिया गया था। यह सही है कि अतिरिक्त ब्याज के दावे को नामंजूर कर दिया गया था किन्तु यदि हम पंचाट के उस पश्चात्वर्ती भाग को देखते हैं जिसमें 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 989 में 12 मास की, 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 990 में 21 मास की और 1982 की सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 991 में 27 मास की सीमित अवधि का एक अपवाद दिया गया है तो हम यह पाते हैं कि मध्यस्थ ने दावे को मंजूर करने का एक स्पष्ट तरीका अपनाया है। यह स्वीकार किया गया है कि ठेकेदार को किए गए काम का अग्रिम धन प्राप्त हो जाता था जिससे वह काम को शीघ्रातिशीघ्र करने में समर्थ हो सके। ऐसी रकम पर वह ब्याज अवश्य मिलना चाहिए जो सरकार को संदेय है क्योंकि ठेकेदार को वह रकम काम पूरा होने के पहले ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु प्रथम प्रत्यर्थी का दावा इन तीनों अपीलों के अन्तर्गत आने वाली इन तीनों संविदाओं में क्रमशः 12 मास, 21 मास और 27 मास की मूल संविदा अवधि है जिसका विस्तार सरकार के व्यतिक्रम के कारण संविदा की अवधि के बाद की अवधि तक कर दिया गया था और परिणामतः मध्यस्थ ने केवल मूल अवधि का ही ब्याज अधिनिर्णीत किया था और संविदा की अवधि से अधिक की अवधि के लिए ब्याज नामंजूर कर दिया था। क्या दावे की ऐसी भागतः नामंजूरी और दावे की भागतः मंजूरी विधिमान्य है या नहीं इस बात की इस न्यायालय द्वारा

परीक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि मध्यस्थ ने इसके लिए कोई भी कारण नहीं दिया है। हम केवल इस सीमित प्रश्न की ही परीक्षा कर सकते हैं कि क्या अभिलेख को देखने से ही पंचाट असंगत और परस्पर विरोधी प्रतीत होता है और केवल इस आधार पर ही पंचाट खारिज किए जाने योग्य है। मध्यस्थ ने अतिरिक्त ब्याज के दावे को नामंजूर करते हुए इस अपवाद का वर्णन इस प्रकार किया है कि "किन्तु अग्रिम धन की किस्त की प्राप्ति की तारीख से 12 मास की अवधि के बाद का ब्याज अधित्यक्त किया जाता है।" यह खण्ड स्पष्टरूप से एक अपवाद के रूप में प्रवर्तित होता है क्योंकि यह 'किन्तु' शब्द से प्रारम्भ होता है जिसका अर्थ है सिवाय। अतः यह स्पष्ट है कि संविदा अवधि की सीमा को छोड़कर अतिरिक्त ब्याज का दावा मंजूर कर लिया गया है। मध्यस्थ ने दावे की स्वीकृति को नकारात्मक रूप में समाविष्ट किया है और दावे को नामंजूर करते समय अपवाद का खण्ड सम्मिलित किया है। किन्तु यह अपने आप में अभिलेख को देखने से ही प्रकट होने वाली विधि की भूल नहीं हो सकती और इन दोनों खण्डों में ऐसी कोई भी विषमता या असंगति या विरोधाभास नहीं है जिसके कारण पंचाट का वह भाग दूषित होता हो और इसलिए हमें विद्वान् महाधिवक्ता की दलील को नामंजूर करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं है।

7. हम समझते हैं कि विद्वान् महाधिवक्ता की यह दलील कि जहां तक वह विचारण न्यायालय द्वारा अधिनियम की धारा 29 के उल्लंघन से सम्बन्धित है सही है।

8. जैसा कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 में पाया जाता है हम इस अधिनियम के अधीन ब्याज के संदाय की तीन अवधियों की परिकल्पना कर सकते हैं। (1) निर्देश की तारीख के पूर्व संदेय ब्याज, (2) निर्देश की तारीख से लेकर पंचाट की तारीख तक या डिक्री की तारीख तक संदेय ब्याज और (3) डिक्री की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने तक की तारीख तक संदेय ब्याज। जहां तक पहली अवधि का सम्बन्ध है यह माध्यस्थम् कार्यवाहियों के प्रारम्भ होने के पूर्व से सम्बन्धित है। उच्चतम न्यायालय ने यह विर्णीत किया है कि जो सिद्धान्त वादों में लागू होता है, अर्थात् किसी प्रथा या संविदा या विधि, के किसी ऐसे उपबंध के अभाव में, जो ब्याज दिए जाने को न्यायोचित ठहराते हों वाद संस्थित किए जाने के पूर्व की अवधि के लिए ब्याज नहीं दिया जा सकता वही सिद्धांत माध्यस्थम् कार्यवाहियों में भी लागू होता है। (देखिए **मध्य प्रदेश राज्य बनाम एस० एण्ड एस० लि०**[1]) जहाँ तक शेष दोनों अवधियों का सम्बन्ध

---

[1] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1507.

है उसे संक्षेप में भावी ब्याज कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रश्न पर मतभेद है। **राज्य** बनाम **अजीतसिंह**[1] में पंजाब उच्च न्यायालय और **मानक चन्द** बनाम **गणेश दास**[2] में राजस्थान उच्च न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि मध्यस्थ वसूल किए जाने की तारीख तक भावी ब्याज मंजूर कर सकता है। दिल्ली उच्च न्यायालय ने **कालीचरण** बनाम **दिल्ली नगर पालिका**[3] में और केरल उच्च न्यायालय ने **वलसन** बनाम **केलुकुट्टी**[4] में विरोधी दृष्टिकोण अपनाया है। उन मामलों की परीक्षा से, जिनमें यह दृष्टिकोण अपनाया गया है कि मध्यस्थ द्वारा पंचाट की तारीख के पश्चात् भावी ब्याज अधिनिर्णीत किया जा सकता है, यह प्रकट होता है कि उन्होंने अधिनियम की धारा 29 को सम्यक् महत्व नहीं दिया है। अधिनियम की धारा 29 इस प्रकार है :—

> "जहां और जहां तक कि पंचाट धन संदाय के लिए हो वहां और वहां तक न्यायालय पंचाट द्वारा न्यायनिर्णीत और डिक्री द्वारा पुष्ट मूल राशि पर ब्याज, डिक्री की तारीख से उस दर से, जो न्यायालय युक्तियुक्त समझे, संदत्त किए जाने का आदेश डिक्री में दे सकेगा।"

धारा 41 का भी परिशीलन किया जाना आवश्यक है।

> "धारा 41. इस अधिनियम और तद्धीन बनाए गए नियमों के उपबन्धों के अध्यधीन रहते हुए ,—
>
> (क) सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के उपबन्ध इस अधिनियम के अधीन न्यायालय के समक्ष की सब कार्यवाहियों को और सब अपीलों को लागू होंगे; तथा
>
> (ख) माध्यस्थम् कार्यवाहियों के प्रयोजन के लिए और उनके सम्बन्ध में न्यायालय को द्वितीय अनुसूची में उपवर्णित विषयों में से किसी एक के बारे में आदेश पारित करने की वही शक्ति होगी जो उसे न्यायालय के समक्ष की किन्हीं कार्यवाहियों के प्रयोजन के लिए और उनके सम्बन्ध में हो :
>
> परन्तु खण्ड (ख) में की कोई भी बात किसी ऐसी शक्ति पर जो

---

[1] ए० आई० आर० 1979 पंजाब 179.

[2] ए० आई० आर० 1972 राजस्थान 207.

[3] ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 301.

[4] ए० आई० आर० 1959 केरल 174.

> ऐसे विषयों में से किसी के बारे में आदेश देने के लिए मध्यस्थ या अधिनिर्णायक में निहित हो, प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली नहीं समझी जाएगी।"

फर्म मदन लाल रोशन लाल वनाम **हुकुम चन्द मिल्स**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह विनिर्णीत किया है कि जब व्याज का प्रश्न मध्यस्थ को निर्देशित किया जाता है तब मध्यस्थ उस विवाद को विनिश्चित कर सकता है और वह ठीक उसी प्रकार वादकालीन व्याज अधिनिर्णीत कर सकता है जिस प्रकार न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 के अधीन ऐसा करता है, हालांकि इस रूप में धारा 34 माध्यस्थम् को लागू नहीं होती। उक्त मामले में व्याज सहित वादगत सभी विवाद मध्यस्थ को उसके विनिश्चय के लिए निर्दिष्ट किए गए थे। **भारत संघ** बनाम **बंगो स्टील फर्नीचर**[2] के मामले में भी व्याज के लिए दावा सहित सभी विवाद मध्यस्थ को निर्दिष्ट किए गए थे। **थावरदास फेरुमल और एक अन्य** बनाम **भारत संघ**[3] के मामले में माननीय न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया कि भले ही सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 माध्यस्थम् कार्यवाहियों को लागू न होती हो किन्तु उस धारा का सिद्धांत उस दशा में लागू होगा यदि व्याज की बाबत कोई निर्देश मध्यस्थ को किया जाता है और तदनुसार उन्होंने मध्यस्थ द्वारा पंचाट की तारीख से लेकर डिक्री की तारीख तक के लिए दिए गए व्याज को बहाल रखा। उक्त मामले में वाद फाइल किए जाने से पहले निर्देश किया गया था और न्यायालय ने मध्यस्थ द्वारा डिक्री की तारीख तक दिए गए व्याज को स्वीकार किया था।

9. धारा 29 एक ऐसा विनिर्दिष्ट उपवंध है जो न्यायालय को डिक्री की तारीख से व्याज मंजूर करने के लिए सशक्त करता है। वास्तव में यह उपवंध इंग्लिश आरबिट्रेशन ऐक्ट, 1934 की धारा 11 पर आधारित है। 1939 के ओरिजिनल बिल सं० 34 का, जिसका खण्ड 30 पंचाट पर व्याज दिए जाने के बारे में है, इंग्लिश ऐक्ट की धारा 11 के समान सिद्धांतों पर ही प्रारूपण किया गया है किन्तु जब यह बिल (विधेयक) सिलेक्ट कमेटी (प्रवर समिति) को निर्दिष्ट किया गयात ब उसने एक विमर्शित परिवर्तन का और आंग्ल विधि (इंग्लिश लॉ) से विचलन का सुझाव दिया और वह स्वीकार कर लिया गया और फलस्वरूप धारा 29 अधिनियमित की गयी (देखिए **श्री कान्तिया**

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1030.

[2] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1032.

[3] ए० आई० आर० 1955 एस सी० 468.

एण्ड कं० भारत बनाम **संघ**[1]) माध्यस्थम अधिनियम एक संशोधन और समेकन अधिनियम दोनों ही हैं जो अपने आप में एक पूरी संहिता है और जिसमें इस विषय पर विधि का सांगोपांग वर्णन किया गया है और दूसरे अधिनियमों से समानता बताना अनुज्ञेय नहीं है।

10. विद्वान् महाधिवक्ता ने **वलसन** बनाम **केलुकुट्टी**[2] में केरल उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायापीठ का अवलम्ब लिया है। इस मामले के तथ्यों से यह प्रकट होता है कि उच्च न्यायालय इस आधार पर अग्रसर हुआ था कि व्याज के दावे की बाबत कोई भी निर्देश मध्यस्थ को नहीं किया गया था भले ही ऐसा दावा वाद में किया गया हो और इसलिए उन्होंने मध्यस्थ द्वारा भावी व्याज दिए जाने के दावे को निकाल दिया। निस्सन्देह **मध्य प्रदेश इलैक्ट्रिसिटी बोर्ड** बनाम **सी० आई० ई० एस० कं०**[3] में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ का निर्णय विद्वान् महाधिवक्ता की इस दलील का समर्थन करता है, क्योंकि उसमें यह विनिर्णीत किया गया है कि न्यायालय को डिक्री पारित करने की तारीख के पूर्व की किसी भी अवधि के लिए पंचाट द्वारा न्यायनिर्णीत की गयी मूल धनराशि पर व्याज अधिनिर्णीत करने की कोई शक्ति नहीं है। **कालीचरण** बनाम **दिल्ली नगर पालिका**[4] में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि डिक्री की तारीख की अवधि से अधिक के लिए व्याज अधिनिर्णीत किया जाना अनन्यत: न्यायालय का कृत्य और विशेषाधिकार है और मध्यस्थ को व्याज अधिनिर्णीत करने की कोई शक्ति नहीं है। **पी० वी० रंगाराव** बनाम **पी० विश्वनाथम**[5] में इस न्यायालय ने अधिनियम की धारा 29 का अर्थान्वियन करते समय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए उस समय डिक्री को सही किया है जब विचारण न्यायालय ने डिक्री की तारीख से कोई भी व्याज नहीं दिया था। न्या० गोपालराव एकोटे ने यह मत व्यक्त किया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 34 न्यायालय के समक्ष लाए गए पंचाट के मामले में लागू नहीं होती। धारा 29 न्यायालय में केवल डिक्री की तारीख से ऐसी दर पर जो न्यायालय युक्तियुक्त समझे, व्याज मंजूर किए जाने की शक्ति विनिहित करती है। इस प्रकार भावी व्याज अधिनिर्णीत करने सम्बन्धी मध्यस्थ की शक्ति के सम्बन्ध में विधिक स्थिति

---

[1] ए० आई० आर० 1967 मुम्बई 347.

[2] ए० आई० आर० 1959 केरल 174.

[3] ए० आई० आर० 1972 मध्य प्रदेश 47.

[4] ए० आई० आर० 1981 दिल्ली 301.

[5] 1968 (1) आन्ध्र वीकली रिपोर्ट 308.

इस प्रकार है :—

(1) यदि ब्याज के दावे के बारे में अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से कोई निर्देश नहीं किया गया है तो मध्यस्थ को ब्याज अधिनिर्णीत करने की कोई शक्ति नहीं है ।

(2) यदि ब्याज के दावे के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है तो मध्यस्थ निर्देश की तारीख से लेकर पंचाट की तारीख तक या डिक्री की तारीख तक ब्याज अधिनिर्णीत कर सकता है और ऐसा निर्देश न्यायालय के हस्तक्षेप पर किया गया हो ।

(3) मध्यस्थ को डिक्री की तारीख के पश्चात् ब्याज अधिनिर्णीत करने की कोई शक्ति नहीं है और केवल न्यायालय ही माध्यस्थम् अधिनियम की धारा 29 के अधीन डिक्री की तारीख के पश्चात् ब्याज अधिनिर्णीत करने के लिए सक्षम है ।

(4) न्यायालय को पंचाट की तारीख से लेकर डिक्री की तारीख तक या वाद की तारीख से लेकर डिक्री की तारीख तक ब्याज अधिनिर्णीत करने की कोई शक्ति नहीं है क्योंकि ऐसा विवक्षित रूप से अधिनियम की धारा 29 द्वारा प्रतिषिद्ध किया गया है और केवल मध्यस्थ ही निर्देश के आधार पर ऐसा करने के लिए हकदार है ।

11. इस मामले में यह स्वीकार किया गया है कि दावा सम्बन्धी कथन के खण्ड 56 के अनुसार ब्याज के दावे के लिए निर्देश किया गया है । पंचाट में पंचाट की तारीख से 10% प्रतिवर्ष की दर से भावी ब्याज दिया गया है । निस्सन्देह उसमें यह नहीं कहा गया है कि क्या यह डिक्री की तारीख तक या उसके वसूल किए जाने की तारीख तक दिया गया है । यदि यह अर्थ लगाया जाता है कि ऐसा उसके वसूल किए जाने की तारीख तक के लिए है तो पंचाट इस सीमा तक दोषपूर्ण है क्योंकि मध्यस्थ डिक्री की तारीख के बाद ब्याज मंजूर नहीं कर सकता । किन्तु न्यायालय ने डिक्री में उपान्तर करते हुए एक नया खण्ड प्रतिस्थापित किया है जिसके द्वारा वाद की तारीख से लेकर ब्याज वसूल किए जाने की तारीख तक ब्याज दिया गया है । अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उक्त निदेश को इन अपीलों में इस न्यायालय द्वारा ठीक किया जा सकता है ।

12. अब हम श्री शिवराम शास्त्री द्वारा किए गए प्रारम्भिक आक्षेप की परीक्षा करेंगे ।

13. माध्यस्थम् अधिनियम सिविल न्यायालय की प्रक्रिया को संक्षिप्त

करने के लिए और पक्षकारों को तुरन्त राहत देने के लिए आशयित है। अनुभव से यह दर्शित होता है कि उक्त प्रयोजन प्राप्त किया जाना तो दूर यह प्रक्रिया और अधिक दुष्कर तथा विलम्बकारी बन गई है। यहां पर **मैं० गुरु नानक फाउन्डेशन** बनाम **मैं० रतन सिंह एण्ड सन्स**[1] के मामले में माननीय न्या० देसाई के मतों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :—

> "अनवरत समय नष्ट करने वाली जटिल और महंगी न्यायालय प्रक्रियाओं ने विधिवेत्ताओं को एक अन्य मंच की खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया जो प्रक्रिया सम्बन्धी प्रशंसा द्योतक भाव को दूर करने के लिए विवादों को सुलझाने हेतु अधिक प्रभावी और क्षिप्र और कम औपचारिक मंच हो और इसी कारण माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 (जिसे संक्षेप में 'अधिनियम' कहा गया है) पारित किया गया। तथापि, जिस प्रकार से अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां संचालित की गईं और किसी अपवाद के बिना न्यायालय में उन्हें चुनौती दी गई, इससे वकीलों को हंस और विधि दार्शनिकों को रोना पड़ा। अनुभव यह दर्शाता है और विधि रिपोर्टें इस बात का पर्याप्त परिसाक्ष्य है कि अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां काफी तकनीकी और प्रत्येक विचारण में असमाप्य सामीप्य और विधिक जाल और असावधानी हो गई है। पक्षकारों द्वारा उनके विवादों के तुरन्त निपटान के लिए चुना गया अनौपचारिक मंच न्यायालयों के विनिश्चयों द्वारा अनपेक्षित जटिलता के विधिक जटिल प्रश्न द्वारा ढका हुआ है।"

प्रस्तुत मामले से यह दर्शित होता है कि अधिनियम के अधीन विहित प्रक्रिया की पक्षकारों द्वारा और निचले न्यायालय द्वारा किस प्रकार उपेक्षा की गई है और जब तक हम इस प्रक्रिया को न्याय के लिए सहायक नहीं बनाते हैं तब तक अपीलार्थी असफल होगा। निचले न्यायालय द्वारा की गई पहली गलती अधिनियम की धारा 33 के अधीन राज्य द्वारा फाइल किए गए आवेदन को दर्ज न करना है। उक्त आवेदन 1981 के मूल वाद सं० 859 में फाइल किया गया था जोकि मध्यस्थ द्वारा फाइल किया गया वाद है। न्यायालय को इसे एक पृथक् मूल पिटीशन के रूप में रजिस्टर करना चाहिए था। राज्य ने मध्यस्थ द्वारा दिए गए पंचाट को अपास्त करने के लिए और अन्य अनुतोष के लिए प्रार्थना की है। मध्यस्थ के आवेदन को एक पृथक् वाद के रूप में रजिस्टर किया जाना अनावश्यक और निरर्थक है। राज्य के आवेदन को मूल पिटीशन के रूप में रजिस्टर करने के बजाय निचले न्यायालय ने मध्यस्थ द्वारा

---

[1] *[1982]* 3 उम० नि० प० 137=ए० आई० आर० *1981* एस० सी० 2075.

और साथ ही दावेदार द्वारा फाइल किए गए आवेदनों को पृथक्-पृथक् वाद के रूप में रजिस्टर किया है। तथापि न्यायालय ने राज्य के आक्षेपों पर विचार किया है और पंचाट को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया और तद्उपरान्त डिक्री पारित की गई है। चूंकि यह आदेश, जिसके द्वारा आक्षेपों को उलट दिया गया है और डिक्री पारित करने का निदेश दिया गया है, एक संयुक्त आदेश है इसलिए धारा 39 (1) (vi) के अधीन इसकी अपील होती है जैसाकि **मदन लाल** बनाम **सुन्दर लाल**[1] के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है। पंचाट को अपास्त करने के लिए आवेदन करने का कोई भी विनिर्दिष्ट प्ररूप विहित नहीं किया गया है। उक्त मामले में यह मत व्यक्त किया गया है :—

> "यदि कोई पक्षकार धारा 30 में उल्लिखित किसी भी आधार पर पंचाट को अपास्त कराना चाहता है तो उसे पंचाट फाइल किए जाने के नोटिस की तामील की तारीख से 30 दिन के भीतर आवेदन करना चाहिए जैसाकि परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 158 में उपबंधित है। यदि ऐसा कोई आवेदन नहीं किया गया है तो पंचाट को अधिनियम की धारा 30 में विनिर्दिष्ट किसी भी आधार पर अपास्त नहीं किया जा सकता। यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऐसा आवेदन करने के लिए कोई विशेष प्ररूप विहित नहीं किया गया है और किसी समुचित मामले में लिखित कथन के रूप में पंचाट के सम्बन्ध में किए गए आक्षेप को एक आवेदन के रूप में माना जा सकता है।"

न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया है :—

> "अधिनियम की स्कीम के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि लिखित कथन के रूप में भी किसी आक्षेप पर, जो धारा 30 के अन्तर्गत आता हो, न्यायालय द्वारा तब तक विचार नहीं किया जा सकता जब तक ऐसा आक्षेप परिसीमाकाल के भीतर अर्थात् 30 दिन के भीतर न किया गया हो। यदि ऐसा आक्षेप परिसीमा के भीतर किया गया हो तो ऐसे आक्षेप को समुचित मामले में पंचाट को अपास्त करने के लिए आवेदन के रूप में माना जा सकता है।"

इस न्यायालय ने भी **ए० एम० हबीबुर्रहमान** बनाम **ए० वरम्मा**[2] में यही दृष्टिकोण अपनाया है। इस मामले में यदि एक बार आवेदन फाइल कर दिया

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 1233.

[2] ए० आई० आर० 1974 आण्ध्र प्रदेण 113.

गया है और उसे गुणागुण के आधार पर ग्रहण कर लिया गया है और न्यायालय मामले को न्यायनिर्णीत कर देता है तो ऐसा न्यायनिर्णयन स्पष्ट रूप से धारा 39 (1) (vi) के अन्तर्गत आता है। अतः ऐसे आदेश के विरुद्ध, जो पंचाट को अपास्त करने के लिए आक्षेपों को उलटता हो, अपील की जा सकती है।

14. इसके अतिरिक्त भावी ब्याज प्रदान वाले पंचाट को उसमें एक नया खण्ड प्रतिस्थापित करते हुए उपान्तर किया गया है जिसके द्वारा वाद की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक संदेय ब्याज का निदेश दिया गया है। यह स्पष्टतः धारा 39 (1) (iii) के अर्थान्तर्गत पंचाट को उपान्तरित या शुद्ध करता है और इस कारण ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील होगी। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि पंचाट को उपान्तरित नहीं किया गया है। इसके लिए उन्होंने निर्णय के अंतिम दो वाक्यों का अवलम्ब लिया है जिन्हें इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है। "अतः मैं इस मामले में पंचाट में हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं पाता। मैं विवाद्यक को सरकार के विरुद्ध पाता हूं और दोनों ही वादों को प्रार्थना किए गए अनुसार खर्चे सहित और वाद की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक 6% प्रतिवर्ष की दर से भावी ब्याज सहित डिक्रीत करता हूं।" यह दलील दी गई कि दूसरे वाक्य का अंतिम भाग अर्थात् "वाद की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक 6% प्रतिवर्ष की दर से भावी ब्याज" उपान्तरण नहीं है। हम इससे सहमत नहीं हो सकते। केवल इस डिक्री को ही न्यायालय का आदेश बनाया गया है जो निष्पादन योग्य है। सिविल न्यायालय द्वारा पुष्टि किए बिना इस रूप में पंचाट निष्पादन योग्य नहीं है। वास्तव में इस सम्बन्ध में आरबिट्रेशन ऐक्ट, 1899 की धारा 15 के प्रति निर्देश किया जा सकता है, जो इस प्रकार है, "निवेदन पर पंचाट, जो पूर्ववर्ती उपबंधों के अनुसार न्यायालय में फाइल किया गया हो, (जब तक न्यायालय उसे मध्यस्थ या अधिनिर्णायक द्वारा पुनर्विचार किए जाने के लिए प्रतिप्रेषित नहीं करता या उसे अपास्त नहीं करता) प्रवर्तनीय होगा मानो वह न्यायालय की डिक्री है।" अब इसे उपान्तरित किया गया है और धारा 15 में पंचाट के उपान्तरण या शुद्धि के आधार बताए गए हैं और वर्तमान अधिनियम की धारा 17 में यह निदेश दिया गया है कि यदि न्यायालय पंचाट को अपास्त नहीं करता और यदि पंचाट अपास्त करने के लिए समय का अवसान हो जाता है तो वह पंचाट के अनुसार निर्णय दिए जाने के लिए अग्रसर होगा और इस प्रकार निर्णय दिए जाने के पश्चात् एक डिक्री दी जाएगी। अतः डिक्री ही निष्पादन योग्य है और इस रूप में पंचाट निष्पादन योग्य नहीं

है (देखिए **श्री कान्तिया एण्ड कं० बनाम भारत संघ**[1])। यह सम्भव है कि पंचाट को उपान्तरित करने सम्बन्धी न्यायालय की शक्ति धारा 15 के अनुसार निर्बन्धित हो। यदि न्यायालय अधिकारिता से बाहर कार्य करता है तो उसे वरिष्ठ न्यायालय द्वारा ठीक किया जाना चाहिए। किन्तु केवल ऐसी डिक्री ही, जिसकी न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई हो, निष्पादन में प्रवर्तनीय है और इसलिए हमें श्री शिवराम शास्त्री की दलील को नामंजूर करने में कोई भी हिचकिचाहट नहीं है।

15. अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उन आदेशों के विरुद्ध प्रस्तुत अपीलें चलने योग्य हैं जिनके द्वारा धारा 39 (1) (iii) के अधीन पंचाट को उपान्तरित किया गया है या उसमें शुद्धि की गई है या धारा 39 (1) (vi) के अधीन पंचाट को अपास्त किया गया है या अपास्त करने से इनकार किया गया है और अपीलार्थी इन आदेशों की शुद्धता पर बहस करने के लिए हकदार हैं। इस प्रकार हमने मामले पर तदनुसार गुणागुण के आधार पर विचार किया है।

16. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि विचारण न्यायालय द्वारा धारा 29 के उल्लंघन का प्रस्तुत प्रश्न डिक्री की परिशुद्धि से सम्बन्धित है और इसलिए डिक्री के विरुद्ध कोई अपील नहीं होगी और यह न्यायालय यह धारणा करते हुए भी कि धारा 29 का अतिक्रमण हुआ है, अपीलार्थियों को अनुतोष प्रदान नहीं कर सकता। विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील नहीं दी है कि मध्यस्थ द्वारा 10% की दर से मंजूर की गई ब्याज की दर अत्यधिक है। स्पष्टतः यह संव्यवहार एक वाणिज्यिक संव्यवहार है जो उद्योग से सम्बन्धित है। तथापि उन्होंने यह दलील दी कि वादी ने अपील फाइल नहीं की है और इसलिए यह न्यायालय विचारण न्यायालय की उस डिक्री को ठीक नहीं कर सकता जिसके द्वारा वादी को डिक्री की तारीख तक ब्याज अस्वीकार किया गया है।

17. अब हम अधिनियम की धारा 39 के अधीन अपीली शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्यायालय की शक्ति की परीक्षा करते हैं क्योंकि हम यह अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि ये अपीलें धारा 39 (1) के खण्ड (iii) और (vi) दोनों के ही अधीन चलने योग्य हैं। अधिनियम की धारा 17 न्यायालय को पंचाट के सम्बन्ध में किए गए आक्षेपों की सुनवाई करने के पश्चात् पंचाट के अनुसार निर्णय सुनाने के लिए व्यादेश देती है और इस प्रकार निर्णय सुनाए

---

[1] ए० आई० आर० 1967 मुम्बई 347.

जाने के पश्चात् डिक्री की जाएगी । अधिनियम की स्कीम पंचाट को यथासम्भव प्रवर्तित करना है । सिविल न्यायालय कोई स्वतन्त्र न्यायनिर्णयन करने के लिए सक्षम नहीं है । वह पंचाट को सम्पूर्णतः अपास्त कर सकता है या उसे भागतः उपान्तरित कर सकता है किन्तु फिर भी उसे न्यायालय द्वारा पुष्टिकृत पंचाट के अन्तिम निबन्धनों के अनुसार डिक्री पारित करनी होगी । अतः यह स्पष्ट है कि जब पंचाट की पूर्णतः या भागतः पुष्टि करने वाला आदेश अपील की विषयवस्तु हो तब अपील न्यायालय उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जिनका विचारण न्यायालय द्वारा प्रयोग किया जा सकता है । तथ्यतः हालांकि पंचाट की पुष्टि करते हुए न्यायालय के आदेश के परिणामस्वरूप डिक्री पारित की जाती है किन्तु जब तक उस आदेश के विरुद्ध अपील लम्बित है जिसके द्वारा पंचाट की पुष्टि की गई है, तब तक डिक्री अन्तिम नहीं होगी और वह ऐसे उपान्तरणों के अधीन होगी जो अपील न्यायालय द्वारा किए जाएं । निस्सन्देह ऐसे उपान्तरण अपील न्यायालय में आगे अपील किए जाने पर पंचाट में किए जाएंगे किन्तु यदि एक बार अपील न्यायालय किसी पंचाट में उपान्तरण कर देता है या उसकी पुष्टि कर देता है तो अपील न्यायालय के अन्तिम निर्णय के अनुसार नई डिक्री की जाएगी । अतः **आमोद कुमार** बनाम **हरि प्रसाद**[1] में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील में, जिसके द्वारा पंचाट को अपास्त करने से इनकार किया गया है किन्तु जब अपील का निपटारा किया जा रहा हो तब अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय द्वारा पारित किसी भी पारिणामिक या आनुषंगिक आदेश को अपास्त करने की स्वतन्त्रता है । हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं जिसमें सही विधि प्रतिपादित की गई है ।

18. जहां तक धारा 29 के अधीन शक्ति का सम्बन्ध है यह माध्यस्थम् अधिनियम के अधीन सिविल न्यायालय को दी गयी न्यायनिर्णयन की एक स्वतंत्र शक्ति है । उसे डिक्री की तारीख से व्याज अधिनिर्णीत करने की एक सीमित अधिकारिता प्राप्त है । माध्यस्थम अधिनियम की धारा 29 में 'न्यायालय' पद के अन्तर्गत अपील न्यायालय भी आता है और परिणामतः अपील न्यायालय को उक्त धारा में अनुध्यात किए गए अनुसार आवश्यक आदेश पारित करने की शक्ति है । यही दृष्टिकोण **पंजाब राज्य** बनाम **सुरेन्द्र नाथ**[2] में अपनाया गया है । हम उक्त दृष्टिकोण के साथ सहमत हैं ।

---

[1] ए० आई० आर० 1958 इलाहाबाद 729.

[2] ए० आई० आर० 1960 पंजाब 623.

19. अतः इससे यह प्रतीत होता है कि अपील न्यायाला को ऐसे आदेश के विरुद्ध, जिसके द्वारा पंचाट को अपास्त करने से इनकार किया गया है, धारा 39 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए विचारण न्यायालय द्वारा अपनी शक्तियों के आधिक्य में की गयी गलतियों को शुद्ध (ठीक) करने की शक्ति है और वह धारा 29 के अधीन विचारण न्यायालय को दी गयी शक्तियों का भी प्रयोग कर सकता है ।

20. यदि हम उक्त सिद्धांत को प्रस्तुत मामले के तथ्यों में लागू करते हैं तो हम दो गलतियां पाते हैं, पहली गलती मध्यस्थ द्वारा पंचाट पारित करने में की गयी है और दूसरी गलती विचारण न्यायालय द्वारा की गई है । मध्यस्थ को डिक्री के बाहर भावी ब्याज मंजूर करने की कोई भी अधिकारिता नहीं है । पंचाट में स्पष्ट रूप से ब्याज के वसूल किए जाने तक ब्याज का संदाय अनुध्यात किया गया है । ऐसे पंचाट को अधिकारितारहित और मध्यस्थ की शक्तियों के आधिक्य में माना जाएगा और उसका इस प्रकार अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह डिक्री की तारीख तक ब्याज मंजूर करने वाला आदेश है । **भारत संघ** बनाम **बंगो स्टील फर्नीचर** (**प्रा०**) **लि०**[1] में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए पूर्वतर दृष्टिकोण से, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जहां मध्यस्थ ने रकम के संदाय की तारीख तक ब्याज का संदाय अधिनिर्णीत किया हो और ऐसे पंचाट के आधार पर निर्णय पारित किया गया हो वहां उसे डिक्री की तारीख तक ब्याज का संदाय अधिनिर्णीत करने वाला पंचाट माना जाना चाहिए, **लालचन्द** बनाम **नीरद कान्त**[2] में कलकत्ता उच्च न्यायालय के पश्चात्वर्ती खण्ड न्यायपीठ द्वारा विसम्मति प्रकट की गई है । पश्चात्वर्ती दृष्टिकोण उच्चतम न्यायालय के दृष्टिकोण के अनुसार है । अतः विचारण न्यायालय द्वारा पंचाट की सम्पूर्णतः पुष्टि की जाना गलत है । अतः हम आवश्यक रूप से इस पंचाट को उपान्तरित करते हैं और हमारे द्वारा इस प्रकार उपान्तरित किए गए पंचाट के अनुसार डिक्री पारित किए जाने का निदेश देते हैं । ऐसा करते समय हमने अधिनियम की धारा 39 के अधीन प्रदत्त की गई शक्तियों का प्रयोग किया है । अतः 10% के ब्याज के संदाय को पंचाट की तारीख से लेकर डिक्री की तारीख तक निर्बंधित करते हुए पंचाट उपान्तरित किया जाता है ।

21. जहां तक धारा 29 के अधीन प्रयोग की जाने वाली विचारण न्यायालय की शक्तियों का सम्बन्ध है हम पंचाट को स्वीकार करते हुए यह मत

---

[1] ए० आई० आर० 1963 कलकत्ता 70·

[2] ए० आई० आर० 1966 कलकत्ता 478

व्यक्त करते हैं कि विचारण न्यायालय ने वाद की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक ब्याज के संदाय का निदेश देते हुए एक नया खण्ड प्रतिस्थापित करके अधिकारिता से बाहर कार्य किया है। उसे डिक्री के पूर्व के लिए ब्याज प्रदान करने की कोई अधिकारिता नहीं है। जबकि उसने पंचाट की पुष्टि करके और पारिणामिक तथा आनुषंगिक आदेश पारित करके गलती की है किन्तु हम इस सम्बन्ध में स्पष्ट हैं कि हम अपील न्यायालय के रूप में शक्तियों का प्रयोग करते हुए उस गलती को ठीक कर सकते हैं। आगे हम यह और अभिनिर्धारित करते हैं कि एक बार ऐसा आदेश दोषपूर्ण और शक्तियों से परे पाया जाता है और उसे अपास्त कर दिया जाता है तो हम धारा 29 के अधीन यह निदेश देते हुए नया आदेश पारित कर सकते हैं कि उस रकम पर डिक्री की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक 6% का अतिरिक्त ब्याज संदेय होगा।

22. चूंकि, हमने पंचाट को और साथ ही विचारण न्यायालय के उस आदेश को ठीक किया है जिसने पंचाट की पुष्टि करके अपनी अधिकारिता से बाहर कार्य किया है इसलिए हम यह निदेश दे सकते हैं कि अब हमारे द्वारा अधिनियम की धारा 17 के निबन्धनों के अनुसार अन्तिम रूप से दिए गए निर्णय के अनुसार डिक्री की जाएगी।

23. पूर्ववर्ती विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम यह निदेश देते हैं कि डिक्री में खण्ड (1) के स्थान पर निम्नलिखित खण्ड रखा जाएगा :—

> "(1) प्रतिवादी सं० 1 वादी को पंचाट की तारीख से अर्थात 23-6-1981 से लेकर डिक्री की तारीख तक अर्थात 19-4-82 तक 10 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित और उसी रकम पर डिक्री की तारीख से लेकर उसके वसूल किए जाने की तारीख तक 6 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से अतिरिक्त ब्याज सहित 3,53,590.45 रु० की धनराशि का संदाय करेगा।"

अन्य दोनों अपीलों में भी ऐसे निदेश दिए जाएंगे।

24. परिणामतः ये अपीलें भागतः मंजूर की जाती हैं किन्तु खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अपीलें भागतः मंजूर की गईं।

प्रमोद

नि० प० 1984 : आन्ध्र प्रदेश—79

बन्देला नागराजू और अन्य बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य

(Bandela Nagaraju and others *Vs.* State of Andhra Pradesh)

तारीख 4 अक्तूबर, 1983

[न्या० जयचन्द्र रेड्डी और सरदार अली खां]

साक्ष्य अधिनियम, 1872—धारा 6—एक ही संव्यवहार के भंग होने वाले तथ्यों की सुसंगति—धारा 6 के अर्थान्तर्गत वे सब व्यक्ति आते हैं जो घटना के समय मौजूद हैं—दुकान के मालिक की उपस्थिति में अभियुक्तों द्वारा किसी व्यक्ति की हत्या किए जाने के लगभग एक घन्टे पश्चात् भी मालिक द्वारा की गई रिपोर्ट, कथन या घोषणा धारा 6 के अधीन ग्राह्य है बशर्ते यह विधिमान्यतः धारणा की जा सके कि प्रोद्दीपक (उत्तेजक) प्रभाव बना हुआ है और ऐसी घोषणा, आदि विवाद्य तथ्य के साथ इतनी अधिक संसक्त है कि वह उसी संव्यवहार का भाग बन गई है—अतः घटना के समय मौजूद ऐसे व्यक्ति के घटना के तुरन्त पश्चात् पुलिस थाने न जाने पर यह धारणा नहीं की जाएगी कि ऐसी घोषणा समकालीन नहीं है और ऐसी घोषणा के आधार पर अभियुक्त को हत्या के आधार के लिए दोषसिद्ध किया जा सकेगा।

विद्वान् सेशन न्यायाधीश के न्यायालय में चल रहे एक सेशन मामले के सभी छह अभियुक्त प्रस्तुत दाण्डिक अपील में अपीलार्थी हैं। इन अभियुक्तों को विद्वान् सेशन न्यायाधीश द्वारा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 148 के अधीन दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया गया है। उन्हें भारतीय दण्ड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया है और प्रत्येक को आजीवन कारावास भोगने के लिए दण्डादिष्ट किया गया है। विद्वान् सेशन न्यायाधीश के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत दाण्डिक अपील फाइल की है।

संक्षेप में अभियोजन पक्ष का कथन इस प्रकार है कि जब मृतक अपने एक साथी (प्रत्यक्षदर्शी साक्षी) के साथ एक ठर्रे वाली दुकान में बैठा हुआ था तब अभियुक्त-अपीलार्थी वहां हथियारों से लैस होकर आए और मृतक को, जिसके साथ उनकी दुश्मनी थी, छुरा घौंप कर मार दिया। तत्पश्चात् अभियुक्त भाग गए। संयोगवश जिस समय यह घटना घटी उस समय एक अन्य प्रत्यक्षदर्शी साक्षी भी वहां ठर्रे वाली दुकान में ठर्रा पीने आया किन्तु जैसे ही उसने अभियुक्तों को दुकान के अन्दर जाते हुए देखा तो वह वहीं बाहर से ही

थट्टी के सुराख में से देखने लगा। ये दोनों ही प्रत्यक्षदर्शी साक्षी अभियुक्तों व मृतक को भी जानते थे। इस प्रकार इन दोनों प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों तथा ठर्रे वाली दुकान के मालिक ने अपनी आंखों के सामने यह घटना घटते हुए देखी। घटना घटित होने के लगभग एक घन्टे के बाद ठर्रे वाली दुकान का मालिक निकटतम पुलिस थाने गया और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखवाई। अभियोजन ने अपने पक्षकथन के समर्थन में लगभग बारह साक्षियों की परीक्षा की जिनमें से अभि० सा० 1 और 2 प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं और ठर्रे वाली दुकान के मालिक (जो स्वयं इस घटना का एक प्रमुख प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है) की मृत्यु हो जाने के कारण उसकी परीक्षा नहीं हो सकी। विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य का अवलम्ब लेकर अभियुक्तों को दोषसिद्ध ठहराया।

संक्षेप में अपीलार्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों का साक्ष्य अविश्वसनीय है क्योंकि उन्होंने घटना घटने के तुरन्त पश्चात् न तो किसी अन्य व्यक्ति को उसके बारे में बताया है और न पुलिस थाने में रिपोर्ट की, यह कि चिकित्सीय साक्ष्य से उनकी दोषिता का समर्थन नहीं होता, यह कि ठर्रे वाली दुकान के मालिक द्वारा की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अग्राह्य है और उसका प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य की सम्पुष्टि करने के लिए अवलम्ब नहीं लिया जा सकता क्योंकि अधिक-से-अधिक वह उसके एक पूर्वकथन की कोटि में ही आ सकता है।

अभिनिर्धारित : अपीलार्थी संख्या-1 और 2 के सम्बन्ध में अपील खारिज की गई।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 6 में यह अधिकथित किया गया है कि जो तथ्य विवाद्य न होते हुए भी किसी विवाद्य तथ्य से इस प्रकार संसक्त हैं कि वे एक ही संव्यवहार के भाग हैं, वे तथ्य सुसंगत हैं, चाहे वे उसी समय और स्थान पर या विभिन्न समयों और स्थानों पर घटित हुए हों। साक्ष्य अधिनियम की धारा 6 के अन्तर्गत दृष्टान्त (क) में प्रयुक्त शब्दों के अन्तर्गत वे सब व्यक्ति आते हैं जो घटना के समय मौजूद हों। अतः चूंकि दुकान का मालिक घटना के समय मौजूद था इसलिए वह उपयुक्त प्रवर्ग के व्यक्ति के अन्तर्गत आता है। दूसरी कसौटी यह लागू की जाएगी कि क्या दुकान के मालिक द्वारा किया गया कथन विवाद्य तथ्यों के साथ इतना अधिक संसक्त (सम्बन्धित) है कि वह उसी संव्यवहार का भाग बन गया है। इस सन्दर्भ में प्रतिपक्ष ने यह दलील दी है कि दुकान के मालिक ने यह कथन तुरन्त नहीं किया है और इसलिए उसे समकालीन नहीं कहा जा सकता और इसके विपरीत उसने कुछ समय तक अर्थात् लगभग एक घन्टे तक प्रतीक्षा की है और उसके बाद पुलिस

अपीलार्थियों की ओर से	....	सर्वश्री महाराज बहादुर लाल और कृष्ण मोहन सिंह
प्रत्यर्थियों की ओर से	....	सर्वश्री के० सी० सक्सेना और कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव

न्यायालय का निर्णय न्यायाधीश ओ० पी० सक्सेना ने दिया।

न्या० सक्सेना :

बलिया के सिविल न्यायाधीश द्वारा 15 अप्रैल, 1964 को 28,200 रुपये के संदाय पर बंधक के मोचन के लिए 9 सितम्बर, 1947 को किए गए वाद में डिक्री पारित करते हुए 15 अप्रैल, 1964 की डिक्री और निर्णय के विरुद्ध यह अपील और प्रत्याक्षेप (क्रास आब्जेक्शन) है।

2. इस अपील के तथ्य इस प्रकार हैं कि वादी गणेश राम बलिया में दुर्गाराम गणेश राम के नाम से कारबार किया करता था। प्रतिवादी ग्रुप I और ग्रुप II उसी कुटुंब के हैं और उनका कारबार मैसर्स देवदत्त पांडे कपिलदेव पांडे के नाम से किया जाता था। प्रतिवादी-ग्रुप III का कारबार मैसर्स लच्छुभगत सरजू प्रसाद के नाम से किया जाता था। प्रतिवादी ग्रुप I और II तथा प्रतिवादी ग्रुप III के कारबार की देखभाल वादी किया करता था। वादी बलिया की नगरपालिक सीमाओं में स्थित विवादास्पद संपत्ति का स्वामी था। इसका कुल क्षेत्रफल 46 एकड़ है। इसके पर्याप्त भाग पर निर्मित भवन है।

3. वादी ने 9 सितम्बर, 1947 को एक विलेख (प्रदर्श ए-1) निष्पादित किया जिसके द्वारा उसने विवादास्पद संपत्ति को प्रतिवादी सं० 1, मुसम्मात दौलता कुअर, प्रतिवादी ग्रुप II के पूर्वज को रु० 45,000 की रकम के बदले में अंतरित कर दिया था। रु० 45,000 की इस रकम में से रु० 28,000 का नकद संदाय उप-रजिस्ट्रार के समक्ष किया गया और शेष रु० 16,000 की रकम इंपीरियल बैंक को संदाय करने के लिए प्रतिवादी ग्रुप II के पास छोड़ दी गई। यह उपबंध किया गया था कि यदि वादी 30 जून, 1950 तक 45,000 रुपये की रकम का संदाय कर देता है तो मुसम्मात दौलता कुअर उसे (वादी को) संपत्ति प्रतिहस्तांतरित कर देगी और यदि वह ऐसा नहीं करती है तो वादी न्यायालय के माध्यम से प्रतिहस्तांतरण प्राप्त कर सकेगा।

4. वादी ने 4 जनवरी, 1963 को अकिंचन की हैसियत से बंधक के

मोचन के लिए और प्रतिवादियों को कोई रकम का संदाय किये बिना ही विवादास्पद संपत्ति पर कब्जे के लिए वाद फाइल किया। यह कहा गया था कि प्रतिवादी ग्रुप II की ओर से 16,800 रुपये की रकम देय थी; यह कि 15,000 रुपये की रकम प्रतिवादी ग्रुप III की ओर से देय थी और प्रतिवादी के निवेदन करने पर उसने यह रकम उसके द्वारा निष्पादित विलेख में भी शामिल कर दी थी। वादी ने यह दावा किया कि प्रतिवादी ग्रुप II और ग्रुप III की ओर से वेतन की बकाया के कारण 1200 रुपये और 12,000 रुपये की रकम अन्यथा उनकी ओर से देय थी। अत: उसने कोई संदाय किये बिना ही बंधक के मोचन का दावा किया।

5. वाद का प्रतिवाद प्रत्यर्थी सं० 3 तथा सं० 6 से लेकर सं० 9 (ग्रुप II) द्वारा इन अभिकथनों के साथ किया गया कि वादी द्वारा निष्पादित दस्तावेज पुन: खरीदने के अधिकार सहित शुद्ध विक्रय का एक दस्तावेज था और यह सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं था; यह कि वादी प्रतिवादी ग्रुप II और III के कारबार की देख-रेख किया करता था और उसने 16,800 रुपये और 15,000 रुपये तक का दायित्व उपगत कर लिया था; यह कि उसने इन फर्मों के नाम में इंपीरियल बैंक से ऋण प्राप्त किया था और इस धन का दुर्विनियोग कर लिया था; यह कि इसी कारण से उसने इन रकमों के लिए दायित्व स्वीकार कर लिया था तथा 45,000 रुपये के लिए एक दस्तावेज निष्पादित कर दिया था; यह कि उसने नियत अवधि में कोई प्रतिहस्तांतरण प्राप्त नहीं किया था; यह कि वह 45,000 रुपये के संदाय के बिना बंधक के मोचन का हकदार नहीं है और यह कि यह वाद तुच्छ और तंग करने वाला है तथा प्रतिवादी ग्रुप II विशेष खर्चों के लिए हकदार हैं।

6. विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने वादी के इस पक्षकथन को स्वीकार कर लिया था कि 9 सितम्बर, 1947 का दस्तावेज सशर्त विक्रय द्वारा बंधक था और वह पुन: खरीद करने की शर्त के साथ शुद्ध विक्रय (का दस्तावेज) नहीं था। उसने वादी के इस कथन को स्वीकार किया कि वस्तुत: रुपये 16,800 की रकम प्रतिवादी ग्रुप II की ओर से देय थी और वादी उसको संदाय करने के दायित्वाधीन नहीं था। उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि वादी 28,200 रुपये संदाय करने का दायी था। तद्नुसार उन्होंने 9 सितम्बर, 1947 के बंधक के मोचन के लिए किये गये वाद में डिक्री पारित कर दी और वादी को 6 मास के भीतर न्यायालय में

28,000 रुपये जमा कराने का निदेश दिया। ऐसा किये जाने पर उन्होंने प्रतिवादी ग्रुप I और II को यह निदेश दिया कि वे वादी को बंधकित संपत्ति का कब्जा प्रदान कर दें। वादी को अकिंचन रूप में वाद लाने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया था और यह निदेश दिया गया था कि न्यायालय फीस प्रतिवादी ग्रुप I और II से वसूल की जायेगी। वादी को उक्त प्रतिवादियों के विरुद्ध वाद का खर्चा भी मंजूर कर दिया गया था। अतः यह अपील और प्रत्याक्षेप फाइल किया गया है।

7. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल, श्री राजा राम अग्रवाल ने यह निवेदन किया कि 9 सितम्बर, 1947 का दस्तावेज पुनः खरीदने की शर्तों सहित एक शुद्ध विक्रय का विलेख था और यह सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं था। वादी-प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री जी० सी० द्विवेदी ने इस बारे में विचारण न्यायालय के निष्कर्ष का समर्थन किया कि उक्त दस्तावेज सशर्त विक्रय द्वारा बंधक था।

8. संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 58(क) में 'बंधक' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :—

> "बंधक विनिर्दिष्ट स्थावर संपत्ति में के किसी हित का अंतरण जो उधार के तौर पर दिये गये या दिये जाने वाले धन के संदाय को या वर्तमान या भावी ऋण के संदाय को या ऐसे वचनबंध के पालन को, जिससे संबंधी दायित्व पैदा हो सकता है, प्रतिभूत करने के प्रयोजन से किया जाता है,
>
> अंतरक बंधककर्ता और अंतरिती बंधकदार कहलाता, मूल धन और ब्याज जिनका संदाय इस समय प्रतिभूत है, बंधक धन कहलाते हैं, लिखित (यदि कोई है) जिसके द्वारा अंतरण किया जाता है, बंधक विलेख कहलाता है।"

9. सशर्त विक्रय द्वारा बंधक की परिभाषा अधिनियम की धारा 58(क) में इस प्रकार दी गई है :—

> "जहां कि कोई बंधककर्ता, बंधक संपत्ति को दृष्टतः बेच देता है—इस शर्त पर कि किसी निश्चित तारीख को विक्रय आत्यंतिक हो जायेगा, अथवा :
>
> इस शर्त पर कि ऐसा संदाय किये जाने पर विक्रय शून्य हो जायेगा, अथवा

इस शर्त पर कि ऐसा संदाय किये जाने पर क्रेता वह संपत्ति विक्रेता को अंतरित कर देगा—

वहां ऐसा संव्यवहार सशर्त विक्रय द्वारा बंधक और बंधकदार सशर्त विक्रय द्वारा बंधकदार कहलाता है :

परन्तु ऐसा कोई भी संव्यवहार बंधक नहीं समझा जायेगा जब तब तक कि वह शर्त उस दस्तावेज में सन्निविष्ट न हो, जिससे विक्रय किया गया है या किया जाना तात्पर्यित है।"

10. **अब्दुल रहमान** बनाम **बिस्मिल्ला बेगम और अन्य**[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

"बंधक के प्रवर्ग में किसी संव्यवहार को लाने के लिए पक्षकारों के बीच ऋणी और ऋणदाता का संबंध बना रहना चाहिए और यदि ऐसा कोई ऋण नहीं है जिसके लिए अंतरण एक प्रतिभूति है तो यह अभिनिर्धारित करना असंभव है कि ऐसा संव्यवहार एक बंधक है। जब कोई दस्तावेज प्रथमदृष्ट्या विक्रय-विलेख प्रतीत होता है तो किसी कपट के अभाव में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह विक्रय का संव्यवहार है। इसे बंधक विलेख साबित करने का भार उस पक्षकार पर पूरी तरह होगा जो ऐसा अभिकथन करता है। इस भार को वहन करने के लिए पक्षकारों का तत्कालीन आचरण तथा आसपास की ऐसी परिस्थितियों का बाह्य साक्ष्य, जैसा यह दर्शित करने के लिए अपेक्षित हो कि किस रीति में दस्तावेज की भाषा विद्यमान तथ्यों से संबंधित है, साबित किया जा सकता है।

इस बात का अवधारण करने के लिए कि प्रश्नगत संव्यवहार शुद्ध विक्रय की अथवा सशर्त विक्रय द्वारा बंधक की कोटि में आता है, निम्नलिखित कसौटियां मामले का अवधारण करने के लिए लागू की जा सकती हैं :

(1) ऋण का विद्यमान होना।

(2) प्रतिसंदाय की अवधि : यदि यह अवधि छोटी है, इससे विक्रय का संकेत मिलता है और यदि यह अवधि लम्बी है तो इससे बंधक का संकेत मिलता है।

---

[1] 1939 (जिल्द 37) ए० एल० जे० आर० 377.

(3) जिसे संपत्ति दी गई है उसका कब्जे में बना रहना बंधक उपदर्शित करता है।

(4) प्रतिसंदाय पर ब्याज की शर्त बंधक को उपदर्शित करती है।

(5) सही मूल्य से कम कीमत बंधक को उपदर्शित करती है।

(6) प्रतिहस्तांतरण का उपबंध करने वाला समकालीन विलेख बंधक उपदर्शित करता है।

तथापि, यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि ऊपर उल्लिखित परिस्थितियों में से कोई एक परिस्थिति आवश्यक रूप से यह साबित नहीं करेगी कि पुन: खरीदने की शर्त सहित विक्रय-विलेख वस्तुत: सशर्त विक्रय द्वारा बंधक है।"

11· **चुनचुन** बनाम **इबादत अली और अन्य**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिकथन किया था कि प्रस्तुत प्रश्न बड़ा पेचीदा प्रश्न है कि कोई प्रश्नगत संव्यवहार सशर्त विक्रय द्वारा बंधक है अथवा पुन: खरीदने की शर्त सहित शुद्ध विक्रय-विलेख है और इसका विनिश्चय उसी मामले के तथ्यों के आधार पर किया जाना चाहिए। ऐसे मामलों में पक्षकारों का आशय ही अवधारण का एक मुख्य तत्व है। संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 58(ग) के परन्तुक के प्रति निर्देश किया गया था और यह बताया गया कि जहां विक्रय तथा पुन: खरीदने का करार दो भिन्न-भिन्न दस्तावेजों में किया जाता है वहां ऐसा संव्यवहार सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं हो सकता। यह कहते हुए सावधानी का संकेत किया गया कि इसके प्रतिकूल बात सही नहीं है अर्थात् मात्र यह तथ्य कि केवल एक ही दस्तावेज में यह दोनों बातें हैं, इससे आवश्यकत: यह अर्थ नहीं निकलता कि यह दस्तावेज बंधक होना चाहिए और यह विक्रय-विलेख नहीं हो सकता। दस्तावेज के अर्थान्वयन पर यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सर्वप्रथम स्वयं दस्तावेजों से ही आशय निकाला जाना चाहिए। यदि दस्तावेज के शब्द बिल्कुल स्पष्ट और प्रत्यक्ष हैं तो उन्हीं को प्रभावी किया जाना चाहिए और इस बारे में कोई बाह्य जांच नहीं की जानी चाहिए कि विचार या आशय

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 345.

क्या था, ऐसे मामले में वास्तविक प्रश्न यह नहीं होता है कि पक्षकार का आशय या अर्थ क्या था अपितु यह है कि उन शब्दों का क्या विधिक प्रभाव है जिनका प्रयोग किया गया है। तथापि, प्रयुक्त भाषा में यदि कुछ संदिग्धता है तो इस बात का अवधारण करने के लिए संबंधित परिस्थितियों पर ध्यान दिया जा सकता है कि पक्षकारों का आशय क्या था। दस्तावेज की शब्दावली और पक्षकारों के आशय पर विचार करने के पश्चात् यह दस्तावेज सशर्त विक्रय द्वारा बंधक अभिनिर्धारित किया गया था।

12. **भोजू मंडल** बनाम **देवनाथ भगत**[1] में, दस्तावेज की शब्दावली के अतिरिक्त, भूमि का क्षेत्रफल और इसके लिए संदत्त प्रतिफल पर भी इस बात का अवधारण करने के लिए विचार किया गया था कि क्या वह दस्तावेज सशर्त विक्रय द्वारा बंधक था अथवा पुनः खरीदने की शर्त सहित विक्रय-विलेख था। उस दस्तावेज को विक्रय-विलेख अभिनिर्धारित किया गया था।

13. **बिशनलाल** बनाम **बनवारी लाल**[2] में इस परिस्थिति में कि विक्रय-विलेख के लिए प्रतिफल संपत्ति का पूरा मूल्य था, यह अभिनिर्धारित करने के लिए विचार किया गया था कि वह संव्यवहार पुनः खरीदने के अधिकार सहित शुद्ध विक्रय था और सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं था।

14. इन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण **ठाकुर सिंह** बनाम **शिवनाथ सिंह**[3], **मोहम्मद अमीन** बनाम **बजरंगी सिंह**[1] और **मुसम्मात कयूमुन्निसा** बनाम **बसीद्उल मलिक**[5] में भी किया गया था।

15. प्रदर्श ए-1 के विलेख के पूर्ववर्ती भाग में, जो विलेख 9 सितम्बर, 1947 का है, निम्नलिखित परिवर्णन दिया गया है :—

> "मिन मुकिर को बगरज अदायगी याफ तनी जिम्मेगी अपने इंपीरियल बैंक, बलिया ब्रांच मुवलिग 13,200 रु० वा फर्म देवदत्त पांडे कपिल देव प्रसाद 16,800 रु० वा फर्म लच्छू भगत सरजू प्रसाद 15,000 रु० जुमला मुवलिग 45,000 रु० की सख्त जरूरत

---

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1906.

[2] 1937 ए० एल० जे० आर० 849.

[3] 1940 ए० एल० जे० आर० 113.

[4] ए० आई० आर० 1949 इलाहाबाद 335

है जो बदून तहरीर वासिका हजा के दूसरी साविल से मुहय्या नहीं हो सकता। लिहाजा मिन मुकिर बहालत सेहतजात वा सबते अकल बखुशी वा रजामंदी अपना नफा नुक्सान खूब सोच समझकर बिला किसी जबर वा दबाव के बिल एवज मुबलिग 45,000 रु० जरे कर्ज नकद के अपना किता गोला पुख्ता………''।

16. निष्पादककर्ता ने अपने दायित्व के लिए केवल 45,000 रुपये तक के प्रति निर्देश किया और यह बताया कि इस दस्तावेज को निष्पादित करने के सिवाय यह रकम एकत्र करना संभव नहीं था। यदि वह विक्रय-विलेख निष्पादित कर रहा था तो उसने यह कहा होता कि चूंकि यह रकम एकत्रित करना संभव नहीं है इसलिए उसके पास 45,000 रुपये की रकम के लिए संपत्ति बेचने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं था। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि रुपये 45,000 की रकम "जरे कर्ज नकद" के रूप में वर्णित की गई है। प्राप्त हुए नकद ऋण के प्रति निर्देश ऋणदाता और ऋणी के संबंध स्थापित होने के प्रति स्पष्ट संकेत है और संदत्त कीमत की बजाय प्रतिफल, ऋण के रूप में प्राप्त किया गया है, जैसा कि संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 54 में "विक्रय" की परिभाषा में निर्दिष्ट किया गया है।

17. प्रतिवादी साक्षी संख्या 1, रामगहन राय ने जो कि यह दावा करते हैं कि उन्होंने दस्तावेज की शर्तों को तय किया था, यह कहा है कि "यह दस्तावेज निजाई 45,000 रुपये के कर्ज के बाबत लिखा गया था।" यही एक मात्र साक्षी हैं जिनकी परीक्षा प्रतिवादियों की ओर की गई थी और इसका कथन पर्याप्त महत्त्व का कथन है। यह विलेख इस परिवर्णन की पुष्टि करता है कि यह विलेख 45,000 रुपये के ऋण के लिए निष्पादित किया गया था।

18. विलेख के परिवर्णन में विक्रय की सामान्य प्रसंविदाएं सन्निविष्ट हैं और वादगत संपत्ति का कब्जा मुसम्मात दौलता कुवेर को भी दिया गया था। क्रेता और विक्रेता के अधिकार और दायित्व संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 55 में दिये गये हैं। श्री पी० सी० मोघा द्वारा लिखित "इंडियन कन्वैंसर" (1968 संस्करण) के पृष्ठ 573 पर विशेष प्रसंविदाओं के प्रति निर्देश किया गया है। सशर्त विक्रय द्वारा बंधक का प्रारूप ही उक्त पुस्तक के पृष्ठ 366 पर दिया गया है। यह स्पष्ट है कि सशर्त विक्रय द्वारा बंधक में भी विक्रय की सभी प्रसंविदाएं शामिल की जाती हैं। हम

अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि इन निबंधनों और शर्तों का शामिल करना यह दर्शित करता है कि यह दस्तावेज पुनः खरीदने की शर्त सहित विक्रय का एक शुद्ध दस्तावेज था और सशर्त विक्रय द्वारा बंधक का दस्तावेज नहीं। हमारी यह राय है कि ये निबंधन सशर्त विक्रय द्वारा बंधक में भी शामिल किये जाते हैं।

19. अंत में यह कहा गया कि निष्पादनकर्ता ने श्रीमती दौलता कुवेर को इस शर्त के लिए उत्प्रेरित किया था कि यदि निष्पादनकर्त्ता 30 जून, 1950 को या इससे पूर्व रुपये 45,000 का संदाय कर देता है तो श्रीमती दौलता कुवेर उसे संपत्ति प्रतिहस्तांतरित कर देगी और यदि वह (श्रीमती कुवेर) ऐसा नहीं करती है तो निष्पादनकर्ता न्यायालय के माध्यम से प्रतिहस्तांतरण प्राप्त करने का हकदार होगा। हम अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि ब्याज के बारे में किसी उपबंध का अभाव इस बात का संकेत है कि वह दस्तावेज सशर्त विक्रय द्वारा बंधक नहीं है। इस मामले में पक्षकारों के बीच संबंध की प्रकृति के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता और रुपये 45,000 की रकम को "जरे कर्जा नकद" के रूप में निर्दिष्ट किया गया था। वादगत संपत्ति का कब्जा श्रीमती दौलता कुवेर को दे दिया गया था। जहां बंधकदार को कब्जा दे दिया जाता है वहां प्रायः ब्याज के लिए कोई उपबंध नहीं किया जाता।

20. इस मामले में सबसे महत्त्वपूर्ण परिस्थिति वादगत संपत्ति का मूल्यांकन है। वादी साक्षी संख्या 1 गणेश राम ने यह कहा है कि वादगत संपत्ति दस्तावेज के निष्पादन के समय 9 सितम्बर, 1947 को और उसकी साक्ष्य की तारीख को भी रुपये 45,000 से अधिक के मूल्य की थी। कथन इस भाग के बारे में उससे प्रतिपरीक्षा नहीं की गई थी। प्रतिवादी साक्षी संख्या 1, राम गहन राय ने इसके कथन का खण्डन नहीं किया और यह नहीं कहा कि वादगत संपत्ति दस्तावेज के निष्पादन की तारीख को रुपये 45,000 से अधिक मूल्य की नहीं थी। उन्होंने यह कहा कि विलेख के निबंधनों के तय किए जाने के समय गणेश राम ने उसे यह बताया था कि कोई भी व्यक्ति वादगत संपत्ति के लिए रुपये 45,000 से अधिक पेश करने को तैयार नहीं था। ऐसा कोई प्रश्न वादी साक्षी संख्या 1 गणेशी राम से नहीं पूछा गया था। साक्षी ने यह स्वीकार किया कि प्रश्नगत भवन में 18 या 18 पक्के कमरे हैं और यह दस्तावेज के निष्पादन के समय बिल्कुल ही नया

बनाया गया था। वह इस बात का खण्डन नहीं कर सका कि बलिया नगर में वादगत मकान से बड़ा कोई और मकान नहीं है। भूमि का क्षेत्रफल 46 एकड़ था। यह भूमि नगरपालिक सीमाओं के भीतर थी। भूमि के पर्याप्त भाग पर नवनिर्मित भवन था जिसमें 18 कमरे थे जिनकी छतें गार्डर और पत्थरों से बनाई गई थीं। वादी के इस कथन में सार है कि वादगत संपत्ति रुपये 45,000 से अधिक मूल्य की थी। प्रतिवादी साक्षी संख्या 1, राम गहन राय इस बात का खण्डन नहीं कर सका कि वादगत संपत्ति एक लाख रुपये के मूल्य की थी। प्रतिवादी अपने लिखित कथन के अतिरिक्त अभिवाक् के पैरा 18 में किये गये अभिवाक् को सिद्ध करने में बुरी तरह असफल हुए हैं, जिस कथन में यह कहा गया था कि वादगत संपत्ति का बाजार मूल्य दस्तावेज के निष्पादन के समय रुपये 45,000 था। हम इस बारे में वादी के कथन को स्वीकार करना चाहते हैं और हम यह अधिसंभाव्य नहीं समझते कि वादी वादगत संपत्ति को मात्र रुपये 45,000 की मामूली-सी रकम के लिए बेचने को सहमत हो जाता। यह इस बात का एक दृढ़ संकेत है कि प्रश्नगत दस्तावेज सशर्त विक्रय द्वारा बंधक है।

21. अतः हमारी यह राय है कि विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने यह सही ही अभिनिर्धारित किया है कि 9 सितम्बर, 1947 का प्रदर्श सं० 1 सशर्त विक्रय द्वारा दस्तावेज है तथा पुनः खरीदने की शर्त सहित शुद्ध विक्रय का दस्तावेज नहीं है।

22. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह और निवेदन किया कि सिविल न्यायाधीश ने केवल 28,200 रुपये के संदाय पर ही बंधक के मोचन का निदेश देने में गलती की है और वादी के इस वृतांत को स्वीकार करने में गलती की है कि वह 16,800 रुपये के लिए दायी नहीं था जो कि मैसर्स देवदत्त पांडे कपिलदेव पांडे की फर्म की ओर से देय थे। वादी-प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने इस मुद्दे के बारे में निष्कर्ष का समर्थन किया।

23. विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 92 पर ध्यान नहीं दिया। इसमें यह उपबंध किया गया है :—

> "जब किसी ऐसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के निबंधनों को या किसी बात को जिसके बारे में विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जायेगी, अंतिम पिछली धारा के अनुसार साबित किया जा चुका हो, तब किसी ऐसी

लिखत के पक्षकारों या उनके हित-प्रतिनिधियों के बीच किसी मौखिक करार या कथन का कोई भी साक्ष्य उसके निबंधनों का खण्डन करके या उनमें फेरफार करने के या जोड़ने के या उसमें से हटाने के प्रयोजन के लिए ग्रहण न किया जाए।"

24. प्रदर्श सं० ए-1 में निष्पादनकर्ता का स्पष्ट रूप से 13,200 रुपये के बारे में इंपीरियल बैंक, बलिया को अपने दायित्व के प्रति निर्देश किया था जो उसकी ओर से देय थी और इसके अतिरिक्त फर्म देवदत्त पांडे कपिल देव पांडे की ओर से देय रुपये 16,800 तथा फर्म लच्छू भगत सरजू भगत की ओर से देय रुपये 15,000 के प्रति स्पष्ट रूप से निर्देश किया था। उन्होंने इन सभी दायित्वों के प्रति "याफतनी जिम्मेगी अपने" के रूप में निर्देश किया; और इस विनिर्दिष्ट स्वीकृति को देखते हुए इस बारे में कुछ भी संदेह करने की गुंजाइश नहीं हो सकती। दस्तावेज के निबंधनों में फेरफार करने या इनका खण्डन करने के लिए कोई मौखिक साक्ष्य ग्रहण योग्य नहीं था।

25. वादी साक्षी संख्या 1, गणेश राम का कथन यह दर्शित करता है कि सभी तीनों फर्मों का कारबार उसी भवन से चलाता था और उसे फर्म देवदत्त पांडे कपिलदेव पांडे से वेतन के रूप में 400 रुपये प्रति वर्ष और फर्म लच्छू भगत सरजू प्रसाद से 300 रुपये प्रति वर्ष वह प्राप्त करता था। इन तीनों फर्मों के कारबार के संबंध में वह इंपीरियल बैंक, बलिया जाया करता था। वह बैंक से भारी रकम निकाला करता था और उसे फर्म के लेखे में जमा कर दिया करता था। प्रतिवादी का यह कथन कि वादी ने इन रकमों का दायित्व स्वीकार कर लिया था क्योंकि उसने उसका दुर्विनियोजन कर लिया था, अत्यधिक अधिसंभाव्य प्रतीत होता है। चूंकि यह सही है कि 16,800 रुपये की रकम प्रतिवादी ग्रुप I और ग्रुप II पर छोड़ दी गई थी और उन्होंने वह रकम प्रदर्श ए-4 से लेकर प्रदर्श ए-7 के माध्यम से बैंक को संदाय कर दी थी। इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि वादी इस रकम के लिए दायी नहीं था। वादी ने उक्त रकम के बारे में अपना दायित्व स्वीकार कर लिया था और विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित करने में कि वह रकम संदाय करने के लिए दायी नहीं था, वादी के प्रतिकूल कथन को स्वीकार करके गलती की है।

26. हम अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील को स्वीकार करते हैं कि वादी बंधक के मोचन के लिए रुपये 45,000 का संदाय करने का दायी है।

27. वादी-प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने वादी के इस कथन को नामंजूर करने में गलती की है कि वह कोई संदाय किये बिना ही बंधक का मोचन कराने का हकदार था। वादी साक्षी संख्या 1, गणेश राम के दृढ़ कथन के सिवाय यह दर्शित करने के लिए कोई भी साक्ष्य नहीं है कि रुपये 12,000 की रकम वादी की फर्म दुर्गाराम गनेशी राम को देय थी और प्रतिवादी की फर्म देवदत्त पांडे कपिल देव पांडे वह रकम संदाय करने के लिए दायी थी। वेतन के रूप में देय रुपये 12,000 की रकम के बारे में भी उसके कथन की कोई संपुष्टि नहीं थी। वादी ने अपने फर्म की लेखावहियों से उद्धरण फाइल नहीं किए थे। अभिलेख यह दर्शित नहीं करता कि उसने इस रकम के लिए प्रतिवादी ग्रुप II को कभी भी कोई नोटिस दिया था। उसके लिए इन रकमों की वसूली की बाबत वाद फाइल करने की स्वतंत्रता है। वह देय बंधक धन से इन रकमों की मुजराई नहीं कर सकता। विद्वान् सिविल न्यायाधीश ने सही तौर पर ही इस बारे में वादी के दावे को नामंजूर किया है।

28. और किसी मुद्दे पर बल नहीं दिया गया था।

29. परिणाम यह कि अपील भागतः सफल होती है और प्रत्याक्षेप असफल होता है।

30. अपील भागतः मजूर की जाती है। विद्वान् सिविल न्यायाधीश द्वारा पारित निर्णय और डिक्री इस सीमा तक उपांतरित किये जाते हैं कि वादी प्रतिवादियों को रुपये 45,000 संदाय करके बंधक का मोचन कराने का हकदार होगा। वादी को न्यायालय में उक्त रकम जमा कराने के लिए छः मास का समय दिया जाता है। शेष निर्णय और डिक्री की पुष्टि की जाती है। प्रत्याक्षेप खारिज किया जाता है। दोनों पक्षकार द्वारा इस न्यायालय का अपना-अपना खर्चा वहन किया जाएगा।

31. न्यायालय फीस के रूप में रुपये 3,445 की रकम संदेय है क्योंकि वादी को अकिंचन के रूप में वाद फाइल करने के लिए अनुज्ञात किया गया था। उक्त रकम प्रतिवादी-अपीलार्थी द्वारा संदत्त की जायेगी, जैसा कि विचारण न्यायालय ने निदेश दिया है। 45,000 रुपये की रकम जमा कराये जाने के पश्चात् रुपये 3,445 की रकम न्यायालय फीस के बदले में खजाने में जमा करवाई जायेगी।

अपील भागतः मंजूर की गई।

शर्मा

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—316

श्री जे० जे० पंचोली बनाम श्री श्रीधर जी और अन्य

(Sri. J.J. Pancholi *Vs.* Sri Sridharjee and others)

तारीख 17 जनवरी, 1984

[न्या० के० सी० अग्रवाल और ओ० पी० सक्सेना]

संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1872, धारा 111(च)—उक्त धारा 111(च) के अधीन स्थावर संपत्ति का पट्टा विवक्षित अभ्यर्पण द्वारा भी पर्यवसित हो जाता है—विवक्षित अभ्यर्पण का निष्कर्ष पक्षकारों के असंदिग्ध आचरण के आधार पर निकाला जा सकता है—यदि कोई पट्टेदार किराएदारी की नई संविदा स्वीकार करता है तो वह पुराने किराएदारी के अभ्यर्पण के रूप में प्रवृत्त होगा, क्योंकि पट्टा तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि पुरानी किराएदारी अभ्यर्पित नहीं की जाती ।

2. प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम, 1887, द्वितीय अनुसूची का अनुच्छेद 4 [उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972 द्वारा यथा संशोधित]—उक्त अनुच्छेद 4 के उक्त उत्तर प्रदेश अधिनियम द्वारा संशोधन के पश्चात् पट्टाकर्ता द्वारा किसी भवन से पट्टेदार की उसके पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् बेदखली के लिए और उस भवन के उपयोग तथा अधिभोग के लिए प्रतिकर की वसूली के लिए वाद लघु वाद न्यायालय में फाइल किया जा सकता है ।

वादी वादगत परिसर का मकान-मालिक है । श्री जे० पी० पंचोली परिसर का पट्टेदार (किराएदार) था । पट्टा 10 वर्ष की अवधि के लिए था, जो 28 मार्च, 1975 तक चला था । इस परिसर में सिनेमा कारबार चलाया जाता था । सन् 1974 में जे० पी० पंचोली की मृत्यु के पश्चात् उसके वारिस अर्थात् प्रतिवादी सं० 1, 2 और 4 सिनेमा कारबार चलाते रहे । फिर सिनेमा कारबार चलाने के लिए एक कंपनी बनाई गई और वादगत परिसर कम्पनी को पट्टे पर दिए गए । किंतु कंपनी हानि के कारण जारी न रह सकी । 14-10-1976 को प्रतिवादी सं० 1 श्री वी० के० पंचोली ने वादगत परिसर को पट्टे पर लिया । वादी ने 1977 में किराए की बकाया तथा उपयोग एवं अधिभोग के लिए नुकसानी के लिए वाद फाइल किया । वाद केवल प्रतिवादी सं० 1 श्री वी० के पंचोली के विरुद्ध फाइल किया गया

था। वाद में यह अभिकथन किया गया कि प्रतिवादी पर नोटिस की सम्यक्तया तामील की गई थी किन्तु उसने न तो किराया दिया और न ही वादगत परिसर खाली किया। प्रतिवादी सं० 2 से 4 भी आवेदन करके पक्षकार बन गए। वाद का प्रतिरोध प्रतिवादी सं० 2 तथा 3 ने यह अभिकथन करते हुए किया कि उन्हें पट्टेदार का अधिकार अपने पिता श्री जे० पी० पंचोली से विरासत में मिला था। विद्वान् विचारण न्यायालय ने प्रतिवादियों द्वारा पट्टे के अभ्यर्पण के संबंध में वादी के वृत्तांत को स्वीकार कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी सं० 1 ही वादगत परिसर का पट्टेदार था। उसने किराए की बकाया तथा बेदखली के दायित्व के संबंध में भी वादी के वृत्तांत को स्वीकार कर लिया। उसने यह भी निर्धारित किया कि प्रतिवादी सं० 2 का कब्जा अतिचारी का कब्जा है। अतः उसने प्रतिवादी सं० 1 तथा 2 के विरुद्ध बेदखली का वाद डिक्री कर दिया। प्रतिवादी सं० 2 ने उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण फाइल किया। आवेदक की ओर से मुख्यतः यह दलील दी गई कि श्री जे० पी० पंचोली के उत्तराधिकारियों ने वादगत परिसर में पट्टे के अपने अधिकारों का कभी भी अभ्यर्पण नहीं किया और वाद लघु वाद न्यायालय में चलने योग्य नहीं था।

अभिनिर्धारित—आवेदन भागतः मंजूर किया गया।

संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 111(च) में यह उपबंधित है कि स्थावर संपत्ति का पट्टा विवक्षित अभ्यर्पण द्वारा पर्यवसित हो जाएगा। यदि कोई पट्टेदार किराएदारी की नई संविदा स्वीकार करता है तो वह पुरानी किराएदारी के अभ्यर्पण के रूप में प्रवृत्त होगा, क्योंकि पट्टा तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि पुरानी किराएदारी अभ्यर्पित नहीं की जाती। ऐसा अभ्यर्पण विधि के प्रवर्तन द्वारा घटित होता है। विवक्षित अभ्यर्पण का निष्कर्ष दोनों पक्षकारों के असंदिग्ध आचरण के आधार पर निकाला जा सकता है। (पैरा 16 और 17)

प्रतिवादी सं० 3 तथा 4 का आचरण यह दर्शित करता है कि प्रतिवादियों ने पुराने पट्टे को वादी के पक्ष में अभ्यर्पित कर दिया था। प्रतिवादी सं० 2 का प्लाजा थियेटर्स (प्राइवेट) लिमिटेड नामक नई कंपनी सिनेमा कारबार चलाने के लिए संप्रवर्तित करने का कार्य और कंपनी के पक्ष में पट्टे के अभ्यर्पण के पश्चात् कंपनी के प्रबंध-निदेशक के रूप में प्रतिवादी सं० 1 श्री वी० के० पंचोली द्वारा नया पट्टा लेने में उपमति व्यक्त करने का

कार्य यह दर्शित करता है कि पुराना पट्टा अभ्यर्पित कर दिया गया था। वह उस अवधि के दौरान, जब सिनेमा कारबार कंपनी द्वारा चलाया जा रहा था, प्लाजा थियेटर्स (प्रा०) लिमिटेड के निदेशक के रूप में उस कारबार से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था और श्री वी० के० पंचोली द्वारा चलाए जा रहे सिनेमा कारबार के प्रबंधक के रूप में भी संबद्ध था। उसे पट्टों के लेने के संबंध में पूर्ण जानकारी थी और उसका आचरण असंदिग्ध रूप से यह दर्शित करता है कि पुराना पट्टा अभ्यर्पित कर दिया गया था। (पैरा 22 और 23)

प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम, 1887 की द्वितीय अनुसूची के अनुच्छेद 4 के 1972 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 37 द्वारा संशोधन के पश्चात् पट्टाकर्ता द्वारा किसी भवन से पट्टेदार की उसके पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् बेदखली के लिए और उस भवन के उपयोग तथा अधिभोग के लिए प्रतिकर की वसूली के लिए वाद लघु वाद न्यायालय में फाइल किया जा सकता है। वादी ने वाद मूलत प्रतिवादी सं० 1 के विरुद्ध फाइल किया था और प्रतिवादी सं० 2 से 4 को उनकी प्रार्थना पर पक्षकार बनाया गया था। प्रतिवादियों द्वारा पुराने पट्टे के अभ्यर्पण के पश्चात् कंपनी के पक्ष में पट्टा अनुदत्त किया गया था और तत्पश्चात् केवल प्रतिवादी सं० 1 के पक्ष में अनुदत्त किया गया था। उसकी किराएदारी का पर्यवसान संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन नोटिस द्वारा सम्यकतः हो गया था। उसके पश्चात् वह मौन सम्मति प्राप्त किराएदार (टैनैन्ट ऐट सफरेन्स) बन गया। मौन सम्मति प्राप्त किराएदार की हैसियत अतिचारी की हैसियत से बेहतर नहीं होती। प्रतिवादी सं० 2 प्लाजा थियेटर्स का प्रबंधक था। कारबार प्रतिवादी सं० 1 द्वारा ही चलाया जा रहा था। प्रतिवादी सं० 2 का आवासीय भाग पर सिनेमा के प्रबंधक के रूप में कब्जा अनुज्ञाजन्य था। चूंकि वह एकमात्र किराएदार प्रतिवादी सं० 1 की अनुज्ञा से काबिज था, अतः उसका कब्जा भी अतिचारी का ही कब्जा था। संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन नोटिस के पश्चात् किसी किराएदार की या उसकी ओर से काबिज किसी व्यक्ति की बेदखली के लिए वाद लघु वाद न्यायालय में किया जाता है। (पैरा 25 और 26)

		पैरा
[1980]	ए० आई० आर० 1980 इलाहाबाद 266 : श्रीमती मधुबाला **बनाम** श्रीमती बुधिया और एक अन्य (Smt. Madhubala *Vs.* Smt. Budhiya and another);	18

[1978] 1978 इलाहाबाद लॉ जर्नल 215 : बुंदू **बनाम** अकबर अली (Bundoo *Vs.* Akbar Ali); 17, 18

[1953] ए० आई० आर० 1953 ट्रावनकोर कोचीन 584 : वेलू **बनाम** लक्ष्मी (Velu *Vs.* Lakshmi); 16

[1952] ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 196 : मोहम्मद इब्राहीम **बनाम** बेनी माधव (Mohammad Ibrahim *Vs.* Beni Madhab); 16

[1939] ए० आई० आर० 1939 पटना 598 : भूपेन्द्र सिंह **बनाम** मेघनाथ सिंह (Upendra Singh *Vs.* Meghnath Singh) 16

का **अवलंब** लिया गया ।

[1978] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 58 : पूरन चंद **बनाम** प्रभात कुमार (Pooran Chand *Vs.* Prabhat Kumar); 27, 28

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1738 : द्वारका प्रसाद **बनाम** द्वारका दास (Dwarka Prasad *Vs.* Dwarka Das); 27, 28

[1965] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 716 : उत्तम चंद **बनाम** एस० एम० लालवानी (Uttam Chand *Vs.* S. M. Lalwani) 27

से **प्रभेद** बताया गया ।

पुनरीक्षण (सिविल) अधिकारिता : 1981 का पुनरीक्षण आवेदन सं० 129.

इलाहाबाद के अपर जिला न्यायाधीश (द्वितीय) द्वारा विनिश्चित 1977 के लघु वाद न्यायालय वाद सं० 147 में दिए गए 28-2-1981 के निर्णय तथा डिक्री के विरुद्ध पुनरीक्षण ।

पुनरीक्षणकर्ता की ओर से .... श्रीमती रमा देवी गुप्ता,
श्री श्रीपत नारायण सिंह और
श्री कल्याण प्रकाश श्रीवास्तव

विरोधी पक्षकार की ओर से .... सर्वश्री आर० एन० भल्ला एवं श्रीधर

न्यायालय का निर्णय न्या० ओ० पी० सक्सेना ने दिया।

न्या० सक्सेना :

यह इलाहाबाद के द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश द्वारा 28-2-1981 को पारित निर्णय तथा डिक्री के विरुद्ध प्रांतीय लघुवाद न्यायालय अधिनियम की धारा 25 के अधीन पुनरीक्षण है। इस निर्णय द्वारा किराए की बकाया की वसूली के लिए, बेदखली के लिए तथा उपयोग एवं अधिभोग के लिए नुकसानी हेतु वाद के लंबित रहने के दौरान तथा भावी नुकसानी की रकम पर 12% प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित डिक्री दी गई थी।

2. विवाद का सबंध इलाहाबाद के महात्मा गांधी मार्ग पर स्थित परिसर सं० 24/35 से है, जिसे सामान्यतया प्लाजा थियेटर कहा जाता है। भूतल पर, प्रथम मंजिल पर और द्वितीय मंजिल पर सिनेमा के उपयोग के लिए स्थान के अतिरिक्त इस भवन में एक निवासीय भाग भी द्वितीय मंजिल पर है।

3. वादी वादगत परिसर का मकान-मालिक है। श्री जे० पी० पंचोली परिसर का पट्टेदार (किराएदार) था। 29 मार्च, 1965 को पट्टा-विलेख निष्पादित किया गया, जिसके द्वारा वादगत परिसर जे० पी० पंचोली को 10 वर्ष की अवधि के लिए 1100 रुपये के किराए पर दिया गया। पट्टा 28 मार्च, 1975 तक चला था।

4. 18-9-1974 को श्री जे० पी० पंचोली की मृत्यु हो गई। उसके पीछे तीन पुत्र श्री बी० के० पंचोली, श्री जे० पी० पंचोली तथा श्री एल० के० पंचोली, जो क्रमश: प्रतिवादी सं० 1, 2 और 3 हैं, तथा दो पुत्रियां कुमारी पुष्पा पंचोली, प्रतिवादी सं० 4 तथा श्रीमती हीरा तिवारी बच गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् सिनेमा कारबार प्रतिवादी सं० 1, 2 और 4 चलाते रहे।

5. 23-4-1975 को श्री पी० के० घोष, जो चिन्तामणि घोष ट्रस्ट के सचिव हैं (यह ट्रस्ट ही वादी देवता का प्रबंधक है), श्री कल्याण कुमार घोष, प्रतिवादी सं० 1 श्री बी० के०. पंचोली प्रतिवादी सं० 2 श्री जे० जे० पंचोली और प्रतिवादी सं० 4 कुमारी पुष्पा पंचोली ने प्लाजा थियेटर्स (प्रा०) लिमिटेड नामक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी सिनेमा कारबार चलाने के

लिए स्थापित की। प्रदर्श 5 प्लाजा थियेटर्स प्राइवेट लिमिटेड का ज्ञापन तथा संगम-अनुच्छेद है। यह कंपनी 14 मई, 1975 को सम्यक्तया निगमित की गई। प्रदर्श 4 निगमन प्रमाणपत्र है।

6. 18-7-1975 को वादगत परिसर कंपनी को पट्टे पर दिए गए। प्रदर्श 6 पट्टाकर्ता की ओर से श्री पी० के० घोष द्वारा और पट्टेदार की ओर से कंपनी के प्रबंधक-निदेशक श्री बी० के० पंचोली द्वारा सम्यक्तया निष्पादित पट्टाविलेख है। वादगत परिसर 1,250 रुपयें प्रति मास के किराए पर एक वर्ष की अवधि के लिए दिए गए।

7. इस प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के कारबार चलाने में हानि हुई और वह जारी न रह सका।

8. 14-10-1976 को प्रतिवादी सं० 1 श्री बी० के० पंचोली ने वादगत परिसर पट्टे पर लिया। प्रदर्श 7 पट्टाकर्ता की ओर से श्री पी० के० घोष द्वारा तथा पट्टेदार की ओर से श्री बी० के० पंचोली द्वारा निष्पादित 14-10-1976 का पट्टा-विलेख है। वादगत परिसर 1-8-1976 से 31-6-1977 तक की अवधि के लिए 4,375 रुपये प्रति मास के किराए पर लिए गए थे। उसी तारीख को उन्हीं पक्षकारों ने एक और करार निष्पादित किया, जिसके द्वारा श्री बी० के० पंचोली ने यह करार किया कि वह 1-4-1975 से 31-3-1976 तक की अवधि के लिए तीन हजार रुपए प्रति मास किराया देगा और 1-4-1976 से 31-7-1976 तक की अवधि के लिए 4,375 रुपए प्रति मास किराया देगा। तब यह प्रसुविधा भी दी गई कि वह बकाया का संदाय किश्तों में 1,500 रु० प्रति मास के हिसाब से करे।

9. 23-9-1977 को वादी ने 1-4-1975 से 31-7-1977 तक की अवधि के लिए किराए की बकाया तथा उपयोग एवं अधिभोग के लिए नुकसानी तथा 30-6-1977 तक देय रकम पर 12% प्रति वर्ष की दर से ब्याज के मद्धे 97,790 रुपये की वसूली के लिए वाद फाइल किया। यह वाद प्रतिवादी की बेदखली के लिए तथा 1-3-1977 से कब्जे की तारीख तक की अवधि के लिए 4,375 रुपए प्रति मास की दर से उपयोग तथा अधिभोग की भावी तथा वाद के लंबित रहने के दौरान नुकसानी के लिए भी था। वाद केवल प्रतिवादी सं० 1 श्री बी० के० पंचोली के विरुद्ध फाइल किया गया था। यह कहा गया था कि प्रतिवादी पर 1-4-1975 से किराया बकाया था और उसे परिसर छोड़ने के लिए नोटिस 20-7-1977 को सम्यक्तया दिया गया था,

किंतु प्रतिवादी ने न तो किराया का संदाय किया और न ही वादगत परिसर को खाली किया।

10. 9-1-1979 को प्रतिवादी सं॰ 2 से 4 ने पक्षकार बनाए जाने हेतु आवेदन सं॰ 51-ग दिया। यह आवेदन 7-7-1979 को मंजूर किया गया। 15-11-1979 को वादी ने आवेदन सं॰ 41-क दिया, जिसके द्वारा प्रतिवादी सं॰ 2 से 4 को पक्षकार बनाने वाले वाद के संशोधन के लिए तथा वादपत्र में कुछ और अभिकथन करने के लिए प्रार्थना की गई थी। आवेदन 14-12-1979 को मंजूर किया गया। यह अभिकथन किया गया था कि प्रतिवादी सं॰ 1, 2 तथा 4 ने तथा एक और व्यक्ति ने मिलकर प्लाजा थियेटर (प्राइवेट) लिमिटेड के नाम में एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी स्थापित की, कंपनी का सम्यक्तया निगमन 14 मई, 1975 को किया गया। प्रतिवादियों ने वादी के पक्ष में वादगत परिसर का पट्टा अभ्यर्पित कर दिया। 18-7-1975 को एक नया पट्टा वादी तथा प्लाजा थियेटर प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के बीच निष्पादित किया गया, प्राइवेट लिमिटेड कंपनी काफी दिनों तक नहीं चल सकी और कंपनी के प्रबंध-निदेशक प्रतिवादी सं॰ 1 श्री वी॰ के॰ पंचोली ने पट्टा को वादी के पक्ष में अभ्यर्पित कर दिया, 14-10-76 को उसने वादी के साथ एक नया पट्टा निष्पादित किया और इसीलिए वादी ने वाद केवल प्रतिवादी सं॰ 1 के विरुद्ध फाइल किया।

11. वाद का प्रतिरोध प्रतिवादी सं॰ 2 तथा 3 ने यह अभिकथन करते हुए किया कि उन्हें पट्टेदार का अधिकार अपने पिता श्री जे॰ पी॰ पंचोली से विरासत में मिला था, वे वादगत परिसर के 1100 रुपये प्रति मास के किराए पर पट्टेदार हैं, उन्होंने वादी के पक्ष में परिसर में अपने पट्टेदारी अधिकारों को कभी भी अभ्यर्पित नहीं किया, वादी के पक्ष में प्रतिवादी द्वारा निष्पादित विक्रय-विलेख दुःसंधिजन्य है, अतः प्रतिवादियों पर आबद्धकर नहीं है। वे किराए की वर्धित दर अर्थात् 4,375 रुपए प्रति मास का संदाय करने के दायित्वाधीन नहीं हैं, वादी को 1-4-1975 से आगे 1,260 रुपये प्रति मास की दर से किराया लेने का हक है, प्रतिवादी सं॰ 2 ने अपने नाम में अनुज्ञप्ति ली है और वह परिसर के आवासीय प्रभाग में सपरिवार रह रहा है।

12. प्रतिवादी सं॰ 3 और 4, अर्थात् श्री एल॰ के॰ पंचोली और कुमारी पुष्पा पंचोली ने 23-9-1980 का आवेदन-पत्र 67-ग तथा 19-3-1980 का आवेदन-पत्र सं॰ 56-ग दिया। यह प्रार्थना की गई कि

उनका नाम प्रतिवादियों की सूची से काट दिया जाए और उन्हें किराया की बकाया तथा वाद के खर्चे के संदाय के दायित्व से छूट दे दी जाए।

13. विद्वान् विचारण न्यायालय ने प्रतिवादियों द्वारा पट्टे के अभ्यर्पण के संबंध में वादी के वृत्तांत को स्वीकार कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी सं० 1 ही वादगत परिसर का पट्टेदार था। उसने किराए की बकाया तथा बेदखली के दायित्व के संबंध में भी वादी के वृत्तांत को स्वीकार कर लिया। उसका यह निष्कर्ष था कि प्रतिवादी सं० 3 और 4 का कब्जा नहीं था और प्रतिवादी सं० 1 का ही वादगत संपत्ति पर कब्जा था। जहां तक प्रतिवादी सं० 2 के कब्जे का संबंध है, उसने यह अभिनिर्धारित किया कि उसका कब्जा अतिचारी का कब्जा है, क्योंकि उसे उस संपत्ति में कोई अधिकार, हक या हित प्राप्त नहीं है। उसने यह भी अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी सं० 1 का पट्टा संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन नोटिस द्वारा सम्यक्तया पर्यवसित हो गया था। उसने 97,790 रुपए की वसूली के लिए वाद को 4,375 रुपए प्रति मास की दर से वाद के लंबित रहने के दौरान तथा भावी नुकसानी के रूप में एवं खर्चे सहित प्रतिवादी सं० 1 के विरुद्ध डिक्री कर दिया। उसने प्रतिवादी सं० 1 तथा 2 के विरुद्ध बेदखली का वाद भी डिक्री कर दिया। उसने यह भी निदेश दिया कि निर्णय की तारीख के पश्चात् की अवधि में उपयोग तथा अधिभोग के लिए नुकसानी प्रतिवादी सं० 1 तथा 2 द्वारा 4,375 रुपए प्रति मास की दर से संदत्त की जाएगी। उसने यह भी निदेश दिया कि प्रतिवादी सं० 2 वादी को वाद के खर्चे का आधा देगा। प्रतिवादी सं० 3 तथा 4 को दावे से तथा वाद के खर्चे से छूट दे दी गई। अतः यह पुनरीक्षण प्रतिवादी सं० 2 द्वारा किया गया है।

14. आवेदक की विद्वान् काउंसेल श्रीमती रमो देवी गुप्ता ने यह निवेदन किया कि विचारण न्यायालय ने अभ्यर्पण के संबंध में वादी के वृत्तांत को स्वीकार करके गलती की है। उनके अनुसार स्व० श्री० जे० जे० पंचोली के उत्तराधिकारियों ने वादगत परिसर में पट्टे के अपने अधिकारों का अभ्यर्पण कभी भी नहीं किया। प्रतिवादी सं० 2 ने परिसर के आवासीय प्रभाग का कब्जा बनाए रखा। वह सिनेमा का प्रबंधक भी है। वह वादी तथा प्रतिवादी सं० 1 श्री बी० के० पंचोली द्वारा निष्पादित 14 अक्तूबर, 1976 के पट्टा-विलेख से आबद्ध नहीं है। अभ्यर्पण दस्तावेज को साबित नहीं किया गया है और विचारण न्यायालय को चाहिए था कि वह इस संबंध में वादी

के वृत्तांत को अस्वीकार कर देता और बेदखली के वाद को इस आधार पर खारिज कर देता कि प्रतिवादी सं० 2 पर नोटिस की तामील नहीं की गई है।

15. वादी विरोधी पक्षकार के विद्वान् काउंसेल श्री राजाराम अग्रवाल ने यह निवेदन किया कि अभ्यर्पण दस्तावेज प्रतिवादी सं० 1, अर्थात् श्री वी० के० पंचोली के कब्जे में बना रहा, जो कंपनी का प्रबंध-निदेशक भी था। यह कहा गया कि श्री वी० के० पंचोली का अक्तूबर, 1978 से ही अता-पता नहीं है। अतः दस्तावेज को न्यायालय के समक्ष समन या प्रस्तुत नहीं किया जा सका। उसने वादी साक्षी सं० 1 श्री ए० के० घोष के द्वितीयक साक्ष्य का अवलंब लिया। उसने यह निवेदन किया कि यह मामला आचरण द्वारा विवक्षित अभ्यर्पण का है और इसमें वादी तथा प्रतिवादी सं० 1 के बीच पट्टेदार और पट्टाकर्ता के नए संबंध की सृष्टि हुई है। प्रतिवादी सं० 2 वादगत परिसर के आवासीय प्रभाग का कब्जा सिनेमा के प्रबंधक के रूप में रखता है और उसके कब्जे के संबंध में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिवादी सं० 1 की ओर से है। उसका अपना कोई अधिकार या हित नहीं है और वह प्रतिवादी सं० 1 के साथ-साथ बेदखल किए जाने के दायित्वाधीन है।

16. हमने अपने समक्ष दी गई दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार कर लिया है। संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 111(च) में यह उपबंधित है कि स्थावर संपत्ति का पट्टा विवक्षित अभ्यर्पण द्वारा पर्यवसित हो जाएगा। यदि कोई पट्टेदार किराएदारी की नई संविदा स्वीकार करता है तो वह पुराने किराएदारी के अभ्यर्पण के रूप में प्रवृत्त होगा, क्योंकि पट्टा तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि पुरानी किराएदारी अभ्यर्पित नहीं की जाती। ऐसा अभ्यर्पण विधि के प्रवर्तन द्वारा घटित होता है। **भूपेन्द्र सिंह** बनाम **मेघ नाथ सिंह**[1], **मोहम्मद इब्राहीम** बनाम **बेनी माधव**[2] तथा **वेलू** बनाम **लक्ष्मी**[3] के मामले निर्देश्य हैं।

17. विवक्षित अभ्यर्पण का निष्कर्ष दोनों पक्षकारों के असंदिग्ध आचरण के आधार पर निकाला जा सकता है। वुड फाल के मकान-मालिक और किराएदार की विधि (लॉ आफ लैंडलार्ड एंड टेनैंट) के 1968 के

---

[1] ए० आई० आर० 1939 पटना 598.

[2] ए० आई० आर० 1952 कलकत्ता 196.

[3] ए० आई० आर० 1953 ट्रावनकोर-कोचीन 584.

संस्करण के पृष्ठ ४62 पर पैरा 1862 देखें। **बुंदू** बनाम **अकबर अली**[1] (जिसका विनिश्चय हममें से एक अर्थात् श्री के० सी० अग्रवाल ने किया था) के प्रति भी निर्देश किया जा सकता है। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 111 के अधीन कोई किराएदार अपने अधिकारों का अभ्यर्पण अभिव्यक्ततः या विवक्षित रूप में कर सकता है। किसी किराएदार की मृत्यु पर उसकी विधवा तथा उसके तीन पुत्रों ने विवादगत संपत्ति के किराएदार होने का दावा किया था और मकान-मालिक ने भी इस स्थिति को इन व्यक्तियों से किराए का दावा करते हुए स्वीकार कर लिया था। उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए यह संभव नहीं है कि यह दलील स्वीकार की जाए कि मृतक की पुत्री भी उसके वारिसों तथा विधिक प्रतिनिधियों में से एक थी और चूंकि उसे बेदखली के वाद में पक्षकार नहीं बनाया गया था इसलिए वाद खारिज किए जाने के दायित्वाधीन था।

18. उपर्युक्त निर्णय का अनुसरण **श्रीमती मधुबाला** बनाम **श्रीमती बुधिया और एक अन्य**[2] में किया गया। वादगत संपत्ति का किराएदार कुंदन था। उसकी मृत्यु के पश्चात् श्रीमती बुधिया और पुत्र हरिराम परिसर में रहते रहे। मकान-मालिक ने संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन माता तथा पुत्र को नोटिस दिया। बेदखली के दावे का प्रतिरोध इस आधार पर किया गया कि वाद पक्षकारों के पक्षकार न बनाए जाने के आधार पर दूषित था, क्योंकि कुंदन के अन्य पुत्रों तथा पुत्रियों को अभिलेख पर नहीं लाया गया था। विचारण न्यायालय ने वाद में डिक्री कर दी और असंयोजन के अभिवाक् को अस्वीकार कर दिया। निचले अपील न्यायालय ने अपील मंजूर कर ली और बेदखली के वाद को हरि राम के अन्य भाइयों तथा बहनों के असंयोजन के आधार पर खारिज कर दिया। द्वितीय अपील में **बुंदू** बनाम **अकबर अली**[2] के मामले का अवलंब लिया गया। यह अभिनिर्धारित किया गया :—

> "बुन्दू (1978 इलाहाबाद लॉ जर्नल 215) तथा रमेश चंद बोस (ए० आई० आर० 1977 इलाहाबाद 38) के मामलों में अधिकथित सिद्धांत के संबंध में कोई विवाद नहीं है, किंतु इन मामलों से यह मामला अंतिम रूप से निर्णीत नहीं होगा, क्योंकि इन

---

[1] 1978 इलाहाबाद लॉ जर्नल 215.

[2] ए० आई० आर० 1980 इलाहाबाद 266.

दोनों ही मामलों में विवक्षित अभ्यर्पण के प्रश्न पर विचार नहीं किया गया था। निचले अपील न्यायालय द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण निश्चय ही विधिक दृष्टि से गलत है कि कुंदन के अन्य वारिसों के असंयोजन के आधार पर वाद दूषित है।'

19. श्री वी० पी० पंचोली 29 मार्च, 1965 के पट्टे के आधार पर वादगत परिसर का पट्टेदार था। पट्टा 10 वर्ष की अवधि के लिए था, किंतु जे० पी० पंचोली की मृत्यु 18-9-1974 को हो गई। प्रतिवादी सं० 1, 2 तथा 4 सिनेमा कारबार 23 अप्रैल, 1975 को प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के प्रारंभ किए जाने तक चलाते रहे—प्रदर्श 5 देखें। प्रतिवादी सं० 3 का सिनेमा कारबार से कोई संबंध नहीं था और उसे न तो अपने पिता के जीवन-काल में और न उसकी मृत्यु के पश्चात् पट्टे से कोई सरोकार था। प्रतिवादी सं० 1, 2 तथा 4 के संबंध में यह समझा जाएगा कि वे प्लाजा थियेटर (प्राइवेट) लिमिटेड के बनाए जाने तक पट्टाकर्ता की सम्मत्ति से अतिधारक पट्टेदार (लेसीज होल्डिंग ओवर) के रूप में काबिज बने रहे। प्रदर्श 5 प्लाजा थियेटर्स (प्राइवेट) लिमिटेड का ज्ञापन तथा संगम अनुच्छेद है। पैरा 129 में यह उपबंधित था कि श्री वी० के० पंचोली प्रबंधक निदेशक के रूप में कार्य करेंगे। प्रदर्श 4 निगमन प्रमाण-पत्र है। प्रदर्श 6 प्लाजा थियेटर्स (प्राइवेट) लिमिटेड के प्रबंध-निदेशक के रूप में श्री वी० के० पंचोली अर्थात् प्रतिवादी सं० 1 द्वारा निष्पादित 18 जुलाई, 1975 का पट्टा है, जो वादी के पक्ष में 18 जुलाई, 1975 से एक वर्ष की अवधि के लिए निष्पादित किया गया था। वादी का पक्षकथन यह है कि जून, 1975 में प्रतिवादियों ने पट्टे का अभ्यर्पण वादी के पक्ष में अभिव्यक्ततः कर दिया और उसके पश्चात् एक नया पट्टा 18 जुलाई, 1975 को प्रतिवादी सं० 1 द्वारा वादी के पक्ष में निष्पादित किया गया। अभ्यर्पण का मूल दस्तावेज इसलिए प्रस्तुत नहीं किया जा सका कि वह श्री वी० के० पंचोली के कब्जे में था, जो प्लाजा थियेटर्स (प्रा०) लिमिटेड कंपनी का प्रबंधक-निदेशक था। किंतु यह तथ्य अभी भी बच रहता है कि प्रतिवादी सं० 1, 2 तथा 4 ने प्राइवेट लिमिटेड कंपनी का संप्रवर्तन किया है और प्रतिवादी सं० 1 श्री वी० के० पंचोली ने कंपनी के प्रबंध-निदेशक के रूप में वादी से एक नया पट्टा अभिप्राप्त किया था। प्रतिवादी साक्षी 2 श्री जे० जे० पंचोली कंपनी के निदेशकों में से एक था। उसने यह कहा है कि वह संप्रवर्तकों में से था और श्री वी० के० पंचोली प्रबंध-निदेशक था। उसके इस वृत्तांत को स्वीकार करना कठिन है कि उसने पुराने

पट्टे का अभ्यर्पण उस समय नहीं किया, जब उसने, उसके भाई ने तथा उसकी बहन ने सिनेमा कारबार चलाने के लिए कंपनी बनाई। उसके कथन से यह प्रकट होता है कि वादी ने कंपनी के प्रबंध-निदेशक श्री वी० के० पंचोली के विरुद्ध वाद फाइल किया और उसने उस मामले में पैरवी की और उस मामले में सुलह हो गई। उसने यह स्वीकार किया है कि श्री वी० के० पंचोली ने कंपनी के प्रबंध-निदेशक के रूप में किराएदारी का अभ्यर्पण किया। प्रदर्श 3 श्री वी० के० पंचोली द्वारा अपनी निजी हैसियत में वादी के पक्ष में निष्पादित किया गया 14-10-1976 का पट्टा है। श्री वी० के० पंचोली द्वारा चलाए जा रहे सिनेमा कारबार के प्रबंधक के रूप में कंपनी के बंद होने पर उसे यह जानना चाहिए था कि श्री वी० के० पंचोली द्वारा एक नया पट्टा निष्पादित किया गया है। उसका यह पक्षकथन नहीं है कि कंपनी के बंद होने पर उसने और श्री वी० के० पंचोली ने संयुक्तत: कारबार चलाया। प्रबंधक के सिवाय कारबार में और कोई हित न रखते हुए उसका 4,375 रुपए प्रति मास की दर से पट्टे में कोई भी हित नहीं हो सकता था। वह आवासीय प्रभाग में प्रबंधक के रूप में रहता था और उसने न तो बंटवारा कराया था और न ही किराया दिया था।

20. प्रतिवादी सं० 3 श्री एल० के० पंचोली ने आवेदन-पत्र सं० 67-ग इस आशय का दिया कि उसका न तो वादगत परिसर के पट्टे से और न ही सिनेमा कारबार से किसी प्रकार का कोई सरोकार है और उसने मकान-मालिक को लिखित रूप में यह दे दिया था कि उसका वादगत परिसर के किराएदारी अधिकारों में कोई हित नहीं है और यदि विधि की किसी विवक्षा के आधार पर उसका कोई अधिकार बनता भी हो, तो भी उसने ऐसे अधिकार का कभी भी दावा नहीं किया।

21. प्रतिवादी सं० 4 ने एक आवेदन पत्र सं० 56-ग दिया, जिसमें यह कहा गया था कि उसने और उसके भाइयों ने वादी के पक्ष में वादगत परिसर के पट्टों का अभ्यर्पण कर दिया था और तत्पश्चात् प्लाजा थियेटर्स (प्राइवेट) लिमिटेड के पक्ष में एक नया पट्टा निष्पादित किया गया था और चूंकि कंपनी कारबार नहीं चला सकी, अत: उसने पट्टे को वादी के पक्ष में अभ्यर्पित कर दिया और तत्पश्चात् प्रतिवादी सं० 1 श्री वी० के० पंचोली ने ही पट्टा अभिप्राप्त किया। प्रतिवादी सं० 4 कुमारी पुष्पा पंचोली ने वाद में यह कहा कि उसने ऐसा कोई आवेदन नहीं दिया था। इस संदर्भ में उसके आवेदन पत्र सं० 93-क के पैरा 20 के प्रति निर्देश किया जा सकता है। यह

कहा गया कि वाद के चलते रहने के दौरान श्री वी० के० पंचोली ने उसके हस्ताक्षर कुछ कोरे कागजों पर करा लिए थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वे कागज वादी के पैरोकार को दे दिए, जिसने न्यायालय के समक्ष उन कागजों का प्रतिवादी सं० 4 की जानकारी और सहमति के बिना उपयोग करके कपट किया, किंतु सत्य अन्यथा है। पत्र सं० 21-ग तीन वकीलों, अर्थात् श्री राम चरण दास, श्री राधा पांडे और श्री पी० एन० श्रीवास्तव का संयुक्त वकालतनामा है, जो प्रतिवादी सं० 2 से 4 की ओर से फाइल किया गया था। यह वकालतनामा आवेदन पत्र सं० 51-ग के साथ फाइल किया गया था, जिसके द्वारा प्रतिवादी सं० 2 से 4 ने पक्षकार बनाए जाने की प्रार्थना की थी। पत्र सं० 42-ग, जिस पर 7-12-1979 तारीख दी गई है, कुमारी पुष्पा का आवेदन है, जिसके द्वारा न्यायालय को यह इत्तिला दी गई है कि उसने अपने काउंसेल के रूप में केवल श्री पी० एन० श्रीवास्तव को रखा था। इस आवेदन पर कुमारी पुष्पा पंचोली तथा श्री पी० एन० श्रीवास्तव के हस्ताक्षर थे। मार्च, 1980 में आवेदन पत्र सं० 56-ग, जिस पर कुमारी पुष्पा तथा अधिवक्ता श्री पी० एन० श्रीवास्तव के हस्ताक्षर थे, न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका पश्चात्वर्ती वृत्तांत पश्चात्-चिंतन का परिणाम है और वह पत्र सं० 56-ग में किराएदारी के अभ्यर्पण की स्वीकृति को नकारने के उद्देश्य से किया गया है। इन परिस्थितियों में हम उसके पश्चात्वर्ती वृत्तांत को अविश्वसनीय पाते हैं।

22. इस प्रकार प्रतिवादी सं० 3 तथा 4 का आचरण यह दर्शित करता है कि प्रतिवादियों ने पुराने पट्टे को वादी के पक्ष में अभ्यर्पित कर दिया था।

23. प्रतिवादी सं० 2 का प्लाजा थियेटर्स (प्राइवेट) लिमिटेड के नाम में नई कंपनी सिनेमा कारबार चलाने के लिए संप्रवर्तित करने का कार्य और कंपनी के पक्ष में पट्टे के अभ्यर्पण के पश्चात् कंपनी के प्रबंध-निदेशक के रूप में प्रतिवादी सं० 1 श्री वी० के० पंचोली द्वारा नया पट्टा लेने में उपमति व्यक्त करने का कार्य यह दर्शित करता है कि पुराना पट्टा अभ्यर्पित कर दिया गया था। वह उस अवधि के दौरान, जब सिनेमा कारबार कंपनी द्वारा चलाया जा रहा था, प्लाजा थियेटर्स (प्रा०) लिमिटेड के निदेशक के रूप में उस कारबार से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था और श्री वी० के० पंचोली द्वारा चलाए जा रहे सिनेमा कारबार के प्रबंधक के रूप में भी संबद्ध था। अतः

हम उसके इस अभिवाक् को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि उसे श्री वी० के० पंचोली द्वारा अभिप्राप्त पट्टे के संबंध में कोई जानकारी नहीं थी। हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि उसे पट्टों के लेने के संबंध में पूर्ण जानकारी थी और उसका आचरण असंदिग्ध रूप से यह दर्शित करता है कि पुराना पट्टा अभ्यर्पित कर दिया गया था।

24. इस प्रकार हमारी यह राय है कि विचारण न्यायालय ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया था कि कंपनी के पक्ष में पट्टे से पूर्व प्रतिवादियों द्वारा पट्टेदारों के अधिकारों का विवक्षित अभ्यर्पण हो गया था।

25. इसके बाद श्रीमती रमो देवी ने यह दलील दी कि विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रतिवादी सं० 2 अतिचारी है और इसलिए कब्जे के लिए वाद लघु वाद न्यायालय में फाइल नहीं किया जा सकता था। श्री राजा राम अग्रवाल ने यह दलील दी कि प्रांतीय लघु वाद न्यायालय अधिनियम, 1887 की द्वितीय अनुसूची के अनुच्छेद 4 के 1972 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 37 द्वारा संशोधन के पश्चात् पट्टाकर्ता द्वारा किसी भवन से पट्टेदार की उसके पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् बेदखली के लिए और उस भवन के उपयोग तथा अधिभोग के लिए प्रतिकर की वसूली के लिए वाद लघु वाद न्यायालय में फाइल किया जा सकता है।

26. वादी ने वाद मूलतः प्रतिवादी सं० 1 के विरुद्ध फाइल किया था और प्रतिवादी सं० 2 से 4 को उनकी प्रार्थना पर पक्षकार बनाया गया था। प्रतिवादियों द्वारा पुराने पट्टे के अभ्यर्पण के पश्चात् कंपनी के पक्ष में पट्टा अनुदत्त किया गया था और तत्पश्चात् केवल प्रतिवादी सं० 1 के पक्ष में अनुदत्त किया गया था। उसकी किराएदारी का पर्यवसान संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन नोटिस द्वारा सम्यक्तः हो गया था। उसके पश्चात् वह मौन सम्मति प्राप्त किराएदार (टेनैन्ट ऐट सफरेन्स) बन गया। मौन सम्मति प्राप्त किराएदार की हैसियत अतिचारी की हैसियत से बेहतर नहीं होती। प्रतिवादी सं० 2 प्लाजा थियेटर्स का प्रबंधक था। कारबार प्रतिवादी सं० 1 द्वारा ही चलाया जा रहा था। प्रतिवादी सं० 2 का आवासीय भाग पर सिनेमा के प्रबंधक के रूप में कब्जा अनुज्ञाजन्य था। चूंकि वह एकमात्र किराएदार प्रतिवादी सं० 1 की अनुज्ञा से काबिज था, अतः उसका कब्जा भी अतिचारी का ही कब्जा था। संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन नोटिस के पश्चात् किसी किराएदार की या उसकी ओर से काबिज किसी व्यक्ति की बेदखली के लिए वाद लघु वाद

न्यायालय में किया जाता है। हम श्रीमती रमो देवी गुप्ता की इस दलील को मानने में असमर्थ हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वाद लघु वाद न्यायालय में संधार्य था।

27. इसके पश्चात् श्रीमती रमो देवी गुप्ता ने यह दलील दी कि चूंकि पट्टा चालू सिनेमा कारबार का था, अतः वाद का विचारण लघु वाद न्यायालय नहीं कर सकता था। उन्होंने **पूरन चंद** बनाम **प्रभात कुमार**[1] का अवलंब लिया। उस मामले में उच्चतम न्यायालय के दो विनिश्चयों का अवलंब लिया गया। **उत्तम चंद** बनाम **एस० एम० लालवानी**[2] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने "वास सुविधा" की परिभाषा पर, जैसी कि वह मध्य प्रदेश वास सुविधा नियंत्रण अधिनियम की धारा 3 (क) में दी गई है, विचार किया था और यह अभिनिर्धारित किया कि दाल मिल भवन-कर पट्टे के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अधिनियम में यथा-परिभाषित वास सुविधा की बाबत है। **द्वारका प्रसाद** बनाम **द्वारका दास**[3] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 1947 के उत्तर प्रदेश अधिनियम सं० 3 की धारा 2 (कक) में दी गई "वास सुविधा" की परिभाषा पर विचार किया था और यह अभिनिर्धारित किया था कि व्यापक सिनेमा उपस्कर से सुसज्जित अत्यधिक आय देने वाले थियेटर की बाबत पट्टे के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अधिनियम में यथा-परिभाषित वास सुविधा का पट्टा है। श्री राजा राम अग्रवाल ने यह दलील दी कि ये सभी मामले प्रभेद्य हैं, क्योंकि इस मामले में किसी चालू सिनेमा कारबार के लिए पट्टा नहीं था और प्राजैक्टर, जेनेरेटर तथा स्क्रीन के रूप में मूल्यवान सिनेमा उपस्कर पट्टे के विषय नहीं थे। उसने अपनी दलील के समर्थन में पट्टा-विलेख (प्रदर्श 7) के प्रति निर्देश किया।

28. हमने अपने समक्ष की गई दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार कर लिया है और हमें श्री राजा राम अग्रवाल की दलील में सार प्रतीत होता है। मूल्यवान सिनेमा उपस्कर, अर्थात प्राजैक्टर, जेनरेटर तथा स्क्रीन के संबंध में कोई पट्टा नहीं था। "पक्षकारों के अभिभावी आशय" की कसौटी को लागू करने पर यह प्रतीत होगा कि केवल सिनेमा भवन के लिए पट्टा था न कि मूल्यवान् सिनेमा उपस्कर सहित अत्यधिक आय वाले

---

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 58.

[2] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 716.

[3] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1738.

थियेटर के लिए पट्टा था, जैसा कि **द्वारका प्रसाद के मामले**[1] में था अथवा न्यू ताज टाकीज सिनेमा चलाने के अधिकार के लिए पट्टा था, जैसा कि **पूरन चंद के मामले**[2] में था। ये मामले स्पष्टतः प्रभेद्य हैं। बेदखली के लिए वाद लघु वाद न्यायालय में फाइल किया जा सकता था और हम श्रीमती रमो देवी की दलील मानने में असमर्थ हैं।

29. श्रीमती रमो देवी गुप्ता ने अन्त में यह दलील दी कि प्रतिवादी सं० 2 14-10-1976 के पट्टा-विलेख, प्रदर्श 7, का पक्षकार नहीं था और उस पर उपयोग तथा अधिभोग के लिए नुकसानी का 4,375 रुपये प्रति मास की वर्धित दर पर संदाय का दायित्व थोपा नहीं जा सकता। प्रतिवादी सं० 2 द्वारा फाइल किए गए लिखित कथन के पैरा 18 में किए गए प्रकथनों के अनुसार वादी 1,260 रुपए प्रति मास से अधिक का दावा नहीं कर सकता। यह कहा गया कि विचारण न्यायालय को यह चाहिए था कि वह निर्णय की तारीख के पश्चात् की अवधि के लिए उपयोग तथा अधिभोग के मद्धे नुकसानी का प्रतिवादी सं० 2 पर दायित्व 1,260 रुपए प्रति मास नियत करता। 27-3-1981 को पारित रोक आदेश में इस न्यायालय ने प्रतिवादी सं० 2 की बेदखली पर सशर्त रोक लगाई थी। चैकों द्वारा संदाय 23,383 रुपए की राशि का समायोजन करने के पश्चात् प्रतिवादी सं० 2 को यह निदेश दिया गया था कि वह 66,075 रुपए 1-4-1975 से 31-3-1981 की अवधि के लिए उपयोग और अधिभोग के मद्धे नुकसानी के रूप में और 1-4-1981 के पश्चात् की अवधि के लिए 1,260 रुपए प्रति मास की दर से नुकसानी का निक्षेप करे। वादी को इस बात के लिए अनुज्ञात किया गया था कि वह निक्षिप्त रकम निकाल सके। प्रतिवादी सं० 2 ने नियमित रूप से निक्षेप किए हैं और हम इसे न्यायोचित समझते हैं कि 1,260 रुपए प्रति मास की दर से उपयोग और अधिभोग के लिए नुकसानी का संदाय करने का दायित्व प्रतिवादी सं० 2 का है।

30. किसी और मुद्दे पर बल नहीं दिया गया। पुनरीक्षण भागतः मंजूर किया जाता है। विचारण न्यायालय द्वारा पारित निर्णय तथा डिक्री को इस सीमा तक उपांतरित किया जाता है कि 27-3-1981 के रोक आदेश के अनुसरण में प्रतिवादी सं० 2 द्वारा निक्षिप्त रकम, जो वादी द्वारा

---

[1] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1738.

[2] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 58.

निकाल ली गई है या निकाली जा सकती है, के अतिरिक्त प्रतिवादी स० 2 उस अवधि के बाद की अवधि के लिए जब तक निक्षेप कर दिया गया है, उपयोग तथा अधिभोग के लिए नुकसानी के रूप में 1,260 रुपए प्रति मास की दर से दायी होगा। प्रतिवादी सं० 1 तथा 2 को परिसर खाली करने के लिए दो मास का समय दिया जाता है। शेष निर्णय तथा डिक्री पुष्ट की जाती है। रोक आदेश प्रभावोन्मुक्त किया जाता है। पुनरीक्षण कार्यवाही के अपने-अपने खर्चे पक्षकार स्वयं वहन करेंगे।

न्या० अग्रवाल :

मैं सहमत हूं।

पुनरीक्षण आवेदन भागत: मंजूर किया गया।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—332

इबने हसन बनाम श्रीमती हसीना बीबी

(Ibne Hasan *Vs*. Smt. Hasina Bibi)

तारीख 31 जनवरी, 1984

[न्या० एन० डी० ओझा और एम० वजाहुद्दीन]

साक्ष्य अधिनियम, 1872—धारा 40, 41, 42 और 44—न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत होते हैं—किसी डिक्री का पक्षकार या उसके माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति कपट अथवा दुस्संधि के आधार पर प्राप्त की गई डिक्री के प्रभाव से बच सकता है और यह प्राख्यान कर सकता है कि धारा 40 में अनुध्यात प्रयोजन के लिए उक्त डिक्री का अवलम्ब नहीं लिया जा सकता।

साक्ष्य अधिनियम, 1872, धारा 43 व धारा 44—यद्यपि उक्त अधिनियम की धारा 44 में धारा 43 शामिल नहीं की गई फिर भी दुस्संधिपूर्ण डिक्री विबंध (एस्टापल) के अभिवाक् का समर्थन करने के लिए सुसंगत है यदि विबंध के तत्व सिद्ध कर दिए जाते हैं।

एक व्यक्ति हाजी मो० इब्राहीम के तीन पुत्र मो० सदीक, मो० युसुफ और मो० इसमाइल थे। अपीलार्थी-प्रत्यर्थी, इबने हसन मो० इसमाइल का पुत्र है और वादी-प्रत्यर्थी मो० सदीक के विधिक प्रतिनिधि हैं। मो० इब्राहीम प्रश्नगत सम्पत्ति का स्वामी था। हज पर जाते समय उसने उक्त सम्पत्ति का प्रबंध एक इन्तजाम-नामे के द्वारा मो० इसमाइल को सौंप दिया था किन्तु वापस लौटने के बाद प्रबंध और कब्जा पुनः वापस ले लिया था। इसी बीच जब एक बार मो० इसमाइल कलकत्ता चला गया था तो निष्क्रान्त संपत्ति के अभिरक्षक ने इसमाइल को निष्क्रांत व्यक्ति और उक्त संपत्ति को निष्क्रांत संपत्ति घोषित करते हुए नोटिस जारी कर दिया। इसके विरुद्ध मो० इब्राहीम ने 1952 का वाद सं० 126 फाइल किया और न्यायालय से उसके पक्ष में डिक्री पारित हो गई।

तत्पश्चात् मो० इब्राहीम ने प्रश्नगत सम्पत्ति रजिस्टर्ड दान-पत्र द्वारा मो० सदीक को दान में दे-दी और उसने इसका कब्जा भी प्राप्त कर लिया। बाद में मो० इब्राहीम की मृत्यु हो गई और मो० इसमाइल पाकिस्तान चला गया। निष्क्रांत संपत्ति अभिरक्षक द्वारा एक बार फिर उक्त संपत्ति के बारे में नोटिस दिए जाने और मो० सदीक द्वारा आक्षेप किए जाने पर, अभिरक्षक ने मो० सदीक (और बाद में उसके विधिक प्रतिनिधियों को जो इस अपील में वादी-प्रत्यर्थी हैं) को प्रश्नगत संपत्ति का स्वामी मान लिया था और यह कि मो० इसमाइल का उक्त संपत्ति से कोई संबंध नहीं था।

मो० इसमाइल के पाकिस्तान चले जाने के बाद वादी-प्रत्यर्थी ने इसमाइल के पुत्र इबने हसन (प्रतिवादी-अपीलार्थी) को उक्त मकान के एक भाग में अनुज्ञप्तिधारी के रूप में रहने के लिए अनुज्ञात कर दिया था किन्तु एक दिन परस्पर मतभेद और झगड़ा होने के कारण वादी-प्रत्यर्थी ने उसे मकान खाली करने के लिए कहा। इसके उत्तर में उसने अपने पिता मो० इसमाइल द्वारा 13 वर्ष पूर्व किए गए मौखिक दान के आधार पर उक्त मकान पर अपने हक का प्राख्यान किया। परिणामतः वादी-प्रत्यर्थी ने वाद फाइल किया जिसके परिणामस्वरूप यह द्वितीय अपील फाइल की गई है।

वादी-प्रत्यर्थी की ओर से किये गये अभिवाकों में एक अभिवाक् यह था कि 1952 के वाद सं० 126 में पारित डिक्री का प्रभाव 'पूर्व-न्याय' का प्रभाव था और परिणामत; प्रतिवादी का विवादास्पद संपत्ति का स्वामी होने का दावा वर्जित था। प्रतिवादी-अपीलार्थी द्वारा उत्तर में यह अभिवाक् किया गया था कि 1952 के वाद सं० 126 में पारित डिक्री इसके पक्षकारों द्वारा

संपत्ति को निष्क्रांत सपत्ति के अभिरक्षक के हाथों में चले जाने को रोकने के उद्देश्य से दुस्संधि करके प्राप्त की गई थी और इसलिए साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 को देखते हुए उस पर यह बाध्यकर नहीं थी और यह डिक्री पूर्ण-न्याय के रूप में कार्य नहीं करती थी। इस अभिवाक् के बारे में वादी-प्रत्यर्थी की ओर से यह प्राख्यान किया गया था कि चूंकि मो० इसमाइल, अपीलार्थी का पिता, 1952 के वाद सं० 126 का पक्षकार था और अपीलार्थी उसी के माध्यम से हक का दावा कर रहा था इसलिए वह साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 का सहारा लेकर उक्त डिक्री से बच नहीं सकता।

इन दो प्रकार के न्यायिक विनिर्णयों के बीच स्पष्ट विरोध पाए जाने पर विद्वान् एकल न्यायाधीश ने निम्नलिखित प्रश्न खण्ड-न्यायपीठ की राय के लिए उसे निर्दिष्ट कर दिया :—

> "क्या किसी डिक्री के पक्षकार को या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 के अधीन कपट अथवा दुस्संधि के आधार पर प्राप्त डिक्री के प्रभाव से बचने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है।"

अभिनिर्धारित—प्रश्न का उत्तर दिया गया।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 40 से लेकर धारा 44 तक "न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत हैं" शीर्षक के अंतर्गत हैं। प्रस्तुत मामले में हमारा संबंध धारा 40 और धारा 44 से है तथा धारा 41 और धारा 42 से नहीं है। (पैरा 6)

पूर्ववर्ती निर्णय पश्चात्वर्ती वादों में साक्ष्य के रूप में केवल तभी पढ़े जा सकते हैं यदि वे धारा 40, 41 और 42 में से किसी भी धारा के अधीन सुसंगत हैं। इनमें उल्लिखित निर्णयों से भिन्न निर्णय धारा 43 की दृष्टि से तब तक विसंगत होंगे जब तक वे धारा 43 के पश्चात्वर्ती भाग में निर्दिष्ट निर्णयों के प्रवर्ग में नहीं आते हैं। इसके अतिरिक्त धारा 44 को देखते हुए धारा 40, 41 और 42 में निर्दिष्ट निर्णय सुसंगत नहीं होंगे यदि यह सिद्ध हो जाता है कि वे ऐसे न्यायालय द्वारा दिए गए हैं जो इन निर्णयों को देने में सक्षम नहीं था अथवा वे कपट या दुस्संधि द्वारा प्राप्त किए गए थे। साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 40 "पूर्व न्याय" शब्द का प्रयोग किए बिना ही पूर्व न्याय के परिणामों के प्रति निर्देश करती है। धारा 40

के कारण ही वह निर्णय, जिसका पक्षकार द्वारा पूर्व न्याय के अपने अभिवाक् के समर्थन में पश्चात्वर्ती वाद में अवलंब लिया गया है, सुसंगत हो जाता है और उसे साक्ष्य में पढ़ा जा सकता है। एक पूर्ववर्ती निर्णय पूर्ववर्ती वाद के पक्षकारों के बीच पूर्व न्याय के रूप में कार्य करता है तथा ऐसे पक्षकार के माध्यम से हक का दावा करने वाले व्यक्तियों के लिए भी पूर्व न्याय का कार्य करता है। जब साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 पश्चात्वर्ती वाद के पक्षकार को यह साबित करने के लिए अनुज्ञात करती है कि उक्त धारा के तत्त्व उस निर्णय के बारे में भी सिद्ध हो गए हैं जो धारा 40 के अधीन सुसंगत हैं तो यह निष्कर्ष निकालने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह जाता कि ऐसे निर्णय से, जो अन्यथा पूर्व-न्याय के रूप में कार्य करेगा तथा जिससे उस वाद के पक्षकारों के लिए बचना संभव नहीं होगा जिस वाद में ऐसा निर्णय दिया गया था या उन व्यक्तियों के लिए भी बचना संभव नहीं होगा जो ऐसे पक्षकारों के माध्यम से दावा कर रहे हैं। उक्त व्यक्ति बच सकते हैं यदि धारा 44 के तत्त्वों में से कोई भी तत्त्व सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में ऐसा निर्णय सुसंगत नहीं होगा और वह पूर्व न्याय के अभिवाक् का आधार नहीं हो सकता। (पैरा 7 और 8)

निर्दिष्ट प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी डिक्री के पक्षकार को या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को साक्ष्य अधिनियम की धारा 44 के अधीन कपट या दुस्संधि के आधारों पर डिक्री के प्रभाव से बचने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है और यह प्राख्यान करने के लिए भी अनुज्ञात किया जा सकता है कि उक्त डिक्री का उक्त अधिनियम की धारा 40 द्वारा अनुद्यात प्रयोजन के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता जिसके अंतर्गत पूर्व न्याय के अभिवाक् का आधार भी शामिल है क्योंकि उक्त अधिनियम की धारा 44 में धारा 40 शामिल है। तथापि चूंकि धारा 43 उक्त अधिनियम की धारा 44 में शामिल नहीं है इसलिए दुस्संधिपूर्ण डिक्री विबंध के अभिवाक् के समर्थन में तब भी सुसंगत होगी यदि विबंध के तथ्य सिद्ध कर दिए जाते हैं। (पैरा 11)

		पैरा
[1964]	1964 ए० एल० जे० 389 : किशन चन्द **बनाम** राम बाबू (Kishan Chand *Vs.* Ram Babu);	9
[1948]	1948 प्रि० कौं० 168 : बाली राम एण्ड ब्रदर्स तथा अन्य **बनाम** चौ० मोहम्मद अफजल (Bali Ram	5

and Brothers and others *Vs.* Chaudhari Mohammad Afzal and others);

[1947] ए० आई० आर० 1947 लाहौर 117 : चौ० मोहम्मद-अफजल और अन्य **बनाम** चौ० दीन मोहम्मद और अन्य (Ch. Mohammad Afzal and others *Vs.* Ch. Din Mohammad and others); 5.

[1937] ए० आई० आर० 1937 इलाहाबाद 28 : मुसम्मात पारवती **बनाम** गजराज (Mt. Parbati *Vs.* Gajraj); 8.

[1927] ए० आई० आर० 1927 इलाहाबाद 538 : दरबारी लाल और एक अन्य **बनाम** महबूब अली मियां और अन्य (Darbari Lal and another *Vs.* Mahboob Ali Mian and others) 10.

अवलंब लिया गया ।

[1971] ए० आई० आर० 1971 इलाहाबाद 439 : श्रीमती चौहाना **बनाम** गया प्रसाद (Smt. Chauhana *Vs.* Gaya Prasad); 4.

[1927] ए० आई० आर० 1927 इलाहाबाद 494 : साहिब राय और अन्य **बनाम** बिहारी राय (Saheb Rai and others *Vs.* Behari Rai and others) 4.

नामंजूर किया गया ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1973 की द्वितीय अपील सं० 2503.

1973 की सिविल अपील संख्या 259 को मंजूर करते हुए वाराणसी में द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश श्री चन्द्रमोहन द्वारा 6 नवम्बर, 1973 को पारित डिक्री और निर्णय के विरुद्ध द्वितीय अपील ।

अपीलार्थी की ओर से .... श्री के० के० ग्रोवर

प्रत्यर्थियों की ओर से .... सर्वश्री एस० ए० खान और एस० एन० वर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायाधिपति एन० डी० ओझा ने दिया ।

न्या० एन० डी० ओझा :

एक व्यक्ति हाजी मोहम्मद इब्राहिम के तीन लड़के मोहम्मद सिद्दीक, मोहम्मद युसफ और मोहम्मद इस्माईल थे। इस द्वितीय अपील का अपीलार्थी इबने हसन मोहम्मद इस्माईल का पुत्र है जबकि प्रत्यर्थी मोहम्मद सिद्दीक के विधिक प्रतिनिधि हैं। 1970 का वाद सं० 911 वाराणसी के मुंसिफ न्यालालय में यह अभिकथन करते हुए मोहम्मद सिद्दीक द्वारा संस्थित कर दिया गया था कि हाजी मोहम्मद इब्राहिम मकान नं० डी-34/86 (वर्तमान सं० 43/139) और मकान सं० डी०-34/85 (वर्तमान सं० 432/138) के उस एक भाग का स्वामी था जो वाद पत्र के साथ संलग्न नक्शे में पीले रंग से दिखाया गया है। हज यात्रा पर जाते समय उन्होंने 11 सितम्बर, 1924 को अपनी अनुपस्थिति में अपनी संपत्तियों के प्रबंध की व्यवस्था करते हुए एक रजिस्ट्रीकृत इंतजाम-नामा निष्पादित किया था। हज से वापस आने पर, हाजी मोहम्मद इब्राहिम ने अपनी संपत्ति का कब्जा दुबारा प्राप्त कर लिया और स्वामी के रूप में इसके संबंध में कार्य करता रहा। पारिवारिक मतभेदों के कारण प्रतिवादी इबने हसन का पिता मोहम्मद इस्माईल कलकत्ता चला गया। जब मोहम्मद इस्माईल कलकत्ता में था तब निष्क्रांत संपत्ति के अभिरक्षक ने मोहम्मद इस्माईल को निष्क्रांत व्यक्ति मानते हुए और विवादास्पद संपत्तियों को निष्क्रांत संपत्ति घोषित करते हुए नोटिस जारी किये। हाजी मोहम्मद इब्राहिम ने अभिरक्षक द्वारा तामील किये गये नोटिस पर आक्षेप किया, जिसने अपने 13 नवम्बर, 1952 के आदेश से आक्षेप को नामंजूर कर दिया। अभिरक्षक के आदेश के विरुद्ध फाइल की गई अपील भी 17 जून, 1952 को खारिज कर दी गई थी। मोहम्मद इब्राहिम ने भी 1952 का वाद सं० 126 इस घोषणा की मांग करते हुए फाइल किया कि वह उन दो मकानों का स्वामी था और यह कि 11 सितम्बर, 1924 के इंतजाम-नामा में मोहम्मद इस्माईल को स्वामित्व के कोई अधिकार प्रदान नहीं किए गए थे। मोहम्मद इस्माईल के द्वारा लिखित कथन फाइल किए जाने के पश्चात् उस वाद में 11 अक्तूबर, 1952 को डिक्री पारित कर दी गई थी। तत्पश्चात् मोहम्मद इब्राहिम ने इन दो मकानों को 22 जनवरी, 1953 के रजिस्ट्रीकृत दान-विलेख के द्वारा वादी मोहम्मद सिद्दीकी को दो मकान दान में दे दिये थे और आदाता ने इन मकानों का कब्जा स्वामी के रूप में प्राप्त कर लिया था। तत्पश्चात् मोहम्मद इब्राहिम की 26 मई, 1954 को मृत्यु हो गई थी और मोहम्मद इस्माईल पाकिस्तान चला गया था। निष्क्रांत संपत्ति के अभिरक्षक ने

28 सितम्बर, 1954 को मोहम्मद इस्माईल को निष्क्रांत व्यक्ति के रूप में और उक्त संपत्ति को निष्क्रांत संपत्ति मानते हुए नोटिस जारी कर दिये। वादी द्वारा आक्षेप किए जाने पर सहायक अभिरक्षक इलाहाबाद ने संपत्तियों के बारे में उसका हक स्वीकार कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि मोहम्मद इस्माईल का इन संपत्तियों से कोई संबंध नहीं था। मोहम्मद इस्माईल के अपने पुत्र (प्रतिवादी इबने हसन) को वाराणसी में छोड़कर पाकिस्तान चले जाने के पश्चात् वादी ने इबने हसन को वाद-पत्र की अनुसूची 'क' और 'ख' में उल्लिखित मकान के भाग में अनुज्ञातधारी के रूप में रहने के लिए अनुज्ञात कर दिया था। तथापि, चूंकि प्रतिवादी ने एक पारिवारिक समारोह में कुछ हंगामा कर दिया था इसलिए वादी ने एक नोटिस के द्वारा उसकी अनुज्ञप्ति को समाप्त कर दिया और उसे 15 दिन के भीतर परिसर खाली करने के लिए कह दिया। उत्तर में प्रतिवादी ने अपने पिता मोहम्मद इस्माईल की ओर से 13 वर्ष पूर्व किए गये मौखिक दान के आधार पर संपत्ति पर अपना हक दर्शाया। अतः वादी ने वाद फाइल किया जिसके परिणामस्वरूप यह अपील उद्भूत हुई है जिसमें प्रतिवादी की बेदखली और प्रश्नगत मकान के प्रयोग के लिए नुकसानी की वसूली की मांग की गई है।

2. प्रतिवादी-अपीलार्थी ने विभिन्न आधारों पर वाद का प्रतिवाद किया। उसने यह दावा किया कि वह विवादास्पद संपत्ति का स्वामी है। विचारण न्यायालय ने वाद को खारिज कर दिया। मोहम्मद सिद्दीक ने अपील फाइल की। अवर अपील न्यायालय के समक्ष अपील के लंबित रहने के दौरान उसकी मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित किया गया जो कि इस द्वितीय अपील में प्रत्यर्थी हैं। अपील न्यायालय में वाद में डिक्री पारित कर दी। इससे व्यथित होकर प्रतिवादी इबने हसन ने यह अपील फाइल की है।

3. दूसरी अपील सुनवाई के लिए इस न्यायालक के विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष पेश की गई। वादी-प्रत्यर्थियों की ओर से किये गये अभिवाकों में एक अभिवाक् यह था कि 1952 के वाद संख्या 126 में पारित डिक्री का पूर्व-न्याय का प्रभाव था और परिणामतः प्रतिवादी का विवादास्पद संपत्ति का स्वामी होने का दावा वर्जित था। प्रतिवादी-अपीलार्थी द्वारा उत्तर में यह अभिवाक् किया गया था कि 1952 के वाद संख्या 126 में पारित डिक्री इसके पक्षकारों द्वारा संपत्ति को निष्क्रांत संपत्ति के अभिरक्षक के हाथों में चले जाने से रोकने के उद्देश्य से दुःसंधि करके प्राप्त की गई थी और इसलिए साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 को देखते हुए उस पर

यह बाध्यकर नहीं था और यह डिक्री पूर्ण-न्याय के रूप में कार्य नहीं करती। इस अभिवाक् के बारे में वादी-प्रत्यर्थी की ओर से यह प्राख्यान किया गया था कि चूंकि मोहम्मद इस्माईल, अपीलार्थी का पिता, 1952 के वाद संख्या 126 का पक्षकार था और अपीलार्थी उसी के माध्यम से हक का दावा कर रहा था इसलिए वह साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 का सहारा लेकर उक्त डिक्री से बच नहीं सकता।

4. विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष वादी-प्रत्यर्थियों की ओर से **साहिब राय और अन्य** बनाम **बिहारी राय और अन्य**[1] में न्या० सुलेमान के विनिश्चय का इस दृष्टि से अवलंब लिया गया कि दुःसंधिपूर्ण डिक्री का पक्षकार इससे इस आधार पर नहीं बच सकता। **श्रीमती चौहाना** बनाम **गया प्रसाद**[2] में न्या० जगमोहन लाल के विनिश्चय का भी अवलंब लिया गया कि जहां साहिब राय के मामले में दिये गये विनिश्चय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न तो दुःसंधिपूर्ण डिक्री का पक्षकार और न उसके माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति ऐसी डिक्री से साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 के अधीन बच नहीं सकता।

5. दूसरी ओर प्रत्यर्थी-अपीलार्थी की ओर से **चौ० मोहम्मद अफजल और अन्य** बनाम **चौ० दीन मोहम्मद और अन्य**[3] में न्या० रामलाल के अभिनिश्चय का अवलंब लिया गया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि किसी निर्णय का पक्षकार या उसका विधिक प्रतिनिधि, साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 के उपबंधों को देखते हुए, इस आधार पर इसके प्रभाव से बचने से प्रवारित नहीं होता कि उक्त निर्णय कपट अथवा दुःसंधि से प्राप्त किया गया था। **बाली राम एण्ड ब्रदर्स तथा अन्य** बनाम **चौ० मोहम्मद अफजल और अन्य**[4] का भी अवलंब लिया गया था जिसमें चौ० मोहम्मद अफजल के मामले में न्या० रामलाल द्वारा व्यक्त किए गये मत की पुष्टि की गई थी और उसे इस प्रकार अनुमोदित किया गया था :—

> "उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि इस वाद के किसी भी पक्षकार को यह अभिवाक् उपलब्ध नहीं था क्योंकि पूर्ववर्ती

---

[1] ए० आई० आर० 1927 इलाहाबाद 494.

[2] ए० आई० आर० 1971 इलाहाबाद 439.

[3] ए० आई० आर० 1947 लाहौर 117.

[4] 1948 प्रिवी कौंसिल 168.

वाद का निर्णय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 के अर्थान्तर्गत कपट अथवा दुःसंधि के द्वारा प्राप्त किया गया था। माननीय न्यायाधीश निम्नलिखित कारणों से इस निष्कर्ष से सहमत हैं, जो कारण वहीं हैं जो उच्च न्यायालय को ठीक लगे हैं।''

6. इन दो प्रकार के न्यायिक विनिर्णयों के बीच स्पष्ट विरोध पाये जाने पर विद्वान् एकल न्यायाधीश ने निम्नलिखित प्रश्न खण्ड-न्यायपीठ की राय के लिए उसे निर्दिष्ट कर दिया :—

> ''क्या किसी डिक्री के पक्षकार को या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 के अधीन, कपट अथवा दुःसंधि के आधार पर प्राप्त डिक्री के प्रभाव से बचने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है ?''

इस प्रकार से यह मामला हमारे सामने पूर्वोक्त प्रश्न पर राय व्यक्त करने के लिए पेश किया गया है। पक्षकार के विद्वान् काउन्सेलों की सुनवाई करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर सकारात्मक होना चाहिए। अब हम अपनी इस राय के लिए कारण उल्लिखित करेंगे। साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 40 से लेकर धारा 44 तक ''न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत हैं'' शीर्षक के अंतर्गत हैं। प्रस्तुत मामले में हमारा संबंध धारा 40 और धारा 44 से है तथा धारा 41 और धारा 42 से नहीं है। धारा 43 भी हमें निर्दिष्ट किये गये पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देने में कुछ सुसंगत है इसलिए सुविधा की दृष्टि से साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 40, 43 और 44 नीचे उद्धृत की जा सकती हैं। धारा 43 के नीचे दिये गये दृष्टांतों का लोप कर दिया गया है :—

> ''40. **द्वितीय वाद या विचारण के वारणार्थ पूर्व-निर्णय सुसंगत हैं :**
>
> किसी ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व जो किसी न्यायालय को किसी वाद के संज्ञान से या कोई विचारण करने से विधि द्वारा निवारित करता है, सुसंगत तथ्य है जबकि प्रश्न यह हो कि क्या ऐसे न्यायालय को ऐसे वाद का संज्ञान या ऐसा विचारण करना चाहिए।
>
> 43. **धारा 40, 41 और 42 में वर्णित निर्णय से भिन्न निर्णय आदि कब सुसंगत हैं :—**

धारा 40, 41 और 42 में वर्णित निर्णय से भिन्न निर्णय, आदेश या डिक्रियां विसंगत हैं जब तक कि ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व विवाद्यक तथ्य न हो या वह इस अधिनियम के किसी अन्य उपबंध के अंतर्गत सुसंगत न हो ।

44. **निर्णय अभिप्राप्त करने में कपट या दुःसंधि अथवा न्यायालय की अक्षमता साबित की जा सकेगी :—**

वाद या अन्य कार्यवाही का कोई भी पक्षकार यह दर्शित कर सकेगा कि कोई निर्णय, आदेश या डिक्री, जो धारा 40, 41 और 42 के अधीन सुसंगत है और जो प्रतिपक्षी द्वारा साबित की जा चुकी है, ऐसे न्यायालय द्वारा दी गई थी जो उसे देने के लिए अक्षम था या कपट या दुःसंधि द्वारा अभिप्राप्त की गई थी ।"

7. पूर्ववर्ती निर्णय पश्चात्वर्ती वादों में साक्ष्य के रूप में केवल तभी पढ़े जा सकते हैं यदि वे धारा 40, 41 और 42 में से किसी भी धारा के अधीन सुसंगत हैं । इनमें उल्लिखित निर्णयों से भिन्न निर्णय धारा 43 की दृष्टि से तब तक विसंगत होंगे जब तक वे धारा 43 के पश्चात्वर्ती भाग में निर्दिष्ट निर्णयों के प्रवर्ग में नहीं आते हैं । इसके अतिरिक्त, धारा 44 को देखते हुए धारा 40, 41 और 42 में निर्दिष्ट निर्णय सुसंगत नहीं होंगे यदि यह सिद्ध हो जाता है कि वे ऐसे न्यायालय द्वारा दिये गये हैं जो इन निर्णयों को देने में सक्षम नहीं था अथवा वे कपट या दुःसंधि द्वारा प्राप्त किये गये थे ।

8. साक्ष्य अधिमियम, 1872 की धारा 40 "पूर्व-न्याय" शब्द का प्रयोग किये बिना ही पूर्व न्याय के परिणामों के प्रति निर्देश करती है । धारा 40 के कारण ही वह निर्णय, जिसका पक्षकार द्वारा पूर्व न्याय के अपने अभिवाक् के समर्थन में पश्चात्वर्ती वाद में अवलंब लिया गया है, सुसंगत हो जाता है और उसे साक्ष्य में पढ़ा जा सकता है । एक पूर्ववर्ती निर्णय, पूर्ववर्ती वाद के पक्षकारों के बीच तथा ऐसे पक्षकार के माध्यम से हक का दावा करने वाले व्यक्तियों के बीच भी पूर्व-न्याय का कार्य करता है । जब साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 44 पश्चात्वर्ती वाद के पक्षकार को यह साबित करने के लिए अनुज्ञात करती है कि उक्त धारा के तत्व उस निर्णय के बारे में भी सिद्ध हो गये हैं जो धारा 40 के अधीन सुसंगत हैं तो यह निष्कर्ष निकालने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह जाता कि ऐसे निर्णय से, जो अन्यथा पूर्व न्याय के रूप में कार्य करेगा तथा जिससे उस

वाद के पक्षकारों के लिए या ऐसे पक्षकारों के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्तियों के लिए बचना संभव नहीं होगा जिस वाद में ऐसा निर्णय दिया गया था, उक्त व्यक्तियों के द्वारा भी बचा जा सकता है यदि धारा 44 के तत्वों में से कोई भी तत्व सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में ऐसा निर्णय सुसंगत नहीं होगा और वह पूर्व-न्याय के अभिवाक् का आधार नहीं हो सकता। जो दृष्टिकोण हमने अपनाया है उसे **मुसम्मात पार्वती** बनाम **गजराज**[1] के मामले में इस न्यायालय की उस खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय से समर्थन मिलता है जिस न्यायपीठ के न्या० सुलेमान भी एक सदस्य थे, और जिस न्यायपीठ ने साहिब राय वाले मामले का विनिश्चय किया था। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 की व्याप्ति पर विचार करते समय यह अभिनिर्धारित किया गया था कि :—

> "सर्वप्रथम किसी पक्षकार को यह दर्शित करने की स्वतंत्रता होती है कि प्रश्नगत निर्णय कपट या दुःसंधि द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा यह कि अधिकारिता का अभाव था और ऐसे मामलों में मेरी यह राय है कि धारा 11 लागू नहीं होगी।"

9. एक और भी कारण है जिससे यह मत इस मामले में लागू होना चाहिए। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है चौ० मोहम्मद अफजल के मामले में न्या० रामलाल द्वारा दिये गये विनिश्चय की पुष्टि और अनुमोदन प्रिवी कौंसिल द्वारा बाली राम एण्ड ब्रदर्स के मामले में किया गया था। **किशन चन्द** बनाम **राम बाबू**[2] में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि संविधान के प्रख्यापित किए जाने के पश्चात् भी जूडिशियल कमेटी द्वारा घोषित विधि तब तक उंच्च न्यायालय पर बाध्यकर विधि है जब तक उच्चतम न्यायालय अन्यथा निर्णय नहीं दे देता। उच्चतम न्यायालय का प्रतिकूल दृष्टिकोण अपनाने वाला कोई विनिश्चय हमारे सामने पेश नहीं किया गया है। इस प्रकार से साहिब राय और श्रीमती चौहाना के मामले में इस न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीशों द्वारा प्रतिकूल दृष्टिकोण वाले विनिश्चय को नामंजूर किया जाता है।

10. तथापि हम यह उल्लेख कर दें कि चूंकि धारा 43 का उल्लेख

---

[1] ए० आई० आर० 1937 इलाहाबाद 28.

[2] 1964 ए० एल० जे० 389.

साक्ष्य अधिनियम की धारा 44 में नहीं किया गया है अतः कोई निर्णय धारा 43 के पश्चात्‌वर्ती भाग में अंतर्विष्ट अपवाद अर्थात् यह कि "जब तक कि ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व विवाद्यक तथ्य न हो या वह इस अधिनियम के किसी अन्य उपबंध के अंतर्गत सुसंगत न हो" के अधीन सुसंगत होगा, भले ही यह उक्त धारा 44 के कारण अधिनियम की धारा 40, 41 और 42 के अधीन सुसंगत न हो। इसलिए यदि विबंध के तथ्य साबित कर भी दिये जाते हैं तो भी प्रतिवादी-अपीलार्थी 1952 के वाद संख्या 126 में निर्णण के प्रभाव से बचने की स्थिति में नहीं होगा। इस मत का समर्थन **दरबारी लाल और एक अन्य** बनाम **महबूब अली मियां और अन्य**[1] में इस न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय से मिलता है।

11. पूर्वोक्त विचार-विमर्श को देखते हुए हमें निर्दिष्ट प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी डिक्री के पक्षकार को या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को साक्ष्य अधिनियम की धारा 44 के अधीन कपट या दुःसंधि के आधारों पर डिक्री के प्रभाव से बचने के लिए अनुज्ञात किया जा सकता है और यह प्राख्यान करने के लिए भी अनुज्ञात किया जा सकता है कि उक्त डिक्री का उक्त अधिनियम की धारा 40 द्वारा अनुज्ञात प्रयोजन के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता जिसके अंतर्गत पूर्व न्याय के अभिवाक् का आधार भी शामिल है क्योंकि उक्त अधिनियम की धारा 44 में धारा 40 भी शामिल है। तथापि, चूंकि धारा 43 उक्त अधिनियम की धारा 44 में शामिल नहीं है इसलिए दुःसंधिपूर्ण डिक्री विबंध के अभिवाक् के समर्थन में तब भी सुसंगत होगी यदि विबंध के तथ्य सिद्ध कर दिये जाते हैं।

12. अब यह द्वितीय अपील इस राय से संबद्ध विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई के लिए पेश की जायेगी।

प्रश्न का उत्तर दिया गया।

शर्मा

---

[1] ए० आई० आर० 1927 इलाहाबाद 538.

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—344

जानकी प्रसाद बनाम द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश, मुरादाबाद
(Janki Prasad *Vs*. IInd Additional Distt. Judge, Muradabad)

तारीख 6 फरवरी, 1984

[न्या० बी० एन० सप्रू]

उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972—धारा 21(1)(ख), सपठित धारा 24(2), सपठित उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) नियमावली, नियम 22(च), सपठित उक्त अधिनियम की धारा 34—ऐसे किराएदार के हित, जिसे धारा 21(1)(ख) के अधीन बेदखल किया गया है, अधिनियम की धारा 24(1) के उपबंधों द्वारा पूर्णतः संरक्षित हैं और पूर्वोक्त संरक्षण को देखते हुए विहित प्राधिकारी इस बात के लिए स्वतंत्र नहीं है कि वह गिराए जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित भवन के संबध में शर्तें अधिरोपित करे, क्योंकि मकान-मालिक को यह निदेश देने की शक्ति कि वह वास सुविधा किराए पर दे, जिला मजिस्ट्रेट में निहित की गई है, अतः किसी वास सुविधा को किराए पर देने का कोई भी निदेश धारा 21(1)(ख) के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा नहीं किया जा सकता और विहित प्राधिकारी को ऐसी शक्ति अधिनियम की धारा 34 के अधीन विरचित नियम 22(च) के आधार पर भी नहीं मिल सकती, क्योंकि धारा 34 तथा नियम 22 दोनों ही प्रक्रियात्मक हैं और वे विहित प्राधिकारी या अपील प्राधिकारी की धारा 21(1)(क) अथवा (ख) के अधीन शक्तियों को और व्यापक नहीं बना सकते।

मकान-मालकिन ने उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972 की धारा 21(1)(ख) के अधीन किराएदार को बेदखल करने के लिए आवेदन किया। उसका यह निष्कर्ष था कि मकान जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था और उसका गिराया जाना अपेक्षित था। विहित प्राधिकारी का प्रवर्तनशील आदेश निम्नलिखित रूप में है—"अधिनियम की धारा 21(1)(ख) के अधीन पिटीशन एतद्द्वारा मंजूर किया जाता है और पक्षकार अपने-अपने खर्चों का संदाय तथा वहन करेंगे। पुनर्निर्माण के पश्चात् पिटीशनर वर्तमान आकार से अन्यून आकार के दो कमरे विरोधी पक्षकार को देगा। विवादगत

परिसर को इस प्रकार गिराया जाएगा या उसका पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जाएगा कि एक कमरा पहले गिराया जाएगा और शेष भाग विरोधी पक्षकार के अधिभोग में रहेगा और नए सिरे से बनाए गए कमरे को विरोधी पक्षकार को देने के पश्चात् शेष कमरा गिराया जाएगा।

द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील में मकान-मालकिन की ओर से यह दलील दी गई कि विहित प्राधिकारी द्वारा उस रीति के संबंध में अधिरोपित शर्त, जिसमें मकान गिराया जाना था और किराएदार को दो कमरे किराए पर देने के संबंध में निदेश अविधिमान्य हैं। द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश ने किराएदार की ओर से दी गई इस दलील को मान लिया कि विहित प्राधिकारी द्वारा अधिरोपित शर्तें साम्यापूर्ण तथा युक्तियुक्त थीं, किंतु उसने यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसी शर्तें विधि के अधीन अधिरोपित नहीं की जा सकती थीं और तद्नुसार उसने यह अपील मंजूर कर ली और मकान-मालकिन पर अधिरोपित शर्तों को अपास्त कर दिया। दूसरे शब्दों में, धारा 21 (1) (ख) के अधीन आवेदन बिना किसी शर्त के मंजूर कर लिया गया। अपील प्राधिकारी के आदेश से व्यथित होकर किराएदार ने प्रस्तुत रिट पिटीशन फ़ाइल किया।

अभिनिर्धारित — रिट पिटीशन खारिज किया गया।

ऐसे किराएदार के हित, जिसे अधिनियम की धारा 21 (1) (ख) के अधीन बेदखल किया गया है, अधिनियम की धारा 24 (1) के उपबंधों द्वारा पूर्णतः संरक्षित हैं और पूर्वोक्त सरक्षण को देखते हुए विहित प्राधिकारी इस बात के लिए स्वतंत्र नहीं है कि वह गिराए जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित भवन के संबंध में शर्तें अधिरोपित करे। निर्मुक्ति की शक्ति विहित प्राधिकारी में निहित की गई है, जबकि मकान-मालिक को यह निदेश देने की शक्ति कि वह वास सुविधा किराए पर दे, जिला मजिस्ट्रेट में निहित की गई है। परिणामतः किसी वास सुविधा को किराए पर देने का कोई भी निदेश अधिनियम की धारा 21 (1) (ख) के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा नहीं किया जा सकता। (पैरा 7 और 8)

उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) नियमावली के नियम 22 (च) जिला मजिस्ट्रेट विहित प्राधिकारी तथा अपील प्राधिकारी को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन शक्ति प्रदत्त करता है, किंतु धारा 34 (1), जिसके अधीन नियम 22 विरचित किया गया है, ऐसी शक्तियां विनिर्दिष्ट

करता है जो विहित प्राधिकारी या अपील प्राधिकारी या पुनरीक्षण प्राधिकारी को अधिनियम के अधीन जांच करते समय अथवा किसी अपील या पुनरीक्षण की सुनवाई करते समय प्रयोग के लिए प्रदत्त की गई है। अधिनियम की धारा 34 तथा अधिनियम के अधीन विरचित नियम 22—दोनों ही प्रक्रियात्मक हैं और वे विहित प्राधिकारी या अपील प्राधिकारी को अधिनियम की धारा 21 (1) (क) अथवा (ख) के अधीन प्रदत्त शक्तियों को और अधिक व्यापक नहीं बनाते। अतः यह दलील नहीं मानी जा सकती कि विहित प्राधिकारी को अधिनियम के अधीन विरचित नियमावली के नियम 22(च) के साथ पठित धारा 34 के अधीन वे शर्तें अधिरोपित करने की शक्ति थी, जो उसने अधिरोपित की थीं। धारा 21 (1) (ख) में ऐसी रीति का उपबंध नहीं है, जिसमें मकान मालिक अपने पक्ष में भवन के निर्मुक्त किए जाने के पश्चात् उसे गिराएगा। उसमें यह भी उपबंध नहीं है कि कैसे और कितने समय के भीतर मकान-मालिक नए निर्माण कराएगा। धारा 24 (2) ऐसे मामले के संबंध में है, जिसमें धारा 21 की उपधारा (1) के खंड (ख) के अधीन मकान-मालिक के पक्ष में निर्मुक्ति का आदेश किया गया है और उसमें यह उपबंधित है कि जिला मजिस्ट्रेट उस मूल किराएदार द्वारा, जिसके विरुद्ध धारा 21 (1) (ख) के अधीन निर्मुक्ति आदेश किया गया है, तन्निमित्त आवेदन किए जाने पर ऐसे किराए पर मकान किराएदार को आवंटित करेगा, जैसा कि धारा में विहित है। उसमें यह भी उपबंधित है कि धारा 24(2) के अधीन किराएदार के पक्ष में जिला मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश किए जाने पर यदि किराएदार मकान पट्टे पर लेने में असफल रहता है अथवा किराएदार पट्टा लेने के बाद उसे रिक्त कर देता है तो मकान धारा 2 की उपधारा (2) में विहित अवधि के लिए अधिनियम के प्रवर्तन से बाहर हो जाएगा। यह सुविदित है कि धारा 2 (2) के उपबंधों के अधीन कोई भवन यथास्थिति 10 वर्ष की अवधि के लिए अथवा 15 वर्ष की अवधि के लिए छूट प्राप्त होता है। यदि पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल द्वारा सुझाया गया निर्वचन स्वीकार कर लिया जाता है तो गिराए जाने के बाद नए सिरे से निर्मित भवन उस दशा में अधिनियम के उपबंधों के अधीन ही बना रहेगा, जबकि विहित प्राधिकारी अधिनियम की धारा 21 (1) (ख) के अधीन आदेश कर दे और ऐसा इस तथ्य के होते हुए भी होगा कि नए निर्माण अधिनियम की परिधि से बाहर होते हैं। अधिनियम की परिधि में नए निर्माण के बने रहने का एकमात्र अपवाद तब होता है, जब अधिनियम की धारा 24 (2) के अधीन आदेश किया जाता है। (पैरा 6)

पैरा

[1978] 1978 (यू० पी०) सप्लीमैंटरी आर० सी० सी० पृष्ठ 410 : मोहम्मद उमर **बनाम** अपर जिला न्यायाधीश और अन्य (Mohd. Umar *Vs.* Additional District Judge and others); 7

[1978] 1978 (यू० पी०) सप्लीमैंटरी आर० सी० सी० पृष्ठ 482 : अछर सिंह **बनाम** जिला न्यायाधीश और अन्य (Achhar Singh *Vs.* The District Judge and others) 8

का **अवलंब** लिया गया ।

आरंभिक (सिविल) प्रकीर्ण रिट अधिकारिता : 1980 का सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन सं० 7577.

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से .... श्री एस० बी० मेहरोत्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से .... श्री एच० एन० शर्मा

न्या० बी० एन० सप्रू :

यह रिट पिटीशन जानकी प्रसाद द्वारा फाइल किया गया है, जो मुरादाबाद जिले के सराय काजी मोहल्ले में स्थित मकान का किराएदार है और जिसकी मकान-मालकिन श्रीमती कमला द्विवेदी (प्रत्यर्थी सं० 3) है। मकान-मालकिन ने उक्त मकान 26-10-1976 के विक्रय-विलेख के अधीन खरीदा था ।

2. 25-9-1978 को श्रीमती कमला देवी ने उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972 की धारा 21 के अधीन मकान के निर्मुक्त किए जाने हेतु आवेदन फाइल किया । निर्मुक्ति-आवेदन में उसने यह कहा कि उसे मकान की अत्यंत आवश्यकता है और मकान जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है, इसलिए उसे गिरा कर पुनः निर्मित करना अपेक्षित है । जानकी प्रसाद की ओर से यह आक्षेप उठाया गया कि चूंकि आवेदन उत्तर प्रदेश शहरी भवन (किराए पर देने, किराया तथा बेदखली का विनियमन) अधिनियम, 1972 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 21 के अधीन था,

अतः वह इसलिए संधार्य नहीं था, क्योंकि क्रय की तारीख से तीन वर्ष का समय नहीं बीता था। विहित प्राधिकारी द्वारा स्पष्टीकरण मांगे जाने पर मकान-मालकिन ने यह कहा कि यह आवेदन अधिनियम की धारा 21(1)(ख) के अधीन था।

3. विहित प्राधिकारी ने आवेदन को अधिनियम की धारा 21(1)(ख) के अधीन माना है। उसका यह निष्कर्ष था कि मकान जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था और उसका गिराया जाना अपेक्षित था। विहित प्राधिकारी ने अनुतोष के संबंध में निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "उपर्युक्त मुद्दा सं० 1 तथा 2 के संबंध में अभिलिखित निष्कर्षों को देखते हुए प्रस्तुत निर्मुक्ति पिटीशन मंजूर किए जाने योग्य है। किंतु पक्षकारों को अपने-अपने खर्चे वहन करने का निदेश दिया जाता है। किंतु शर्त यह है कि पिटीशनर विरोधी पक्षकार को पुनर्निर्माण के पश्चात् वर्तमान आकार से अन्यून आकार के दो कमरे देगा।"

उसके पश्चात् विहित प्राधिकारी का प्रवर्तनशील आदेश निम्नलिखित रूप में है :—

> "अधिनियम की धारा 21(1)(ख) के अधीन पिटीशन एतद्द्वारा मंजूर किया जाता है और पक्षकार अपने-अपने खर्चों का संदाय तथा वहन करेंगे। पुनर्निर्माण के पश्चात् पिटीशनर वर्तमान आकार से अन्यून आकार के दो कमरे विरोधी पक्षकार को देगा। विवादगत परिसर को इस प्रकार गिराया जाएगा या उसका पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जाएगा कि एक कमरा पहले गिराया जाएगा और शेष भाग विरोधी पक्षकार के अधिभोग में रहेगा और नए सिरे से बनाए गए कमरे को विरोधी पक्षकार को देने के पश्चात् शेष कमरा गिराया जाएगा।"

4. जानकी प्रसाद ने विहित प्राधिकारी के आदेश के विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की, किंतु मकान-मालकिन श्रीमती कमला द्विवेदी ने अपील की। अपील, जो 1980 की सिविल अपील सं० 21 श्रीमती कमला द्विवेदी बनाम जानकी प्रसाद थी, मुरादाबाद के द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश के समक्ष निपटारे हेतु रखी गई।

5. मकान-मालकिन की ओर से यह दलील दी गई कि विहित

प्राधिकारी द्वारा उस रीति के संबंध में अधिरोपित शर्त, जिसमें मकान गिराया जाना था और जानकी प्रसाद को दो कमरे किराए पर देने के संबंध में निदेश अविधिमान्य हैं। द्वितीय अपर जिला न्यायाधीश ने जानकी प्रसाद की ओर से दी गई इस दलील को मान लिया कि विहित प्राधिकारी द्वारा अधिरोपित शर्तें साम्यापूर्ण तथा युक्तियुक्त थीं, किंतु उसने यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसी शर्तें विधि के अधीन अधिरोपित नहीं की जा सकती थीं और तद्नुसार उसने यह अपील मंजूर कर ली और मकान-मालकिन पर अधिरोपित शर्तों को अपास्त कर दिया। दूसरे शब्दों में, धारा 21 (1) (ख) के अधीन आवेदन बिना किसी शर्त के मंजूर कर लिया गया। अपील प्राधिकारी के आदेश से व्यथित होकर किराएदार जानकी प्रसाद ने प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

6. किराएदार पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले श्री एस० बी० मेहरोत्रा ने यह दलील दी है कि विहित प्राधिकारी द्वारा अधिरोपित शर्तें न्यायोचित, युक्तियुक्त तथा विधिपूर्ण थीं। उसने सर्वप्रथम यह दलील दी कि अधिनियम की धारा 21 (1) (ख) के अधीन कोई ऐसा उपबंध नहीं है, जिसमें ऐसे समय का उपबंध हो, जिसके भीतर मकान-मालकिन द्वारा मकान गिराए जाने तथा उसके पुर्ननिर्माण का कार्य किया जाए। उसने यह दलील दी कि विहित प्राधिकारी गिराए जाने की रीति के संबंध में और किराएदार को पुर्ननिर्मित वास सुविधा किराए पर देने के संबंध में ऐसी शर्तें अधिरोपित कर सकता है, जिन्हें वह मामले के तथ्यों के अनुसार न्यायोचित और साम्यापूर्ण समझे। उसने यह भी दलील दी कि ऐसी शक्ति अधिनियम के अधीन विरचित नियम 22 तथा उसकी धारा 34 को एक साथ पढ़कर मानी जा सकती है। नियम 22 (च) जिला मजिस्ट्रेट विहित प्राधिकारी तथा अपील प्राधिकारी को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन शक्ति प्रदत्त करता है, किंतु धारा 34 (1), जिसके अधीन नियम 22 विरचित किया गया है, ऐसी शक्तियां विनिर्दिष्ट करता है जो विहित प्राधिकारी या अपील प्राधिकारी या पुनरीक्षण प्राधिकारी को अधिनियम के अधीन जांच करते समय अथवा किसी अपील या पुनरीक्षण की सुनवाई करते समय प्रयोग के लिए प्रदत्त की गई हैं। अधिनियम की धारा 34 तथा अधिनियम के अधीन विरचित नियम 22—दोनों ही प्रक्रियात्मक हैं और वे विहित प्राधिकारी या अपील प्राधिकारी को अधिनियम की धारा 21 (1) (क) अथवा (ख) के अधीन प्रदत्त शक्तियों को और अधिक व्यापक नहीं बनाते। अतः मैं पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल की यह

दलील मानने में असमर्थ हूं कि विहित प्राधिकारी को अधिनियम के अधीन विरचित नियमावली के नियम 22(च) के साथ पठित धारा 34 के अधीन वे शर्तें अधिरोपित करने की शक्ति थी, जो उसने अधिरोपित की थीं। धारा 21(1)(ख) में ऐसी रीति का उपबंध नहीं है, जिसमें मकान-मालिक अपने पक्ष में भवन के निर्मुक्त किए जाने के पश्चात् उसे गिराएगा। उसमें यह भी उपबंध नहीं है कि कैसे और कितने समय के भीतर मकान-मालिक नए निर्माण कराएगा। धारा 24(2) ऐसे मामले के संबंध में है, जिसमें धारा 21 की उपधारा (1) के खंड (ख) के अधीन मकान-मालिक के पक्ष में निर्मुक्ति का आदेश किया गया है और उसमें यह उपबंधित है कि जिला मजिस्ट्रेट उस मूल किराएदार द्वारा, जिसके विरुद्ध धारा 21(1)(ख) के अधीन निर्मुक्ति आदेश किया गया है, तन्निमित्त आवेदन किए जाने पर ऐसे किराए पर मकान किराएदार को आवंटित करेगा जैसा कि धारा में विहित है। उसमें यह भी उपबंधित है कि धारा 24(2) के अधीन किराएदार के पक्ष में जिला मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश किए जाने पर यदि किराएदार मकान पट्टे पर लेने में असफल रहता है अथवा किराएदार पट्टा लेने के बाद उसे रिक्त कर देता है तो मकान धारा 2 की उपधारा (2) में विहित अवधि के लिए अधिनियम के प्रवर्तन से बाहर हो जाएगा। यह सुविदित है कि धारा 2(2) के उपबंधों के अधीन कोई भवन यथास्थिति 10 वर्ष की अवधि के लिए अथवा 15 वर्ष की अवधि के लिए छूट प्राप्त होता है। यदि पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल द्वारा सुझाया गया निर्वचन स्वीकार कर लिया जाता है तो गिराए जाने के बाद नए सिरे से निर्मित भवन उस दशा में अधिनियम के उपबंधों के अधीन ही बना रहेगा, जबकि विहित प्राधिकारी अधिनियम की धारा 21(1)(ख) के अधीन आदेश कर दे और ऐसा इस तथ्य के होते हुए भी होगा कि नए निर्माण अधिनियम की परिधि से बाहर होते हैं। अधिनियम की परिधि में नए निर्माण के बने रहने का एकमात्र अपवाद तब होता है, जब अधिनियम की धारा 24(2) के अधीन आदेश किया जाता है।

7. पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल की दलीलों के उत्तर में प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा प्रोद्धृत कुछ विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया जाएगा। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंबित प्रथम विनिश्चय **मोहम्मद उमर बनाम अपर जिला न्यायाधीश और अन्य**[1] है। पैरा 3 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :—

---

[1] 1978 (यू० पी०) सप्लीमेंटरी आर० सी० सी० पृष्ठ 410.

> "अंतिम दलील यह थी कि चूंकि धारा 21(1) का द्वितीय परंतुक विहित प्राधिकारी को ऐसी अन्य शर्तें, जिन्हें वह उपयुक्त समझे, अधिरोपित करने के लिए सशक्त करता है, अतः विहित प्राधिकारी को चाहिए था कि वह उक्त प्रत्यर्थियों को यह निदेश करता कि वे दुकानों के पुनर्निर्माण के पश्चात् उनमें से एक दुकान पिटीशनर को किराए पर दे। मेरे विचार में आवेदन मंजूर करते समय विहित प्राधिकारी द्वारा ऐसी शर्त का अधिरोपित किया जाना अपेक्षित नहीं था। अधिनियम की धारा 24 की उपधारा (2) गिराए जाने और पुनर्निर्माण के प्रयोजनों के लिए किराएदार के हित की सुरक्षा करती है। तद्नुसार तृतीय दलील में भी कोई बल नहीं है। किंतु फिर भी, पिटीशनर इस बात के लिए स्वतंत्र होगा कि वह पूर्वोक्त उपबंध के अधीन जिला न्यायाधीश से भवन के पुनर्निर्माण के पश्चात् आवेदन कर सके।"

इस नजीर में यह अधिकथित है कि ऐसे किराएदार के हित, जिन्हें ऐसे मामले में बेदखल किया गया है, जहां धारा 21(1)(ख) के अधीन आवेदन मंजूर किया गया है, अधिनियम की धारा 24(1) के उपबंधों द्वारा पूर्णतः संरक्षित हैं और पूर्वोक्त संरक्षण को देखते हुए विहित प्राधिकारी इस बात के लिए स्वतंत्र नहीं है कि वह गिराए जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित भवन के संबंध में शर्तें अधिरोपित करे।

8. इसी आशय का विनिश्चय **अछर सिंह** बनाम **जिला न्यायाधीश और अन्य**[1] भी है। निर्णय के पैरा 16 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :—

> "वस्तुतः खंड (ख) के अधीन निर्मुक्ति की दशा में किराएदार को धारा 24 के अधीन पुनः प्रवेश का अधिकार है किंतु पुनः प्रवेश का निदेश उस समय नहीं दिया जा सकता था जबकि धारा 21(1) के खंड (ख) के अधीन आवेदन मंजूर किया गया था। कारण यह है कि धारा 24 की उपधारा (2) के अधीन ऐसा निदेश देने की शक्ति जिला न्यायाधीश को प्रदत्त की गई है, जबकि धारा 21 के अधीन आवेदन का विनिश्चय विहित प्राधिकारी को करना होता है, जो कि जिला मजिस्ट्रेट से भिन्न होता है।"

---

[1] 1978 (यू० पी०) सप्लीमैंटरी आर० सी० सी० पृष्ठ 482.

इस नजीर में विस्तारपूर्वक यह कहा गया है कि निर्मुक्ति की शक्ति विहित प्राधिकारी में निहित की गई है, जबकि मकान-मालिक को यह निदेश देने की शक्ति कि वह वास-सुविधा किराए पर दे, जिला मजिस्ट्रेट में निहित की गई है। परिणामत: किसी वास-सुविधा को किराए पर देने का कोई भी निदेश अधिनियम की धारा 21 (1) (ख) के अधीन विहित प्राधिकारी द्वारा नहीं किया जा सकता।

9. पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल श्री एस० पी० मेहरोत्रा ने यह दलील दी कि अधिनियम की धारा 21 (1) के अधीन विहित प्राधिकारी को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी भवन या उसके विनिर्दिष्ट भाग से किसी किराएदार की बेदखली का आदेश करे। उनकी दलील है कि धारा 21 की उपधारा (1) के खंड (क) और (ख) की परिधि में आने वाले दो प्रकार के मामलों की बाबत बेदखली के निदेश देने के शक्ति का प्रयोग या तो संपूर्ण वास-सुविधा की बावत किया जा सकता है अथवा उसके भाग की बाबत। उनकी दलील सही है। उन्होंने फिर यह दलील दी कि विहित प्राधिकारी ने जो कुछ किया वह यह था कि उसने यह निदेश दिया कि भवन का एक भाग गिराया जाएगा और उसका पुनर्निर्माण किया जाएगा, फिर, भवन का शेष भाग गिराया जाएगा और उसका पुनर्निर्माण किया जाएगा तथा निदेश यह था कि गिराए जाने का कार्य इस प्रकार किया जाना चाहिए कि किराएदार शुरू में एक कमरा अपने पास रख सके और उसके बाद उसे दूसरा कमरा भी मिल जाए। श्री मेहरोत्रा की दलील को मानने में फिर कठिनाई है और वह यह है कि ऐसे आदेश में यह विवक्षित होगा कि विहित प्राधिकारी को मकान-मालिक को यह निदेश देने की शक्ति है कि वह किसी वास सुविधा को गिराए जाने और पुनर्निर्माण के पश्चात् किसी किराएदार को किराए पर दे। जैसा कि पहले देखा गया है, किराए पर देने की शक्ति जिला मजिस्ट्रेट को है और यह शक्ति निर्वचन की प्रक्रिया द्वारा विहित प्राधिकारी में निहित नहीं की जा सकती।

10. पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अधिनियम के अधीन विरचित नियमावली के नियम 16 की यह अपेक्षा है कि किसी मकान-मालिक के धारा 21 (1) (ख) के अधीन आवेदन को मंजूर करने से पूर्व उसे नियम में वर्णित कतिपय अपेक्षाओं को पूरा करना चाहिए। उनकी दलील यह है कि विहित प्राधिकारी ने धारा 21 (1) (ख) के अधीन आवेदन का विनिश्चय एक समय विशेष पर किया था और उसने

उस समय विशेष की नियम 17 की अपेक्षाएं देखी थीं। उनकी दलील है कि यदि पुर्ननिर्माण करने का मकान-मालिक का अधिकार ऐसा अधिकार है जिसका प्रयोग काफी समय पश्चात् किया जा सकता है तो नियम 17 के उपबंध विफल हो जायेंगे, क्योंकि इस बीच कीमतें बहुत ज्यादा बढ़ जायेंगी। इस दलील में कोई सार नहीं है क्योंकि मामले का विनिश्चय किसी समय विशेष पर करना होता है।

11. परिणामतः रिट पिटीशन में कोई सार नहीं है और उसे तदनुसार खारिज किया जाता है। अपील प्राधिकारी के आदेश को आज की तारीख से तीन मास के पश्चात् प्रभावी किया जा सकता है। प्रत्यर्थी को अपने खर्चे का हक है।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

व्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—353

मुन्ना लाल अग्रवाल बनाम जिला मजिस्ट्रेट

(Munna Lal Agarwal *Vs.* The District Magistrate)

तारीख 8 फरवरी, 1984

[न्या० एच० एन० सेठ और आई० पी० सिंह]

चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980, धारा 3(1)—उक्त धारा में प्रयुक्त "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली किसी रीति में कार्य करना" पद की परिधि में केवल ऐसे कार्यकलाप आते हैं जो उक्त उपधारा में जोड़े गए स्पष्टीकरण के खंड (क) में विनिर्दिष्ट हैं और उसकी परिधि में कोई अन्य कार्यकलाप नहीं आता।

पिटीशनर कोयले के फुटकर क्रय तथा विक्रय तथा कारबार करने के लिए अनुज्ञप्तिधारी है। उसे प्रदाय निरीक्षक की रिपोर्ट के आधार पर अपर जिला मजिस्ट्रेट द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट तथा कागजात को पढ़ने के

पश्चात् जिला मजिस्ट्रेट ने फाइल पर अपना समाधान निम्नलिखित रूप में अभिलिखित किया : "मैंने अभिलेख पर उपलब्ध सभी कागजात को तथा रिपोर्ट को पढ़ लिया है। इन दस्तावेजों से मेरा समाधान हो गया है कि श्री राम चन्द्र अग्रवाल के पुत्र श्री मुन्ना लाल अग्रवाल, जो अलीगढ़ के रेलवे गेट के छर्रा अड्डा के निकट जी० टी० रोड स्थित मकान सं० 105 का निवासी है, अपना कारबार इस प्रकार चला रहा है, जिससे कोयले के वितरण पर गंभीर कुप्रभाव पड़ रहा है। इस संबंध में उसके विरुद्ध प्रथम इत्तिला रिपोर्ट भी की गई है। वह समर्थक दस्तावेजों के बिना एक ट्रक कोयला चोर बाजार में बेचने हेतु ले जा रहा था। यह बड़ी गम्भीर बात है। उसे चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 के अधीन निरुद्ध करने के लिए आदेश जारी किए जाएं।" फाइल पर पूर्वोक्त समाधान अभिलिखित करने के पश्चात् जिला मजिस्ट्रेट ने पिटीशनर के निरोध का निदेश करने वाला प्ररूपित आदेश तैयार किया : "चूंकि अलीगढ़ के रेलवे गेट के निकट छर्रा अड्डा के पास जी० टी० रोड के मकान सं० 105 का निवासी और श्री राम चन्द्र अग्रवाल का पुत्र श्री मुन्ना लाल अग्रवाल नामक व्यक्ति के संबंध में जिला मजिस्ट्रेट की हैसियत में मेरा समाधान हो गया है कि उसे इस दृष्टि से निरुद्ध करना आवश्यक है कि उसे समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के वितरण पर प्रतिकूल रूप में कार्य करने से निवारित किया जाए; तद्नुसार मैं चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(2)(क) के अधीन यह निदेश करता हूं कि श्री मुन्ना लाल अग्रवाल, जो इस समय अलीगढ़ के जिला जेल में परिरुद्ध है, पूर्वोक्त अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन जेल अधीक्षक द्वारा उसी स्थान पर मामूली वर्ग के निरुद्ध व्यक्ति की भांति निरुद्ध किया जाए।" इस निरोध आदेश की तामील पिटीशनर पर उसी दिन, अर्थात् 29 अक्तूबर, 1983 को कर दी गई। अपने निरोध आदेश के साथ-साथ पिटीशनर को वे आधार भी दिए गए थे, जिन पर जिला मजिस्ट्रेट का अपेक्षित समाधान आधारित बताया गया था। आधारों से यह प्रदर्शित होता है कि जिला मजिस्ट्रेट ने अपर जिला मजिस्ट्रेट (प्रदाय) द्वारा की गई रिपोर्ट में प्रकट किए गए तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि पिटीशनर का ऐसी रीति में कार्य करना अधिसंभाव्य था, जो समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय पर प्रतिकूल प्रभाव डालता हो। आधार निम्नलिखित थे : "(1) उसे अपने अभिलेखों में कोयले का कोई उल्लेख किए बिना कोयला खैर ले जाते हुए पाया गया और वह ऐसा इस दृष्टि से कर रहा था कि वह

कल्पित विक्रय दिखा सके। उसने तद्द्वारा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किया था, (2) वह उक्त कोयला खैर इस विचार से ले जा रहा था कि वह उसे चोर-बाजार में बेच सके, और (3) कोयला नियंत्रण आदेश के अधीन कोई भी कोयला डिपो-धारक अपनी अनुज्ञप्ति में दर्शित अपने कारबार से भिन्न स्थान पर कोयले का विक्रय नहीं कर सकता और न ही दस क्विंटल से अधिक मात्रा में कोयले का विक्रय कर सकता है।"

पिटीशनर का राज्य सरकार को अभ्यावेदन सलाहकार बोर्ड द्वारा विचार किए जाने के पश्चात् नामंजूर कर दिया गया। पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट फाइल किया। पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल की दलील है कि चूंकि कोयले के विक्रय के लिए कीमत नियत करने वाला सक्षम प्राधिकारी का कोई कानूनी आदेश अस्तित्व में नहीं था, अतः उस वस्तु को चोर-बाजार में बेचने का प्रश्न ही नहीं उठता। अपरंच, पिटीशनर द्वारा ट्रक में कोयला ले जाने का अभिकथित कार्य, जिसके साथ बीजक, बिल, आदि नहीं थे, ऐसा कार्य नहीं था, जिससे किसी कानूनी उपबंध का भंग होता हो। अतः जिला मजिस्ट्रेट के लिए यह न्यायोचित नहीं था कि वह ऐसे कार्य को विधि-विरुद्ध समझता और उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालता कि पिटीशनर ऐसा कार्यकलाप कर रहा था, जो समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल था। वे आधार, जिन पर पिटीशनर के निरोध का आदेश किया गया था, असंगत और अस्तित्वहीन थे। तद्नुसार अधिक्षिप्त आदेश दूषित था।

प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि कोयला आवश्यक वस्तु है। उनके अनुसार, वे परिस्थितियां, जिनमें पिटीशनर को अभिकथित रूप में कोयला ले जाते हुए पाया गया था, जिला मजिस्ट्रेट के लिए सुसंगत सामग्री थीं, जिनके आधार पर वह यह निष्कर्ष निकल सकता था कि पिटीशनर कोयला चोर बाजार में बेचने ले जा रहा था और उक्त कार्यकलाप समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल था। ऐसी सामग्री पर आधारित पिटीशनर का निरोध आदेश अधिनियम की धारा 3 में अंतर्विष्ट उपबंधों के पूर्णतः अनुसार है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3(2) में अंतर्विष्ट उपबंधों के

प्रकाश में देखने पर विधायी आशय पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली किसी रीति में कार्य करना" पद, जिसका प्रयोग चोर-बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) में किया गया है, अपनी परिधि में केवल ऐसे कार्यकलाप को लाता है, जो उक्त उपधारा में जोड़े गए स्पष्टीकरण के खंड (क) में विनिर्दिष्ट हैं और उसकी परिधि में कोई अन्य कार्यकलाप नहीं आता। तद्नुसार केवल ऐसे कार्यकलाप ही, जिनका परिणाम किसी व्यक्ति को आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अथवा समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार या वाणिज्य के नियंत्रण के संबंध में तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन दंडनीय किसी अपराध का करना या किसी व्यक्ति को ऐसा अपराध करने के लिए उकसाना, अथवा किसी ऐसी वस्तु के संबंध में, जो आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 में परिभाषित आवश्यक वस्तु है, अथवा जिसकी बाबत खंड (क) में यथाविनिर्दिष्ट किसी ऐसी अन्य विधि में उपबंध किए गए हैं, इस दृष्टि से व्यवहार करना कि किसी ऐसी रीति में लाभ कमाया जाए, जिससे प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उस अधिनियम के अथवा पूर्वोक्त अन्य विधि के उपबंध विफल हो जाएं या उनके विफल होने की प्रवृत्ति हो जाए, को ही ऐसे कार्यकलाप माना जा सकता है, जिन्हें निवारित करने के लिए चोर-बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) के अधीन निरोध आदेश पारित किया जा सकता है। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल के अनुसार मामला स्पष्टीकरण के खंड (क) के अंतर्गत आता है, क्योंकि पिटीशनर ने उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 में अंतर्विष्ट उपबंधों का उल्लंघन किया है। किंतु हमारा ध्यान उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 के किसी ऐसे उपबंध की ओर नहीं दिलाया गया है, जो ट्रक द्वारा कोयले के ले जाए जाने पर निर्बन्धन लगाता हो या उसका परिवहन करने वाले व्यक्ति पर बाध्यता अधिरोपित करता हो कि वह अपने साथ उस वस्तु के संबंध में बीजक या बिल भी रखे। तद्नुसार यह नहीं कहा जा सकता कि केवल इसलिए कि पिटीशनर बिना बिल या बीजक के कोयला ले जा रहा था, उसने आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराध किया। अतः उसका मामला अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण के खंड (क) के अंतर्गत नहीं आता। (पैरा 15 और 16)

इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यर्थियों का यह पक्षकथन नहीं है कि पिटीशनर ने या तो 10 क्विटल से अधिक कोयला किसी को बेचा था या उसने कोयला उस स्थान से, जो उसकी अनुज्ञप्ति में उपदर्शित है, भिन्न किसी स्थान पर किसी को बेचा था। उनका पक्षकथन यह है कि वह कोयला को खैर ले जाकर ऐसा करने जा रहा था। उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश के उपबंधों का उल्लंघन इस संदर्भ में केवल तभी होता, जबकि दस क्विटल से अधिक कोयले का वस्तुतः किसी ऐसे स्थान पर विक्रय होता, जो पिटीशनर की अनुज्ञप्ति में उपदर्शित स्थान से भिन्न है। जबकि स्पष्टीकरण का खंड (क) यह उपबंधित करता है कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध का करना या किसी व्यक्ति को करने के लिए उकसाना समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला कार्यकलाप होगा, उसमें यह नहीं अधिकथित है कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराध करने की तैयारी भी ऐसा कार्यकलाप मानी जाएगी, जो समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालता हो। (पैरा 18)

		पैरा
[1983]	1983 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1206, पृ० 1213 (पैरा 16) : हेम राज झुनझुनवाला **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Hema Raj Jhunjhunwala *Vs.* The State of Bihar and others);	23
[1982]	1982 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1433, पैरा 24 : गंगा राम **बनाम** आन्ध्र प्रदेश सरकार (Ganga Ram *Vs.* Government of Andhra Pradesh);	15
[1981]	1981 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1048 : श्रीमती लेहरी बाई **बनाम** कर्नाटक राज्य और अन्य (Smt. Leharibai *Vs.* State of Karnataka and others);	15
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 915, पृष्ठ 928 : दत्तात्रेय गोविन्द **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (Dattatraya Govind *Vs.* State of Maharashtra);	14

[1970] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 713 : मल्कियत सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Malkiat Singh *Vs.* the State of Punjab) 19

का **अवलंब** लिया गया ।

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 726 : कमला प्रसाद **बनाम** जिला मजिस्ट्रेट (Kamla Prasad *Vs.* District Magistrate); 22

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1093 : दीना नाथ **बनाम** कलक्टर तथा डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, कवंझर और एक अन्य (Dinanath *Vs.* Collector and District Magistrate, Keonjhar, and another); 23

[1955] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 661, 667 : बंगाल इम्युनिटी कंपनी लिमिटेड **बनाम** बिहार राज्य (Bengal Immunity Co. Ltd. *Vs.* the State of Bihar) 14

से **प्रभेद** बताया गया ।

आरंभिक (दाण्डिक) रिट अधिकारिता : 1983 का बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन सं० 13886.

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से .... श्री पालक बसु और श्री जय शंकर

विरोधी पक्षकार की ओर से .... स्थायी काउंसेल

न्यायालय का निर्णय न्या० एच० एन० सेठ ने दिया ।

न्या० सेठ :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट के लिए इस पिटीशन के पिटीशनर मुन्ना लाल अग्रवाल ने चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 3 के उपबंधों के अधीन अपने निरोध की विधिमान्यता को चुनौती दी है । यह निरोध अलीगढ़ के जिला मजिस्ट्रेट द्वारा अपने 29 अक्तूबर, 1983 के आदेश से प्राधिकृत किया गया था ।

2. पिटीशनर मुन्ना लाल अग्रवाल कोयले के फुटकर क्रय तथा विक्रय का कारबार करने के लिए अनुज्ञप्तिधारी (कोयला डिपो का धारक) है। 29 अक्तूबर, 1983 को अलीगढ़ के अपर जिला मजिस्ट्रेट (प्रदाय) श्री डी० सी० जी० भार्गव ने यह सिफारिश की कि पिटीशनर को अधिनियम के उपबंधों के अधीन निरुद्ध किया जाना चाहिए। उक्त रिपोर्ट में यह उल्लेख था कि 26 अक्तूबर, 1983 को प्रदाय निरीक्षक ने अलीगढ़ जिले के लोध थाने में यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखाई थी कि उसने संबद्ध उपखंड मजिस्ट्रेट के साथ ट्रक सं० यू० पी० बी० 3862 की जांच की थी जिस पर कोयला (हार्ड कोक) लदा था। उस समय वजीर चंद और जोगिन्दर पाल सिंह भी उपस्थित थे। ट्रक के चालक द्वारा किए गए कथन के अनुसार मुन्ना लाल अग्रवाल, जो मुन्ना लाल कोल डिपो का स्वामी है, और जो उस समय भी उसके साथ उपस्थित था, कोयले का मालिक था और वह उसे खैर स्थित ओम कोल डिपो को ले जा रहा था। न तो चालक और न ही मुन्ना लाल अग्रवाल अपने द्वारा ले जा रहे कोयले के संबंध में कोई बिल या बीजक प्रस्तुत कर सके। सुरेन्द्र सिंह द्वारा किया गया कथन भी इस आशय का था कि उक्त ट्रक मुन्ना लाल अग्रवाल द्वारा कोयला खैर ले जाने के लिए किराए पर लिया गया था। इस प्रकार मुन्ना लाल अग्रवाल अपने अभिलेखों में कोई प्रविष्टि किए बिना तथा कोयले का कतिपय विक्रय करने के लिए 12 मीटरी टन तथा 310 किलोग्राम कोयला खैर ले जाते हुए पकड़ा गया। इस प्रकार उसने कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 के अधीन जारी की गई अपनी अनुज्ञप्ति की शर्तों का उल्लंघन किया और आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किया। रिपोर्ट में यह भी उल्लेख था कि सुभाष चंद तथा घमंडी लाल गुप्ता ने ओम कोल डिपो की ओर से 27 अक्तूबर, 1983 को किए गए अपने लिखित कथन में निरीक्षक को यह सूचना दी थी कि उन्होंने किसी भी पार्टी से कोयला खरीदने के लिए किसी तरह का कोई संव्यवहार नहीं किया था और अभिकथित कोयला उनका नहीं था। कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 के अनुसार कोई भी कोयला डिपो-धारक 10 क्विंटल से अधिक कोयले का फुटकर विक्रय किसी भी व्यक्ति को नहीं कर सकता था और प्ररूप 'ग' में अनुज्ञप्ति की शर्त सं० 3 के अनुसार वह अनुज्ञप्ति में उपदर्शित स्थान से भिन्न स्थान पर कोयले का वितरण करने के लिए सशक्त नहीं था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मुन्ना लाल अग्रवाल उक्त कोयला खैर इसलिए ले जा रहा था कि वह उसे चोर बाजार में बेच सके और वह ऐसे कार्यकलाप कर रहा था, जिनका समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय

बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अपर जिला मजिस्ट्रेट द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट तथा कागजात को पढ़ने के पश्चात् जिला मजिस्ट्रेट ने फाइल पर अपना समाधान निम्नलिखित रूप में अभिलिखित किया :—

> "मैंने अभिलेख पर उपलब्ध सभी कागजात को तथा रिपोर्ट को पढ़ लिया है। इन दस्तावेजों से मेरा समाधान हो गया है कि श्री राम चन्द अग्रवाल के पुत्र श्री मुन्ना लाल अग्रवाल, जो अलीगढ़ के रेलवे गेट के छर्रा अड्डा के निकट जी० टी० रोड स्थित मकान स० 105 का निवासी है, अपना कारबार इस प्रकार चला रहा है, जिससे कोयले के वितरण पर गंभीर कुप्रभाव पड़ रहा है। इस संबंध में उसके विरुद्ध प्रथम इत्तिला रिपोर्ट भी की गई है। वह समर्थक दस्तावेजों के बिना एक ट्रक कोयला चोर बाजार में बेचने हेतु ले जा रहा था। यह बड़ी गंभीर बात है। उसे चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 के अधीन निरुद्ध करने के लिए आदेश जारी किए जाएं।"

4. फाइल पर पूर्वोक्त समाधान अभिलिखित करने के पश्चात् जिला मजिस्ट्रेट ने पिटीशनर के निरोध का निदेश करने वाला प्ररूपित आदेश तैयार किया :—

> "चूंकि अलीगढ़ के रेलवे गेट के निकट छर्रा अड्डा के पास जी० टी० रोड के मकान सं० 105 का निवासी और श्री राम चंद्र अग्रवाल का पुत्र श्री मुन्ना लाल अग्रवाल नामक व्यक्ति के संबंध में जिला मजिस्ट्रेट की हैसियत में मेरा समाधान हो गया है कि उसे इस दृष्टि से निरुद्ध करना आवश्यक है कि उसे समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के वितरण पर प्रतिकूल रूप में कार्य करने से निवारित किया जाए।
>
> तद्नुसार मैं चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(2)(क) के अधीन यह निदेश करता हूं कि श्री मुन्ना लाल अग्रवाल, जो इस समय अलीगढ़ के जिला जेल में परिरुद्ध है, पूर्वोक्त अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन जेल अधीक्षक द्वारा उसी स्थान पर मामूली वर्ग के निरुद्ध व्यक्ति की भांति निरुद्ध किया जाए।"

इस निरोध आदेश की तामील पिटीशनर पर उसी दिन, अर्थात् 29 अक्तूबर, 1983 को कर दी गई।

5. अपने निरोध आदेश के साथ-साथ पिटीशनर को वे आधार भी दिए गए थे, जिन पर जिला मजिस्ट्रेट का अपेक्षित समाधान आधारित बताया गया था। आधारों से यह प्रदर्शित होता है कि जिला मजिस्ट्रेट ने अपर जिला मजिस्ट्रेट (प्रदाय) द्वारा की गई रिपोर्ट में प्रकट किए गए तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि पिटीशनर का ऐसी रीति में कार्य करना अधिसंभाव्य था, जो समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय पर प्रतिकूल प्रभाव डालता हो। आधार निम्नलिखित थे :—

> "(1) उसे अपने अभिलेखों में कोयले का कोई उल्लेख किए बिना कोयला खैर ले जाते हुए पाया गया और वह ऐसा इस दृष्टि से कर रहा था कि वह कल्पित विक्रय दिखा सके। उसने तद्द्वारा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किया था;
>
> (2) वह उक्त कोयला खैर इस विचार से ले जा रहा था कि वह उसे चोर-बाजार में बेच सके; और
>
> (3) कोयला नियंत्रण आदेश के अधीन कोई भी कोयला डिपो-धारक अपनी अनुज्ञप्ति में दर्शित अपने कारबार से भिन्न स्थान पर कोयले का विक्रय नहीं कर सकता और न ही दस क्विंटल से अधिक मात्रा में कोयले का विक्रय कर सकता है।"

6. पिटीशनर ने राज्य सरकार को अभ्यावेदन किया, जिसमें उसने इस बात से इनकार किया कि 26 अक्तूबर, 1983 को बरामद किया गया कोयला उसका था। उसके अनुसार बुलन्दशहर का निवासी किशन कुमार ट्रक सं० डी० एच० एल० 4537 में बनारस से कोयला ला रहा था। जब वह 23 अक्तूबर, 1983 को लगभग 3-00 बजे सवेरे अलीगढ़ जिले के सिकन्दर राव पहुंचा तो उसका ट्रक उलट गया और किशन कुमार ने उस घटना के संबंध में सिकन्दर राव पुलिस थाने पर 24 अक्तूबर, 1983 को इत्तिला की। चूंकि किशन कुमार यह चाहता था कि जो कोयला वह ट्रक में ले जा रहा था वह उसके गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाए, अत: उसने पिटीशनर से संपर्क स्थापित किया, जो अपने कोल डिपो पर ट्रक किराए पर देने का कारबार भी करता था। कुछ कारणवश पिटीशनर के ट्रक उस तारीख पर उपलब्ध नहीं थे। तदनुसार उसने किशन कुमार को ट्रक भाड़े पर लेने के लिए चौधरी ट्रांसपोर्ट्स के पास भेजा। उसने किशन कुमार से यह भी

कहा कि यदि उसे कोई कठिनाई हो तो वह कोल डिपो पर आकर उससे संपर्क कर सकता है। ट्रक सं० यू० पी० वी० 3862 भाड़े पर लेने के पश्चात् किशन कुमार ने पिटीशनर को उसके संबंध में सूचना दी। पिटीशनर ने किशन कुमार से यह कहा कि वह चालक से यह कह दे कि लौटते समय जब ट्रक खैर की तरफ जाए तो वह पिटीशनर को भी ले ले जिसे कुछ जरूरी काम खैर में था और उसे खैर पहुंचा दे। तद्नुसार जब ट्रक सिकन्दर राव पर कोयला भरे जाने के पश्चात् ओम कोल डिपो की तरफ खैर जा रहा था तो रास्ते में ड्राइवर ने उसे रोक दिया और उसे भी चढ़ा लिया। उस समय ट्रक के चालक ने उससे कहा कि किशन कुमार अपने उलटे हुए ट्रक का निरीक्षण करवाने के लिए पीछे रुक गया है और यही कारण है कि वह उसके साथ नहीं आ सका। पिटीशनर ने यह प्रकथन किया कि ऐसी परिस्थितियों में वह ट्रक में ले जाए जाने वाले कोयले के संबंध में बीजक, आदि प्रस्तुत करने के लिए दायी नहीं है।

7. पिटीशनर द्वारा किए गए अभ्यावेदन पर राज्य सरकार ने सम्यक् अनुक्रम में विचार किया और सलाहकार बोर्ड ने भी ऐसा विचार किया, किन्तु उसे नामंजूर कर दिया और पिटीशनर के निरोध का आदेश राज्य सरकार द्वारा पुष्ट कर दिया गया। व्यथित होकर पिटीशनर संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अनुतोष के लिए इस न्यायालय के समक्ष आया है।

8. जिला मजिस्ट्रेट द्वारा फाइल पर पिटीशनर के निरोध आदेश के अनुशीलन से यह दर्शित होता है कि उसकी राय में पिटीशनर द्वारा कोयला चोर बाजार में बेचे जाने के उद्देश्य से बिना विधिमान्य दस्तावेजों के ले जाए जाने का कार्य ऐसा कार्य था जो समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल था, जैसा कि अधिनियम की धारा 3 में प्रकल्पित है। अतः यह आवश्यक था कि उसे भविष्य में ऐसा ही कार्यकलाप करने से निवारित करने के लिए निरुद्ध किया जाए।

9. पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल की दलील है कि चूंकि कोयलें के विक्रय के लिए कीमत नियत करने वाला सक्षम प्रधिकारी का कोई कानूनी आदेश अस्तित्व में नहीं था, अतः उस वस्तु को चोर बाजार में बेचने का प्रश्न ही नहीं उठता। अपरंच, पिटीशनर द्वारा ट्रक में कोयला ले जाने का अभिकथित कार्य, जिसके साथ बीजक, बिल, आदि नहीं थे, ऐसा कार्य नहीं था, जिससे किसी कानूनी उपबंध का भंग होता हो। अतः जिला [मजिस्ट्रेट

के लिए यह न्यायोचित नहीं था कि वह ऐसे कार्य को विधि-विरुद्ध समझता और उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालता कि पिटीशनर ऐसा कार्यकलाप कर रहा था, जो समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल था। वे आधार, जिन पर पिटीशनर के निरोध का आदेश किया गया था, असंगत और अस्तित्वहीन थे। तद्नुसार अधिक्षिप्त आदेश दूषित था।

10. प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि कोयला आवश्यक वस्तु है। उसके अनुसार वे परिस्थितियां, जिनमें पिटीशनर को अभिकथित रूप में कोयला ले जाते हुए पाया गया था, जिला मजिस्ट्रेट के लिए सुसंगत सामग्री थीं, जिनके आधार पर वह यह निष्कर्ष निकाल सकता था कि पिटीशनर कोयला चोर बाजार में बेचने ले जा रहा था और उक्त कार्यकलाप समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल था। ऐसी सामग्री पर आधारित पिटीशनर का निरोध आदेश अधिनियम की धारा 3 में अंतर्विष्ट उपबंधों के पूर्णतः अनुसार है।

11. अपने समक्ष दी गई दलीलों का मूल्यांकन करने के लिए हमारे लिए, "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल किसी रीति में कार्य करना" पद की परिधि का अवधारित करना उपादेय होता। यह पद अधिनियम की धारा 3 में प्रयुक्त है। धारा 3 का सुसंगत भाग इस प्रकार है :—

> *"3. कतिपय व्यक्तियों के निरोध का आदेश करने की शक्ति—
>
> (1) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार का संयुक्त सचिव की पंक्ति से अन्यून का कोई अधिकारी, जो इस धारा के प्रयोजनों के लिए उस सरकार द्वारा विशेष रूप से

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "3. Power to make orders detaining certain persons—
>
> (1) The Central Government or a State Government or any officer of the Central Government not below the rank of a Joint Secretary to that Government specially

सशक्त हो, अथवा राज्य सरकार का कोई अधिकारी, जो उस सरकार के सचिव की पंक्ति से अन्यून हो और जो इस धारा के प्रयोजनों के लिए उस सरकार द्वारा विशेष रूप से सशक्त किया गया हो, यदि किसी व्यक्ति के संबंध में समाधृत हो कि उसे समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल किसी रीति में कार्य करने से निवारित करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को निरुद्ध करने का आदेश किया जाए, तो वह ऐसा आदेश कर सकेगा।

स्पष्टीकरण : इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल रीति में कार्य करना" पद का अभिप्राय है—

(क) आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (1955 का 10) के अधीन अथवा समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार या वाणिज्य के नियंत्रण के संबंध में तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन दंडनीय किसी अपराध

---

empowered for the purposes of this section by that Government, or any officer of a State Government not below the rank of a secretary to that Government specially empowered for the purpose of this section by that Government, may, if satisfied, with respect to any person that with a view to preventing him from acting in any manner prejudicial to the maintenance of supplies of commodities essential to the community it is necessary to do so, make an order directing that such person be detained.

Explanation : For the purposes of this sub-section the expression "acting in any manner prejudicial to the maintenance of supplies of commodities essential to the community" means—

(a) committing or instigating any person to commit any offence punishable under the Essential Commodities Act, 1955 (10 of 1955) or under any other law for the time being in force relating to the control of the

का करना या किसी व्यक्ति को ऐसा अपराध करने के लिए उकसाना, अथवा

(ख) किसी ऐसी वस्तु के संबंध में—

(i) जो आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (1955 का 10) में परिभाषित आवश्यक वस्तु है, अथवा

(ii) जिसकी वाबत खंड (क) में यथा-निर्दिष्ट किसी ऐसी अन्य विधि में उपबंध किए गए हैं,

इस दृष्टि से व्यवहार करना कि किसी ऐसी रीति में लाभ कमाया जाए, जिससे प्रत्यक्षः या अप्रत्यक्षतः उस अधिनियम के अथवा पूर्वोक्त अन्य विधि के उपबंध विफल हो जाएं, या उनके विफल होने की प्रवृत्ति हो जाए।"

12. यह धारा उसमें विनिर्दिष्ट प्राधिकारियों को इस बात के लिए सशक्त करती है कि वे किसी भी व्यक्ति को, अपना यह समाधान होने पर कि उसे समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल रीति में कार्य करने से निवारित करने के लिए उसे निरुद्ध करना आवश्यक है, निरुद्ध कर सकते हैं। धारा 3 की उपधारा (1) में जोड़ा गया स्पष्टीकरण यह स्पष्ट करता है कि उस उपधारा के प्रयोजनों के लिए "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल रीति में कार्य करना" पद से निम्नलिखित अभिप्रेत है :—

---

production, supply or distribution of, or trade and commence in, any commodity essential to the community: or

(b) dealing in any commodity—

(i) which is an essential commodity as defined in the Essential Commodities Act, 1955 (10 of 1955), or

(ii) with respect to which provisions have been made in any such other law as is referred to in clause (a),

with a view to making gain in any manner which may directly or indirectly defeat or tend to defect the provisions of that Act or other law aforesaid."

(क) आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (1955 का 10) के अधीन अथवा समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार या वाणिज्य के नियंत्रण के संबंध में तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन दंडनीय किसी अपराध का करना या किसी व्यक्ति को ऐसा अपराध करने के लिए उकसाना, अथवा

(ख) किसी ऐसी वस्तु के संबंध में—

(i) जो आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (1955 का 10) में परिभाषित आवश्यक वस्तु है, अथवा

(ii) जिसकी बाबत खंड (क) में यथा-निर्दिष्ट किसी ऐसी अन्य विधि में उपबंध किए गए हैं,

इस दृष्टि से व्यवहार करना कि किसी ऐसी रीति में लाभ कमाया जाए, जिससे प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उस अधिनियम के अथवा पूर्वोक्त अन्य विधि के उपबंध विफल हो जाएं या उनकी विफल होने की प्रवृत्ति हो जाए।

यतः खंड (क) के अधीन कोई भी कार्यकलाप, जिसका परिणाम आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 आदि के अधीन दंडनीय कोई अपराध करना या किसी व्यक्ति को करने के लिए उकसाना हो उसे समुदाय के लिए आवश्यक प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल कार्यकलाप माना जाएगा, खंड (ख) द्वारा अनुध्यात कार्यकलाप इस प्रयोजन के लिए ऐसा कार्यकलाप है, जो आवश्यक वस्तु अधिनियम में यथा-परिभाषित किसी आवश्यक वस्तु में व्यवहार हो या किसी ऐसी अन्य किसी वस्तु में व्यवहार हो, जो समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक हो और ऐसा व्यवहार लाभ कमाने की दृष्टि से किया जाए और ऐसी रीति में किया जाए जो आवश्यक वस्तु अधिनियम अथवा उसमें निर्दिष्ट किसी अन्य विधि के उपबंधों को विफल बनाए। सामान्यतः खंड (क) के अनुसार निरोध आदेश आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अथवा समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण के नियंत्रण के संबंध में अन्य किसी विधि के अधीन दंडनीय कोई अपराध करने से किसी व्यक्ति को निवारित करने के उद्देश्य से पारित किया जा सकता है। खंड (ख) के अनुसार निरोध-आदेश इस दृष्टि से किया जा सकता है कि संबद्ध व्यक्ति को चोर-बाजारी करने से निवारित किया जा सके। इस

प्रकार अधिनियम का आशय इन दो पूर्वोक्त बुराइयों को निवारित करना था। जब हम अधिनियम की धारा 3 में अंतर्विष्ट उपबंधों को राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम, 1980 की धारा 3(2) में अंतर्विष्ट उपबंधों के साथ रख कर पढ़ते हैं, तो यह स्थिति साफ हो जाती है। धारा 3(2) का पाठ इस प्रकार है :—

> "(2). यदि केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार का किसी व्यक्ति के संबंध में यह समाधान हो जाता है कि उसे राज्य की सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रीति में कार्य करने से या लोक व्यवस्था बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रीति में कार्य करने से या समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और सेवाओं को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रीति में कार्य करने से निवारित करने की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक है तो वह यह निदेश देते हुए आदेश कर सकेगी कि उस व्यक्ति को निरुद्ध कर लिया जाए।
>
> स्पष्टीकरण : इस उपधारा के प्रयोजनों के लिए "समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और सेवाओं को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रीति में कार्य करना" पद के अंतर्गत चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3 की उपधारा (1) के स्पष्टीकरण में यथापरिभाषित, "समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं का प्रदाय बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रीति में कार्य करना" पद नहीं है और तद्नुसार इस अधिनियम के अधीन कोई भी निरोध आदेश उस आधार पर नहीं किया जाएगा, जिस पर उस अधिनियम के अधीन कोई निरोध आदेश किया जा सकता है।

3. राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3 में प्रयुक्त "समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और सेवाओं को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली रीति में कार्य करना" पद की व्यापकता इतनी पर्याप्त है कि उसकी परिधि के अंतर्गत न केवल चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण में प्रकल्पित प्रकृति का कार्यकलाप आता है, बल्कि ऐसे अन्य कार्यकलाप भी आते हैं, जिनका समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों के बनाए रखने पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। किंतु राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3 की उपधारा (2) में जोड़ा गया स्पष्टीकरण अपनी परिधि से ऐसे कार्यकलाप

को अपवर्जित करता है, जो यद्यपि कि समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों के बनाए रखने के प्रतिकूल हैं, किंतु चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3 की उपधारा (1) के स्पष्टीकरण की परिधि में आते हैं। इससे विधायी आशय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि चोर-बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण में विनिर्दिष्ट प्रकृति के प्रतिकूल कार्यकलाप को निवारित करने के किए कार्यवाही उस अधिनियम के अधीन की जा सकती है और ऐसे शेष कार्यकलाप को निवारित करने के लिए कार्यवाही, जो समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों को बनाए रखने को प्रभावित करता है, राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के अधीन की जा सकती है।

14. अब यह सुस्थिर है कि किसी धारा या खंड में जोड़ा गया स्पष्टीकरण उसमें निगमित हो जाता है और उसका अभिन्न अंग बन जाता है और उसका उससे स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं होता। विधि की दृष्टि में केवल एक ही अधिनियमिति होती है, जिसके धारा और स्पष्टीकरण दोनों ही अपृथक्करणीय भाग होते हैं और वे एक शरीर की भांति ही चालित होते हैं। **बंगाल इम्युनिटी कंपनी लिमिटेड** बनाम **बिहार राज्य**[1] देखें। किसी स्पष्टीकरण का पुरातनवादी कार्य उस मुख्य प्रयोजन के अभिप्राय और प्रभाव को स्पष्ट करना होता है, जिसका वह स्पष्टीकरण है और उसमें किसी प्रकार के संदेह या संदिग्धता को दूर करना होता है, किंतु अंतत: विधानमंडल का आशय ही सर्वोपरि होता है और उसका लेबल मात्र ऐसे आशय को नियंत्रित या विरूपित नहीं कर सकता। यह स्मरण रखना होगा कि विधानमंडल विभिन्न रीतियों में अपने को व्यक्त करता है और अंतिम विश्लेषण पर विधानमंडल द्वारा प्रयुक्त शब्द ही उसके आशय के वाहक होते हैं और उनका अर्थान्वयन उस संदर्भ तथा परिवेश को, जिसमें वे होते हैं, ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। अत: प्रश्नगत उपबंध का, यद्यपि कि उसे स्पष्टीकरण कहा गया है, अर्थान्वयन हमें उसकी स्पष्ट भाषा के आधार पर करना चाहिए न कि किसी कार्यकारण विचारणा के आधार पर। (देखें **दत्तात्रेय गोविन्द** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2])।

15. राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3(2) में अंतर्विष्ट उपबंधों के प्रकाश में देखने पर विधायी आशय पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि

---

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 661, पृ० 667

[2] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 915, पृ० 928.

"समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली किसी रीति मे कार्य करना" पद, जिसका प्रयोग चोर-बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) में किया गया है, अपनी परिधि में केवल ऐसे कार्यकलाप को लाता है, जो उक्त उपधारा में जोड़े गए स्पष्टीकरण के खंड (क) में विनिर्दिष्ट हैं और उसकी परिधि में कोई अन्य कार्यकलाप नहीं आता। तद्नुसार केवल ऐसे कार्यकलाप ही, जिनका परिणाम किसी व्यक्ति को आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अथवा समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदान या वितरण अथवा व्यापार या वाणिज्य के नियंत्रण के संबंध में तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन दंडनीय किसी अपराध का करना या किसी व्यक्ति को ऐसा अपराध करने के लिए उकसाना, अथवा किसी ऐसी वस्तु के संबंध में, जो आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 में परिभाषित आवश्यक वस्तु, अथवा जिसकी बाबत खंड (क) में यथा-विनिर्दिष्ट किसी ऐसी अन्य विधि में उपबंध किए गए हैं, इस दृष्टि से व्यवहार करना कि किसी ऐसी रीति में लाभ कमाया जाए, जिससे प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उस अधिनियम के अथवा पूर्वोक्त अन्य विधि के उपबंध विफल हो जाएं, या उनके विफल होने की प्रवृत्ति हो जाए, को ही ऐसे कार्यकलाप माना जा सकता है, जिन्हें निवारित करने के लिए चोर-बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) के अधीन निरोध आदेश पारित किया जा सकता है। हमारे इस दृष्टिकोण को कर्नाटक उच्च न्यायालय के **श्रीमती लेहरी बाई** बनाम **कर्नाटक राज्य और अन्य**[1] से समर्थन मिलता है। इस संबंध में कर्नाटक उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत को आन्ध्र उदेश उच्च न्यायालय के **गंगा राम** बनाम **आध्र प्रदेश सरकार**[2] के पैरा 24 से भी अनुमोदन मिलता प्रतीत होता है।

16. जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रस्तुत मामले में जिला मजिस्ट्रेट ने यह विनिश्चय किया कि पिटीशनर का निरोध अन्य आधारों के साथ-साथ इस आधार पर किया जाए कि कोयला बिना किसी दस्तावेज के (अर्थात् बिल या बीजक के) उसे चोर बाजारी में बेचने की दृष्टि से ले जाने का कार्य ऐसा कार्यकलाप है, जो चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु

---

[1] 1981 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1048.

[2] 1982 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1433, पैरा 24.

प्रदाय अधिनियम की धारा 3(1) में यथाप्रकल्पित समुदाय के लिए आवश्यक वस्तु के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला है। हमने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे कार्यकलाप को समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के, प्रदाय के बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला तभी माना जा सकता है, जब वह अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण के खंड (क) अथवा (ख) में से किसी की परिधि में आता हो। प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थियों का पक्षकथन यह है कि पिटीशनर का पूर्वोक्त आक्षेपणीय कार्यकलाप स्पष्टीकरण के खंड (क) के अंतर्गत आता है, क्योंकि वह आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराध है। आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 में उसकी धारा 3 के अधीन किए गए आदेश के उल्लंघन के लिए दंड उपबंधित है। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल के अनुसार मामला स्पष्टीकरण के खंड (क) के अंतर्गत आता है, क्योंकि पिटीशनर ने उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 में अंतर्विष्ट उपबंधों का उल्लंघन किया है। किन्तु हमारा ध्यान उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 के किसी ऐसे उपबंध की ओर नहीं दिलाया गया है, जो ट्रक द्वारा कोयले के ले जाये जाने पर निर्बन्धन लगाता हो या उसका परिवहन करने वाले व्यक्ति पर यह बाध्यता अधिरोपित करता हो कि वह अपने साथ उस वस्तु के संबंध में बीजक या बिल भी रखे। तद्नुसार यह नहीं कहा जा सकता कि केवल इसलिए कि पिटीशनर बिना बिल या बीजक के कोयला ले जा रहा था, उसने आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराध किया। अतः उसका मामला अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण के खंड (क) के अंतर्गत नहीं आता।

17. बहरहाल, प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि मात्र यह तथ्य कि पिटीशनर ट्रक सं० यू० पी० बी० 3862 में 12 मीटरी टन तथा 310 किलोग्राम कोयला ले जा रहा था, यह दर्शित करता है कि वह कोयले को अपने अनुज्ञप्त परिसर से भिन्न अन्य स्थान पर बेचने के लिए ले जा रहा था। कोयला डिपो-धारक के रूप में पिटीशनर को केवल कोयले के फुटकर विक्रय का हक था, जैसा कि उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 में उपबंधित है। उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश में यथा-परिभाषित "फुटकर विक्रय" पद का अभिप्राय किसी एक दिन किसी ग्राहक को दस क्विंटल से अनधिक कोयले का विक्रय है। इस प्रकार पिटीशनर ने उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश के उपबंधों का उल्लंघन

किया था, क्योंकि वह एक ही समय पर दस क्विंटल से अधिक कोयला किसी को बेचने जा रहा था। अपरंच, उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश, 1977 के उपबंधों के अधीन उसे जारी की गई अनुज्ञप्ति के खंड 3 के अनुसार पिटीशनर कोयले का विक्रय केवल अपनी अनुज्ञप्ति में उपदर्शित कारबार के स्थान पर ही कर सकता था, किंतु वह उसे बेचने के लिए खैर ले जा रहा था, अर्थात् ऐसे स्थान पर बेचने जा रहा था जो उसके कारबार के स्थान से भिन्न स्थान है और इस प्रकार उसने अपनी अनुज्ञप्ति की शर्त सं० 3 का उल्लंघन किया था और इस प्रकार उसने उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश के उपबंधों के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया था।

18. इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यर्थियों का यह पक्षकथन नहीं है कि पिटीशनर ने या तो 10 क्विंटल से अधिक कोयला किसी को बेचा था या उसने कोयला उस स्थान से, जो उसकी अनुज्ञप्ति में उपदर्शित है, से भिन्न किसी स्थान पर किसी को बेचा था। उनका पक्षकथन यह है कि वह कोयला को खैर ले जाकर ऐसा करने जा रहा था। उत्तर प्रदेश कोयला नियंत्रण आदेश के उपबंधों का उल्लंघन इस संदर्भ में केवल तभी होता, जबकि 10 क्विंटल से अधिक कोयले का वस्तुत: किसी ऐसे स्थान पर विक्रय होता, जो पिटीशनर की अनुज्ञप्ति में उपदर्शित स्थान से भिन्न है। जबकि स्पष्टीकरण का खंड (क) यह उपबंधित करता है कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध का करना या किसी व्यक्ति को करने के लिए उकसाना समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला कार्यकलाप होगा, उसमें यह नहीं अधिकथित है कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराध करने की तैयारी भी ऐसा कार्यकलाप मानी जाएगी, जो समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालता हो।

19. **मल्कियत सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धांतों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पिटीशनर का कार्यकलाप उस प्रक्रम तक, जबकि ट्रक रास्ते में रोका गया, केवल अपराध कारित करने की तैयारी मात्र है, जिसे आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अधीन दंडनीय नहीं बनाया गया है। तद्नुसार जिला न्यायाधीश के लिए यह न्यायोचित नहीं था कि वह इस

---

[1] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 713.

आधार पर कार्यवाही करता कि पिटीशनर द्वारा उक्त कोयला एक बार में ही किसी स्थान पर, जो कि उसकी अनुज्ञप्ति में उपदर्शित उसके कारबार के स्थान से भिन्न था, बेचने की तैयारी ऐसा कार्यकलाप था जो चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण के खंड (क) में यथा-परिभाषित प्रदाय बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला था।

20. प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने जिला मजिस्ट्रेट के दृष्टिकोण को इस आधार पर न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया कि पिटीशनर ने समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय के बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला कार्यकलाप किया और उसने स्पष्टीकरण के खंड (ख) के प्रति निर्देश करते हुए यह दलील दी कि ट्रक द्वारा उक्त कोयला आवश्यक दस्तावेजों के बिना ले जाए जाने का कार्य और उसे खैर में बेचने का दृष्टिकोण ऐसी वस्तु के संबंध में व्यवहार करना है, जो समुदाय के लिए आवश्यक है और ऐसा व्यवहार इस दृष्टिकोण से किया जा रहा था कि ऐसी रीति में लाभ कमाया जाए जो अधिनियम के उपबंधों को प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: विफल बनाए या जिसकी प्रवृत्ति इस प्रकार विफल बनाने की हो। जब विद्वान् सरकारी अधिवक्ता से यह कहा गया कि वे अधिनियम के उन उपबंधों को इस प्रकार बताए जिनका उद्देश्य उक्त कार्यकलाप से प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: विफल होता हो, तो वे इस प्रकार का कोई उपबंध नहीं बता सके। तदनुसार हमारा यह समाधान नहीं हुआ है कि पिटीशनर के अधिकथित आक्षेपणीय कार्यकलाप को ऐसा कार्यकलाप कहा जा सकता है, जो इस अर्थ में समुदाय के लिए आवश्यक वस्तु के प्रदाय के बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालता हो, जिसमें उक्त अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण के खंड (ख) में परिभाषित है।

21. अपरंच, जिला मजिस्ट्रेट के इस निष्कर्ष से कि पिटीशनर समुदाय के लिए आवश्यक वस्तु के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कार्यकलाप कर रहा था, प्रमुख कारणों में से एक यह था कि पिटीशनर कोयला चोर बाजार में बेचने जा रहा था। किसी वस्तु को चोर बाजार में बेचने का सामान्य अर्थ यह होता है कि वह अपने उचित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचा जाए। किसी मूल्य के औचित्य का न्यायनिर्णयन या तो किसी कानूनी उपबंध के अधीन नियत कीमत के आधार पर किया जाएगा अथवा बाजार में प्रचलित सामाजिक और आर्थिक

स्थितियों के प्रति निर्देश से । प्रस्तुत मामले में, इस संबंध में कोई विवाद नहीं है कि कोयले के विक्रय के लिए किसी कानूनी प्राधिकारी द्वारा कोई कीमत तय नहीं की गई है न तो जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष ऐसी कोई सामग्री थी, जिसके आधार पर उसका यह समाधान होता कि पिटीशनर कोयले को ऐसे मूल्य पर बेचने जा रहा था, जो प्रचलित आर्थिक स्थितियों को विचार में रखते हुए उचित मूल्य से अधिक होता ।

22. **कमला प्रसाद** बनाम **जिला मजिस्ट्रेट**[1] के मामले में पिटीशनर को आंतरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन इस आधार पर निरुद्ध किया गया था कि उसने दियासलाइयां और साबुन स्टाक जमा किया था और उसे छिपा रखा था और उसने एक क्रेता को उन्हें बेचने से यह कहकर इनकार कर दिया था कि उसके पास कोई स्टाक नहीं था । तद्नुसार यह निष्कर्ष निकाला गया कि पिटीशनर ऐसे कार्यकलाप कर रहा था, जो समुदाय को आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के अर्थ में प्रतिकूल प्रभाव डालती थीं जिस अर्थ में इस अभिव्यक्ति का प्रयोग राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम की धारा 3(2) में अंतर्विष्ट समरूप उपबंध में किया गया है । उच्चतम न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि दियासलाइयों तथा साबुन में व्यवहार बिहार (खाद्यान्नों से भिन्न) आवश्यक वस्तु कीमतें तथा भंडार (संप्रदर्शन तथा नियंत्रण) आदेश, 1967 द्वारा शासित होता था, जो आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन जारी किया गया था और इस बात को देखते हुए भी कि दियासलाइयां ऐसी वस्तुएं नहीं थीं जो अनुसूची 2 की परिधि में आतीं, जिसमें ऐसी वस्तुएं वर्णित थीं जिन्हें बेचने से इनकार नहीं किया जा सकता, पिटीशनर का कार्यकलाप ऐसा था कि उसके आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि वह स्टाक को चोर बाजार में बेचने के प्रयोजन के लिए जमा कर रहा था और इस प्रकार अनुचित लाभ उठाना चाहता था। उच्चतम न्यायालय का यह विनिश्चय इस दृष्टिकोण का समर्थन करता है कि किसी वस्तु के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह चोर बाजार में बेची जा रही है यदि वह अनुचित लाभ कमाने की दृष्टि से बेची जाए ।

23. प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने **दीना नाथ** बनाम **कलक्टर तथा डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट केवंझर और अन्य**[2] के मामले के प्रति अपनी इस दलील

---

[1] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 726.

[2] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1093.

के समर्थन में निर्देश किया कि इस निष्कर्ष के लिए कि कोई वस्तु चोर बाजार में बेची जा रही है, कानूनी कीमत का अस्तित्व या यह बात पूर्व शर्त नहीं है कि उसे अनुचित लाभ कमाने के लिए बेचा जा रहा है। हमने उच्चतम न्यायालय के पूर्वोक्त विनिश्चय का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया है, किंतु हम उसमें ऐसी कोई बात नहीं पाते, जो प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल की दलील का समर्थन करती हो। वस्तुतः पटना उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने **हेमराज झुनझुनवाला** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] के पृष्ठ 1213 (पैरा 16) में यहां तक कहा है कि कीमत निर्धारण के अभाव में चोर बाजारी का प्रश्न मात्र एक अपनाम है।

24. तदनुसार हमारा यह निष्कर्ष है पिटीशनर का निरोध करने के प्रमुख कारणों में से एक, अर्थात् यह कि पिटीशनर का बिना विधिमान्य दस्तावेजों के कोयले को चोर बाजार में बेचने ले जाने का कार्य समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय पर प्रतिकूल प्रभाव डालता था, जैसा कि धारा 3(1) के स्पष्टीकरण द्वारा अनुध्यात है, मान्य नहीं है और इस प्रकार पिटीशनर का निरोधादेश दूषित हो जाता है।

25. परिणामतः पिटीशन सफल होता है और मंजूर किया जाता है। प्रत्यर्थियों को निदेश दिया जाता है कि वे चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3 के अधीन जिला मजिस्ट्रेट के तारीख 29 अक्तूबर, 1983 के आदेश के अनुसरण में पिटीशनर मुन्ना लाल को निरोध में न रखें और उसे अभिरक्षा से तुरंत निर्मुक्त कर दें, जब तक कि उसका निरोध किसी अन्य मामले के संबंध में अन्यथा अपेक्षित न हो।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

ब्रह्म

---

[1] 1983 क्रिमिनल लॉ जर्नल 1206, पृष्ठ 1213 (पैरा 16).

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—375

सुभाष चन्द्र गोयल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य

(Subhash Chandra Goel *Vs.* the State of Uttar Pradesh)

तारीख 9 फरवरी, 1984

[न्या० एच० एन० सेठ और आर० ए० मिश्र]

चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980, धारा 3(1) का स्पष्टीकरण (क) सपठित आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955, धारा 10—उक्त धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के अधीन आवश्यक वस्तु के व्यवहारी से भिन्न अन्य व्यक्ति भी विधि के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी माना जा सकता है और 1955 के अधिनियम की धारा 10 के अनुसार कंपनी, निगमित निकाय या फर्म का भार-साधक आफिसर या अपराध के समय उसके प्रति उत्तरदायी प्रत्येक व्यक्ति अधिनियम के अधीन उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और उसका निरोध 1980 के अधिनियम के अधीन किया जा सकता है ।

2. आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 धारा 10, सपठित चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980, धारा 3(1) का स्पष्टीकरण (क)—उक्त धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के अधीन आवश्यक वस्तु के व्यवहारी से भिन्न अन्य व्यक्ति भी विधि के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी माना जा सकता है और 1955 के अधिनियम की धारा 10 के अनुसार कंपनी, निगमित निकाय या फर्म का भार-साधक आफिसर या अपराध के समय उसके प्रति उत्तरदायी प्रत्येक व्यक्ति अधिनियम के अधीन उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और उसका निरोध 1980 के अधिनियम के अधीन किया जा सकता है ।

3. आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955, धारा 3, सपठित धारा 7—इससे पूर्व **कि** किसी व्यक्ति के संबंध में यह कहा जाए कि उसने उक्त धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किया है, यह अनिवार्यतः दर्शित करना होगा कि धारा 3 द्वारा अनुध्यात नियंत्रण आदेश पारित किया गया था और ऐसे आदेश का उल्लंघन हुआ था ।

4. चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980, धारा 3(1) का स्पष्टीकरण (क), सपठित गैस सिलिंडर नियम,

1981, नियम 51 तथा 52 तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम, 1884 – इससे पूर्व कि किसी कार्यकलाप के संबंध में यह कहा जाए कि वह धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के द्वितीय भाग के अधीन समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, यह दर्शित करना होगा कि उस कार्यकलाप का परिणाम समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित किसी विधि का उल्लंघन है, किंतु चूंकि न तो गैस सिलिंडर नियम और न ही भारतीय विस्फोटक अधिनियम में अंतर्विष्ट उपबंध किसी वस्तु में व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित विधियां अंतर्विष्ट करने वाले माने जा सकते हैं, अतः उक्त नियम 51 तथा 52 के उल्लंघन के आधार पर निवारक निरोध नहीं किया जा सकता।

मैसर्स गोयल गैस सर्विस के नाम और अभिनाम में एक भागीदारी फर्म है, जो द्रव पैट्रोल गैस (एल० पी० जी०) से भरे गैस सिलिंडरों को खरीदने तथा बेचने का कारबार आगरा के महात्मा गांधी मार्ग के सं० 6/1 पर करती है। मैसर्स गोयल गैस सर्विस के भागीदार सुरेश चन्द्र गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 37 का पिटीशनर), भगवान दास गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 38 का पिटीशनर), गुलाब चन्द्र गोयल और श्रीमती माता रानी गोयल हैं। सुभाष चन्द्र गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 23 का पिटीशनर) भगवान दास गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 38 का पिटीशनर) का पुत्र है। यह कहा गया है कि 29 अक्तूबर, 1983 को उक्त फर्म के कारबार परिसर पर आगरा के अपर नगर मजिस्ट्रेट श्री चक्रपाणि ने छापा मारा। उस समय सुभाष चन्द्र गोयल कारबार परिसर में उपस्थित था। आगरा के महात्मा गांधी मार्ग के परिसर सं० 6/1 के शो रूम, गोदाम, आदि की तलाशी से यह प्रकट हुआ कि स्टाक या वजन बोर्ड कहीं प्रदर्शित नहीं किया गया था। स्टाक और तेल के रजिस्टर भी प्रस्तुत नहीं किए गए, यद्यपि कि इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त समय दिया गया। विस्फोटक विभाग की द्रव पैट्रोल गैस के भंडारकरण और उसके बेचने हेतु अनुज्ञा भी प्रस्तुत नहीं की गई। दुकान में 25 जय ज्योति एल० पी० जी० सिलिंडर (16 भरे हुए और 9 खाली) भी पाए गए, किंतु स्वत्वधारियों ने इस बात का कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया कि उन्हें जय ज्योति कंपनी द्वारा व्यवहारी नियुक्त किया गया है। पाए गए सिलिंडरों पर भारतीय मानक संस्थान का चिह्न भी नहीं था। उसी स्थल से 99 भरे हुए और 58 खाली सिलिंडर बरामद किए गए। शो रूम और भंडार-घर परिसर के भीतरी भाग में स्थित थे, किंतु इस

संबंध में विस्फोटक विभाग की कोई अनुज्ञप्ति प्रस्तुत नहीं की गई। अपर नगर मजिस्ट्रेट श्री चक्रपाणि का यह विचार था कि चूंकि शो रूम और गोदाम आवासीय भवन क्षेत्र के भीतर थे, अतः दुर्घटना होने की संभावना थी, जिससे अनेक व्यक्तियों को क्षति कारित हो सकती थी। तद्नुसार फर्म तथा उसके सहयोगियों ने आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम की धारा 4/5 के अधीन दंडनीय अपराध किए थे। तद्नुसार उसने आगरा के लाइन मंडी के पुलिस थाने में 29 अक्तूबर, 1983 को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करा दी। पिटीशनर सुभाष चन्द्र गोयल को गिरफ्तार करके थाने ले जाया गया। उसने जमानत पर छोड़े जाने के लिए आवेदन दिया और वह विशेष न्यायाधीश द्वारा 31 अक्तूबर, 1983 को पारित आदेश के अनुसार जमानत पर छोड़ दिया गया। बाद में 7 दिसंबर, 1983 को आगरा के जिला मजिस्ट्रेट ने चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "अधिनियम" कहा गया है) की धारा 3(2)(क) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिनियम की धारा 3(1) के अधीन एक आदेश किया, जिसके द्वारा पिटीशनरों का निरोध प्राधिकृत किया। पिटीशनरों को दिए गए उनके निरोध के आधारों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि पाए गए तथ्यों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् और अपर नगर मजिस्ट्रेट द्वारा उस समय पाई गई अनियमितताओं के आधार पर, जब उसने आगरा के महात्मा गांधी मार्ग के परिसर सं० 6/1 पर 29 अक्तूबर, 1983 को छापा मारा था, जिला मजिस्ट्रेट ने यह निष्कर्ष निकाला कि पिटीशनर ने गैस सिलिंडर नियमावली, 1981 के उपबंधों का उल्लंघन किया है और यह उल्लंघन भारतीय विस्फोटक अधिनियम की धारा 5/9 के अधीन दंडनीय है। उसका यह भी विचार था कि चूंकि द्रव पैट्रोल गैस पैट्रोल उत्पाद (प्रदाय तथा वितरण) आदेश, 1972 में यथापरिभाषित पैट्रोल उत्पाद की परिधि के भीतर आता है और पैट्रोल उत्पाद आवश्यक वस्तु अधिनियम से संलग्न अनुसूची में सम्मिलित है, अतः द्रव पैट्रोल गैस आवश्यक वस्तु है और चूंकि तीनों पिटीशनर द्रव पैट्रोल गैस के वितरण के संबंध में गंभीर अनियमितताओं के लिए उत्तरदायी थे, अतः वे आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराधों के दोषी थे। सुभाष चन्द्र गोयल के मामले में यह भी उल्लेख किया गया कि वह ऐसा व्यक्ति था, जो फर्म का कारबार देख रहा था और वह निरीक्षण के समय भी उपस्थित था।

इस प्रकार यह स्पष्ट था कि जिला मजिस्ट्रेट का यह समाधान कि पिटीशनरों को समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने पर प्रतिकूल रीति में कार्य करने से निवारित करने के लिए निरुद्ध करना आवश्यक है, इस आधार पर आधारित था कि पिटीशनरों ने ऐसे अपराध किए थे जो आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम की धारा 5/9 के अधीन दंडनीय थे।

पिटीशनरों ने निरोध आदेशों की विधिमान्यता को उच्च न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन बंदी-प्रत्यक्षीकरण रिट में चुनौती दी। पिटीशनरों की ओर से मुख्य दलील यह दी गई कि सुभाष चंद्र संबद्ध फर्म का भागीदार नहीं था और न ही वह संबद्ध परिसर पर फर्म के कारबार के संबंध में उपस्थित था। अतः उसे फर्म की अनियमितताओं के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। यह भी दलील दी गई कि यदि यह मान भी लिया जाए कि सुभाष चन्द्र फर्म का कामकाज देख रहा था तो भी उसे भरे हुए या खाली द्रव पैट्रोल सिलिंडर में व्यवहारी नहीं माना जा सकता। आगे यह दलील दी गई कि संवद्ध फर्म जिस वस्तु में व्यवहार कर रही थी, वह आवश्यक वस्तु नहीं थी। अतः आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी दलील दी गई कि यदि यह मान भी लिया जाए कि द्रव पैट्रोल गैस आवश्यक वस्तु थी, तो भी मजिस्ट्रेट के समक्ष ऐसी सामग्री नहीं थी, जिसके आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता कि पिटीशनरों ने आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अपराध करके ऐसा कार्यकलाप किया था, जो अधिनियम की धारा 3 द्वारा अनुध्यात प्रकृति का प्रतिकूल कार्यकलाप हो। विद्वान् सरकारी अधिवक्ता से यह पूछा गया कि आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 के अधीन वह कौन-सा नियंत्रण आदेश था, जिसका उल्लंघन अधिकथित है। वे उच्च न्यायालय की अवेक्षा में केवल आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 के अधीन जारी किए गए पैट्रोल उत्पाद (प्रदाय तथा वितरण) आदेश, 1972 ला सके, किंतु वे यह नहीं बता सके कि उक्त आदेश में अंतर्विष्ट उपबंधों का उल्लंघन पिटीशनरों द्वारा किस प्रकार किया गया है। आगे उन्होंने यह दलील दी कि पिटीशनरों के संबंध में यह अधिसंभावना थी कि वे प्रतिकूल कार्यकलाप करेंगे, क्योंकि पिटीशनरों ने गैस सिलिंडर नियम, 1981 के साथ पठित भारतीय विस्फोटक अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराध किए थे और यह ऐसी विधि है, जो अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के द्वितीय भाग द्वारा अनुध्यात है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किए गए।

जबकि यह सही है कि चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण के खण्ड (क) के अधीन केवल ऐसा व्यक्ति ही, जो आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन अथवा समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा उसमें व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन दंडनीय अपराध करता है अथवा किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा अपराध करने के लिए उकसाता है, जनता के लिए आवश्यक वस्तु के प्रदाय के बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कार्यकलाप का करने वाला कहा जा सकता है और सामान्यतया व्यवहारी ही ऐसा व्यक्ति होता है, जिसके संबंध में कहा जा सकता है कि वह ऐसा अपराध करता है या ऐसा अपराध करने के लिए उकसाता है किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि किन्हीं भी परिस्थितियों में व्यवहारी से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति विधि के अधीन दंडनीय अपराध का दोषी नहीं माना जा सकता। आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 10 के सुसंगत भाग से यह स्पष्ट है कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन जहां कोई अपराध किसी कंपनी द्वारा अथवा किसी निगमित निकाय या फर्म द्वारा किया गया है, वहां प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जो उल्लंघन के समय यथा-स्थिति कंपनी, निगमित निकाय या फर्म का भार-साधक आफिसर था या उसके प्रति उत्तरदायी था, अधिनियम के उपबंधों के अधीन दंडनीय अपराध के कारित किए जाने के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। प्रस्तुत मामले में, प्रत्यर्थियों का पक्षकथन यह है कि सुभाष चन्द्र मैसर्स गोयल गैस सर्विस के कारबार का भार-साधक था। अतः यह कहा जा सकता है कि वह आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन किसी अपराध के लिए उत्तरदायी है, जो कि फर्म द्वारा कारित किया गया हो। (पैरा 8,9)

इससे पूर्व कि किसी व्यक्ति के संबंध में यह कहा जाए कि उसने आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किया है, यह अनिवार्यतः दर्शित करना होगा कि आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 द्वारा अनुध्यात नियंत्रण आदेश पारित किया गया था और ऐसे आदेश का उल्लंघन हुआ था। किंतु आधारों में आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 के अधीन पारित नियंत्रण आदेश का उल्लेख नहीं किया गया है, जिसके उपबंधों के उल्लंघन का आरोप लगाया गया है। तदनुसार उच्च

न्यायालय ने सरकारी अधिवक्ता से यह पूछा कि वे बताएं कि आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 के अधीन वह कौन-सा नियंत्रण आदेश था, जिसके उपबंधों के संबंध में कहा गया है कि पिटीशनरों ने उनका उल्लंघन किया था। सरकारी अधिवक्ता इस संबंध में उच्च न्यायालय की अवेक्षा में केवल आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 के अधीन जारी किए गए पैट्रोल उत्पाद (प्रदाय तथा वितरण) आदेश 1972 ला सके। किंतु वे यह नहीं बता सके कि उक्त आदेश अंतर्विष्ट उपबंधों का उल्लंघन पिटीशनरों द्वारा किस प्रकार किया गया है। आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3 के अधीन द्रव पैट्रोल गैस के प्रदाय तथा वितरण के संबंध में कोई अन्य नियंत्रण आदेश हमारी अवेक्षा में नहीं लाया जा सका, जिसके उपबंधों के संबंध में यह कहा गया है कि उनका उल्लंघन हुआ है। ऐसी परिस्थिति में पिटीशनरों की ओर से दी गई इस दलील में सार प्रतीत नहीं होता कि जिला मजिस्ट्रेट का इस आधार पर आधारित समाधान दूषित हो गया था कि पिटीशनरों ने आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किए थे। (पैरा 11)

इस तथ्य के अतिरिक्त कि जब एक बार यह अभिनिर्धारित कर दिया जाए कि आधारों में से एक, जिस पर मजिस्ट्रेट का व्यक्तिपरक यह समाधान आधारित है कि पिटीशनरों के संबंध में यह अधिसंभावना थी कि वे समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल रीति में कार्य करेंगे, दूषित हो जाता है तो निरोध का संपूर्ण आदेश ध्वस्त हो जाता है, हमारी यह राय है कि विद्वान् सरकारी अधिवक्ता द्वारा दी गई इस दलील में कोई सार नहीं है कि प्रस्तुत मामले में पिटीशनर ऐसे अपराध करने के दोषी थे, जो अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण 'क' के द्वितीय भाग द्वारा अनुध्यात विधि के अधीन दंडनीय है। धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के द्वितीय भाग का संबंध केवल ऐसे कार्यकलाप से है, जो ऐसी विधि के उल्लंघन में परिणत होता है, जो आवश्यक वस्तु अधिनियम से भिन्न है और जिसका संबंध समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय, वितरण या व्यापार-वाणिज्य के नियंत्रण से है। यद्यपि कि पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष ऐसी कोई सामग्री नहीं थी, जिसके आधार पर वह यह सोचता कि द्रव पैट्रोल गैस, जिसमें फर्म मैसर्स गोयल गैस सर्विस व्यवहार कर रही थी, आवश्यक वस्तु से भिन्न होते हुए भी समुदाय के लिए आवश्यक वस्तु थी, हम इस प्रश्न पर विचार-विमर्श

इस आधार पर करेंगे कि द्रव पैट्रोल गैस समुदाय के लिए आवश्यक वस्तु है। इससे पूर्व किसी कार्यकलाप के संबंध में कहा जाए कि वह धारा 3(1) के स्पष्टीकरण (क) के द्वितीय भाग के अधीन समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों को बनाए रखने पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, यह दर्शित करना होगा कि उस कार्यकलाप का परिणाम समुदाय के लिए आवश्यक किसी वस्तु के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित किसी विधि का उल्लंघन है। गैस सिलिंडर नियम, 1981 के साथ पठित विस्फोटक अधिनियम के अधीन उल्लंघन स्पष्टीकरण (क) के द्वितीय भाग के अधीन विधि का उल्लंघन तभी होगा, जब यह कहा जा सके कि भारतीय विस्फोटक अधिनियम तथा गैस सिलिंडर नियम ऐसी विधियां हैं, जो द्रव पैट्रोल गैस के उत्पादन, प्रदाय या वितरण अथवा व्यापार और वाणिज्य से संबंधित हैं। इस दलील के प्रयोजनों के लिए हम यह मान सकते हैं कि द्रव पैट्रोल गैस भारतीय विस्फोटक अधिनियम के अधीन “विस्फोटक” शब्द की परिभाषा की परिधि में आती है। फिर भी यह प्रश्न विचारार्थ शेष रहता है कि क्या भारतीय विस्फोटक अधिनियम ऐसी विधि है, जो अधिनियम की धारा 3(1) के स्पष्टीकरण ‘क’ के द्वितीय भाग में वर्णित विषयों में से किसी के नियंत्रण से संबंधित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न तो गैस सिलिंडर नियम, 1981 और न ही भारतीय विस्फोटक अधिनियम में अंतर्विष्ट उपबंध किसी वस्तु में व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित विधियां अंतर्विष्ट करने वाले माने जा सकते हैं। प्रत्यर्थियों का यह पक्षकथन नहीं है कि भारतीय विस्फोटक अधिनियम में अथवा गैस सिलिंडर नियमों में कोई ऐसे उपबंध हैं, जो द्रव पैट्रोल गैस के उत्पादन, प्रदाय तथा वितरण से संबंधित हैं और जिनका उल्लंघन पिटीशनरों ने किया है। ऐसी परिस्थितियों में यदि यह मान भी लिया जाए कि पिटीशनरों ने गैस सिलिडर नियम, 1981 के नियम 51 तथा 52 का उल्लंघन किया है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने द्रव पैट्रोल गैस के व्यापार या वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित किसी विधि के अधीन दंडनीय कोई अपराध किया है और पिटीशनरों के कार्यकलाप के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे अधिनियम की धारा 3(1) के खंड (क) के द्वितीय भाग द्वारा अनुध्यात प्रकृति के प्रतिकूल कार्यकलाप हैं, जिनके लिए अधिनियम के अधीन निरोध आदेश पारित किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आक्षेपित निरोधादेश पारित करते समय जिला मजिस्ट्रेट को यह गलतफहमी थी कि पिटीशनरों ने आवश्यक वस्तु

अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन दंडनीय अपराध किए थे और गैस नियम, 1981 के नियम 51 तथा 52 का उल्लंघन समुदाय के लिए आवयश्क वस्तु के व्यापार और वाणिज्य के नियंत्रण से संबंधित विधि के अधीन अपराध गठित करता था। तद्नुसार जिला मजिस्ट्रेट का यह व्यक्तिपरक समाधान कि पिटीशनरों के संबंध में यह अधिसंभावना थी कि वे समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय को बनाए रखने के प्रतिकूल कार्यकलाप करेंगे और इसलिए उन्हें इस प्रकार कार्य करने से निवारित करने के उद्देश्य से उनका निरोध आवश्यक था, दूषित हो जाता है और पिटीशनरों का निरोध अविधिमान्य हो जाता है। (पैरा 12)

		पैरा
[1974]	1974 क्रिमिनल लॉ जर्नल, पृ० 1411 : गोवर्धन लाल **बनाम** पुलिस कमिश्नर, हैदराबाद और एक अन्य (Gowardhan Lal *Vs.* The Police Commissioner, Hyderabad and another);	13
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 785 : विकास चंद्र साहा **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य (Vikas Chandra Saha *Vs.* The State of West Bengal);	13
[1976]	ए० आई० आर० 1976 इलाहाबाद 266 : डा० प्रदीप कुमार **बनाम** मुख्य विस्फोटक नियंत्रण, नागपुर और अन्य (Dr. Pradeep Kumar *Vs.* The Chief Controller of Explosives, Nagpur and others);	13
[1956]	ए० आई० आर० 1956 राजस्थान 153 : अल्हानूर **बनाम** जिला मजिस्ट्रेट (Allahnoor *Vs.* District Magistrate);	13
[1953]	ए० आई० आर० 1953 मद्रास 145 : पी० एस० अब्दुल कादिर **बनाम** मेहलारतुल कदिरिया सभा कयालपटनम् (P. S. Abdul Kadir *Vs.* The Mahlarathul Kadiria Sabha Kayalpatnam)	13

से **प्रभेद** बताया गया।

[1983]	1983 ई० एफ० आर० 13 : श्रीनिवास अग्रवाल और अन्य **बनाम** राज्य और अन्य (Sri Niwas Agrawal and others *Vs.* The State and others);	8, 9
[1981]	1981 ए० एल० जे० 939 : प्रेम सिंह **बनाम** राज्य (Prem Singh *Vs.* The State)	8, 9

निर्दिष्ट किए गए।

आरंभिक (दांडिक रिट) अधिकारिता : 1984 का रिट पिटीशन सं० 23, जिसके साथ 1984 के बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट सं० 37 और 38 की भी सुनवाई की गई।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से .... श्री आर० पी० गोयल

प्रत्यर्थियों की ओर से .... कोई नहीं

न्यायालय का निर्णय न्या० एच० एन० सेठ ने दिया।

न्या० सेठ :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट के लिए इन तीनों पिटीशनों का निपटारा एक सामान्य निर्णय द्वारा किया जा सकता है। 1984 का बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन सं० 23 सुभाष चन्द्र गोयल द्वारा किया गया है. 1984 का बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन सं० 37 सुरेश चन्द्र गोयल द्वारा किया गया है, और 1984 के बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन सं० 38 का पिटीशनर भगवान दास गोयल है।

2. संक्षेप में, इन पिटीशनों को जन्म देने वाले तथ्य ये हैं कि मैसर्स गोयल गैस सर्विस के नाम और अभिनाम में एक भागीदारी फर्म है, जो द्रव पैट्रोल गैस (एल० पी० जी०) से भरे गैस सिलैन्डरों को खरीदने तथा बेचने का कारबार आगरा के महात्मा गांधी मार्ग के सं० 6/1 पर करती है। मैसर्स गोयल गैस सर्विस के भागीदार सुरेश चन्द्र गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 37 का पिटीशनर), भगवान दास गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 38 का पिटीशनर), गुलाब चन्द्र गोयल और श्रीमती ममता रानी गोयल हैं। सुभाष चन्द्र गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 23 का

पिटीशनर) भगवान दास गोयल (1984 के रिट पिटीशन सं० 38 का पिटीशनर) का पुत्र है।

3. यह कहा गया है कि 29 अक्तूबर, 1983 को उक्त फर्म के कारबार परिसर पर आगरा के अपर नगर मजिस्ट्रेट श्री चक्रपाणि ने छापा मारा। उस समय श्री सुभाष चन्द्र गोयल कारबार परिसर में उपस्थित था। आगरा के महात्मा गांधी मार्ग के परिसर सं० 6/1 के शो रूम, गोदाम, आदि की तलाशी से यह प्रकट हुआ कि स्टाक या वजन बोर्ड कहीं प्रदर्शित नहीं किया गया था। स्टाक और तेल के रजिस्टर भी प्रस्तुत नहीं किए गए यद्यपि कि इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त समय दिया गया। विस्फोटक विभाग की द्रव पैट्रोल गैस के भंडारकरण और उसके बेचने हेतु अनुज्ञा भी प्रस्तुत नहीं की गई। दुकान में 25 जय ज्योति एल० पी० जी० सिलिंडर (16 भरे हुए और 9 खाली) भी पाए गए, किंतु स्वत्वधारियों ने इस बात का कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया कि उन्हें जय ज्योति कंपनी द्वारा व्यवहारी नियुक्त किया गया है। पाए गए सिलिंडरों पर भारतीय मानक संस्थान का चिन्ह भी नहीं था। उसी स्थल से 99 भरे हुए और 58 खाली सिलिंडर बरामद किए गए। शो रूम और भंडार-घर, परिसर के भीतरी भाग में स्थित थे, किंतु इस संबंध में विस्फोटक विभाग की कोई अनुज्ञप्ति प्रस्तुत नहीं की गई। अपर नगर मजिस्ट्रेट श्री चक्रपाणि का यह विचार था कि चूंकि शो रूम और गोदाम आवासीय भवन क्षेत्र के भीतर थे, अतः दुर्घटना होने की संभावना थी, जिससे अनेक व्यक्तियों को क्षति कारित हो सकती थी। तद्नुसार फर्म तथा उसके सहयोगियों ने आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 3/7 के अधीन तथा भारतीय विस्फोटक अधिनियम की धारा 4/5 के अधीन दंडनीय अपराध किए थे। तद्नुसार उसने आगरा के लाइन मंडी के पुलिस थाने में 29 अक्तूबर, 1983 को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करा दी।

4. पिटीशनर सुभाष चन्द्र गोयल को गिरफ्तार करके थाने ले जाया गया। उसने जमानत पर छोड़े जाने के लिए आवेदन दिया और वह विशेष न्यायाधीश द्वारा 31 अक्तूबर, 1983 को पारित आदेश के अनुसार जमानत पर छोड़ दिया गया। बाद में 7 दिसंबर, 1983 को आगरा के जिला मजिस्ट्रेट ने चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 3(2)(क) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए

में उपसंजात हुए थे। नोटिस की तामील के बावजूद प्रतिवादी सं० 4 से 8 तथा 11 उपसंजात नहीं हुए और वे वाद से पृथक् कर दिए गए थे। वाद प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 तथा 12 द्वारा लिखित कथन फाइल किए जाने के लिए 11 मई, 1978 तक स्थगित कर दिया गया था तथाकथित प्रतिवादियों ने 11 मई, 1978 को वाद के और स्थगित किए जाने की ईप्सा की थी और वाद 4 जुलाई, 1978 तक के लिए स्थगित कर दिया गया था। उस दिन एक समझौता फाइल किया गया था, जो वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 के मध्य हुआ था। समझौते के अधीन विनिर्दिष्ट संपत्तियां प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 सहित विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले पक्षकारों में आवंटित की गई थीं। तथाकथित समझौता आरंभिक और अंतिम, दोनों ही प्रकार की, डिक्री के रूप में था। प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 समझौते में सम्मिलित नहीं हुए थे, परन्तु जिन पक्षकारों अर्थात् वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 ने समझौता किया था, उन्होंने यह नियत किया था कि वाद हाजिर न होने वाले प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 के विरुद्ध समझौते के निबन्धनों के अनुसार एकपक्षीय रूप से डिक्री किया जाए। उसके द्वारा वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 ने हाजिर न होने वाले प्रतिवादियों को समझौते के निबंधनों से एकपक्षीय रूप से आबद्ध करने की याचना की थी।

2. यह वाद विभाजन का वाद है। वादपत्र में किए गए प्रकथनों और समझौता पिटीशन के अनुसार प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 सहअंशधारी हैं और विभाजन के वाद के लिए आवश्यक पक्षकार हैं। उनके बिना वाद चलने योग्य नहीं होगा और उनके समझौते में शामिल हुए बिना विभाजन के वाद के बारे में आमतौर पर समझौता नहीं किया जा सकता। मैंने 'आमतौर पर, शब्दों का प्रयोग न्या० वैंकटसुव्वराव द्वारा **सी० थिरुवेंगाडा मुदाली बनाम सी० सी० थंगावेलु मुदालियर और अन्य**[1] वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियों और दिए गए उदाहरणों को ध्यान में रखकर किया है। विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत बन चुका है कि विभाजन का वाद तब तक आमतौर पर निष्प्रभावी रहेगा जब तक संपत्ति में हित रखने वाले तथा कार्यवाही के लिए सभी ऐसे पक्षकार जिनके समझौते द्वारा प्रतिकूलतः प्रभावित होने की सम्भावना है उसमें सम्मिलित न हों। इस बात की बाबत कोई विवाद नहीं हो सकता कि प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 के बिना समझौते के वाद के संबंध में कोई

---

[1] ए० आई० आर० 1928 मद्रास 594.

विधिक और वैध समझौता नहीं हो सकता। उनकी सहमति के बिना शेष पक्षकारों के अंशों के निर्धारण अथवा सम्पत्ति के आवंटन के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। तथापि विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश इस चालवाजी को नहीं समझ सका था। उसने समझौते को यह म नकर कि वह विधिपूर्ण ढंग से किया गया है और वैध है, उसे स्वीकार और अभिलेखबद्ध कर लिया था। उसने निम्नलिखित निदेश दिए थे :—

> "···अतः समझौता विधिपूर्ण होने के कारण अभिलेखबद्ध किया जाता है। वाद समझौते के निबंधनों के आधार पर अंतिम रूप से डिक्री किया जाता है। समझौता पिटीशन आवंटन पत्रक और नक्शा डिक्री के अंग बनाए जाते हैं।"

उपर्युक्त आदेश से स्पष्ट रूप से यह दृष्टिगोचर होता है कि न्यायिक विवेक का प्रयोग नहीं किया गया है। कोई समझौता-पिटीशन फाइल किए जाने की दशा में न्यायालय का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह बहुत सावधान और सजग होकर मामले की छानबीन करे। ऐसे समझौते के मामले में विभिन्न पहलुओं पर विचार करना होता है, जिन्हें मैं यहां गिनाने की आवश्यकता नहीं समझता। इन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू यह सुनिश्चित करना है कि मामले में किसी अवयस्क व्यक्ति का हित तो अंतर्ग्रस्त नहीं है। यांत्रिक ढंग से मामले की तह में पहुंचने के वैसे ही परिणाम हो सकते हैं जैसे कि इस मामले में हुए हैं।

3. **नित्यमणि दासी बनाम गोकुल चंद्र सेन**[1] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "···अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा पारित डिक्री अपास्त की जानी चाहिए तथा पूरे मामले का फिर से विचारण किया जाना चाहिए क्योंकि यह संयुक्त सम्पत्ति के विभाजन का वाद है। ऐसे वाद के कुछ पक्षकारों की सहमति से पारित की गई डिक्री संभवतः कायम नहीं रखी जा सकती······।"

उस मामले में विभाजन का वाद समझौते के पक्षकारों के संबंध में समझौते के निबंधनों के अनुसार और समझौते के प्रति सहमति व्यक्त न करने वाले पक्षकारों के संबंध में एकपक्षीय रूप से निपटाया गया था।

वीर सिंह और अन्य बनाम खड़क सिंह और अन्य[2] वाले मामले में सभी

---

[1] (1911) 8 आई० सी० 210.

[2] ए० आई० आर० 1926 लाहौर 280.

स्वामियों ने समझौते के प्रति सहमति व्यक्त नहीं की थी। न्या० मोती सागर ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "···अभिकथित समझौता सभी स्वामियों की सहमति न होने के कारण स्पष्ट रूप से विधि के प्रतिकूल था और इसलिए न्यायालय का उसे प्रवर्तित करने से इनकार करना पूर्णतः न्यायोचित था···।"

तारूरसन्ना सरकार और एक अन्य बनाम **कालिकामोहन सरकार और अन्य**[1] वाले मामले में न्या० मुखर्जी और रैंकिन ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "···कोई भी समझौता किसी विभाजन के वाद के सभी पक्षकारों पर तब तक आबद्धकर नहीं हो सकता जब तक कि सभी पक्षकार समझौते में शामिल न हों···।"

4. एक अन्य पहलू और भी विचित्र है। कोई वाद सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 के नियम 8 द्वारा यथा-अनुध्यात परिस्थितियों और दशा में अर्थात् सुनवाई के प्रक्रम के पश्चात् एकपक्षीय रूप से डिक्री किया जाता है। इस मामले में कार्यवाही सुनवाई के प्रक्रम तक बिल्कुल नहीं पहुंची थी। अतः विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश को उपसंजात न होने वाले प्रतिवादियों के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री पारित करने की कोई अधिकारिता नहीं थी।

5. तथापि, मामला यहीं समाप्त नहीं हो गया। प्रतिवादी सं० 4 से 8 ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के साथ पठित आदेश 9 के नियम 13 के अधीन वादी और प्रतिवादी सं० 1 से 3, 9, 10 और 12 द्वारा फाइल किए गए समझौता पिटीशन के आधार पर अपने विरुद्ध पारित की गई एकपक्षीय डिक्री को अपास्त कराने के लिए 4 मई, 1979 को एक आवेदन फाइल किया। यह आवेदन 1979 के प्रकीर्ण मामला सं० 77 के रूप में दर्ज किया गया था। उन्होंने वादी को ही विरोधी पक्षकार बनाया था और विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने 27 सितम्बर, 1979 को उनके विरुद्ध पारित एकपक्षीय डिक्री अपास्त कर दी थी। प्रतिवादी सं० 1 से 3 ने 15 दिसम्बर, 1979 को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन एक आवेदन फाइल किया, जिसमें उन्होंने यह प्रार्थना की थी कि एकपक्षीय डिक्री को

---

[1] ए० आई० आर० 1924 कलकत्ता 80.

अपास्त करने वाला 27 सितम्बर, 1979 का आदेश अपास्त किया जाए। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह आवेदन नामंजूर कर दिया। प्रतिवादी सं० 1 से 3 ने यह अभिवाक् किया कि वे प्रतिवादी सं० 4 से 8 की प्रेरणा पर सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 के नियम 13 के अधीन संस्थित कार्यवाही में पक्षकार नहीं बनाए गए थे। तथाकथित समझौता 27 सितम्बर, 1979 के आदेश द्वारा निरर्थक बना दिया गया था। वे अपनी अनुपस्थिति में पारित किए गए आदेश को रद्द कराना चाहते थे।

6. पिटीशनरों की ओर से श्री के० एन० जैना ने जोरदार शब्दों में यह निवेदन किया था कि पिटीशनर आदेश 9 के नियम 13 के अधीन कार्यवाही के लिए आवश्यक पक्षकार थे और विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने उनकी अनुपस्थिति में पारित किए गए तारीख 27 सितम्बर, 1979 के आदेश को रद्द करने से इनकार करने में भूल की थी। मुझे उसके निवेदन में काफी बल दिखाई देता है तो भी मैं अपनी वैवेकिक पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करने से इनकार करता हूं। मेरी राय में, कार्यवाही पूरी हो चुकी है। एकपक्षीय समझौते के परिणामस्वरूप प्रतिवादी सं० 4 से 8 के प्रति जो अन्याय हुआ था वह एकपक्षीय डिक्री के, भले ही अनियमित रूप से, रद्द किए जाने के कारण अकृत हो गया था। परंतु, इस तथ्य का ध्यान रखते हुए, कि न्याय किया जा चुका है, मैं अतिविधिक दृष्टि कोण अपनाकर विधिक कार्यवाही को अकृत बनाने के पक्ष में नहीं हूं। अंततोगत्वा, पुनरीक्षण अधिकारिता वैवेकिक होती है और उसका प्रयोग तब तक नहीं किया जा सकता "जब तक आदेश को बनाए रखने से न्याय विफल न होता हो अथवा उस पक्षकार को अपूरणीय क्षति न होती हो जिसके विरुद्ध वह पारित किया गया था।" जैसा मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूं उसके अनुसार प्रतिवादी सं० 4 से 8 और 11 के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री को बनाए रखना उनके प्रति घोर अन्याय होगा।

7. परिणामतः खर्चे की बाबत कोई आदेश न देते हुए पुनरीक्षण पिटीशन खारिज किया जाता है।

पुनरीक्षण पिटीशन खारिज किया गया।

अशोक ब्रह्म

नि० प० 1984 : उड़ीसा–61

द्विजेन्द्र नाथ बोस बनाम गोविन्द चन्द्र साहू और अन्य

(Dwijendranath Bose *Vs.* Govinda Chandra Sahu and others)

तारीख 29 नवम्बर, 1983

[न्या० पी० के० मोहन्ती और डी० के० महापात्र]

उड़ीसा मकान किराया नियंत्रण अधिनियम (उड़ीसा हाउस रैन्ट कण्ट्रोल ऐक्ट), 1967—धारा 7 सपठित संविधान, 1950 का अनुच्छेद 226 और 227—उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता पर्यवेक्षी अधिकारिता होती है और इसका प्रयोग करने वाला न्यायालय अपील न्यायालय के रूप में कार्यवाही करने का हकदार नहीं होता—और यदि कोई किराएदार किराए के संदाय में जानबूझकर व्यतिक्रम करता है और निचले न्यायालय द्वारा उसे आभ्यासिक व्यतिक्रमी अभिनिर्धारित करते हुए उसकी बेदखली का आदेश पारित किया जाता है तो उस आदेश को चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

कटक नगरपालिका के वार्ड सं० 3 में प्लाट सं० 530 के उत्तरी और दक्षिणी पार्श्वों के ब्लाक पिटीशनर को क्रमशः मई, 1963 और मार्च, 1967 में किराए पर दिए गए थे। तारीख 6 जून, 1977 को किराएदार (पिटीशनर) की बेदखली के लिए उड़ीसा मकान किराया नियंत्रण अधिनियम, 1967 की धारा 7 के अधीन एक आवेदन एकमात्र इस आधार पर किया गया था कि पिटीशनर किराए के संदाय में आभ्यासिक रूप से व्यतिक्रमी रहा था और उसने बार-बार मांग की जाने के बावजूद किराए का संदाय नहीं किया था। इसके प्रत्युत्तर में पिटीशनर ने यह तर्क प्रस्तुत किया था कि उससे किराया मकान-मालिक की सुविधा के अनुसार विभिन्न अन्तरालों पर लिया जाता था। विद्वान् मकान किराया नियंत्रक ने अभिलेख पर के मौखिक और दस्तावेजी, दोनों प्रकार के, साक्ष्य की संवीक्षा करने के बाद यह निष्कर्ष निकालते हुए कि पिटीशनर एक आभ्यासिक व्यतिक्रमी था और उसने मार्च, 1977 से किराए का संदाय करने में जानबूझकर व्यतिक्रम किया था, बेदखली का आवेदन मंजूर कर लिया था। विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने विद्वान् नियंत्रक के निष्कर्ष को कायम रखते हुए बेदखली के आदेश की पुष्टि कर दी। बेदखली के इस आदेश को अपास्त कराने के लिए पिटीशनर ने रिट आवेदन फाइल किया। पिटीशनर के विद्वान्

काउन्सेल ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि मकान-मालिक ने विभिन्न अन्तरालों पर संदत्त किराया स्वेच्छा से किसी आपत्ति के बिना स्वीकार कर लिया था अतः निचले न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की थी कि पिटीशनर एक आभ्यासिक व्यतिक्रमी था। इस आवेदन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या न्यायालय किसी अवर न्यायालय अथवा अधिकरण द्वारा अभिलिखित तथ्य विषयक निष्कर्ष के बारे में रिट अधिकारिता का प्रयोग करके हस्तक्षेप कर सकता है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता पर्यवेक्षी अधिकारिता होती है और इसका प्रयोग करने वाला न्यायालय अपील न्यायालय के रूप में कार्यवाही करने का हकदार नहीं होता। साक्ष्य के मूल्यांकन के आधार पर किसी अवर न्यायालय अथवा अधिकरण द्वारा अभिलिखित तथ्य विषयक निष्कर्ष के बारे में रिट अधिकारिता का प्रयोग करके तब तक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता जब तक यह दर्शित न कर दिया जाए कि वह अनुचित है अथवा किसी साक्ष्य पर आधारित नहीं है। विधि की ऐसी त्रुटि जो अभिलेख से प्रत्यक्षतः प्रकट हो रिट जारी करके ठीक की जा सकती है परन्तु तथ्य विषयक त्रुटि ठीक नहीं की जा सकती, भले ही वह कितनी ही गंभीर क्यों न हो। किराया रसीदों के कुछ प्रतिपर्णों से यह दर्शित होता है कि किराए के संदाय में 2 से 4 महीनों तक का विलम्ब हुआ था। इसके प्रतिकूल कोई संविदा न होने की दशा में किराएदार का यह दायित्व था कि वह उस महीने के ठीक आगामी मास के अन्तिम दिन तक, जिसका किराया संदेय था, किराए का संदाय करता। स्वीकृततः किराएदार ने मार्च, 1977 से 6 जून, 1977 तक, जब वेदखली के लिए आवेदन फाइल किया गया था, किराए का संदाय नहीं किया था। किराया रसीदों के प्रतिपर्णों और किराएदार द्वारा मकान-मालिक को लिखे गए दो पत्रों (प्रदर्श 4 और 5) को देखने के बाद निचले प्राधिकारियों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पिटीशनर ने किराए के मामले में जानबूझकर व्यतिक्रम किया था। इस निष्कर्ष का अभिलेख के मौखिक और दस्तावेजी, दोनों प्रकार के, साक्ष्य से पूर्णरूपेण समर्थन होता है। (पैरा 6 और 7)

		पैरा
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 756 : बाबू **बनाम** चकबंदी उपनिदेशक (Babu *Vs.* Dy. Director of Consolidation);	6

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 477 : सैयद याकूब **बनाम** के० एस० राधाकृष्णन् और अन्य (Syed Yakoob *Vs.* K. S. Radhakrishnan and others) 6

का **अवलम्ब** लिया गया ।

[1977] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1985 : एस० पी० देशमुख **बनाम** शाह निबलचन्द वाघाजी भाई गुजराती (S.P. Deshmukh *Vs.* Shah Nibalchand Waghajibhai Gujarati). 8

निर्दिष्ट किया गया ।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1979 का आरम्भिक अधिकारिता मामला सं० 1071.

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन आवेदन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री ए० आर० दास

विरोधी पक्षकारों की ओर से ... श्री एस० एस० बासु (विरोधी पक्षकार सं० 1 की ओर से) और अपर स्थायी काउंसेल (विरोधी पक्षकार सं० 2 और 3 की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्या० पी० के० मोहन्ती ने दिया ।

न्या० मोहन्ती :

इस रिट आवेदन में उड़ीसा हाउस रैंट कंट्रोल ऐक्ट (उड़ीसा मकान किराया नियंत्रण अधिनियम) 1967 की धारा 7 के अधीन बेदखली के आदेश को चुनौती दी गई है ।

2. मकान-मालिक का पक्षकथन यह है कि वह कटक नगरपालिका के वार्ड सं० 3 में प्लाट संख्या 530 का स्वामी है जिसमें उत्तरी और दक्षिणी पार्श्व में एक-एक ब्लाक है । पिटीशनर उत्तरी ब्लाक में मई, 1963 में 130 रुपए मासिक किराए पर किराएदार रखा गया था । वह किराया बाद में पारस्परिक सम्मति से बढ़ाकर 150 रुपए प्रति मास कर दिया गया था । इसके कुछ समय पश्चात् मार्च, 1967 में पिटीशनर को दक्षिणी ब्लाक भी 150 रुपए

मासिक किराए पर दे दिया गया था। चूंकि मकान-मालिक कटक से बाहर नौकरी कर रहा था, इसलिए उसने अपने नैसर्गिक पिता को किराएदार रखने, उनसे किराया वसूल करने तथा प्रश्नगत परिसर के अनुरक्षण के लिए आवश्यक कार्य करने का प्राधिकार दे दिया था।

3. उड़ीसा मकान किराया नियंत्रण अधिनियम, 1967 की धारा 7 के अधीन 6 जून, 1977 को एकमात्र इस आधार पर आवेदन फाइल किया गया था कि पिटीशनर मार्च, 1977 से किराए के संदाय में आभ्यासिक रूप से व्यतिक्रमी रहा था और उसने बार-बार मांग की जाने के बावजूद किराए का संदाय नहीं किया था।

4. पिटीशनर ने किराएदारी को स्वीकार करते हुए प्रत्युत्तर फाइल किया परन्तु उसने यह तर्क दिया कि उससे किराया मकान-मालिक की सुविधा के अनुसार विभिन्न अन्तरालों पर लिया जाता था। जहां तक मार्च, 1977 से किराए के संदाय में व्यतिक्रम का सम्बन्ध है, उसके बारे में उसने यह अभिकथन किया कि मार्च, 1977 के मास का किराया शोध्य होने के बाद वह मकान-मालिक के नैसर्गिक पिता से मिला था और उसे किराए का संदाय करने की प्रस्थापना की थी परन्तु पश्चात्वर्ती ने यह कह कर किराया लेने से इनकार कर दिया कि कुछ आकस्मिकताओं की पूर्ति के लिए उसे एक बड़ी रकम की आवश्यकता होगी और जब विरोधी पक्षकार सं० 1 कटक में आ जाएगा तब उससे सभी महीनों का पूरा किराया एक साथ ले लिया जाएगा। तद्नुसार यह तर्क दिया गया कि पिटीशनर ने किराए के संदाय के मामले में जानबूझकर व्यतिक्रम नहीं किया था।

5. विद्वान् मकान किराया नियंत्रक ने अभिलेख पर के मौखिक और दस्तावेजी दोनों प्रकार के साक्ष्य की संवीक्षा करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला था कि पिटीशनर एक आभ्यासिक व्यतिक्रमी था और उसने मार्च, 1977 से किराए का संदाय करने में जानबूझकर व्यतिक्रम किया था। तदनुसार उसने बेदखली का आवेदन मंजूर कर लिया। अपील की जाने पर कटक के विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने विद्वान् नियंत्रक के निष्कर्ष को कायम रखते हुए बेदखली के आदेश की पुष्टि कर दी।

6. पिटीशनर की ओर से इस बात पर जोर दिया गया कि यद्यपि उसने मार्च, 1977 से किराए के संदाय के मामले में व्यतिक्रम किया था तो भी उसने जानबूझकर व्यतिक्रम नहीं किया था और इसलिए बेदखली का आदेश विधि की दृष्टि में मान्य नहीं हो सकता।

7. उत्प्रेषण रिट जारी करने की अधिकारिता पर्यवेक्षी अधिकारिता होती है और इसका प्रयोग करने वाला न्यायालय अपील न्यायालय के रूप में कार्यवाही करने का हकदार नहीं होता। साक्ष्य के मूल्यांकन के आधार पर किसी अवर न्यायालय अथवा अधिकरण द्वारा अभिलिखित तथ्य विषयक निष्कर्ष के बारे में रिट अधिकारिता का प्रयोग करके तब तक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता जब तक यह दर्शित न कर दिया जाए कि वह अनुचित है अथवा किसी साक्ष्य पर आधारित नहीं है। विधि की ऐसी त्रुटि, जो अभिलेख से प्रत्यक्षतः प्रकट हो, रिट जारी करके ठीक की जा सकती है परन्तु तथ्य विषयक त्रुटि ठीक नहीं की जा सकती, भले ही वह कितनी ही गंभीर क्यों न हो। **सैयद याकूब** बनाम **के० एस० राधाकृष्णन् और अन्य**[1] और **बाबू** बनाम **चकबंदी उप-निदेशक**[2] देखिए।

8. प्रस्तुत मामले में मकान-मालिक ने यह दर्शित करने के लिए कि किराएदार आभ्यासिक व्यतिक्रमी था मई, 1975 से फरवरी, 1977 तक किराया रसीदों के प्रतिपर्ण (प्रदर्श 6 सीरीज) पेश किए थे। किराया रसीदों के कुछ प्रतिपर्णों से यह दर्शित होता है कि किराए के संदाय में 2 से 4 महीनों तक का विलम्ब हुआ था। इसके प्रतिकूल कोई संविदा न होने की दशा में किराएदार का यह दायित्व था कि वह उस महीने के ठीक आगामी मास के अंतिम दिन तक, जिसका किराया संदेय था, किराए का संदाय करता। स्वीकृततः किराएदार ने मार्च, 1977 से 6 जून, 1977 तक, जब बेदखली के लिए आवेदन फाइल किया गया था, किराए का संदाय नहीं किया था। किराया रसीदों के प्रतिपर्णों और किराएदार द्वारा मकान-मालिक को लिखे गए दो पत्रों (प्रदर्श 4 और 5) को देखने के बाद निचले प्राधिकारियों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पिटीशनर ने किराए के संदाय के मामले में जानबूझकर व्यतिक्रम किया था। इस निष्कर्ष का अभिलेख पर के मौखिक और दस्तावेजी दोनों प्रकार के साक्ष्य से पूर्णरूपेण समर्थन होता है।

9. पिटीशनर के काउन्सेल ने **एस० पी० देशमुख** बनाम **शाह निबलचंद वागजीभाई गुजराती**[3] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए जोरदार शब्दों में यह तर्क प्रस्तुत किया था कि मकान-मालिक

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 477.

[2] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 756.

[3] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1985.

ने विभिन्न अंतरालों पर संदत्त किराया स्वेच्छा से किसी आपत्ति के बिना स्वीकार कर लिया था अतः निचले न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की थी कि पिटीशनर एक आभ्यासिक व्यतिक्रमी था। उस मामले में विद्वान् नियंत्रक और अपील प्राधिकारी दोनों ने एक-जैसा ही निष्कर्ष निकाला था कि किराएदार आभ्यासिक व्यतिक्रमी नहीं था और यह भी पाया गया कि जिस समय मकान-मालिक ने उसकी बेदखली की कार्यवाही प्रारंभ की थी उस पर किराए की बाबत एक भी पैसा बकाया नहीं था। इन परिस्थितियों में न्यायमूर्तियों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उच्च न्यायालय का निचले प्राधिकारियों द्वारा अभिलिखित एक-जैसे तथ्य विषयक निष्कर्ष के बारे में हस्तक्षेप करना न्यायोचित नहीं था। प्रस्तुत मामले में निचले दोनों प्राधिकारियों ने एक-जैसा यह निष्कर्ष निकाला है कि किराएदार एक आभ्यासिक व्यतिक्रमी था। स्वीकृततः जिस समय उसकी बेदखली की कार्यवाही प्रारंभ की गई थी उस समय उस पर तीन महीने के किराये का बकाया था। पिटीशनर का यह तर्क कि उसने मार्च, 1977 का किराया मकान-मालिक के नैसर्गिक पिता को दिया था परंतु उसने उसे लेने से इनकार कर दिया था, निचले प्राधिकारियोंद्वारा मिथ्या पाया गया है। अभिलेख पर की सामग्री तथ्य विषयक इस निष्कर्ष को पूर्णतः न्यायोचित ठहराती है कि पिटीशनर ने जानबूझकर व्यतिक्रम किया था। अतः बेदखली को आदेश को चुनौती नहीं दी जा सकती।

10. रिट आवेदन में कोई गुणता नहीं है और वह तदनुसार खारिज किया जाता है। खर्चे की बाबत हम कोई आदेश नहीं दे रहे हैं।

न्या० डी० पी० महापात्र :

मैं सहमत हूं।

रिट आवेदन खारिज किया गया।

अशोक/चन्द

नि० प० 1984 : उड़ीसा—66

निरोद चन्द्र मिश्र बनाम दिजबर स्वेन

(Nirod Chandra Mishra *Vs.* Dijabara Swain)

तारीख 7 दिसम्बर, 1983

[न्या० पी० सी० मिश्र]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 202—(सपठित धारा 203

और 204)—किसी अपराध का संज्ञान करने के लिए प्राधिकृत मजिस्ट्रेट आदेशिका जारी करने को मुल्तवी करने के लिए उस अधिकारी से जांच करा सकता है जिसे वह उचित समझे। धारा 203 के अधीन उसे ऐसी रिपोर्ट के आधार पर आदेशिका जारी न करने के अपने निर्णय के संबंध में कारण अभिलिखित करने होते हैं परन्तु अगर जांच रिपोर्ट के निष्कर्षों के विपरीत वह आदेशिका जारी करने का निर्णय लेता है तो धारा 204 के अधीन किसी प्रकार की बाध्यता न होते हुए भी उसे न्यायिक दृष्टिकोण से कारण अभिलिखित करने चाहिएं।

विरोधी पक्षकार ने कटक के सदर पुलिस स्टेशन में एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखवाई जिसमें उसने यह अभिकथन किया था कि वर्तमान पिटीशनर लिंगराज आचार्या, चारूलता पंडा, अपर्णा देवी और सेला के साथ एक यान में आया और उसने अपनी पत्नी से कहा कि परिवादी की पत्नी का हाथ पकड़ ले। लिंगराज ने एक बोतल खोली और उसमें की वस्तु को उस पर फैंका। यह वस्तु उसकी पत्नी पर नहीं गिरी क्योंकि उसने दरवाजा बन्द कर लिया था और अन्दर चली गई थी। परिवादी ने उपर्युक्त मामला आरम्भ किया। इस पर कटक के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने यह आदेश पारित किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, कटक मामले का अन्वेषण करें। जांच करने वाले मजिस्ट्रेट ने 19 अगस्त, 1981 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। उसने उसमें यह निष्कर्ष निकाला कि सभी अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है फिर भी अभियुक्त निरोद (वर्तमान पिटीशनर) के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 448/324 के अधीन और लिंगराज तथा चारूलता के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 352 के अधीन प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। मुकन्द हाती के सम्बन्ध में रिपोर्ट में कुछ भी नहीं कहा गया है। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने यह टिप्पणी लिखी : "जांच अधिकारी की रिपोर्ट देखी। परिवादी द्वारा फाइल की गई पिटीशन का परिशीलन किया। यह मामला 1979 के जी० आर० सं० 2890 के विरोध में किया गया है। मैं पिटीशनर के अधिवक्ता से सहमत हूं। सभी अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 147/448, 324/352/149 प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। इसका संज्ञान कर लिया गया है। अभियुक्तों के लिए समन जारी कर दो। उपस्थित होने के लिए 18-9-81 की तारीख नियत कर दो।" पिटीशनर ने इस पुनरीक्षण में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के उपर्युक्त आदेशों को मुख्य रूप से इस

आधार पर चुनौती दी है कि विद्वान् न्यायाधीश ने मामले के तथ्यों में, अपने न्यायिक-विवेक का प्रयोग नहीं किया है जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि यद्यपि जांच करने वाले मजिस्ट्रेट ने स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि अभियुक्तों में से सात अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं है, फिर भी किसी प्रकार के कारणों का उल्लेख किए बिना सभी अभियुक्तों के विरुद्ध आदेशिका जारी कर दी गई।

अभिनिर्धारित—मामले को प्रतिप्रेषित करते हुए पुनरीक्षण पिटीशन स्वीकार किया गया।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202 में यह उपबंधित है कि यदि कोई मजिस्ट्रेट ऐसे अपराध का परिवाद प्राप्त करने पर, जिसका संज्ञान करने के लिए वह प्राधिकृत है, ठीक समझे तो वह अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका का जारी किया जाना मुल्तवी कर सकता है और यह विनिश्चित करने के प्रयोजन से कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं अथवा नहीं, या तो स्वयं ही मामले की जांच कर सकता है या किसी पुलिस अधिकारी द्वारा या अन्य ऐसे व्यक्ति द्वारा, जिसको वह ठीक समझे, अन्वेषण किए जाने के लिए निदेश दे सकता है। धारा 202 के अधीन जांच किये जाने का निदेश देने वाले मजिस्ट्रेट को जांच रिपोर्ट पर विचार करना होता है और अगर उसका यह मत है कि कार्यवाही किए जाने के लिए पर्याप्त कारण नहीं हैं तो दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए परिवाद को खारिज कर देगा और ऐसी परिस्थिति में वह ऐसा करने के अपने कारणों को संक्षेप में अभिलिखित करेगा। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 और 204 को एक साथ पढ़ने से यह परिणाम निकलता है कि मजिस्ट्रेट से अभिव्यक्त रूप से यह अपेक्षा नहीं की गई है कि वह धारा 204 के अधीन कार्यवाहियां करने के कारणों को अभिलिखित करे जबकि संहिता की धारा 203 के अधीन उससे अभिव्यक्त रूप से यह अपेक्षा की गई है कि वह परिवाद को खारिज करने के लिए अपने कारणों को अभिलिखित करेगा। यह बात ध्यान में अवश्य रखी जानी चाहिए कि जब एक बार संहिता की धारा 202 के अधीन जांच किए जाने का आदेश दे दिए जाने के कारण ही मजिस्ट्रेट स्पष्टतः यह उचित नहीं समझा था कि परिवादी के शपथ पर किए गए कथन और इसके साथ पठित परिवाद-पिटीशन के आधार पर आदेशिका जारी की जाए और इस बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त कारण हैं या नहीं, मामले की और जांच

करना उपयुक्त समझा था। इसलिए यह धारणा बनाने के लिए कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं, मजिस्ट्रेट धारा 202 के अधीन की गई जांच पर विचार करने के लिए बाध्य है। इस प्रकार जांच रिपोर्ट प्राप्त करने के पश्चात् मजिस्ट्रेट को इस बात पर अवश्य विचार करना होगा कि आदेशिका जारी की जाए या नहीं। मजिस्ट्रेट के सोचने का ढंग एक-सा होना चाहिए चाहे वह यह अभिनिर्धारित करते हुए परिवाद को खारिज कर रहा हो कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त कारण नहीं हैं या आदेशिका जारी करते समय, ऐसा करने के लिए पर्याप्त कारण हैं। दूसरे शब्दों में, इस बात के होते हुए भी कि कारण अभिलिखित करने की उससे अपेक्षा की गई है या नहीं, जहां पर धारा 203 के अधीन परिवाद खारिज किया जाता है या धारा 204 के अधीन आदेशिका जारी की जाती है, मजिस्ट्रेट का दृष्टिकोण एक-सा ही रहना चाहिए। इस बात पर किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि मजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह अभिलेखगत सामग्री पर न्यायिक दृष्टिकोण से विचार करे जिसके आधार पर वह यह मत अपनाता है कि आदेशिका जारी की जानी चाहिए कि नहीं। अगर मजिस्ट्रेट यन्त्रवत् कार्य करते हुए या अभिलेखगत साक्ष्य और जांच रिपोर्ट पर न्यायिक दृष्टिकोण के बिना आदेशिका जारी करता है तो किए गए आदेश को कायम नहीं रखा जा सकता। (पैरा 6)

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1981 का दाण्डिक पुनरीक्षण सं० 501.

कटक के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट श्री पी० के० घोष के तारीख 31 अगस्त, 1981 वाले आदेश के विरुद्ध दाण्डिक पुनरीक्षण।

पिटीशनर की ओर से	...	सर्वश्री देवानन्द मिश्रा, दीपक मिश्रा और आर० एन० नायक
विरोधी पक्षकार की ओर से	...	सर्वश्री बी० के० साहू और पी० के० साहू

न्या० पी० सी० मिश्र :

पिटीशनर 1981 के आई० सी० सी० मामला सं० 318 के रूप में रजिस्टर परिवाद मामले में अभियुक्त है।

2. यह पुनरीक्षण पिटीशन कटक के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के तारीख 31 अगस्त, 1981 के विरुद्ध निदेशित है जिसमें विद्वान् मुख्य न्यायिक

मजिस्ट्रेट ने वर्तमान पिटीशनर और कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध आदेशिका जारी की थी।

3. विरोधी पक्षकार दिजबर स्वेन ने कटक के सदर पुलिस स्टेशन में एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखवाई जिसमें उसने यह अभिकथन किया था कि वर्तमान पिटीशनर लिंगराज आचार्या, चारूलता पंडा, अपर्णा देवी और सेला के साथ एक यान में आया और उसने अपनी पत्नी से कहा कि परिवादी की पत्नी का हाथ पकड़ ले। लिंगराज ने एक बोतल खोली और उसमें की वस्तु को उस पर फैंका। यह वस्तु उसकी पत्नी पर नहीं गिरी क्योंकि उसने दरवाजा बन्द कर लिया था और अन्दर चली गई थी। यह भी अभिकथन किया गया कि पिटीशनर ने परिवादी के बहनोई/साले, गंधर्व साहू की बायीं आंख के ऊपरी भाग पर चाकू घोंप दिया था। पुलिस ने इस मामले का अन्वेषण किया और यह कथन करते हुए एक अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की कि मामला मिथ्या था। इसके पश्चात् परिवादी ने उपर्युक्त मामला आरम्भ किया। इस पर कटक के मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने यह आदेश पारित किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202 के अधीन न्यायिक मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, कटक मामले का अन्वेषण करें। जांच करने वाले मजिस्ट्रेट ने 19 अगस्त, 1981 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। उसने उसमें यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्तों सेलासुता, अपर्णा, सुनीता, कादम्बरी, गोविन्दा, महास्वर और अशोक के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है। तथापि उसने यह निष्कर्ष निकाला कि अभियुक्त निरोद (वर्तमान पिटीशनर) के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 448/324 के अधीन और लिंगराज तथा चारूलता के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 352 के अधीन प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। मुकन्द हाती के सम्बन्ध में रिपोर्ट में कुछ भी नहीं कहा गया है। रिपोर्ट प्राप्त होने के पश्चात् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने निम्नलिखित आक्षेपित आदेश पारित किया :—

> "6. 31-8-1981 जांच अधिकारी की रिपोर्ट देखी। परिवादी द्वारा फाइल की गई पिटीशन का परिशीलन किया। यह मामला 1979 के जी० आर० सं० 2890 के विरोध में किया गया है। मैं पिटीशनर के अधिवक्ता से सहमत हूं। सभी अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 147/448, 324/352/149 प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है। इसका संज्ञान कर लिया गया है। अभियुक्तों के लिए समन जारी कर दो, उपस्थित होने के लिए

18-9-1981 की तारीख नियत कर दो।

आवश्यक कार्यवाही तुरन्त की जाए।

ह० अपठनीय

मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट"

4. पिटीशनर ने इस पुनरीक्षण में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के उपर्युक्त आदेशों को मुख्य रूप से इस आधार पर चुनौती दी है कि विद्वान् न्यायाधीश ने मामले के तथ्यों में, अपने न्यायिक विवेक का प्रयोग नहीं किया है जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि यद्यपि जांच करने वाले मजिस्ट्रेट ने स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि अभियुक्तों में से 7 अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं है फिर भी किसी प्रकार के कारणों का उल्लेख किए बिना सभी अभियुक्तों के विरुद्ध आदेशिका जारी कर दी गई।

5. इस पुनरीक्षण में उठाए गए प्रश्न का मूल्यांकन करने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता के उन सुसंगत उपबंधों का परिशीलन करना आवश्यक है जिनमें मजिस्ट्रेट की शक्तियों के बारे में उपबंध किया गया है।

6. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202 में यह उपबंधित है कि यदि कोई मजिस्ट्रेट ऐसे अपराध का परिवाद प्राप्त करने पर, जिसका संज्ञान करने के लिए वह प्राधिकृत है, ठीक समझता है तो अभियुक्त के विरुद्ध आदेशिका का जारी किया जाना मुल्तवी कर सकता है और यह विनिश्चित करने के प्रयोजन से कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं अथवा नहीं, या तो स्वयं ही मामले की जांच कर सकता है या किसी पुलिस अधिकारी द्वारा या अन्य ऐसे व्यक्ति द्वारा, जिसको वह ठीक समझे, अन्वेषण किए जाने के लिए निदेश दे सकता है। धारा 202 के अधीन जांच किए जाने का निदेश देने वाले मजिस्ट्रेट को जांच रिपोर्ट पर विचार करना होता है और अगर उसका यह मत है कि कार्यवाही किए जाने के लिए पर्याप्त कारण नहीं हैं तो दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए परिवाद को खारिज कर देगा और ऐसी परिस्थिति में वह ऐसा करने के अपने संक्षेप में कारणों को अभिलिखित करेगा। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 203 और 204 को एक साथ पढ़ने से यह परिणाम निकलता है कि मजिस्ट्रेट से अभिव्यक्त रूप से यह अपेक्षा नहीं की गई है कि वह धारा 204 के अधीन कार्यवाहियां करने के कारणों को अभिलिखित करे जबकि संहिता की धारा 203 के अधीन अभिव्यक्त रूप से यह अपेक्षा की गई है कि मजिस्ट्रेट परिवाद

को खारिज करने के लिए अपने कारणों को अभिलिखित करेगा। यह बात ध्यान में अवश्य रखी जानी चाहिए कि एक बार संहिता की धारा 202 के अधीन जांच किए जाने का आदेश दे दिये जाने के कारण मजिस्ट्रेट ने स्पष्टतः यह उचित नहीं समझा था कि परिवादी के शपथ पर किए गए कथन और इसके साथ परिवाद पिटीशन के आधार पर आदेशिका जारी की जाए और इस बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए, कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त कारण हैं या नहीं, मामले की और जांच करना उपयुक्त समझा था। इसलिए यह धारणा बनाने के लिए कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है, मजिस्ट्रेट धारा 202 के अधीन की गई जांच पर विचार करने के लिए बाध्य है। इस प्रकार, जांच रिपोर्ट प्राप्त करने के पश्चात् मजिस्ट्रेट को इस बात पर अवश्य विचार करना होगा कि आदेशिका जारी की जाए या नहीं। मजिस्ट्रेट के सोचने का ढंग एक-सा होना चाहिए चाहे वह यह अभिनिर्धारित करते हुए परिवाद को खारिज कर रहा हो कि कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त कारण नहीं हैं या आदेशिका जारी करते समय, क्योंकि ऐसा करने के लिए पर्याप्त कारण हैं। दूसरे शब्दों में, इस बात के होते हुए भी कि कारण अभिलिखित करने की उससे अपेक्षा की गई है या नहीं, जहां पर धारा 203 के अधीन परिवाद खारिज किया जाता है या धारा 204 के अधीन आदेशिका जारी की जाती है, मजिस्ट्रेट का दृष्टिकोण एक-सा ही रहना चाहिए। इस बात पर किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि मजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह अभिलेखगत सामग्री पर न्यायिक दृष्टिकोण से विचार करे जिसके आधार पर वह यह मत अपनाता है कि आदेशिका जारी की जानी चाहिए कि नहीं। अगर मजिस्ट्रेट यन्त्रवत कार्य करते हुए या अभिलेखगत साक्ष्य और जांच रिपोर्ट पर न्यायिक दृष्टिकोण के बिना आदेशिका जारी करता है तो किए गए आदेश को कायम नहीं रखा जा सकता।

7. वर्तमान मामले में जांच मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी द्वारा की गई थी। उसने उसके समक्ष प्रस्तुत किए गए साक्षियों के साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि ऊपर बताए गए 7 अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या कोई मामला नहीं बनता है। एक अभियुक्त के संबंध में रिपोर्ट में कुछ भी नहीं कहा गया है। जांच करने वाले मजिस्ट्रेट का यह मत था कि 3 अभियुक्तों के विरुद्ध, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 448 और 324 के अधीन एक के विरुद्ध और धारा 352 के अधीन दो के विरुद्ध, कार्यवाही की जा सकती है। मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने आक्षेपित आदेश में यह अभिलिखित किया है कि उसने जांच अधिकारी की रिपोर्ट और परिवादी के पिटीशन का

में सन् 1969 से ही विद्यमान था। अतः हमारे समक्ष इस उपबंध की बाबत ऐसा कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया कि यह वाद फाइल किए जाने के समय अथवा सन् 1973 में प्रतिवादी सं० 3 की मृत्यु के समय विद्यमान नहीं था। आसाम, आन्ध्र प्रदेश, कलकत्ता, मद्रास और कर्नाटक को लागू होने वाली सिविल प्रक्रिया संहिता में यह संशोधित उपबंध काफी समय पहले से ही विद्यमान था।

17. परिणामतः अपील मंजूर की जाती है। आक्षेपित निर्णय और डिक्री तथा प्रतिवादी सं० 3 की मृत्यु के बाद प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 के सम्बन्ध में की गई सभी कार्यवाहियां तथा तथाकथित प्रकीर्ण आवेदन के संबंध में पारित आदेश तथा उसके बाद कार्यवाही में विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री एतद्द्वारा अपास्त किए जाते हैं और अंतवर्ती आवेदन सं० 9, जो 1974 की नियमित अपील सं० 185 में संस्थित किया गया है का विचारण अब मुन्सिफ़ न्यायालय रानीबेन्नूर प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 में करेगा और न्यायालय तथाकथित आवेदन का निपटारा विधि के अनुसार उपर्युक्त मताभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में करने के लिए अग्रसर होगा। तदनुसार अपील मंजूर की जाती है और मामला मुन्सिफ न्यायालय को इस आदेश के साथ प्रतिप्रेषित किया जाता है कि वह नियमित अपील सं० 185/74 के अनुसार प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के सम्बन्ध में छूट के लिए दिए गए आवेदन पर विचार करने के पश्चात् प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 की सुनवाई के लिए अग्रसर हो।

18. पक्षकारों को निदेश दिया जाता है कि वह कार्यवाहियों का अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करें।

19. पक्षकारों को निदेश दिया जाता है कि वे 29 अगस्त, 1983 को विचारण न्यायालय के समक्ष अतिरिक्त अनुदेश प्राप्त करने के लिए उपसंजात हों।

20. संबंधित अभिलेख विचारण न्यायालय को तत्काल वापस भेज दिए जायें।

अपील मंजूर की गई।

अशोक

नि० प० 1984 : कर्नाटक—58

एन० वासुदेवन बनाम मुख्य मंत्री, कर्नाटक राज्य सरकार

(N. Vasudevan *Vs.* Chief Minister, Karnataka State Govt.)

तारीख 1 अगस्त, 1983

[न्या० एम० रामा जोइस]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब रिट फाइल करने वाले व्यक्ति के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा विरोधी पक्षकार का वैसा करने का कोई विधिक कर्तव्य हो।

पिटीशनर बंगलूर विश्वविद्यालय की विधि स्नातक (प्रथम वर्ष) परीक्षा में बैठा था। पिटीशनर को जो अंकपत्रक दिया गया था उसके अनुसार वह सभी प्रश्नपत्रों में अनुत्तीर्ण हो गया था। उसने अपने अंकों का पुनः योग किए जाने के लिए आवेदन किया जिसके परिणामस्वरूप उसे दो प्रश्नपत्रों में एक-एक अंक अधिक मिला और दो प्रश्नपत्रों में मिले अंकों में कोई अंतर नहीं पड़ा। अंकों का पुनः योग किए जाने के समय पिटीशनर को यह पता चला कि मूल्यांकनकर्ता मुख्य परीक्षक द्वारा जांच-मूल्यांकन किए जाने के पश्चात् उसे 28 अंक दिए गए थे और वे 28 अंक ही उसके द्वारा प्राप्त किए गए अंक माने गए थे। इन परिस्थितियों में पिटीशनर ने विभिन्न प्राधिकारियों को अभ्यावेदन किए और कोई उत्तर न मिलने के कारण उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल कर दिया। उसने रिट पिटीशन में यह प्रार्थना की थी कि प्रत्यर्थियों को उसके प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने का निदेश दिया जाए। पिटीशनर ने यह निवेदन किया था कि कर्नाटक राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन गठित मंगलौर विश्वविद्यालय में पुनर्मूल्यांकन की व्यवस्था थी परन्तु बंगलूर विश्वविद्यालय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। अतः न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या परमादेश रिट जारी करके प्रत्यर्थियों को उसके प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने का निदेश दिया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब पिटीशनर के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा प्रत्यर्थियों का वैसा कार्य करने का कोई विधिक कर्त्तव्य हो। उत्तर पुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन कराने का कोई विधिक अधिकार सिद्ध न किए जाने की दशा में

न्यायालय परमादेश रिट जारी करके प्रत्यर्थियों को प्रश्नप्रत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। (पैरा 5)

विश्वविद्यालय द्वारा विरचित परिनियमों अथवा विनियमों में पुनर्मूल्यांकन की कोई व्यवस्था न होने की दशा में पिटीशनर इस बात की ईप्सा नहीं कर सकता कि संबंधित प्राधिकारी परमादेश रिट जारी करके प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए बाध्य किए जाएं। (पैरा 6)

किसी उत्तर के लिए अंकों का दिया जाना मुख्य परीक्षक द्वारा जांच-मूल्यांकन के अधीन मूल्यांकनकर्ता के निर्धारण और निर्णय पर निर्भर करता है। इस प्रकार दिए गए अंकों की संख्या न्यायिक संवीक्षा की विषयवस्तु नहीं बनाई जा सकती। (पैरा 8)

		पैरा
[1980]	10 जनवरी, 1980 को विनिश्चित किया गया रिट पिटीशन सं० 1019 : के० एस० राजेन्द्र प्रसाद **बनाम** कर्नाटक राज्य (K. S. Rajendra Prasad *Vs.* State of Karnataka)	8

का **अवलम्ब** लिया गया।

रिट अधिकारिकता : 1983 का रिट पिटीशन सं० 12518.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से	...	पिटीशनर स्वयं
प्रत्यर्थियों की ओर से	...	श्री आर० एन० नरसिंहमूर्ति, महाधिवक्ता (प्रत्यर्थी सं० 1 से 3) और श्री जी० वी० शांताराजू (प्रत्यर्थी सं० 5 से 7)

न्या० एम० रामा जोइस :

पिटीशनर, जो जुलाई, 1982 में आयोजित बंगलूर विश्वविद्यालय की विधि स्नातक (प्रथम वर्ष) परीक्षा में बैठा था, ने यह रिट पिटीशन यह प्रार्थना करते हुए प्रस्तुत किया है कि प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाए कि वे उसे भारतीय विधिक इतिहास और भारतीय सांविधानिक इतिहास, सामान्य संविदायें (प्रथम प्रश्न-पत्र), विधिक सिद्धांत (विधि-शास्त्र और तुलनात्मक विधि) में यथोचित अंक और अपराध विधि के प्रश्न-पत्र में 41 अंक प्रदान करें।

2. इस मामले के तथ्य और परिस्थितियां निम्नलिखित हैं :

बंगलूर विश्वविद्यालय की विधि स्नातक (प्रथम वर्ष) परीक्षा जुलाई, 1982 में आयोजित की गई थी। जिन अभ्यर्थियों ने उक्त परीक्षा दी थी उनमें पिटीशनर भी था। परीक्षा का परिणाम 1 फरवरी, 1983 को घोषित किया गया था। पिटीशनर को अंकपत्रक 3 फरवरी, 1983 को जारी किया गया था। तथाकथित अंकपत्रक के अनुसार पिटीशनर ने भारतीय विधिक इतिहास और भारतीय सांविधानिक इतिहास के प्रश्नपत्र में 22, सामान्य संविदायें (प्रथम प्रश्नपत्र) में 23, विधिक सिद्धांत वाले प्रश्नपत्र में 22 और अपराध विधि वाले प्रश्नपत्र में 28 अंक प्राप्त किए थे और इसलिए वह इन विषयों में अनुत्तीर्ण हो गया था। पिटीशनर ने 8 फरवरी, 1983 को अपने अंकों का फिर से योग किए जाने का आवेदन किया था। परिणामत: पिटीशनर ने भारतीय विधिक इतिहास और भारतीय सांविधानिक इतिहास में 23 अंक और विधिक सिद्धांतों वाले प्रश्नपत्र में 23 अंक प्राप्त किए थे। अन्य दो विषयों में पुन: योग किए जाने के बाद भी कोई अन्तर नहीं पड़ा था।

3. अंकों का पुन: योग किए जाने के समय पिटीशनर को यह पता चला कि मूल्यांकनकर्ता ने उसे अपराध विधि वाले प्रश्नपत्र में 41 अंक दिए थे परन्तु मुख्य परीक्षक द्वारा जांच-मूल्यांकन किए जाने के पश्चात् उसे 28 अंक दिए गए थे और वे 28 अंक ही पिटीशनर द्वारा प्राप्त किए गए अंक माने गए थे।

4. इन परिस्थितियों में पिटीशनर ने परीक्षा नियंत्रक को एक अभ्यावेदन 18 मार्च, 1983 को किया जिसमें उसने उससे परीक्षकों द्वारा दिए गए अंकों को मंगाने का अनुरोध किया था। 21 मार्च, 1983 को, इसी आशय का दूसरा अभ्यावेदन भी किया गया था। कोई उत्तर न मिलने के कारण पिटीशनर ने विधि संकाय के डीन तथा परीक्षा नियंत्रक को 13 जून, 1983 को भी अभ्यावेदन किए थे। उसने 16 जून, 1983 को विधि मंत्री को तथा 17 जून, 1983 को शिक्षा मंत्री को आवेदन किए थे। वह 17 जून, 1983 को उप-कुलपति से भी मिला था और जैसा कि पिटीशनर ने कथन किया है, उसे यह सलाह दी गई थी कि वह उप-कुलपति से एक सप्ताह बाद मिले। जिन प्राधिकारियों को उसने अभ्यावेदन किए थे उनसे कोई उत्तर न मिलने के कारण पिटीशनर ने यह रिट पिटीशन प्रस्तुत किया है।

5. विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब पिटीशनर के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा प्रत्यर्थियों का वैसा कार्य करने का कोई विधिक कर्तव्य हो। उत्तर-

पुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन कराने का कोई विधिक अधिकार सिद्ध न किए जाने की दशा में यह न्यायालय परमादेश रिट जारी करके प्रत्यर्थियों को प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

6. पिटीशनर ने, जिसने अपने मामले में हाजिर होकर स्वयं तर्क प्रस्तुत किए हैं, यह निवेदन किया था कि कर्नाटक राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन गठित मंगलौर विश्वविद्यालय में पुनर्मूल्यांकन की व्यवस्था थी परन्तु बंगलूर विश्वविद्यालय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस प्रकार वस्तुस्थिति यह है कि बंगलूर विश्वविद्यालय के विनियमों में पुनर्मूल्यांकन सम्बन्धी कोई व्यवस्था नहीं है। विश्वविद्यालय द्वारा विरचित परिनियमों अथवा विनियमों में पुनर्मूल्यांकन की कोई व्यवस्था न होने की दशा में पिटीशनर इस बात की ईप्सा नहीं कर सकता कि संबंधित प्राधिकारी परमादेश रिट जारी करके प्रश्नपत्रों का मूल्यांकन करने के लिए बाध्य किए जाएं।

7. विश्वविद्यालय के विद्वान् काउंसेल श्री जी० वी० शांताराजू ने पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिकाएं पेश कीं और यह इंगित किया कि मूल्यांकनकर्ता ने हर उस प्रश्न की, जिसका उत्तर पिटीशनर ने दिया था, जांच करके अंक दिए थे और यह प्रश्न कि परीक्षक को उसे अधिक अंक देने चाहिए थे अथवा नहीं, कोई ऐसा मामला नहीं है जिसका विनिश्चय यह न्यायालय इस रिट पिटीशन में कर सकता है।

8. जिस मूल्यांकनकर्ता को उत्तर-पुस्तिकाएं मूल्यांकन के लिए दी जाती हैं उसे प्रश्नपत्रों का मूल्यांकन विश्वविद्यालय द्वारा दिए गए सामान्य अनुदेशों के अनुसार और मुख्य परीक्षक के पर्यवेक्षण और अनुदेशों के अधीन करना होता है। किसी उत्तर के लिए अंकों का दिया जाना मुख्य परीक्षक द्वारा जांच मूल्यांकन के अध्यधीन उसके निर्धारण और निर्णय पर निर्भर करता है। इस प्रकार दिए गए अंकों की संख्या न्यायिक संवीक्षा की विषयवस्तु नहीं बनाई जा सकती। इन बातों को देखते हुए इस बात की सर्वदा संभावना रहती है कि एक ही उत्तर-पुस्तिका का मूल्यांकन कोई अन्य परीक्षक कम या अधिक कर सकता है क्योंकि मानव वास्तव में मानव है, संगणक नहीं। परन्तु यह इस बात का उत्तर नहीं है कि दिए गए अंकों की न्यायिक संवीक्षा की जाए और पुनर्मूल्यांकन के लिए निदेश जारी किया जाए।

इस न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने **के० एस० राजेन्द्र प्रसाद बनाम कर्नाटक राज्य**[1] वाले मामले में रिट पिटीशन सं० 9602/79 में अपीलार्थी के

---

[1] 10 जनवरी, 1980 को विनिश्चित किया गया 1979 का रिट पिटीशन सं० 1019.

रिट पिटीशन को खारिज करते हुए विद्वान् एकल न्यायाधीश के तारीख 21 अगस्त, 1979 के आदेश की अभिपुष्टि कर दी थी। तथाकथित रिट पिटीशन में पिटीशनर ने यह ईप्सा की थी कि सचिव, सेकंडरी एडूकेशन एग्जामिनेशन बोर्ड को उसकी एसएसएलसी परीक्षा की उत्तरपुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन करने का निदेश दिया जाए। तथाकथित विनिश्चय इस रिट पिटीशन पर भी लागू होता है।

9. हां, उस दशा में मामला भिन्न हो सकता है जब किसी प्रश्नपत्र अथवा किसी प्रश्न के उत्तर का बिल्कुल मूल्यांकन न किया गया हो अथवा संबंधित परीक्षक के विरुद्ध असद्भाव बरतने का अभिकथन किया गया हो और वह सिद्ध कर दिया गया हो। प्रस्तुत मामला ऐसा मामला नहीं है।

10. तथापि पिटीशनर ने जोरदार शब्दों में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि उसके प्रश्नपत्रों के मूल्यांकन में घोर अनियमितताएं बरती गई हैं और यदि पुनर्मूल्यांकन की कोई व्यवस्था नहीं है तो विद्यार्थियों को उसके कारण हानि उठानी पड़ सकती है। मामले के इस पहलू के संबंध में मैं जो कुछ कहने की आवश्यकता समझता हूं वह यह है कि यह मामला विश्वविद्यालय की विद्वत् परिषद् के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत है और यदि वह इस बात को मानती है कि ऐसी अनियमितताएं हैं तो उन्हें उपचारी उपाय करने की छूट है।

11. निर्णय समाप्त करने से पूर्व मैं विद्वान् महाधिवक्ता के इस मत से सहमति व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 पिटीशन के लिए आवश्यक और उचित पक्षकार नहीं थे। परन्तु चूंकि उन्हें नोटिस भेजे जा चुके हैं, मैंने उनके नाम वाद से निकाले जाने का निदेश नहीं दिया है।

12. उपर्युक्त कारणों के आधार पर मैं निम्नलिखित आदेश देता हूं।

(i) रिट पिटीशन खारिज किया जाता है।

(ii) कोई खर्चा नहीं।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : कर्नाटक—63

गडी चेलुवरैया चेट्टी बनाम आय-कर आयुक्त

(Gadi Cheluvaraya Chettey *Vs.* The Commissioner of Income-Tax)

तारीख 5 अगस्त, 1983

[न्या० के० जगन्नाथ शेट्टी और न्या० एस० आर० राजशेखरमूर्ति]

आय-कर अधिनियम, 1961—धारा 63 सपठित धारा 60, 61 और 62—'प्रतिसंहरणीय अन्तरण' पद की अर्थव्याप्ति—यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबन्ध अंतर्विष्ट है तो ऐसा अंतरण प्रतिसंहरणीय अंतरण समझा जाएगा—अतः ऐसी फर्म से उद्भूत सम्पूर्ण आय प्रतिसंहरणीय व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी निर्धारिती पर आय-कर से प्रभार्य होगी।

पिटीशनर-निर्धारिती एक कारबारी फर्म का मालिक है। निर्धारिती ने एक व्यवस्थापन विलेख निष्पादित किया जिसके द्वारा उसके प्रत्येक सदस्य को फर्म में 1/9वां अंश दिया गया। इस व्यवस्थापन विलेख में यह भी कहा गया कि आठवें आदाता के उस फर्म का प्रबन्ध न संभालने की स्थिति में उसका अंश व्यवस्थापक और शेष सातों आदाताओं के पास वापस चला जाएगा और वे उसका प्रबन्ध संभालेंगे। इस फर्म की आय पर निर्धारण वर्ष 1963 से लेकर 1969 के लिए भागीदारी विलेख में उपबंधित उनके लाभ के अंश के अनुसार उक्त भागीदारों पर अलग-अलग कर-निर्धारण किया गया। किन्तु निर्धारण वर्ष 1972-73 के लिए आय-कर अधिकारी ने उक्त फर्म की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती पर इस आधार पर कर अधिरोपित किया कि उक्त व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है और साथ ही पिछले निर्धारण वर्षों के कर-निर्धारण पर पुनः विचार करते हुए उस फर्म की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती के व्यक्तिगत निर्धारण में कर-निर्धारण किया। निर्धारिती ने उस आदेश के विरुद्ध सहायक आयुक्त (अपील) के समक्ष अपील की, जो मंजूर कर ली गई। विभाग द्वारा अपील फाइल किए जाने पर अधिकरण ने सहायक आयुक्त (अपील) के आदेश को उलट दिया और आय-कर अधिकारी के आदेशों को बहाल रखते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है। अतः निर्धारिती के आवेदन पर अधिकरण द्वारा उक्त न्यायालय को आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256 (1) के अधीन यह सामान्य प्रश्न निर्दिष्ट किया गया है कि क्या उक्त व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है और फर्म की सम्पूर्ण आय आवेदक पर निर्धारण योग्य है।

अभिनिर्धारित—निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक और निर्धारिती के विरुद्ध उत्तर दिया गया।

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 63(1)(i) के अन्तर्गत किसी अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि उसमें अन्तरक को सम्पूर्ण आय या आस्तियों या उसके किसी भाग का प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है। धारा 63(1) (i) की भाषा में किए गए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष से बचने की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है तो ऐसा अन्तरण प्रतिसंहरणीय समझा जाएगा। अत: जब अन्तरण प्रतिसंहरणीय बन गया तब फर्म की आय तत्पश्चात् व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी। (पैरा 13)

		पैरा
[1964]	(1964) 53 आई० टी० आर० 764 : के० सुब्रमण्य पिल्लई **बनाम** कृषि आय-कर अधिकारी, थक्कले (K. Subramania Pillai *Vs.* Agricultural Income-Tax Officer, Thuckalay) का **अवलम्ब** लिया गया।	14
[1971]	(1971) 92 आई० टी० आर० 160 : ऋषिकेश गांगुली **बनाम** आय-कर आयुक्त, कलकत्ता (Hrishikesh Ganguly *Vs.* Commissioner of Income-Tax, Calcutta);	13
[1963]	(1963) 50 आई० टी० आर० 313 : आय-कर आयुक्त **बनाम** जितेन्द्र नाथ मलिक (Commissioner of Income-Tax *Vs.* Jitendranath Mallick) **निर्दिष्ट** किए गए।	

सिविल (निर्देश) अधिकारिता : 1978 का आय-कर निर्देश मामला सं० 123.

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(1) के अधीन निर्देश।

पिटीशनर की ओर से ... श्री जी० सारंगन

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री के० श्रीनिवासन और एच० राघवेन्द्र राव

में सन् 1969 से ही विद्यमान था । अतः हमारे समक्ष इस उपबंध की बाबत ऐसा कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया कि यह वाद फाइल किए जाने के समय अथवा सन् 1973 में प्रतिवादी सं० 3 की मृत्यु के समय विद्यमान नहीं था । आसाम, आन्ध्र प्रदेश, कलकत्ता, मद्रास और कर्नाटक को लागू होने वाली सिविल प्रक्रिया संहिता में यह संशोधित उपबंध काफी समय पहले से ही विद्यमान था ।

17: परिणामतः अपील मंजूर की जाती है । आक्षेपित निर्णय और डिक्री तथा प्रतिवादी सं० 3 की मृत्यु के बाद प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 के सम्बन्ध में की गई सभी कार्यवाहियां तथा तथाकथित प्रकीर्ण आवेदन के संबंध में पारित आदेश तथा उसके बाद कार्यवाही में विचारण न्यायालय और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री एतद्द्वारा अपास्त किए जाते हैं और अंतवर्ती आवेदन स० 9, जो 1974 की नियमित अपील सं० 185 में संस्थित किया गया है का विचारण अब मुन्सिफ़ न्यायालय रानीबेन्नूर प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 में करेगा और न्यायालय तथाकथित आवेदन का निपटारा विधि के अनुसार उपर्युक्त मताभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में करने के लिए अग्रसर होगा । तदनुसार अपील मंजूर की जाती है और मामला मुन्सिफ न्यायालय को इस आदेश के साथ प्रतिप्रेषित किया जाता है कि वह नियमित अपील सं० 185/74 के अनुसार प्रतिवादी सं० 3 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के सम्बन्ध में छूट के लिए दिए गए आवेदन पर विचार करने के पश्चात् प्रकीर्ण आवेदन सं० 6/71 की सुनवाई के लिए अग्रसर हो ।

18. पक्षकारों को निदेश दिया जाता है कि वह कार्यवाहियों का अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करें ।

19. पक्षकारों को निदेश दिया जाता है कि वे 29 अगस्त, 1983 को विचारण न्यायालय के समक्ष अतिरिक्त अनुदेश प्राप्त करने के लिए उपसंजात हों ।

20. संबंधित अभिलेख विचारण न्यायालय को तत्काल वापस भेज दिए जायें ।

अपील मंजूर की गई ।

अशोक

नि० प० 1984 : कर्नाटक—58

एन० वासुदेवन बनाम मुख्य मंत्री, कर्नाटक राज्य सरकार

(N. Vasudevan *Vs.* Chief Minister, Karnataka State Govt.)

तारीख 1 अगस्त, 1983

[न्या० एम० रामा जोइस]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 226—विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब रिट फाइल करने वाले व्यक्ति के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा विरोधी पक्षकार का वैसा करने का कोई विधिक कर्तव्य हो।

पिटीशनर बंगलूर विश्वविद्यालय की विधि स्नातक (प्रथम वर्ष) परीक्षा में बैठा था। पिटीशनर को जो अंकपत्रक दिया गया था उसके अनुसार वह सभी प्रश्नपत्रों में अनुत्तीर्ण हो गया था। उसने अपने अंकों का पुनः योग किए जाने के लिए आवेदन किया जिसके परिणामस्वरूप उसे दो प्रश्नपत्रों में एक-एक अंक अधिक मिला और दो प्रश्नपत्रों में मिले अंकों में कोई अंतर नहीं पड़ा। अंकों का पुनः योग किए जाने के समय पिटीशनर को यह पता चला कि मूल्यांकनकर्ता मुख्य परीक्षक द्वारा जांच-मूल्यांकन किए जाने के पश्चात् उसे 28 अंक दिए गए थे और वे 28 अंक ही उसके द्वारा प्राप्त किए गए अंक माने गए थे। इन परिस्थितियों में पिटीशनर ने विभिन्न प्राधिकारियों को अभ्यावेदन किए और कोई उत्तर न मिलने के कारण उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल कर दिया। उसने रिट पिटीशन में यह प्रार्थना की थी कि प्रत्यर्थियों को उसके प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने का निदेश दिया जाए। पिटीशनर ने यह निवेदन किया था कि कर्नाटक राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन गठित मंगलौर विश्वविद्यालय में पुनर्मूल्यांकन की व्यवस्था थी परन्तु बंगलूर विश्वविद्यालय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। अतः न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या परमादेश रिट जारी करके प्रत्यर्थियों को उसके प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने का निदेश दिया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब पिटीशनर के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा प्रत्यर्थियों का वैसा कार्य करने का कोई विधिक कर्त्तव्य हो। उत्तर पुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन कराने का कोई विधिक अधिकार सिद्ध न किए जाने की दशा में

न्यायालय परमादेश रिट जारी करके प्रत्यर्थियों को प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। (पैरा 5)

विश्वविद्यालय द्वारा विरचित परिनियमों अथवा विनियमों में पुनर्मूल्यांकन की कोई व्यवस्था न होने की दशा में पिटीशनर इस बात की ईप्सा नहीं कर सकता कि संबंधित प्राधिकारी परमादेश रिट जारी करके प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए बाध्य किए जाएं। (पैरा 6)

किसी उत्तर के लिए अंकों का दिया जाना मुख्य परीक्षक द्वारा जांच-मूल्यांकन के अधीन मूल्यांकनकर्ता के निर्धारण और निर्णय पर निर्भर करता है। इस प्रकार दिए गए अंकों की संख्या न्यायिक संवीक्षा की विषयवस्तु नहीं बनाई जा सकती। (पैरा 8)

		पैरा
[1980]	10 जनवरी, 1980 को विनिश्चित किया गया रिट पिटीशन सं० 1019 : के० एस० राजेन्द्र प्रसाद **बनाम** कर्नाटक राज्य (K. S. Rajendra Prasad *Vs.* State of Karnataka)	8

का **अवलम्ब** लिया गया।

रिट अधिकारिकता : 1983 का रिट पिटीशन सं० 12518.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... पिटीशनर स्वयं

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री आर० एन० नरसिंहमूर्ति, महाधिवक्ता (प्रत्यर्थी सं० 1 से 3) और श्री जी० वी० शांताराजू (प्रत्यर्थी सं० 5 से 7)

न्या० एम० रामा जोइस :

पिटीशनर, जो जुलाई, 1982 में आयोजित बंगलूर विश्वविद्यालय की विधि स्नातक (प्रथम वर्ष) परीक्षा में बैठा था, ने यह रिट पिटीशन यह प्रार्थना करते हुए प्रस्तुत किया है कि प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाए कि वे उसे भारतीय विधिक इतिहास और भारतीय सांविधानिक इतिहास, सामान्य संविदायें (प्रथम प्रश्न-पत्र), विधिक सिद्धांत (विधि-शास्त्र और तुलनात्मक विधि) में यथोचित अंक और अपराध विधि के प्रश्न-पत्र में 41 अंक प्रदान करें।

2. इस मामले के तथ्य और परिस्थितियां निम्नलिखित हैं :

बंगलूर विश्वविद्यालय की विधि स्नातक (प्रथम वर्ष) परीक्षा जुलाई, 1982 में आयोजित की गई थी। जिन अभ्यर्थियों ने उक्त परीक्षा दी थी उनमें पिटीशनर भी था। परीक्षा का परिणाम 1 फरवरी, 1983 को घोषित किया गया था। पिटीशनर को अंकपत्रक 3 फरवरी, 1983 को जारी किया गया था। तथाकथित अंकपत्रक के अनुसार पिटीशनर ने भारतीय विधिक इतिहास और भारतीय सांविधानिक इतिहास के प्रश्नपत्र में 22, सामान्य संविदायें (प्रथम प्रश्नपत्र) में 23, विधिक सिद्धांत वाले प्रश्नपत्र में 22 और अपराध विधि वाले प्रश्नपत्र में 28 अंक प्राप्त किए थे और इसलिए वह इन विषयों में अनुत्तीर्ण हो गया था। पिटीशनर ने 8 फरवरी, 1983 को अपने अंकों का फिर से योग किए जाने का आवेदन किया था। परिणामत: पिटीशनर ने भारतीय विधिक इतिहास और भारतीय सांविधानिक इतिहास में 23 अंक और विधिक सिद्धांतों वाले प्रश्नपत्र में 23 अंक प्राप्त किए थे। अन्य दो विषयों में पुन: योग किए जाने के बाद भी कोई अन्तर नहीं पड़ा था।

3. अंकों का पुन: योग किए जाने के समय पिटीशनर को यह पता चला कि मूल्यांकनकर्ता ने उसे अपराध विधि वाले प्रश्नपत्र में 41 अंक दिए थे परन्तु मुख्य परीक्षक द्वारा जांच-मूल्यांकन किए जाने के पश्चात् उसे 28 अंक दिए गए थे और वे 28 अंक ही पिटीशनर द्वारा प्राप्त किए गए अंक माने गए थे।

4. इन परिस्थितियों में पिटीशनर ने परीक्षा नियंत्रक को एक अभ्यावेदन 18 मार्च, 1983 को किया जिसमें उसने उससे परीक्षकों द्वारा दिए गए अंकों को मंगाने का अनुरोध किया था। 21 मार्च, 1983 को, इसी आशय का दूसरा अभ्यावेदन भी किया गया था। कोई उत्तर न मिलने के कारण पिटीशनर ने विधि संकाय के डीन तथा परीक्षा नियंत्रक को 13 जून, 1983 को भी अभ्यावेदन किए थे। उसने 16 जून, 1983 को विधि मंत्री को तथा 17 जून, 1983 को शिक्षा मंत्री को आवेदन किए थे। वह 17 जून, 1983 को उप-कुलपति से भी मिला था और जैसा कि पिटीशनर ने कथन किया है, उसे यह सलाह दी गई थी कि वह उप-कुलपति से एक सप्ताह बाद मिले। जिन प्राधिकारियों को उसने अभ्यावेदन किए थे उनसे कोई उत्तर न मिलने के कारण पिटीशनर ने यह रिट पिटीशन प्रस्तुत किया है।

5. विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि विश्वविद्यालय जैसे किसी कानूनी निकाय को कोई विशेष कार्य करने के लिए परमादेश रिट तभी जारी किया जा सकता है जब पिटीशनर के पास उसे कराने का कोई विधिक अधिकार हो तथा प्रत्यर्थियों का वैसा कार्य करने का कोई विधिक कर्तव्य हो। उत्तर-

पुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन कराने का कोई विधिक अधिकार सिद्ध न किए जाने की दशा में यह न्यायालय परमादेश रिट जारी करके प्रत्यर्थियों को प्रश्नपत्रों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

6. पिटीशनर ने, जिसने अपने मामले में हाजिर होकर स्वयं तर्क प्रस्तुत किए हैं, यह निवेदन किया था कि कर्नाटक राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन गठित मंगलौर विश्वविद्यालय में पुनर्मूल्यांकन की व्यवस्था थी परन्तु बंगलूर विश्वविद्यालय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस प्रकार वस्तु-स्थिति यह है कि बंगलूर विश्वविद्यालय के विनियमों में पुनर्मूल्यांकन सम्बन्धी कोई व्यवस्था नहीं है। विश्वविद्यालय द्वारा विरचित परिनियमों अथवा विनियमों में पुनर्मूल्यांकन की कोई व्यवस्था न होने की दशा में पिटीशनर इस बात की ईप्सा नहीं कर सकता कि संबंधित प्राधिकारी परमादेश रिट जारी करके प्रश्नपत्रों का मूल्यांकन करने के लिए बाध्य किए जाएं।

7. विश्वविद्यालय के विद्वान् काउंसेल श्री जी० वी० शांताराजू ने पिटीशनर की उत्तर-पुस्तिकाएं पेश कीं और यह इंगित किया कि मूल्यांकनकर्ता ने हर उस प्रश्न की, जिसका उत्तर पिटीशनर ने दिया था, जांच करके अंक दिए थे और यह प्रश्न कि परीक्षक को उसे अधिक अंक देने चाहिए थे अथवा नहीं, कोई ऐसा मामला नहीं है जिसका विनिश्चय यह न्यायालय इस रिट पिटीशन में कर सकता है।

8. जिस मूल्यांकनकर्ता को उत्तर-पुस्तिकाएं मूल्यांकन के लिए दी जाती हैं उसे प्रश्नपत्रों का मूल्यांकन विश्वविद्यालय द्वारा दिए गए सामान्य अनुदेशों के अनुसार और मुख्य परीक्षक के पर्यवेक्षण और अनुदेशों के अधीन करना होता है। किसी उत्तर के लिए अंकों का दिया जाना मुख्य परीक्षक द्वारा जांच मूल्यांकन के अध्यधीन उसके निर्धारण और निर्णय पर निर्भर करता है। इस प्रकार दिए गए अंकों की संख्या न्यायिक संवीक्षा की विषयवस्तु नहीं बनाई जा सकती। इन बातों को देखते हुए इस बात की सर्वदा संभावना रहती है कि एक ही उत्तर-पुस्तिका का मूल्यांकन कोई अन्य परीक्षक कम या अधिक कर सकता है क्योंकि मानव वास्तव में मानव है, संगणक नहीं। परन्तु यह इस बात का उत्तर नहीं है कि दिए गए अंकों की न्यायिक संवीक्षा की जाए और पुनर्मूल्यांकन के लिए निदेश जारी किया जाए।

इस न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने **के० एस० राजेन्द्र प्रसाद बनाम कर्नाटक राज्य**[1] वाले मामले में रिट पिटीशन सं० 9602/79 में अपीलार्थी के

---

[1] 10 जनवरी, 1980 को विनिश्चित किया गया 1979 का रिट पिटीशन सं० 1019.

रिट पिटीशन को खारिज करते हुए विद्वान् एकल न्यायाधीश के तारीख 21 अगस्त, 1979 के आदेश की अभिपुष्टि कर दी थी। तथाकथित रिट पिटीशन में पिटीशनर ने यह ईप्सा की थी कि सचिव, सेकंडरी एडूकेशन एग्जामिनेशन बोर्ड को उसकी एसएसएलसी परीक्षा की उत्तरपुस्तिकाओं का पुनर्मूल्यांकन करने का निदेश दिया जाए। तथाकथित विनिश्चय इस रिट पिटीशन पर भी लागू होता है।

9. हां, उस दशा में मामला भिन्न हो सकता है जब किसी प्रश्नपत्र अथवा किसी प्रश्न के उत्तर का बिल्कुल मूल्यांकन न किया गया हो अथवा संबंधित परीक्षक के विरुद्ध असद्भाव बरतने का अभिकथन किया गया हो और वह सिद्ध कर दिया गया हो। प्रस्तुत मामला ऐसा मामला नहीं है।

10. तथापि पिटीशनर ने जोरदार शब्दों में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि उसके प्रश्नपत्रों के मूल्यांकन में घोर अनियमितताएं बरती गई हैं और यदि पुनर्मूल्यांकन की कोई व्यवस्था नहीं है तो विद्यार्थियों को उसके कारण हानि उठानी पड़ सकती है। मामले के इस पहलू के संबंध में मैं जो कुछ कहने की आवश्यकता समझता हूं वह यह है कि यह मामला विश्वविद्यालय की विद्वत् परिषद् के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत है और यदि वह इस बात को मानती है कि ऐसी अनियमितताएं हैं तो उन्हें उपचारी उपाय करने की छूट है।

11. निर्णय समाप्त करने से पूर्व मैं विद्वान् महाधिवक्ता के इस मत से सहमति व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि प्रत्यर्थी सं० 1 से 3 पिटीशन के लिए आवश्यक और उचित पक्षकार नहीं थे। परन्तु चूंकि उन्हें नोटिस भेजे जा चुके हैं, मैंने उनके नाम वाद से निकाले जाने का निदेश नहीं दिया है।

12. उपर्युक्त कारणों के आधार पर मैं निम्नलिखित आदेश देता हूं।

(i) रिट पिटीशन खारिज किया जाता है।

(ii) कोई खर्च नहीं।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : कर्नाटक—63

गडी चेलुवरैया चेट्टी बनाम आय-कर आयुक्त
(Gadi Cheluvaraya Chettey *Vs.* The Commissioner of Income-Tax)

तारीख 5 अगस्त, 1983

[न्या० के० जगन्नाथ शेट्टी और न्या० एस० आर० राजशेखरमूर्ति]

आय-कर अधिनियम, 1961—धारा 63 सपठित धारा 60, 61 और 62—'प्रतिसंहरणीय अन्तरण' पद की अर्थव्याप्ति—यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबन्ध अंतर्विष्ट है तो ऐसा अंतरण प्रतिसंहरणीय अंतरण समझा जाएगा—अत: ऐसी फर्म से उद्भूत सम्पूर्ण आय प्रतिसंहरणीय व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी निर्धारिती पर आय-कर से प्रभार्य होगी।

पिटीशनर-निर्धारिती एक कारबारी फर्म का मालिक है। निर्धारिती ने एक व्यवस्थापन विलेख निष्पादित किया जिसके द्वारा उसके प्रत्येक सदस्य को फर्म में 1/9वां अंश दिया गया। इस व्यवस्थापन विलेख में यह भी कहा गया कि आठवें आदाता के उस फर्म का प्रबन्ध न संभालने की स्थिति में उसका अंश व्यवस्थापक और शेष सातों आदाताओं के पास वापस चला जाएगा और वे उसका प्रबन्ध संभालेंगे। इस फर्म की आय पर निर्धारण वर्ष 1963 से लेकर 1969 के लिए भागीदारी विलेख में उपबंधित उनके लाभ के अंश के अनुसार उक्त भागीदारों पर अलग-अलग कर-निर्धारण किया गया। किन्तु निर्धारण वर्ष 1972-73 के लिए आय-कर अधिकारी ने उक्त फर्म की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती पर इस आधार पर कर अधिरोपित किया कि उक्त व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है और साथ ही पिछले निर्धारण वर्षों के कर-निर्धारण पर पुनः विचार करते हुए उस फर्म की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती के व्यक्तिगत निर्धारण में कर-निर्धारण किया। निर्धारिती ने उस आदेश के विरुद्ध सहायक आयुक्त (अपील) के समक्ष अपील की, जो मंजूर कर ली गई। विभाग द्वारा अपील फाइल किए जाने पर अधिकरण ने सहायक आयुक्त (अपील) के आदेश को उलट दिया और आय-कर अधिकारी के आदेशों को बहाल रखते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है। अतः निर्धारिती के आवेदन पर अधिकरण द्वारा उक्त न्यायालय को आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256 (1) के अधीन यह सामान्य प्रश्न निर्दिष्ट किया गया है कि क्या उक्त व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है और फर्म की सम्पूर्ण आय आवेदक पर निर्धारण योग्य है।

अभिनिर्धारित—निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक और निर्धारिती के विरुद्ध उत्तर दिया गया।

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 63(1)(i) के अन्तर्गत किसी अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि उसमें अन्तरक को सम्पूर्ण आय या आस्तियों या उसके किसी भाग का प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है। धारा 63(1) (i) की भाषा में किए गए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष से बचने की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है तो ऐसा अन्तरण प्रतिसंहरणीय समझा जाएगा। अतः जब अन्तरण प्रतिसंहरणीय बन गया तब फर्म की आय तत्पश्चात् व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी। (पैरा 13)

		पैरा
[1964]	(1964) 53 आई० टी० आर० 764 : के० सुब्रमण्य पिल्लई **बनाम** कृषि आय-कर अधिकारी, थक्कले (K. Subramania Pillai *Vs.* Agricultural Income-Tax Officer, Thuckalay) का **अवलम्ब** लिया गया।	14
[1971]	(1971) 92 आई० टी० आर० 160 : ऋषिकेश गांगुली **बनाम** आय-कर आयुक्त, कलकत्ता (Hrishikesh Ganguly *Vs.* Commissioner of Income-Tax, Calcutta);	13
[1963]	(1963) 50 आई० टी० आर० 313 : आय-कर आयुक्त **बनाम** जितेन्द्र नाथ मलिक (Commissioner of Income-Tax *Vs.* Jitendranath Mallick) **निर्दिष्ट** किए गए।	

सिविल (निर्देश) अधिकारिता : 1978 का आय-कर निर्देश मामला सं० 123.

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(1) के अधीन निर्देश।

पिटीशनर की ओर से	...	श्री जी० सारंगन
प्रत्यर्थी की ओर से	...	सर्वश्री के० श्रीनिवासन और एच० राघवेन्द्र राव

न्यायालय का निर्णय, न्या० एस० आर० राजशेखरमूर्ति ने दिया।

न्या० राजशेखरमूर्ति :

आय-कर अधिनियम, 1961 (जिसे संक्षेप में अधिनियम कहा गया है) की धारा 256(1) के अधीन इन 9 निर्देशों में अधिकरण द्वारा इस न्यायालय को सामान्य प्रश्न निर्दिष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है :—

> "क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अधिकरण द्वारा यह अभिनिर्धारित किया जाना सही है कि आवेदक द्वारा 12.8.1960 को किया गया व्यवस्थापन प्रतिसंहरणीय है और इसलिए मै० चेलुवा एण्ड कम्पनी की सम्पूर्ण आय प्रश्नगत निर्धारण वर्ष के लिए आवेदक पर निर्धारण योग्य है।"

इन निर्देशों का उत्तर देने के लिए आवश्यक तथ्य इस प्रकार हैं।

2. निर्धारिती गडी चेलुवरैया चेट्टी नामक एक व्यक्ति है। वह रसल मार्केट बंगलोर में मै० चेलुवा एण्ड कं० के नाम और अभिनाम से चल रही एक कारबारी फर्म का मालिक है। तारीख 12 अगस्त, 1960 को निर्धारिती ने अपनी पत्नी, छह पुत्रियों और अपने दामाद, जिनका नाम चन्द्र मोहन है, के पक्ष में एक व्यवस्थापन विलेख निष्पादित किया जिसके द्वारा उनमें से प्रत्येक को चेलुवा एण्ड कं० के कारबार में 1/9वां अविभक्त अंश दिया गया।

3. 15 मार्च, 1961 को निर्धारिती ने एक भागीदारी फर्म का गठन किया जिसमें वह स्वयं, उसकी पत्नी और छह पुत्रियां भागीदारों के रूप में सम्मिलित हैं। अंतिम दोनों भागीदारों को अवयस्क पुत्रियां होने के कारण भागीदारी के लाभ दिए गए। प्रत्येक भागीदार के पूंजीगत अभिदाय में चेलुवा एण्ड कं० के कारबार में अविभक्त अंश सम्मिलित है जो उन्हें तारीख 12 अगस्त, 1960 के व्यवस्थापन विलेख के अन्तर्गत मिला है।

व्यवस्थापन विलेख का खण्ड 6 इस प्रकार है :—

> "व्यवस्थापक एतद्द्वारा 8वें आदाता को कारबार का प्रबंध करने का वचन देने के प्रतिफलस्वरूप अनुसूचित कारबार में 1/9वां अंश देता है। उस तारीख से कारबार का इस प्रकार प्रबंध न करने की स्थिति में व्यवस्थापक और अन्य आदाता को उसका 1/9वां अंश मिल जाएगा और वे अनुसूचित कारबार के दक्ष प्रबन्ध के लिए आवश्यक इन्तजाम करेंगे। यदि 8वां आदाता बिना किसी अन्तराल के इस तारीख से 10 वर्ष तक की अवधि के लिए कारबार का प्रबन्ध करता है तो वह उसके पश्चात् उपर्युक्त कारबार का प्रबन्ध करने की किसी भी बाध्यता के बिना 1/9वां अंश और लाभ प्राप्त करने का पूरी तरह हकदार होगा।"

4. उपर्युक्त परिवर्णन से यह प्रतीत होगा कि चन्द्रमोहन को उक्त कारबार में 1/9वां हिस्सा इस शर्त पर दिया गया है कि वह कारबार का प्रबन्ध करेगा। उसके इस प्रकार कारबार का प्रबन्ध न करने की स्थिति में अन्य आदाता को उसका 1/9 वां अंश मिल जाएगा और वे कारबार चलाने के लिए आवश्यक इन्तजाम करेंगे। चन्द्रमोहन को उसके श्वसुर से प्राप्त यह दान आकर्षित न कर सका। उसने व्यवस्थापन के निबन्धन स्वीकार नहीं किए और इस कारण 1/9वां अंश स्वयमेव निर्धारिती और दूसरे सातों आदाताओं के पास बराबर-बराबर अनुपात में वापस चला गया और उनमें से प्रत्येक 1/9वां अंश का 1/8वां अंश पाने का हकदार हो गया। इस फर्म की आय पर 31 मार्च, 1963 से प्रारम्भ होने वाली और 31 मार्च, 1969 को समाप्त होने वाली लेखा अवधि के लिए भागीदारी विलेख में उपबंधित उनके लाभ के अंश के अनुसार उक्त भागीदारों पर अलग-अलग कर निर्धारण किया गया।

5. तथापि निर्धारण वर्ष 1972-73 के लिए आय-कर अधिकारी ने मैं० चेलुवा एण्ड कं० की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती पर इस आधार पर कर अधिरोपित किया कि उक्त व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है। वर्ष 1972-73 के लिए उक्त आदेश पारित करने के पश्चात् आय-कर अधिकारी ने निर्धारण वर्ष 1963-64 से लेकर 1969-70 के लिए कर निर्धारण पर पुनः विचार किया और मै० चेलुवा एण्ड कं० की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती के व्यक्तिगत निर्धारण में कर निर्धारण किया।

6. निर्धारिती द्वारा उक्त निर्धारण आदेशों के विरुद्ध सहायक आयुक्त (अपील) के समक्ष अपीलें की गईं। सहायक आयुक्त (अपील) ने अपीलें मंजूर कर लीं और फर्म की आय को सुसंगत वर्षों के लिए निर्धारिती के कर निर्धारण में से निकाले जाने का निदेश दिया।

7. विभाग द्वारा अपीलें फाइल किए जाने पर अधिकरण ने सहायक आयुक्त (अपील) के आदेश को उलट दिया और आय-कर अधिकारी के आदेशों को बहाल रखा और अधिकरण ने 1922 के अधिनियम की धारा 16(1)(ग) के उपबंधों को लागू करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है।

8. हम प्रारम्भ में ही यह कहना चाहेंगे कि अधिकरण द्वारा 1922 के अधिनियम की धारा 16(1)(ग) के उपबंधों को लागू किया जाना सही नहीं है। हमारा सम्बन्ध केवल निर्धारण वर्ष 1963-64 से लेकर 1973-74 तक के निर्धारणों से है जो 1 अप्रैल, 1962 को पूरे किए गए हैं, जो कि वह तारीख है जिस तारीख को 1961 का अधिनियम प्रवृत्त हुआ था। अतः उन सुसंगत पूर्व

वर्षों के दौरान, जिनके दौरान फर्म की आय पर कर लगाया जाना ईप्सित है, प्रवृत्त विधि वह विधि होनी चाहिए जो उस मामले में लागू होती हो। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें व्यवस्थापन विलेख की 1961 के अधिनियम के उपबंधों के प्रति निर्देश से परीक्षा करनी होगी जिसे आय-कर अधिकारी द्वारा सही लागू किया गया है।

9. धारा 60 इस प्रकार है :—

> "ऐसी सब आय जो किसी व्यक्ति को अन्तरण के फलस्वरूप, चाहे वह प्रतिसंहरणीय हो या न हो और चाहे वह इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले या पश्चात् किया गया हो, उदभूत होती हो, जहां उन आस्तियों का अन्तरण न हुआ हो जिनसे आय उद्भूत होती है, अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी और उसकी कुल आय में सम्मिलित की जाएगी।"

10. धारा 61 के अनुसार किसी व्यक्ति को आस्तियों के प्रतिसंहरणीय अन्तरण के आधार पर उद्भूत होने वाली सम्पूर्ण आय अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी। धारा 62 में यह कहा गया है कि धारा 61 के उपबंधों को, अर्थात् आस्तियों के प्रतिसंहरणीय अन्तरण के आधार पर अन्तरक की आय में वृद्धि, अन्य बातों के साथ ऐसे अंतरण के आधार पर किसी भी व्यक्ति को उद्भूत होने वाली आय को लागू नहीं किया जाना चाहिए, जो हिताधिकारी के जीवनकाल के दौरान प्रतिसंहरणीय नहीं है या जो 1 अप्रैल, 1961 के पूर्व किया गया है जो छह वर्ष से अधिक की अवधि तक प्रतिसंहरणीय नहीं है। किन्तु धारा 62 की उपधारा (1) के साथ एक ऐसा परन्तुक दिया गया है जो इस शर्त पर लागू होता है कि अन्तरक को किसी भी स्थिति में ऐसी आय से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त न होता हो। तथ्यत: यदि अन्तरक को ऐसे अन्तरण से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है और भले ही धारा 62 की उपधारा (1) के उपखण्ड (i) या (ii) की शर्तें पूरी हो गई हों तो भी उसे एक प्रतिसंहरणीय न्यास के रूप में माना जाएगा।

11. धारा 63 में इस प्रकार उपबंध किया गया है :—

> "धारा 60, 61 और 62 के और इस धारा के प्रयोजनों के लिए :—
>
> (क) अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि—
>
> (i) उसमें सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुन: अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है; या

(ii) वह किसी भी रूप में अन्तरक को सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग की बाबत शक्तियों को प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: पुन: ग्रहण करने का अधिकार देता है;

(ख) 'अन्तरण' के अन्तर्गत कोई भी व्यवस्थापन, न्यास, प्रसंविदा, करार या ठहराव है ।"

12. धारा 63 (ख) में प्रयुक्त 'अन्तरण' शब्द का विस्तार प्रत्येक द्विपक्षीय या बहुपक्षीय संव्यवहारों पर भी होता है। यह शब्द इतना अधिक व्यापक है कि इसके अन्तर्गत व्यवस्थापन, न्यास, प्रसंविदा, करार या ठहराव भी आते हैं।

13. धारा 63 (1) (i) के अन्तर्गत किसी अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि उसमें अन्तरक को सम्पूर्ण आय या आस्तियों या उसके किसी भाग का प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: पुन: अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है। हमारा इस मामले में इसी खण्ड के साथ मुख्यत: सम्बन्ध है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्धन है जो इंडियन इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 16(1)(ग) में नहीं पाया जाता। इस परिवर्धन का प्रभाव निम्नलिखित दो विनिश्चयों के प्रति निर्देश से महसूस किया जा सकता है। **आय-कर आयुक्त** बनाम **जितेन्द्र नाथ मलिक**[1] में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 16 (1)(ग) के संदर्भ में एक व्यवस्थापन विलेख में प्रतिसंहरणीयता खण्ड के विस्तार की परीक्षा की थी। उस विलेख में एक ऐसा खण्ड था जिसके द्वारा न्यास की रकम के एक भाग का संदाय अन्तरक के लिए सुरक्षित रखा गया था। प्रश्न यह उठा कि क्या इस शर्त के कारण न्यास की सम्पूर्ण आय अन्तरक पर निर्धारण योग्य है। उच्च न्यायालय ने नकारात्मक अभिनिर्धारित किया। यह मत व्यक्त किया गया कि व्यवस्थापक की निर्धारण योग्यता का प्रश्न केवल आय के उस भाग की बाबत उठ सकता है जिसके सम्बन्ध में यह पाया जाए कि वह उस दशा में दूसरे व्यक्तियों की आय के दूसरे भाग की निर्धारण योग्यता पर कोई प्रभाव डाले बिना जहां प्रतिसंहरणीयता का कोई प्रश्न नहीं उठता, प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: हितबद्ध है, और व्यवस्थापक को संदेय केवल 400 रुपये ही उसके सम्बन्ध में निर्धारण योग्य हैं।

कलकत्ता उच्च न्यायालय के उपर्युक्त तर्काधार का उच्चतम न्यायालय द्वारा **ऋषिकेष गांगुली** बनाम **आय-कर आयुक्त, कलकत्ता**[2] में अनुमोदन किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने पृ० 165 पर इस प्रकार मत व्यक्त किया है :

---

[1] (1963) 50 आई० टी० आर० 313.

[2] (1971) 92 आई० टी० आर० 160.

"अतः सम्पूर्ण व्यवस्थापन उस स्थिति में धारा 16 (1) (ग) की परिधि के अन्तर्गत नहीं आएगा यदि उसकी प्रतिसंहरणीयता आय के केवल एक भाग से सम्बधित हो। देखिए आय-कर आयुक्त बनाम **जितेन्द्र नाथ मलिक** [(1963) 50 आई० टी० आर० 323 (कलकत्ता)]। हम कलकत्ता उच्च न्यायालय के उपर्युक्त दृष्टिकोण के साथ पूरी तरह सहमत हैं और हमारा यह विचार है कि उसका रानी भुवनेश्वरी कुंअर के मामले में [(1964) 7 एस० सी० आर० 920 (एस० सी०)] इस न्यायालय के विनिश्चय से समर्थन होता है। हम आय-कर अधिनियम, 1961 में प्रतिसंहरणीय अन्तरणों के बारे में भाषा में किए गए महत्वपूर्ण परिवर्तन के प्रति भी निर्देश कर सकते हैं। उक्त अधिनियम की धारा 63 में इस प्रकार उपबंध किया गया है :—

'धारा 60, 61 और 62 के और इस धारा के प्रयोजनों के लिए :—

(क) अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि,

(i) उसमें सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियां या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है, या

(ii) वह किसी भी रूप में अन्तरक को सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियां या उसके अथवा उनके किसी भाग की बावत शक्तियों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः पुनः ग्रहण करने का अधिकार देता है;……।'

अतः यह भली-भांति कहा जा सकता है कि 'आय के भाग का' शब्दों का अभिव्यक्त रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई क्योंकि उस अधिनियम के उपबंधों के अधीन आय का वह भाग उसके अन्तर्गत नहीं आता है।"

उच्चतम न्यायालय की उपर्युक्त मताभिव्यक्ति से यह बात स्पष्ट है कि धारा 63 (1) (i) की भाषा में किए गए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष से बचने की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है तो ऐसा अन्तरण प्रतिसंहरणीय समझा जाएगा। प्रस्तुत मामला पूरी तरह से और स्पष्ट रूप से अधिनियम की धारा 63 (क) (i) के अन्तर्गत आता है।

14. हमारे इस दृष्टिकोण का **के० सुब्रमण्य पिल्लाई** बनाम **कृषि आय-कर अधिकारी, थक्कले**[1], में मद्रास उच्च न्यायालय के विनिश्चय से समर्थन होता है। उक्त मामले में मद्रास उच्च न्यायालय ने एक ऐसे व्यवस्थापन विलेख पर विचार किया है जिसमें त्रावणकोर कोचीन एग्रीकल्चरल इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1950 की धारा 9 (1) के प्रति निर्देश से एक प्रतिसंहरणीय खण्ड अन्तर्विष्ट है जो इन्कम-टैक्ट ऐक्ट, 1922 की धारा 16 (1) (ग) के समान है।

15. तारीख 12 अगस्त, 1960 के व्यवस्थापन विलेख के खण्ड (6) में अन्तरक ने चन्द्रमोहन को चेलुवा एण्ड कं० के कारबार का प्रबन्ध करने के वचन के प्रतिफलस्वरूप उस कारबार में 1/9 वां हिस्सा दिया था। इस खण्ड में यह भी दिया गया है कि उसके उस तारीख से कारबार का इस प्रकार प्रबन्ध न करने की स्थिति में अन्तरक और अन्य आदाताओं को उसका 1/9 वां हिस्सा मिल जाएगा और वे उक्त कारबार का दक्ष प्रबन्ध करने के लिए आवश्यक इन्तजाम करेंगे। दूसरे शब्दों में व्यवस्थापन विलेख में यह उपबंध किया गया है कि चन्द्रमोहन के चेलुवा एण्ड कं० के कारबार के प्रबन्ध का नियंत्रण न संभालने की स्थिति में उसका हिस्सा अन्य आदाताओं और अन्तरक को वापस लौट जाएगा। इस प्रकार व्यवस्थापन विलेख में आस्तियों के एक भाग का अन्तरक को प्रत्यक्षतः पुनः अन्तरण करने के लिए एक उपबंध अन्तर्विष्ट है। अन्तरक ने अपनी पत्नी और छह पुत्रियों सहित उस अंश में बराबर-बराबर अंश प्राप्त किए जो चन्द्रमोहन से पुनः अन्तरित हो गए हैं। इस प्रकार मामले के इस पहलू के बारे में किसी भी प्रकार का कोई सन्देह या विवाद नहीं रह सकता क्योंकि व्यवस्थापन विलेख के निबन्धन अधिक स्पष्ट हैं। तत्पश्चात् धारा 61 में यह कहा गया है कि ऐसी सब आय जो किसी व्यक्ति को आस्तियों के प्रतिसंहरणीय अन्तरण के फलस्वरूप प्रोद्भूत होती है, अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी और उसकी कुल आय में सम्मिलित की जायेगी। अतः चेलुवा एण्ड कं० की सम्पूर्ण आय उसकी कुल आय में सम्मिलित किए जाने और कर लगाए जाने योग्य है और वह व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के अनुसार दूसरे अंशधारियों पर कर लगाए जाने योग्य नहीं है। प्रस्तुत मामले में भागीदारी विलेख पर विचार करना वास्तव में अनावश्यक है क्योंकि भागीदारी विलेख से तारीख 12 अगस्त, 1960 के व्यवस्थापन विलेख के प्रति निर्देश होता है और उस भागीदारी विलेख के अधीन कारबार के लाभ उस अंश के अनुसार विभाजित किए जाने अपेक्षित हैं जिसके लिए भागीदार व्यवस्थापन विलेख के अन्तर्गत हकदार हैं। अतः भागीदारी विलेख इस बात का अवधारण करने के प्रयोजन के लिए एक सुसंगत दस्तावेज

---

[1] (1964) 53 आई० टी० आर० 764.

नहीं है कि क्या व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है या नहीं।

16. तथापि निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल श्री सारंगन ने यह दलील दी है कि प्रतिसंहरणीय अन्तरण केवल चन्द्रमोहन के अंश तक ही सीमित है और इसलिए केवल उसकी अंश रकम ही निर्धारिती की कुल आय में सम्मिलित की जाएगी और वह आय सम्मिलित नहीं की जाएगी जिसके लिए दूसरे अंशधारी हकदार हैं। हम समझते हैं कि इस दलील को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक हम विद्वान् काउन्सेल की इस बात के साथ सहमत न हों कि व्यवस्थापन विलेख में नौ अलग-अलग अन्तरण अन्तर्विष्ट हैं। यदि हम इस विलेख का परिशीलन करते हैं तो विद्वान् काउन्सेल की इस दलील का समर्थन करना असम्भव होगा कि इस विलेख में नौ अलग-अलग अन्तरण अन्तर्विष्ट हैं। व्यवस्थापक ने प्रत्येक आदाता को अनुसूचित कारबार में अपने पास उसमें से एक अविभक्त 1/9 वां हिस्सा रखते हुए शेष अविभक्त 1/9 वां हिस्सा प्रत्येक को देने का विनिश्चय किया है। अतः अन्तरण एक और अविभक्त है और उसे एक प्रतिसंहरणीय अन्तरण के रूप में माना जाएगा।

17. तत्पश्चात् श्री सारंगन ने यह दलील दी है कि व्यवस्थापन विलेख में प्रतिसंहरणीयता के बारे में शर्त भागीदारी बनाए जाने से पूर्व ही रखी गई है और इसलिए प्रतिसंहरणीयता के खण्ड को निर्धारिती के ऊपर फर्म की आय का निर्धारण करने के प्रयोजन के लिए लागू नहीं किया जाना चाहिए। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि भागीदारी की आस्तियों के सम्बन्ध में व्यवस्थापन विलेख के प्रति निर्देश किए बिना अगल-अलग रूप से विचार नहीं किया जा सकता। आदाता व्यवस्थापन विलेख के अधीन उन्हें दिए गए अपने अविभक्त अंश का विनिधान करते हुए फर्म के भागीदार बन गए हैं। अतः भागीदारी विलेख पर व्यवस्थापन विलेख के प्रति निर्देश किए बिना स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया जा सकता।

18. तत्पश्चात् यह दलील दी गई है कि अधिनियम की धारा 60 से 63 का अवलम्ब लेने के लिए प्रत्येक वर्ष की घटनाओं को देखा जाना और विचार किया जाना चाहिए और भागीदारी फर्म के गठन के पश्चात् सभी वर्षों के लिए व्यवस्थापन विलेख में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो प्रतिसंहरणीय हो और इसलिए भागीदारी कारबार के निर्धारण के बारे में धारा 60 से 63 लागू नहीं होती क्योंकि प्रतिसंहरण व्यवस्थापन की तारीख के एक मास के पश्चात् ही तुरन्त प्रभावी हुआ है। अतः इस दलील में भी कोई सार नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि जब अन्तरण प्रतिसंहरणीय बन गया तब चेलुवा एण्ड कम्पनी की आय तत्पश्चात् व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी अन्तरक की आय के रूप में आय-कर के लिए प्रभार्य होगी।

19. निर्धारिती द्वारा 12 अगस्त, 1960 को निष्पादित किए गए व्यवस्थापन विलेख के खण्डों का अधिनियम की धारा 60 से 63 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए सावधानीपूर्वक विशलेषण करने के पश्चात् हमारा यह दृढ़ मत है कि व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है और हम इस प्रश्न का प्रत्येक निर्देश में सकारात्मक और निर्धारिती के विरुद्ध उत्तर देते हैं।

20. मामले की परिस्थितियों में हम खर्च के बारे में कोई आदेश नहीं करते।

निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक और
निर्धारिती के विरुद्ध उत्तर दिया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : कर्नाटक—72

बी० जनार्दन भट्ट बनाम ललिता

(B. Janardhana Bhat *Vs*. Lalitha)

तारीख 8 अगस्त, 1983

[न्या० जी० एन० सभाहित और आर० एस० महेंद्र]

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—धारा 12(1)(ग) सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, आदेश 7 नियम 11—शून्यकरणीय विवाह—पति द्वारा पत्नी की चित्त-विकृति के आधार पर विवाह को अकृतता की डिक्री द्वारा बातिल किए जाने के लिए किए गए आवेदन को प्रथमदृष्ट्या और प्रकटतः तुच्छ और तंग करने वाला नहीं कहा जा सकता—तथापि यह साबित करने का भार पति पर है कि पत्नी उस समय, जब विवाह का प्रस्ताव रखा गया था, पागलपन से ग्रस्त थी और इस तथ्य को उससे छिपाया गया है—अतः सिविल न्यायाधीश द्वारा पति के पिटीशन को तुच्छ और तंग करने वाला होने के आधार पर नामंजूर किया जाना अनधिकृत और विधि की दृष्टि में अमान्य होगा।

2. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 7 नियम 11 सपठित हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 धारा 12(1)(ग)—वाद का प्रतिक्षेपण—पति द्वारा पत्नी की चित्त-विकृति के आधार पर विवाह को अकृतता की डिक्री द्वारा बातिल किए जाने के लिए किए गए आवेदन को प्रथमदृष्ट्या और प्रकटतः तुच्छ और तंग करने वाला नहीं कहा जा सकता—तथापि यह साबित करने का भार पति पर है

न्यायालय का निर्णय, न्या० एस० आर० राजशेखरमूर्ति ने दिया।

न्या० राजशेखरमूर्ति :

आय-कर अधिनियम, 1961 (जिसे संक्षेप में अधिनियम कहा गया है) की धारा 256(1) के अधीन इन 9 निर्देशों में अधिकरण द्वारा इस न्यायालय को सामान्य प्रश्न निर्दिष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है :—

> "क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अधिकरण द्वारा यह अभिनिर्धारित किया जाना सही है कि आवेदक द्वारा 12.8.1960 को किया गया व्यवस्थापन प्रतिसंहरणीय है और इसलिए मै० चेलुवा एण्ड कम्पनी की सम्पूर्ण आय प्रश्नगत निर्धारण वर्ष के लिए आवेदक पर निर्धारण योग्य है।"

इन निर्देशों का उत्तर देने के लिए आवश्यक तथ्य इस प्रकार हैं।

2. निर्धारिती गडी चेलुवरैया चेट्टी नामक एक व्यक्ति है। वह रसल मार्केट बंगलौर में मै० चेलुवा एण्ड कं० के नाम और अभिनाम से चल रही एक कारबारी फर्म का मालिक है। तारीख 12 अगस्त, 1960 को निर्धारिती ने अपनी पत्नी, छह पुत्रियों और अपने दामाद, जिनका नाम चन्द्र मोहन है, के पक्ष में एक व्यवस्थापन विलेख निष्पादित किया जिसके द्वारा उनमें से प्रत्येक को चेलुवा एण्ड कं० के कारबार में 1/9वां अविभक्त अंश दिया गया।

3. 15 मार्च, 1961 को निर्धारिती ने एक भागीदारी फर्म का गठन किया जिसमें वह स्वयं, उसकी पत्नी और छह पुत्रियां भागीदारों के रूप में सम्मिलित हैं। अंतिम दोनों भागीदारों को अवयस्क पुत्रियां होने के कारण भागीदारी के लाभ दिए गए। प्रत्येक भागीदार के पूंजीगत अभिदाय में चेलुवा एण्ड कं० के कारबार में अविभक्त अंश सम्मिलित है जो उन्हें तारीख 12 अगस्त, 1960 के व्यवस्थापन विलेख के अन्तर्गत मिला है।

व्यवस्थापन विलेख का खण्ड 6 इस प्रकार है :—

> "व्यवस्थापक एतद्द्वारा 8वें आदाता को कारबार का प्रबंध करने का वचन देने के प्रतिफलस्वरूप अनुसूचित कारबार में 1/9वां अंश देता है। उस तारीख से कारबार का इस प्रकार प्रबंध न करने की स्थिति में व्यवस्थापक और अन्य आदाता को उसका 1/9वां अंश मिल जाएगा और वे अनुसूचित कारबार के दक्ष प्रबन्ध के लिए आवश्यक इन्तजाम करेंगे। यदि 8वां आदाता बिना किसी अन्तराल के इस तारीख से 10 वर्ष तक की अवधि के लिए कारबार का प्रबन्ध करता है तो वह उसके पश्चात् उपर्युक्त कारबार का प्रबन्ध करने की किसी भी बाध्यता के बिना 1/9वां अंश और लाभ प्राप्त करने का पूरी तरह हकदार होगा।"

4. उपर्युक्त परिवर्णन से यह प्रतीत होगा कि चन्द्रमोहन को उक्त कारबार में 1/9वां हिस्सा इस शर्त पर दिया गया है कि वह कारबार का प्रबन्ध करेगा। उसके इस प्रकार कारबार का प्रबन्ध न करने की स्थिति में अन्य आदाता को उसका 1/9 वां अंश मिल जाएगा और वे कारबार चलाने के लिए आवश्यक इन्तजाम करेंगे। चन्द्रमोहन को उसके श्वसुर से प्राप्त यह दान आकर्षित न कर सका। उसने व्यवस्थापन के निबन्धन स्वीकार नहीं किए और इस कारण 1/9वां अंश स्वयमेव निर्धारिती और दूसरे सातों आदाताओं के पास बराबर-बराबर अनुपात में वापस चला गया और उनमें से प्रत्येक 1/9वां अंश का 1/8वां अंश पाने का हकदार हो गया। इस फर्म की आय पर 31 मार्च, 1963 से प्रारम्भ होने वाली और 31 मार्च, 1969 को समाप्त होने वाली लेखा अवधि के लिए भागीदारी विलेख में उपबंधित उनके लाभ के अंश के अनुसार उक्त भागीदारों पर अलग-अलग कर निर्धारण किया गया।

5. तथापि निर्धारण वर्ष 1972-73 के लिए आय-कर अधिकारी ने मै० चेलुवा एण्ड कं० की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती पर इस आधार पर कर अधिरोपित किया कि उक्त व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है। वर्ष 1972-73 के लिए उक्त आदेश पारित करने के पश्चात् आय-कर अधिकारी ने निर्धारण वर्ष 1963-64 से लेकर 1969-70 के लिए कर निर्धारण पर पुनः विचार किया और मै० चेलुवा एण्ड कं० की सम्पूर्ण आय पर निर्धारिती के व्यक्तिगत निर्धारण में कर निर्धारण किया।

6. निर्धारिती द्वारा उक्त निर्धारण आदेशों के विरुद्ध सहायक आयुक्त (अपील) के समक्ष अपीलें की गईं। सहायक आयुक्त (अपील) ने अपीलें मंजूर कर लीं और फर्म की आय को सुसंगत वर्षों के लिए निर्धारिती के कर निर्धारण में से निकाले जाने का निदेश दिया।

7. विभाग द्वारा अपीलें फाइल किए जाने पर अधिकरण ने सहायक आयुक्त (अपील) के आदेश को उलट दिया और आय-कर अधिकारी के आदेशों को बहाल रखा और अधिकरण ने 1922 के अधिनियम की धारा 16(1)(ग) के उपबंधों को लागू करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है।

8. हम प्रारम्भ में ही यह कहना चाहेंगे कि अधिकरण द्वारा 1922 के अधिनियम की धारा 16(1)(ग) के उपबंधों को लागू किया जाना सही नहीं है। हमारा सम्बन्ध केवल निर्धारण वर्ष 1963-64 से लेकर 1973-74 तक के निर्धारणों से है जो 1 अप्रैल, 1962 को पूरे किए गए हैं, जो कि वह तारीख है जिस तारीख को 1961 का अधिनियम प्रवृत्त हुआ था। अतः उन सुसंगत पूर्व

वर्षों के दौरान, जिनके दौरान फर्म की आय पर कर लगाया जाना ईप्सित है, प्रवृत्त विधि वह विधि होनी चाहिए जो उस मामले में लागू होती हो। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें व्यवस्थापन विलेख की 1961 के अधिनियम के उपबंधों के प्रति निर्देश से परीक्षा करनी होगी जिसे आय-कर अधिकारी द्वारा सही लागू किया गया है।

9. धारा 60 इस प्रकार है :—

> "ऐसी सब आय जो किसी व्यक्ति को अन्तरण के फलस्वरूप, चाहे वह प्रतिसंहरणीय हो या न हो और चाहे वह इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले या पश्चात् किया गया हो, उदभूत होती हो, जहां उन आस्तियों का अन्तरण न हुआ हो जिनसे आय उद्भूत होती है, अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी और उसकी कुल आय में सम्मिलित की जाएगी।"

10. धारा 61 के अनुसार किसी व्यक्ति को आस्तियों के प्रतिसंहरणीय अन्तरण के आधार पर उद्भूत होने वाली सम्पूर्ण आय अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी। धारा 62 में यह कहा गया है कि धारा 61 के उपबंधों को, अर्थात् आस्तियों के प्रतिसंहरणीय अन्तरण के आधार पर अन्तरक की आय में वृद्धि, अन्य बातों के साथ ऐसे अंतरण के आधार पर किसी भी व्यक्ति को उद्भूत होने वाली आय को लागू नहीं किया जाना चाहिए, जो हिताधिकारी के जीवनकाल के दौरान प्रतिसंहरणीय नहीं है या जो 1 अप्रैल, 1961 के पूर्व किया गया है जो छह वर्ष से अधिक की अवधि तक प्रतिसंहरणीय नहीं है। किन्तु धारा 62 की उपधारा (1) के साथ एक ऐसा परन्तुक दिया गया है जो इस शर्त पर लागू होता है कि अन्तरक को किसी भी स्थिति में ऐसी आय से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त न होता हो। तथ्यतः यदि अन्तरक को ऐसे अन्तरण से कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है और भले ही धारा 62 की उपधारा (1) के उपखण्ड (i) या (ii) की शर्तें पूरी हो गई हों तो भी उसे एक प्रतिसंहरणीय न्यास के रूप में माना जाएगा।

11. धारा 63 में इस प्रकार उपबंध किया गया है :—

> "धारा 60, 61 और 62 के और इस धारा के प्रयोजनों के लिए :—
>
> (क) अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि—
>
> (i) उसमें सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है; या

(ii) वह किसी भी रूप में अन्तरक को सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग की वावत शक्तियों को प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: पुन: ग्रहण करने का अधिकार देता है;

(ख) 'अन्तरण' के अन्तर्गत कोई भी व्यवस्थापन, न्यास, प्रसंविदा, करार या ठहराव है।"

12. धारा 63 (ख) में प्रयुक्त 'अन्तरण' शब्द का विस्तार प्रत्येक द्विपक्षीय या बहुपक्षीय संव्यवहारों पर भी होता है। यह शब्द इतना अधिक व्यापक है कि इसके अन्तर्गत व्यवस्थापन, न्यास, प्रसंविदा, करार या ठहराव भी आते हैं।

13. धारा 63 (1) (i) के अन्तर्गत किसी अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि उसमें अन्तरक को सम्पूर्ण आय या आस्तियों या उसके किसी भाग का प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: पुन: अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है। हमारा इस मामले में इसी खण्ड के साथ मुख्यत: सम्बन्ध है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्धन है जो इंडियन इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 16(1)(ग) में नहीं पाया जाता। इस परिवर्धन का प्रभाव निम्नलिखित दो विनिश्चयों के प्रति निर्देश से महसूस किया जा सकता है। **आय-कर आयुक्त** बनाम **जितेन्द्र नाथ मलिक**[1] में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 16 (1)(ग) के संदर्भ में एक व्यवस्थापन विलेख में प्रतिसंहरणीयता खण्ड के विस्तार की परीक्षा की थी। उस विलेख में एक ऐसा खण्ड था जिसके द्वारा न्यास की रकम के एक भाग का संदाय अन्तरक के लिए सुरक्षित रखा गया था। प्रश्न यह उठा कि क्या इस शर्त के कारण न्यास की सम्पूर्ण आय अन्तरक पर निर्धारण योग्य है। उच्च न्यायालय ने नकारात्मक अभिनिर्धारित किया। यह मत व्यक्त किया गया कि व्यवस्थापक की निर्धारण योग्यता का प्रश्न केवल आय के उस भाग की बाबत उठ सकता है जिसके सम्बन्ध में यह पाया जाए कि वह उस दशा में दूसरे व्यक्तियों की आय के दूसरे भाग की निर्धारण योग्यता पर कोई प्रभाव डाले बिना जहां प्रतिसंहरणीयता का कोई प्रश्न नहीं उठता, प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: हितबद्ध है, और व्यवस्थापक को संदेय केवल 400 रुपये ही उसके सम्बन्ध में निर्धारण योग्य हैं।

कलकत्ता उच्च न्यायालय के उपर्युक्त तर्काधार का उच्चतम न्यायालय द्वारा **ऋषिकेष गांगुली** बनाम **आय-कर आयुक्त, कलकत्ता**[2] में अनुमोदन किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने पृ० 165 पर इस प्रकार मत व्यक्त किया है :

---

[1] (1963) 50 आई० टी० आर० 313.

[2] (1971) 92 आई० टी० आर० 160.

"अतः सम्पूर्ण व्यवस्थापन उस स्थिति में धारा 16 (1) (ग) की परिधि के अन्तर्गत नहीं आएगा यदि उसकी प्रतिसंहरणीयता आय के केवल एक भाग से सम्बधित हो। देखिए आय-कर आयुक्त बनाम **जितेन्द्र नाथ मलिक** [(1963) 50 आई० टी० आर० 323 (कलकत्ता)]। हम कलकत्ता उच्च न्यायालय के उपर्युक्त दृष्टिकोण के साथ पूरी तरह सहमत हैं और हमारा यह विचार है कि उसका रानी भुवनेश्वरी कुंअर के मामले में [(1964) 7 एस० सी० आर० 920 (एस० सी०)] इस न्यायालय के विनिश्चय से समर्थन होता है। हम आय-कर अधिनियम, 1961 में प्रतिसंहरणीय अन्तरणों के बारे में भाषा में किए गए महत्वपूर्ण परिवर्तन के प्रति भी निर्देश कर सकते हैं। उक्त अधिनियम की धारा 63 में इस प्रकार उपबंध किया गया है :—

'धारा 60, 61 और 62 के और इस धारा के प्रयोजनों के लिए :—

(क) अन्तरण के बारे में यह समझा जाएगा कि वह प्रतिसंहरणीय है यदि,

(i) उसमें सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियां या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है, या

(ii) वह किसी भी रूप में अन्तरक को सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियां या उसके अथवा उनके किसी भाग की बाबत शक्तियों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः पुनः ग्रहण करने का अधिकार देता है;……।'

अतः यह भली-भांति कहा जा सकता है कि 'आय के भाग का' शब्दों का अभिव्यक्त रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई क्योंकि उस अधिनियम के उपबंधों के अधीन आय का वह भाग उसके अन्तर्गत नहीं आता है।"

उच्चतम न्यायालय की उपर्युक्त मताभिव्यक्ति से यह बात स्पष्ट है कि धारा 63 (1) (i) की भाषा में किए गए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष से बचने की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि किसी अन्तरण में सम्पूर्ण आय अथवा आस्तियों या उसके अथवा उनके किसी भाग का अन्तरक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुनः अन्तरण करने के लिए कोई उपबंध अन्तर्विष्ट है तो ऐसा अन्तरण प्रतिसंहरणीय समझा जाएगा। प्रस्तुत मामला पूरी तरह से और स्पष्ट रूप से अधिनियम की धारा 63 (क) (i) के अन्तर्गत आता है।

14. हमारे इस दृष्टिकोण का **के० सुब्रमण्य पिल्लाई** बनाम **कृषि आय-कर अधिकारी, थक्कले**[1], में मद्रास उच्च न्यायालय के विनिश्चय से समर्थन होता है। उक्त मामले में मद्रास उच्च न्यायालय ने एक ऐसे व्यवस्थापन विलेख पर विचार किया है जिसमें त्रावणकोर कोचीन एग्रीकल्चरल इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1950 की धारा 9 (1) के प्रति निर्देश से एक प्रतिसंहरणीय खण्ड अन्तर्विष्ट है जो इन्कम-टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 16 (1) (ग) के समान है।

15. तारीख 12 अगस्त, 1960 के व्यवस्थापन विलेख के खण्ड (6) में अन्तरक ने चन्द्रमोहन को चेलुवा एण्ड कं० के कारबार का प्रबन्ध करने के वचन के प्रतिफलस्वरूप उस कारबार में 1/9 वां हिस्सा दिया था। इस खण्ड में यह भी दिया गया है कि उसके उस तारीख से कारबार का इस प्रकार प्रबन्ध न करने की स्थिति में अन्तरक और अन्य आदाताओं को उसका 1/9 वां हिस्सा मिल जाएगा और वे उक्त कारबार का दक्ष प्रबन्ध करने के लिए आवश्यक इन्तजाम करेंगे। दूसरे शब्दों में व्यवस्थापन विलेख में यह उपबंध किया गया है कि चन्द्रमोहन के चेलुवा एण्ड कं० के कारबार के प्रबन्ध का नियंत्रण न संभालने की स्थिति में उसका हिस्सा अन्य आदाताओं और अन्तरक को वापस लौट जाएगा। इस प्रकार व्यवस्थापन विलेख में आस्तियों के एक भाग का अन्तरक को प्रत्यक्षतः पुनः अन्तरण करने के लिए एक उपबंध अन्तर्विष्ट है। अन्तरक ने अपनी पत्नी और छह पुत्रियों सहित उस अंश में बराबर-बराबर अंश प्राप्त किए जो चन्द्रमोहन से पुनः अन्तरित हो गए हैं। इस प्रकार मामले के इस पहलू के बारे में किसी भी प्रकार का कोई सन्देह या विवाद नहीं रह सकता क्योंकि व्यवस्थापन विलेख के निबन्धन अधिक स्पष्ट हैं। तत्पश्चात् धारा 61 में यह कहा गया है कि ऐसी सब आय जो किसी व्यक्ति को आस्तियों के प्रतिसंहरणीय अन्तरण के फलस्वरूप प्रोद्भूत होती है, अन्तरक की आय के रूप में आय-कर से प्रभार्य होगी और उसकी कुल आय में सम्मिलित की जायेगी। अतः चेलुवा एण्ड कं० की सम्पूर्ण आय उसकी कुल आय में सम्मिलित किए जाने और कर लगाए जाने योग्य है और वह व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के अनुसार दूसरे अंशधारियों पर कर लगाए जाने योग्य नहीं है। प्रस्तुत मामले में भागीदारी विलेख पर विचार करना वास्तव में अनावश्यक है क्योंकि भागीदारी विलेख से तारीख 12 अगस्त, 1960 के व्यवस्थापन विलेख के प्रति निर्देश होता है और उस भागीदारी विलेख के अधीन कारबार के लाभ उस अंश के अनुसार विभाजित किए जाने अपेक्षित हैं जिसके लिए भागीदार व्यवस्थापन विलेख के अन्तर्गत हकदार हैं। अतः भागीदारी विलेख इस बात का अवधारण करने के प्रयोजन के लिए एक सुसंगत दस्तावेज

---

[1] (1964) 53 आई० टी० आर० 764.

नहीं है कि क्या व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है या नहीं।

16. तथापि निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल श्री सारंगन ने यह दलील दी है कि प्रतिसंहरणीय अन्तरण केवल चन्द्रमोहन के अंश तक ही सीमित है और इसलिए केवल उसकी अंश रकम ही निर्धारिती की कुल आय में सम्मिलित की जाएगी और वह आय सम्मिलित नहीं की जाएगी जिसके लिए दूसरे अंशधारी हकदार हैं। हम समझते हैं कि इस दलील को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक हम विद्वान् काउन्सेल की इस बात के साथ सहमत न हों कि व्यवस्थापन विलेख में नौ अलग-अलग अन्तरण अन्तर्विष्ट हैं। यदि हम इस विलेख का परिशीलन करते हैं तो विद्वान् काउन्सेल की इस दलील का समर्थन करना असम्भव होगा कि इस विलेख में नौ अलग-अलग अन्तरण अन्तर्विष्ट हैं। व्यवस्थापक ने प्रत्येक आदाता को अनुसूचित कारबार में अपने पास उसमें से एक अविभक्त 1/9 वां हिस्सा रखते हुए शेष अविभक्त 1/9 वां हिस्सा प्रत्येक को देने का विनिश्चय किया है। अत: अन्तरण एक और अविभक्त है और उसे एक प्रतिसंहरणीय अन्तरण के रूप में माना जाएगा।

17. तत्पश्चात् श्री सारंगन ने यह दलील दी है कि व्यवस्थापन विलेख में प्रतिसंहरणीयता के बारे में शर्त भागीदारी बनाए जाने से पूर्व ही रखी गई है और इसलिए प्रतिसंहरणीयता के खण्ड को निर्धारिती के ऊपर फर्म की आय का निर्धारण करने के प्रयोजन के लिए लागू नहीं किया जाना चाहिए। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि भागीदारी की आस्तियों के सम्बन्ध में व्यवस्थापन विलेख के प्रति निर्देश किए बिना अगल-अलग रूप से विचार नहीं किया जा सकता। आदाता व्यवस्थापन विलेख के अधीन उन्हें दिए गए अपने अविभक्त अंश का विनिधान करते हुए फर्म के भागीदार बन गए हैं। अत: भागीदारी विलेख पर व्यवस्थापन विलेख के प्रति निर्देश किए बिना स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया जा सकता।

18. तत्पश्चात् यह दलील दी गई है कि अधिनियम की धारा 60 से 63 का अवलम्ब लेने के लिए प्रत्येक वर्ष की घटनाओं को देखा जाना और विचार किया जाना चाहिए और भागीदारी फर्म के गठन के पश्चात् सभी वर्षों के लिए व्यवस्थापन विलेख में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो प्रतिसंहरणीय हो और इसलिए भागीदारी कारबार के निर्धारण के बारे में धारा 60 से 63 लागू नहीं होती क्योंकि प्रतिसंहरण व्यवस्थापन की तारीख के एक मास के पश्चात् ही तुरन्त प्रभावी हुआ है। अत: इस दलील में भी कोई सार नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि जब अन्तरण प्रतिसंहरणीय बन गया तब चेलुवा एण्ड कम्पनी की आय तत्पश्चात् व्यवस्थापन विलेख या भागीदारी विलेख के होते हुए भी अन्तरक की आय के रूप में आय-कर के लिए प्रभार्य होगी।

19. निर्धारिती द्वारा 12 अगस्त, 1960 को निष्पादित किए गए व्यवस्थापन विलेख के खण्डों का अधिनियम की धारा 60 से 63 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए सावधानीपूर्वक विशलेषण करने के पश्चात् हमारा यह दृढ़ मत है कि व्यवस्थापन विलेख प्रतिसंहरणीय है और हम इस प्रश्न का प्रत्येक निर्देश में सकारात्मक और निर्धारिती के विरुद्ध उत्तर देते हैं।

20. मामले की परिस्थितियों में हम खर्च के बारे में कोई आदेश नहीं करतें।

निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक और
निर्धारिती के विरुद्ध उत्तर दिया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : कर्नाटक—72

बी० जनार्दन भट्ट बनाम ललिता

(B. Janardhana Bhat *Vs.* Lalitha)

तारीख 8 अगस्त, 1983

[न्या० जी० एन० सभाहित और आर० एस० महेंद्र]

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—धारा 12(1)(ग) सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, आदेश 7 नियम 11—शून्यकरणीय विवाह—पति द्वारा पत्नी की चित्त-विकृति के आधार पर विवाह को अकृतता की डिक्री द्वारा बातिल किए जाने के लिए किए गए आवेदन को प्रथमदृष्ट्या और प्रकटतः तुच्छ और तंग करने वाला नहीं कहा जा सकता—तथापि यह साबित करने का भार पति पर है कि पत्नी उस समय, जब विवाह का प्रस्ताव रखा गया था, पागलपन से ग्रस्त थी और इस तथ्य को उससे छिपाया गया है—अतः सिविल न्यायाधीश द्वारा पति के पिटीशन को तुच्छ और तंग करने वाला होने के आधार पर नामंजूर किया जाना अनधिकृत और विधि की दृष्टि में अमान्य होगा।

2. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 7 नियम 11 सपठित हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 धारा 12(1)(ग)—वाद का प्रतिक्षेपण—पति द्वारा पत्नी की चित्त-विकृति के आधार पर विवाह को अकृतता की डिक्री द्वारा बातिल किए जाने के लिए किए गए आवेदन को प्रथमदृष्ट्या और प्रकटतः तुच्छ और तंग करने वाला नहीं कहा जा सकता—तथापि यह साबित करने का भार पति पर है

विनियम उस समय प्रवृत्त था जबकि पिटीशनर को एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में प्रवेश दिया गया था, यह स्पष्ट दर्शित करता है कि विद्यार्थी को परीक्षा पास करने के लिए, अनुपूरक परीक्षा को शामिल करते हुए, चार अवसर मिलेंगे, जिनमें असफल रहने के पश्चात् उसे चिकित्सा पाठ्यक्रम छोड़ देना पड़ेगा। उम्मीदवार को उतनी फीस का संदाय करने और प्रधानाचार्य के समाधानपर्यन्त फीस भेजे जाने पर अनुपूरक/अगली वार्षिक परीक्षा में बैठने के लिए अनुज्ञात किया जायेगा। मेरी राय में उक्त उपबंध यह बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि एक विद्यार्थी को परीक्षा पास करने के लिए चार अवसर मिलेंगे और ऐसे अवसरों से वे अवसर अभिप्रेत नहीं हैं जिसका लाभ परीक्षा में बैठकर उम्मीदवार द्वारा वस्तुतः उठाया जाता है। मेरी राय में अवसर से, परीक्षा में बैठने अथवा/और पास करने का अवसर अभिप्रेत है। नियम 4 के सबसे नीचे लिखित इस कथन से कि अवसर का लाभ उठाने वाले प्रत्येक उम्मीदवार के लिए एक रजिस्टर/डोजियर तैयार किया जायेगा, यह अभिप्रेत नहीं है कि अवसर की केवल तभी गिनती की जायेगी यदि उम्मीदवार वस्तुतः परीक्षा में बैठने के अवसर का वस्तुतः लाभ उठाता है। (मेरी राय में) उक्त अभिव्यक्ति से केवल यह अभिप्रेत है कि यदि कोई उम्मीदवार किसी अवसर का वस्तुतः लाभ उठाता है किन्तु असफल हो जाता है तो ऐसे असफल उम्मीदवारों के लिए, जिन्होंने परीक्षा में बैठने का लाभ उठाया था, एक रजिस्टर/डोजियर बनाकर रखा जायेगा। पूर्वोक्त परिस्थितियों में प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम के लिए विरचित नियम यह बिल्कुल स्पष्ट अधिकथित करता है कि विद्यार्थी प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम पास करने के लिए, अनुपूरक परीक्षा को शामिल करते हुए, चार अवसर प्राप्त करेगा, जिनमें असफल होने पर उसे चिकित्सा पाठ्यक्रम छोड़ना पड़ेगा। ऐसी परिस्थितियों में भविष्यलक्षी रूप से संशोधित निमम के लागू करने का कोई प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता क्योंकि पुराने नियम के अधीन उम्मीदवार के लिए चार अवसरों में ही परीक्षा पास कर लेना अपेक्षित था और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अवसर से परीक्षा में बैठने और पास करने का अवसर अभिप्रेत है और इससे वस्तुतः परीक्षा में बैठने का अवसर अभिप्रेत नहीं है।

6. तथापि, श्री चक्रवर्ती ने यह दलील दी कि यदि कलकत्ता विश्वविद्यालय के नियम से वस्तुतः यह अभिप्रेत है कि उम्मीदवार को केवल चार अवसर ही मिलेंगे—चाहे वह ऐसी परीक्षा में बैठता है अथवा नहीं बैठता तो इस नियम को अत्यंत अयुक्तियुक्त और कठोर नियम समझा जाना चाहिए और ऐसा नियम अयुक्तियुक्त रूप से कठोर होने और किसी प्रकार की भी तार्किक

प्रासंगिकता से रहित होने के कारण संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का अतिक्रमण करता है। उन्होंने यह निवेदन किया कि यदि कोई उम्मीदवार; जो अपने नियंत्रण से परे असंभावित कारणों से अर्थात् अपनी गंभीर या लंबी बीमारी के कारण अथवा किसी दुर्घटना में क्षतिग्रस्त होने के कारण या अपनी शक्ति से बाहर किसी अन्य कारण से परीक्षा में बैठने की स्थिति में नहीं है और इस प्रकार से प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में बैठने और इस परीक्षा को पास करने के चारों अवसरों को खो देता है तो उसे उक्त अध्ययन छोड़ने के लिए विवश कर दिया जायेगा। श्री चक्रवर्ती की दलील है कि ऐसे नियम को अयुक्तियुक्त अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए। उन्होंने यह दलील दी कि पिटीशनर के इस मामले में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अवर स्नातक अध्ययन परिषद् के सचिव ने विनिर्दिष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि कुलाधिपति को भेजे गये पिटीशनर के अभ्यावेदन पर इसलिए भी विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० अध्ययन जारी रखने में पिटीशनर को अनुज्ञा देने के रास्ते में उक्त नियम बाधक है। इसलिए श्री चक्रवर्ती यह दलील देते हैं कि विश्वविद्यालय प्राधिकारी इस आधार पर आगे कार्यवाही कर रहे हैं कि उक्त नियम अनमनीय है और इसमें किसी प्रकार की शिथिलता अनुज्ञेय नहीं है। अतः उनका निवेदन है कि इस नियम को अयुक्तियुक्त रूप से कठोर होने के कारण असंवैधानिक घोषित किया जाना चाहिए।

7. कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से उत्तर में फाइल किए गये शपथ-पत्र में यह कहा गया है कि यद्यपि नियम के अधीन उम्मीदवार को एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम उसे उपलब्ध चार अवसरों में ही पास करना होता है और उसे इस अध्ययन को छोड़ देना होगा यदि वह प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को उक्त चार अवसरों में पास करने में असफल हो जाता है; किन्तु समुचित मामलों में जहां कि कुछ अज्ञात कठिनाइयों के कारण उम्मीदवार चार अवसरों का लाभ नहीं उठा सका और प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम चार अवसरों के अंदर पास नहीं कर सका तो सिंडीकेट को नियम को शिथिल करने की शक्ति है।

8. कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री मुखर्जी ने यह निवेदन किया है कि कुलाधिपति सिंडीकेट का अध्यक्ष है और सिंडीकेट को किसी भी समुचित मामले में नियम के किसी भी उपबंध को शिथिल करने की शक्ति है और वस्तुतः ऐसी शक्ति का प्रयोग किया भी गया है। उन्होंने यह निवेदन किया कि हाल ही में नेशनल मेडिकल

कालिज के विद्यार्थियों में से एक विद्यार्थी प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को चार अवसरों के भीतर इसलिए पास नहीं कर सका था क्योंकि वह तपेदिक से ग्रस्त था और उसने उसके मामले में विशेष सहानुभूति के तौर पर उक्त नियम को शिथिल करने के लिए सिंडीकेट को अभ्यावेदन किया था तथा विश्वविद्यालय के विधि अधिकारी ने सिंडीकेट के विचारार्थ उक्त अभ्यावेदन अग्रेषित कर दिया था। अतः उनका निवेदन है कि यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उक्त नियम अनमनीय है और किसी भी दशा में उक्त नियम पर विचार करना अनुज्ञेय नहीं है। अतः न्यायालय को उक्त नियम को अयुक्तियुक्त रूप से कठोर और इस प्रकार से, जैसा कि पिटीशनर द्वारा दलील दी गई है, संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का अतिक्रमणकारी अभिनिर्धारित करने का कोई अवसर नहीं है। श्री मुखर्जी ने यह और दलील दी है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय को शैक्षणिक पाठ्यक्रम तथा उक्त विश्वविद्यालय के अधीन अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की परीक्षा को विनियमित करने की शक्ति होती है और इस क्षेत्र में विश्वविद्यालय को स्वतंत्रता होनी चाहिए और न्यायालयों को शैक्षणिक पाठ्यक्रमों और परीक्षाओं को विनियमित करने के लिए विश्वविद्यालय द्वारा विरचित नियमों और विनियमों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन्होंने यह दलील भी दी कि प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को पास करने के लिए उम्मीदवारों द्वारा लगातार चार अवसरों का लाभ उठाने से संबंधित नियम पर अन्य कुछ विद्यार्थियों द्वारा किए गये कुछ पूर्ववर्ती रिट पिटीशनों में इस न्यायालय के समक्ष विचार किया गया था और आज तक इस न्यायालय ने लगातार यह अभिनिर्धारित किया है कि ऐसा विनियम विधिमान्य है और इसमें कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं। अतः श्री मुखर्जी ने यह निवेदन किया कि उक्त नियम इस न्यायालय द्वारा मात्र इस आधार पर नामंजूर नहीं किया जाना चाहिए कि यह नियम अत्यंत अयुक्तियुक्त और कठोर है जो संविधान के अनुच्छेद 14 और 19 का अतिक्रमण करता है।

9. पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेलों द्वारा दी गई दलीलों पर विचार करने के पश्चात् मुझे यह प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालयों को उसके अधीन अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों द्वारा अध्ययन किये जाने के लिए शैक्षणिक पाठ्यक्रमों को नियंत्रित करने वाले नियम तथा विनियम विरचित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। यह आशा नहीं की जा सकती कि ऐसे नियम सभी विश्वविद्यालयों में एक जैसे ही होंगे किन्तु साथ ही कोई विश्वविद्यालय ऐसा नियम विरचित नहीं कर सकता जो बिल्कुल ही

अयुक्तियुक्त और अत्यंत कठोर हो और जिसका प्रायः किसी भी अन्य विश्वविद्यालय द्वारा अनुसरण नहीं किया जाता है। तथापि, कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा किये गये निवेदन से और विश्वविद्यालय की ओर से फाइल किये गये शपथ-पत्र से भी मुझे यह प्रतीत होता है कि प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को पास करने के लिए चार अवसरों या चार लगातार अवसरों का उक्त नियम एक सामान्य नियम है और यह सभी मामलों को एक जैसे ही तौर पर लागू किया जाता है किन्तु उक्त नियम अनमनीय नहीं है और किसी समुचित मामले में यदि विश्वविद्यालय प्राधिकारियों को यह प्रतीत होता है कि उम्मीदवार उक्त परीक्षा को चार अवसरों में पास नहीं कर सका और प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम को पास करने के लिए चार अवसरों का लाभ अपने नियंत्रण से परे कारणों से नहीं उठा सका और उसे असंभावित और अत्यंत कठिनाई हुई है तो सिंडीकेट ऐसा विनिश्चय कर सकता है जिसके द्वारा उक्त नियम के उपबंध शिथिल किये जा सकते हैं। पूर्वोक्त परिस्थितियों में इस रिट पिटीशन में कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मुझे यह प्रतीत होता है कि पिटीशनर के अभ्यावेदन पर सिंडीकेट द्वारा विचार नहीं किया गया क्योंकि संबंधित प्राधिकारियों ने इस आधार पर कार्यवाही की है कि प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम चार अवसरों में पास करने के उक्त नियम को देखते हुए पिटीशनर के अभ्यावेदन पर विचार नहीं किया जा सकता। यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि पिटीशनर ने अपने मामले पर गुणता के आधार पर विचार करवाये जाने का मामला अपनी अस्वस्थता और अपने पिताजी की अस्वस्थता के आधार पर सिद्ध कर दिया है। अतः यह वांछनीय है कि पिटीशनर के अभ्यावेदन पर सिंडीकेट द्वारा विचार किया जाए जिसके बारे में मुझे यह बताया गया है कि उसे समुचित मामलों में शिथलीकरण की शक्ति है। अभ्यावेदन पर ऐसा विचार यथासंभव शीघ्र और अच्छा हो कि उन कठिनाइयों पर जोर देते हुए पिटीशनर द्वारा किये जाने वाले अंतिम अभ्यावेदन की तारीख से दो मास के भीतर किया जाय, जिन (कठिनाइयों) के कारण पिटीशनर प्रथम वृत्तिक एम० बी० बी० एस० परीक्षा पास नहीं कर सका और/अथवा ऐसी परीक्षा में बैठने के अवसरों का लाभ नहीं उठा सका।

10. तद्नुसार यह पिटीशन खारिज किया जाता है।

पिटीशन खारिज किया गया।

श०

नि० प० 1984 : कलकत्ता—69

कानू शर्मा बनाम श्यामप्दा शर्मा

(Kanu Sharma *Vs.* Shyamapda Sharma)

तारीख 30 जनवरी, 1984

[न्या० जी० एन० रे और प्रबीर कुमार मजूमदार]

इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925—धारा 287 सपठित धारा 288—विल के बारे में प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए जिला डेलिगेट' के समक्ष आवेदन किया जाना—जिला डेलिगेट का पेश किये गये साक्ष्य के आधार पर समाधान न होना—ऐसी दशा में जिला डेलिगेट को उक्त आवेदन को नामंजूर करने की शक्ति नहीं है—इसके विपरीत वह आवेदन तथा संबंधित सामग्री अधिनियम की धारा 288 के अधीन जिला न्यायाधीश के विचारार्थ पेश किये जाने के लिए आवेदक को वापस कर दी जानी चाहिए।

पिटीशनर ने एक विल के बारे में प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए 'जिला डेलिगेट' के समक्ष आवेदन किया। इस आवेदन का विरोधी पक्षकारों द्वारा कोई प्रतिवाद नहीं किया गया बल्कि विरोधी पक्षकार की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने पिटीशनर की दलीलों का ही समर्थन किया। 'जिला डेलिगेट' का पेश किये गये साक्षियों और प्रस्तुत किए गये साक्ष्य के आधार पर समाधान नहीं हुआ था और इसलिए उसने उक्त आवेदन को नामंजूर कर दिया।

पिटीशनर ने इसी आदेश के विरुद्ध सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अधीन यह पिटीशन फाइल किया है। उसने यह दलील दी है कि इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 287 और 288 के अनुसार यदि जिला डेलिगेट का प्रोबेट मंजूर करने के लिए किये गये आवेदन से संबंधित साक्ष्य के बारे में समाधान नहीं होता है तो उसे उक्त अधिनियम की धारा 288 के अधीन आवेदन तथा संबंधित दस्तावेज पिटीशनर को वापस कर देनी चाहिए ताकि उन्हें जिला न्यायाधीश के समक्ष गुणागुण के आधार पर निपटारा करने के लिए पेश किया जा सके। 'जिला डेलिगेट' ऐसे आवेदन को अपने तौर पर ही नामंजूर नहीं कर सकता।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

'जिला डेलिगेट' किसी अपील के बारे में प्रोबेट मंजूर करने के लिए किये गये आवेदन को नामंजूर नहीं कर सकता, भले ही वह आवेदक द्वारा सिद्ध किये गये मामले से संतुष्ट नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में 'जिला डेलिगेट' को उक्त आवेदन, संबंधित दस्तावेजों के साथ, जिला न्यायाधीश के समक्ष पेश किये जाने के लिए आवेदक को वापस कर देना चाहिए और जिला न्यायाधीश पक्षकारों की सुनवाई के पश्चात् या तो प्रोबेट मंजूर कर सकेगा अथवा ऐसा प्रोबेट मंजूर करने से इन्कार कर सकेगा। (पैरा 2)

जहां 'जिला डेलिगेट' का विल के बारे में प्रोबेट मंजूर करने के लिए उसके समक्ष पेश किये गये साक्ष्य के आधार पर समाधान नहीं होता है वहां उसके लिए ऐसे आवेदन को नामंजूर करना उचित नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में जिला डेलिगेट को इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 288 के अधीन संबंधित दस्तावेजों सहित उक्त आवेदन जिला न्यायाधीश के समक्ष पेश किये जाने के लिए आवेदक को वापस कर दिया जाना चाहिए था। (पैरा 2)

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1983 का सिविल पुनरीक्षण वाद संख्या 176.

सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 की धारा 115 के अधीन आवेदन।

आवेदक की ओर से ... सर्वश्री अल्तनाश कगीर और प्रदीप भट्टाचार्य

विरोधी पक्षकार की ओर से ... श्री हुमायु कबीर।

न्यायालय का निर्णय न्या० जी० एन० रे ने दिया।

न्या० रे :

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अधीन यह पुनरीक्षण-आवेदन तारीख 7 मई, 1983 और 11 जून, 1983 के आदेश संख्या क्रमश 24 और 26 के विरुद्ध फाइल किया गया है। ये दोनों आदेश 'जिला डेलिगेट' की हैसियत में सिरामपुर के विद्वान् मुंसिफ (द्वितीय न्यायालय) द्वारा 1980 के प्रकीर्ण मामले सं० 197 में और 1983 के पुनरीक्षण मामले संख्या 139 में पारित किये गये थे। इन आदेशों के द्वारा प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए पिटीशनर के आवेदन को नामंजूर कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि पिटीशनर ने विद्वान् मुंसिफ, द्वितीय न्यायालय, सिरामपुर के समक्ष, जो इंडियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 276 जिला डेलिगेट की हैसियत में काम कर

रहे थे, उस विल के बारे में प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए किये गये पिटीशनर ने आवेदन किया था, जिस विल के बारे में यह कहा गया है कि वह एक व्यक्ति सतीश चन्द्र शर्मा द्वारा 9 मई, 1979 को निष्पादित की गई थी। उस आवेदन के आधार पर 1980 का प्रकीर्ण मामले संख्या 197 उक्त, 'जिला डेलीगेट' के समक्ष प्रारंभ किया गया था। यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पिटीशनर के आवेदन में विरोधी पक्षकारों ने, जो उक्त विल के निष्पादकों के निकटतम संबंधी हैं, प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए पिटीशनर के आवेदन का प्रतिवाद नहीं किया और ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन्होंने उक्त विल के बारे में प्रोबेट मंजूर कर दिये जाने के संबंध में अपनी सहमती दे दी थी। उक्त प्रकीर्ण मामला एक-पक्षीय सुनवाई के विद्वान् 'जिला डेलिगेट', सिरामपुर के समक्ष 7 मई, 1983 के लिए नियत किया गया था। पिटीशनर ने वादी साक्षी संख्या 1 के रूप में अपनी परीक्षा करवाई तथा उक्त विल का अनुप्रमाणन करने वाले दो साक्षियों की परीक्षा वादी साक्षी सं० 2 और 3 के रूप में की गई थी। यह भी प्रतीत होता है कि उक्त साक्षियों की परीक्षा के पश्चात् उक्त प्रकीर्ण मामले की आगे सुनवाई के स्थगन के लिए पिटीशनर द्वारा आवेदन किया गया था ताकि पिटीशनर अन्य साक्षियों का नाम भी उधृत कर सके, विशेषकर उक्त विल के लेखक का नाम। ऐसा प्रतीत होता है कि 'जिला डेलिगेट' ने स्थगन के लिए की गई उक्त प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया था और उक्त साक्षियों द्वारा पेश किये गये साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् 'जिला डेलिगेट' ने 7 मई, 1983 के अपने आदेश संख्या 24 के द्वारा पूर्वोक्त विल के बारे में प्रोबेट मंजूर करने के लिए किये गये पिटीशनर के आवेदन को नामंजूर कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्पश्चात् पिटीशनर ने उक्त आदेश के पुर्नविलोकन के लिए आवेदन किया और पिटीशनर ने उक्त आवेदन में यह दलील दी कि 'जिला डेलिगेट' प्रोबेट मंजूर करने के लिए किया गया उक्त आवेदन खारिज नहीं कर सके थे और यदि उन्हें प्रोबेट मंजूर करने के बाद में कोई संदेह था तो उन्हें यह मामला निपटाने के लिए विद्वान् जिला न्यायाधीश को निर्दिष्ट करना चाहिए था। तथापि, यह प्रतीत होता है कि विद्वान् जिला डेलिगेट ने पुर्नविलोकन के लिए किये गये उक्त आवेदन को इस निष्कर्ष के आधार पर नामंजूर कर दिया कि उसे प्रोबेट मंजूर करने से इन्कार करने की अधिकारिता थी, भले ही इस आवेदन पर प्रतिवाद नहीं किया गया था और पिटीशनर को उसके उक्त आदेश के विरुद्ध अपील करने का अवसर उपलब्ध था और इसलिए उसके आदेश का पुर्नविलोकन करने का कोई प्रश्न नहीं था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'जिला डेलिगेट' के उक्त दोनों आदेशों के विरुद्ध यह पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया गया है। उक्त पुनरीक्षण आवेदन पर इस न्यायालय द्वारा कोई आदेश

जारी नहीं किया गया था किन्तु यह निदेश दिया गया था कि पुनरीक्षण आवेदन की सुनवाई विरोधी पक्षकारों पर नोटिस की तामील के पश्चात् एक प्रतिपादित आवेदन के रूप में की जायेगी। ऐसे निदेश के परिणामस्वरूप पुनरीक्षण आवेदन की एक प्रति के साथ नोटिस की तामील विरोधी पक्षकारों पर की गई थी और विद्वान् काउन्सेल भी उक्त विरोधी पक्षकारों की ओर से हाजिर हुए हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि विरोधी पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने पुनरीक्षण आवेदन का विरोध नहीं किया। इसके प्रतिकूल विद्वान् काउन्सेल ने इस पुनरीक्षण की सुनवाई के समय पिटीशनर की दलीलों का समर्थन किया।

2. पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री कबीर ने यह दलील दी है कि इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 287 के अधीन 'जिला डेलिगेट' प्रोबेट या प्रशासन-पत्र मंजूर कर सकता है, यदि इसका कोई प्रतिवाद न हो और यदि 'जिला डेलिगेट' को इस बारे में कोई संदेह है कि क्या प्रोबेट दिया जाना चाहिए अथवा नहीं अथवा यदि ऐसे मामले में वह उचित समझता है, तो जिला डेलिगेट प्रश्नगत मामले के कथन को जिला न्यायाधीश के पास भेज सकता है। जिला न्यायाधीश, ऐसे निर्देश पर, जिला डेलिगेट को प्रोबेट मंजूर करने के लिए किये गये आवेदन के निपटारे के प्रयोजन के लिए ऐसे अनुदेश दे सकेगा जैसा उन्हें न्यायोचित और समुचित प्रतीत हो। जिला न्यायाधीश, जिला डेलिगेट को और कोई आगे कार्रवाई करने से भी निषिद्ध कर सकेगा और इस प्रकार प्रोबेट मंजूर करने के लिए आवेदन करने वाले पक्षकार को जिला न्यायाधीश के समक्ष आवेदन करने की स्वतंत्रता होगी। श्री कबीर ने इस न्यायालय का ध्यान इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 288 की ओर भी आकृष्ट किया है जिसमें यह उपबंध किया गया है कि ऐसे मामले में, जहां प्रतिवाद किया गया हो अथवा जहां जिला डेलिगेट की राय है कि प्रोबेट अथवा प्रशासन पत्र मंजूर करने से इन्कार किया जाना चाहिए तो वह पिटीशन ऐसे किसी दस्तावेज के साथ जो उसके साथ, फाइल किया गया था, उस व्यक्ति को वापस कर दिया जायेगा जिसने आवेदन किया था ताकि वह सब कुछ सामग्री जिला न्यायाधीश के समक्ष पेश की जा सके। तथापि, 'जिला डेलिगेट' आवेदक को दस्तावेज वापस किये जाने से पूर्व किसी दस्तावेज को परिबद्ध (इम्पाउंड) कर सकेगा। श्री कबीर ने यह दलील दी है कि प्रस्तुत मामले में यह प्रतीत होता है कि उक्त विल के संबंध में प्रोबेट मंजूर करने के लिए उनके समक्ष पेश किये गये साक्ष्य के आधार पर जिला डेलिगेट का समाधान नहीं हुआ था। तदनुसार जिला डेलिगेट को प्रोबेट मंजूर करने के

लिए किये गये आवेदन को इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 288 के उपबंधों के अनुसार जिला न्यायाधीश के समक्ष पेश किये जाने के लिए वह सामग्री आवेदक को वापस कर देनी चाहिए थी। उन्होंने यह दलील दी है कि 'जिला डेलिगेट' के लिए गुणागुण के आधार पर आवेदन नामंजूर करना उचित नहीं था। श्री कबीर ने यह भी दलील दी है कि जिला डेलिगेट प्रोबेट मंजूर करने के लिये किये गये आवेदन को खारिज करने के लिए प्राधिकृत नहीं है किन्तु जिला न्यायाधीश के समक्ष वह आवेदन पेश करने के लिए उसे वापस करने के लिए प्राधिकृत है, यदि वह ऐसे मामले में प्रोबेट मंजूर नहीं करना चाहता। जहां कि उक्त आवेदन का प्रतिवाद नहीं किया गया है जिला डेलिगेट द्वारा पारित आदेश के विरुद्ध अपील का कोई उपबंध नहीं है, भले ही जिला डेलिगेट ने इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की धारा 288 का उल्लंघन करते हुए प्रोबेट मंजूर करने के लिए किये गये आवेदन को नामंजूर कर दिया हो, जैसा कि प्रस्तुत मामले में किया गया है। तथापि, पक्षकार के आवेदन पर प्रोबेट मंजूर करने से इन्कार करते हुए जिला न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध अपील का उपबंध है। हमारी राय में श्री कबीर की दलील में बहुत सार है और उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट, 1925 की स्कीम से हमें यह प्रतीत होता है कि जिला डेलिगेट प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए किये गये आवेदन को नामंजूर नहीं कर सकता, यदि उसका यह समाधान होता है कि आवेदक ने प्रोबेट मंजूर करने के लिए कोई मामला सिद्ध नहीं किया है। ऐसी परिस्थितियों में जिला डेलिगेट को प्रोबेट मंजूर किये जाने के लिए किये गये आवेदन को अन्य दस्तावेजों के साथ, जिला न्यायाधीश के समक्ष पेश किये जाने के प्रयोजन के लिए, वापस कर देना चाहिए था और जिला न्यायाधीश पक्षकारों की सुनवाई के पश्चात् या तो प्रोबेट मंजूर करेगा अथवा प्रोबेट मंजूर करने से इन्कार करेगा। इन परिस्थितियों में उन दोनों आदेशों को अपास्त किया जाता है जिनके विरुद्ध यह शिकायत की गई है और जिला डेलिगेट को यह निदेश दिया जाता है कि वह प्रोबेट मंजूर करने के लिए पिटीशनर द्वारा किये गये आवेदन को उन सभी दस्तावेजों के साथ, जो पिटीशनर द्वारा फाइल किये गये हैं, वापस कर दे ताकि यह सब सामग्री गुणागुण के आधार पर विचार करने के लिए जिला न्यायाधीश के समक्ष पेश की जा सके।

3. पुनरीक्षण आवेदन तद्नुसार निपटाया जाता है।

4. खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।

न्या० पी० कुमार मजूमदार :

मैं सहमत हूं।

पुनरीक्षण आवेदन मंजूर किया गया।

शर्मा

नि० प० 1984 : कलकत्ता—74

सुमित्रा सिंह बनाम नाहर सिंह

(Sumitra Singh Vs. Nahar Singh)

तारीख 3 फरवरी, 1984

[न्या० अमिताभ दत्त]

1. वेस्ट बंगाल प्रिमिसेस टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 (1956 का अधिनियम सं० 12)—धारा 13(1) (क)—उक्त धारा के अधीन यदि किसी किराएदार ने किराए के परिसर के किसी भाग में प्यार और स्नेह के कारण अपने कुटुम्ब के किसी सदस्य को पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर दिया है तो केवल इसी आधार पर किराएदार को बेदखल नहीं किया जा सकता जब तक कि यह साबित न कर दिया जाए कि ऐसा मूल्यवान प्रतिफल के कारण किया गया है।

2. साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872) का अधिनियम सं० 1) धारा 114--जहां किसी किराएदार ने पट्टान्तरित परिसर के किसी भाग में अपने कुटुम्ब के किसी सदस्य को पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर दिया है वहां साक्ष्य के अभाव में युक्तियुक्त रूप से यह उपधारणा नहीं की जाएगी कि परिसर के भाग का कब्जा मूल्यवान् प्रतिफल के आधार पर किया गया है।

प्रतिवादी वादी का किराएदार है। प्रतिवादी के पास आशुतोष मुखर्जी रोड, पी० एस० भवानीपुर, कलकत्ता में स्थित दुकान के कमरे सं० 7, 8 और 9 तथा नगरपालिका परिसर में गैरेज सं० 16-ए परिसर हैं। वादी ने यह अभिकथन करते हुए वाद फाइल किया कि प्रतिवादी ने उक्त कमरे सं० 8 और 9 को मार्च, 1972 में अन्य व्यक्तियों को उप-पट्टे पर दे दिया है अतः उसने प्रतिवादी की किराएदारी बेदखली की सूचना द्वारा समाप्त कर दी जिसमें मकान खाली करने की सूचना भी सम्मिलित थी। प्रतिवादी ने वादी के अभिकथनों से इनकार करते हुए वाद का विरोध किया और यह दलील दी कि उसने परिसरों को न तो उप-पट्टे पर दिया है और न ही उनका अन्तरण किया है और न ही समनुदेशन किया है। वह अपने पुत्र और पौत्र की सहायता से इन परिसरों में हार्डवेयर और पुस्तकों का काम कर रहा है तथा वे एक ही परिवार के सदस्य हैं। प्रथम बार के न्यायालय ने वादी के कथन को इस आधार पर स्वीकार किया कि प्रतिवादी इस बात को साबित करने में असफल रहा है कि कमरा सं० 8 और 9 में चलाए जाने

वाले दोनों कारबार संयुक्त कुटुम्ब के कारबार हैं जिसमें कि प्रतिवादी को लाभ का अंश मिलता है क्योंकि उक्त कारबार से संबंधित लेखाबहियां और कागजात प्रस्तुत नहीं किए गए थे इसी दृष्टिकोण से विचारण न्यायालय ने वाद में डिक्री दे दो। किन्तु प्रथम अपील न्यायालय ने इस बात से सहमति व्यक्त नहीं की और यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वादी उप-पट्टे पर दिए जाने के अपने पक्षकथन को साबित करने में असफल रहा है अतः वह प्रतिवादी को बेदखल करने के लिए किसी डिक्री का हकदार नहीं है, परिणामतः प्रथम अपील न्यायालय ने प्रथम बार के न्यायालय के निर्णय और डिक्री को उलट दिया। इससे व्यथित होकर वादी ने अपील फाइल की और यह दलील दी कि लिखित कथन के पैरा 6 में प्रतिवादी के स्वीकार किए जाने के आधार पर और प्रतिवादी साक्षी सं० 1 और 2 के मौखिक साक्ष्य के आधार पर यह माना जाना चाहिए कि किराएदार के पुत्र और पौत्र क्रमशः हार्डवेयर और पुस्तकों के पृथक् कारबार वाद परिसर के कमरा सं० 8 और 9 में चला रहे हैं और यह कि किराएदार का इन दोनों कारबारों में कोई हिस्सा नहीं है और न ही उसका इन पर कोई नियंत्रण है बल्कि उसने ये परिसर मूल्यान प्रतिफल के आधार पर दिए हैं। इसके प्रतिकूल अपीलार्थी ने यह दलील दी कि परिसर के इन भागों को उसने अपने पुत्र और पौत्र को प्यार और स्नेह के कारण दिया है न कि मूल्यवान प्रतिफल के आधार पर। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि यदि कोई किराएदार उसे पट्टान्तरित परिसरों में कारबार चलाने के लिए अपने पुत्र या पौत्र को, जो एक ही कुटुम्ब के हों, उनके स्वयं के पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर देता है तो क्या इस प्रकार का संव्यवहार पश्चिम बंगाल परिसर अभिधृति अधिनियम, 1956 की धारा 13(1)(क) के अर्थान्तर्गत पट्टान्तरित परिसरों के भाग का अन्तरण किया जाना माना जाएगा ?

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

किसी ऐसे साक्ष्य के अभाव में कि किराएदार ने अपने पुत्र और पौत्र को पट्टान्तरित परिसरों के कमरा सं० 8 और 9 में पृथक्-पृथक् कारबार करने के लिए मूल्यवान प्रतिफल के आधार पर अनुज्ञात किया है, यह नहीं माना जा सकता कि किराएदार ने परिसरों के भाग अपने पुत्र या पौत्र को उप-पट्टे पर दिए हैं या उनका अन्तरण कर दिया है और तद्द्वारा वह अधिनियम की धारा 13(1)(क) के अधीन बेदखल किए जाने के दायित्वाधीन है। इस न्यायालय के मतानुसार किराएदार के कुटुम्ब के सदस्यों को प्यार और स्नेह के आधार पर अनुज्ञप्ति मंजूर करना पट्टान्तरित परिसर या उसके किसी भाग का अन्तरण नहीं माना जा सकता जैसा कि पश्चिम बंगाल परिसर अभिधृति अधिनियम, 1956 की धारा 13(1) (क) में अनुध्यात किया गया है। (पैरा 8)

यद्यपि प्रतिवादी स्वयं परीक्षा करने में असफल रहा है किन्तु साक्ष्य के आधार पर यह प्रतीत होता है कि मार्च, 1976 में साक्षियों की परीक्षा के समय वह लगभग 90 वर्ष का था और पंजाब में रह रहा था। केवल यही परिस्थिति किसी भी युक्तियुक्त अनुमान को लगाने के लिए पर्याप्त नहीं है कि उसने अपने पुत्र और पौत्र को पट्टान्तरित परिसरों के भाग का मूल्यवान प्रतिफल के लिए अंतरण किया है, जैसा कि ऐसे मामले में होता है जिसमें कि किराएदार अपने कुटुम्ब के सदस्यों को किराएदारी के किसी भाग का पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर देता है किन्तु इस प्रकार का कोई अनुमान युक्तियुक्त रूप से नहीं निकाला जा सकता तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 के अधीन इस प्रकार की उपधारणा नहीं की जा सकती कि कब्जे का पृथक किया जाना मूल्यवान प्रतिफल के आधार पर हुआ है। (पैरा 8)

		पैरा
[1982]	[1982] 86 कलकत्ता वीकली नोट्स 938, पृ० 940 : एस० के० भट्टाचार्जी **बनाम** एस० एन० साह (S. K. Bhrttacharjee *Vs.* S. N. Saha)	6

से **प्रभेद** बताया गया।

[1978]	ए० आई० आर० 1978 पंजाब और हरियाणा 186 : राज कुमार **बनाम** हरबंस लाल (Raj Kumar *Vs.* Harbans Lal);	7
[1975]	ए० आई० आर० 1975 दिल्ली 117 : विश्वनाथ **बनाम** चमन लाल (Vishwanath *Vs.* Chaman Lal);	4
[1974]	ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 280 : कृष्णावती **बनाम** हंसराज (Krishnawati *Vs.* Hans Raj);	7
[1968]	ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 953 : एसोसिएटेड होटल्स आफ इण्डिया लि० **बनाम** सरदार रणजीत सिंह (Associated Hotels of India Ltd. *Vs.* Sardar Ranjit Singh)	7

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1978 की ए० एफ० ए० डी० सं० 7.

अलीपुर 24 परगना के अपर जिला न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णय और उलट दी गई डिक्री के विरुद्ध की गई अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	...	सर्वश्री एस० बी० बक्शी और एन० सी० मन्ना
प्रत्यर्थी की ओर से	...	सर्वश्री आर० घोष, अजित चक्रवर्ती सहित और चन्द्र नाथ मुखर्जी

न्या० अमिताभ दत्त :

वादी ने यह अपील अलीपुर 24 परगना के विद्वान् अपर जिला न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णय और उलट दी गई डिक्री के विरुद्ध की है जो वैस्ट बंगाल प्रिमिसेज टेनेंसी ऐक्ट, 1956 (पश्चिम बंगाल परिसर अभिधृति अधिनियम, 1956 द्वारा शासित किराएदार की बेदखली के लिए किए गए वाद से उद्भूत हुई है ।

2. वादियों का पक्षकथन यह था कि प्रतिवादी वाद परिसरों में, जिनमें कि दुकान कमरे सं० 7, 8 और 9 तथा नगरपालिका परिसरों में गैरेज सं० 16-ए है, जो आशुतोष मुखर्जी रोड, पी० एस० भवानीपुर, कलकत्ता में स्थित है इंगलिश कैलेण्डर मास के अनुसार 100 रुपये प्रतिमास की दर से देय किराए पर मासिक किराएदार है और यह कि प्रतिवादी ने वादी की लिखित सम्मति के विना वाद-परिसरों के एक भाग को मार्च, 1972 में या के लगभग मैसर्स बंगाल आटोमोबाइल इण्डस्ट्रीज (इण्डिया) और एक ऐसे व्यक्ति को जिसका नाम वादी को पता नहीं है किन्तु जो बुक स्टाल का कारबार कर रहा है, उपपट्टे पर दे दिया है । यह अभिकथित किया गया था कि प्रतिवादी की किराएदारी बेदखली की सूचना द्वारा समाप्त कर दी गई थी जिसमें कि मकान खाली करने की सूचना भी सम्मिलित थी तथा उक्त अधिनियम की धारा 13(6) के अधीन वाद भी फाइल किया गया था तथा प्रतिवादी को यह आदेश दिया गया था कि वह नवम्बर, 1972 के अवसान पर वादगत परिसरों को रिक्त कर दे ।

3. प्रतिवादी ने वादी के अभिकथनों से इनकार करते हुए वाद का विरोध किया और यह कहा कि उसने वाद परिसरों के किसी भी भाग को न तो उप-पट्टे पर दिया है, न उसका अन्तरण किया है और न ही समनुदेशन किया है । उसने यह अभिकथन किया कि मैसर्स बंगाल आटोमोबाइल इण्डस्ट्रीज (इण्डिया) लि० एक फर्जी नाम है और यह कि प्रतिवादी का पुत्र स्वर्ण सिंह तथा

उसका पौत्र बलविन्दर सिंह उसके कारबार को चलाने में जो कि 'मोटर हुड फिटिंग कं०' के नाम और अभिनाम में वाद परिसरों में चल रहा है, सहायता करते हैं। यह कि सर्वन सिंह कमरा सं० 6 में 15 वर्षों से हार्डवेयर का कारबार चला रहा है और बलविन्दर सिंह कमरा सं० 9 में दो वर्ष से पुस्तकों की दुकान चला रहा है जिसकी जानकारी वादी को है और यह कि प्रतिवादी, उसका पुत्र और उसका पौत्र एक ही परिवार के हैं।

4. प्रथम बार के न्यायालय ने वादी के कथन को इस आधार पर स्वीकार किया कि प्रतिवादी इस बात को साबित करने में असफल रहा है कि कमरा सं० 8 और कमरा सं० 9 में चलाए जाने वाले दो कारबार संयुक्त कुटुम्ब के क़ारबार हैं जिसमें कि प्रतिवादी को लाभ का अंश मिलता है क्योंकि उक्त कारबारों से संबंधित लेखाबहियों और अन्य कागजात प्रतिवादी द्वारा पेश नहीं किए गए थे। इस दृष्टिकोण से विचारण न्यायालय ने वाद में डिक्री दे दी। प्रथम अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी दस्तावेज का प्रतिवादी द्वारा यह दर्शित करते हुए प्रस्तुत न किया जाना कि कमरा सं० 8 और 9 में संयुक्त परिवार का कारबार चल रहा है, स्वयं इस बात को साबित नहीं करता कि प्रतिवादी ने वाद परिसरों के एक भाग को किन्हीं अन्य व्यक्तियों को उप-पट्टे पर दे दिया है। विद्वान् अपर जिला न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि बलविन्दर सिंह (प्रतिवादी साक्षी सं० 2) का इस प्रभाव का साक्ष्य कि वादगत परिसरों में चलने वाले सभी कारबार संयुक्त कुटुम्ब के कारबार हैं तथा उसका सारा लाभ प्रतिवादी को जाता है और यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं कही गई है कि प्रतिवादी का वाद परिसरों पर कब्जा समाप्त हो गया है या प्रतिवादी का वाद परिसरों में सभी कारबारों में नियंत्रण नहीं है। इस दृष्टिकोण से प्रथम अपील न्यायालय ने **विश्वनाथ** बनाम **चमन लाल**[1] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि वादी उप-पट्टे पर दिए जाने के अपने पक्षकथन को साबित करने में असफल रहा है अतः वह प्रतिवादी को बेदखल करने के लिए किसी डिक्री का हकदार नहीं है। अतः प्रथम अपील न्यायालय ने प्रथम बार के न्यायालय के निर्णय और डिक्री को उलट दिया।

5. इस अपील में विनिश्चय के लिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या जब परिसरों का कोई किराएदार कारबार चलाने के प्रयोजन के लिए उसे पट्टान्तरित परिसरों में अपने ऐसे पुत्र या पौत्र को, जो एक ही कुटुम्ब के हों, उनके स्वयं के पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर देता है तो क्या इस प्रकार का संव्यवहार पश्चिम बंगाल परिसर अभिधृति अधिनियम, 1956 की धारा 13(1) (क)

---

[1] ए० आई० आर० 1975 दिल्ली 117.

(क) के अर्थान्तर्गत पट्टान्तरित परिसरों के भाग के अन्तरण के समान माना जाएगा। उक्त धारा निम्न प्रकार है :—

> *"(क) जहां परिसरों में निवास करने वाला किराएदार या अन्य व्यक्ति मकान-मालिक को लिखित में पूर्व सम्मति लिए बिना उस अपने द्वारा धारित के परिसर के समस्त भाग को या कुछ भाग को अन्तरित कर देता है, समनुदेशित कर देता है या उप-पट्टे पर दे देता है।"

प्रस्तुत मामले में अभिलेख पर की सामग्री से प्रकट होने वाले अविवादास्पद तथ्य ये हैं कि सर्वन सिंह प्रतिवादी सा० सं० 1 और बलविन्दर सिंह, प्रतिवादी सा० सं० 2 क्रमशः नाहर सिंह के, जो कि वाद परिसरों का किराएदार है, पुत्र और पौत्र हैं और वे सभी तात्त्विक समयों पर एक ही परिवार के रूप में रह रहे थे। वादी ने जैसा कि उसके प्रकथनों से स्पष्ट हो जाता है वादपत्र तैयार किए और इस आधार पर वाद फाइल किया कि किराएदार ने वाद परिसरों के एक भाग को उन व्यक्तियों को उप-पट्टे पर, अन्तरित या समनुदेशित कर दिया है जो उसके परिवार के नहीं हैं। वादी ने न्यायालय के समक्ष वादी साक्षी के रूप में अपने साक्ष्य में इस बात से इनकार किया है कि प्रश्नगत दो दुकानें (कमारा सं० 8 और 9) प्रतिवादी के कुटुम्ब के सदस्यों के द्वारा चलाई जा रही हैं। दूसरी ओर निचले दोनों न्यायालयों ने तथ्य विषयक यह निष्कर्ष निकाला कि सर्वन सिंह और बलविन्दर सिंह किराएदार नाहर सिंह के पुत्र और पौत्र हैं जो कमरा सं० 8 में हार्डवेयर का कारबार और कमरा सं० 9 में पुस्तकों का कारबार चला रहे हैं और जो प्रतिवादी के कुटुम्ब के ही सदस्य हैं अपीलार्थी की ओर से उपस्थिति होने वाले विद्वान् अधिवक्ता, श्री बक्शी ने यह दलील दी कि लिखित कथन के पैरा 6 में प्रतिवादी के स्वीकार किए जाने के आधार पर और प्रतिवादी सा० सं० 1 और 2 के मौखिक साक्ष्य के आधार पर यह माना जाना चाहिए कि किराएदार के पुत्र और पौत्र क्रमशः हार्डवेयर और पुस्तकों के पृथक् कारबार वाद परिसर के कमरा सं० 8 और 9 में चला रहे हैं और यह कि किराएदार का इन दोनों कारबारों में कोई हिस्सा नहीं है और न ही उसका उन पर कोई नियंत्रण है। यह दलील दी गई कि प्रथम अपील न्यायालय का यह निष्कर्ष कि प्रतिवादी का अपने पुत्र और पौत्र के कारबारों में नियंत्रण है, अभिलेख पर के

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "(a) Where the tenant or any person residing in the premises let out to the tenant, without the previous consent in writing of the landlord transfers, assigns or sublets in whole or in part the premises held by him."

साक्ष्य से अध्यपेक्षित नहीं है अतः यह अस्वाभाविक है या ऐसा निष्कर्ष है जिसे विधि का ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति युक्तियुक्त रूप से इस प्रकार के साक्ष्य का निष्कर्ष नहीं निकालेगा। इस संबंध में उसने लिखित कथन के पैरा 6 के प्रति निर्देश किया है जिसमें प्रतिवादी का यह कथन अन्तर्विष्ट है कि वह मोटर हुड फिटिंग कम्पनी का जो कि कमरा सं० 7 में अपने पुत्र और पौत्र की सहायता से चलाया जा रहा है का एकमात्र मालिक है। यह साक्ष्य है कि जब वादी साक्षी सं० 1 ने अभिसाक्ष्य दिया तब प्रतिवादी मार्च, 1976 में लगभग 90 वर्ष का था। वादी साक्षी सं० 1 ने प्रतिपरीक्षा में इस तथ्य का उल्लेख किया। श्री बक्शी ने प्रतिवादी साक्षी सं० 1, प्रतिवादी के पुत्र के इस प्रभाव के साक्ष्य के प्रति निर्देश किया कि प्रतिवादी का उसके पुत्र और पौत्र द्वारा चलाए जाने वाले दोनों कारबारों में कोई हिस्सा नहीं है। प्रतिवादी साक्षी सं० 1 सर्वन सिंह के साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि वह मोटर हुड कारबार में अपने पिता के साथ 1967 से भागीदार है इस प्रकार के साक्ष्य के होने पर भी यह दलील दी गई कि विद्वान् अपर जिला न्यायाधीश ने प्रतिवादी साक्षी सं० 2, बलविन्दर सिंह जो कि प्रतिवादी का पौत्र है, के इस कथन पर विश्वास करने में न्यायोचित नहीं है कि हार्डवेयर कारबार का सारा लाभ संयुक्त कुटुम्ब का कारबार है यद्यपि प्रतिवादी साक्षी सं० 2 ने यह स्वीकार किया है कि अपने साक्ष्य के दौरान अनेक अवसरों पर उसका पिता वास्तविक स्थिति को जानता है। मेरे मतानुसार अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई इस दलील में बल है कि विद्वान् न्यायाधीश का यह निष्कर्ष कि प्रतिवादी का क्रमशः कमरा सं० 8 और 9 में उसके पुत्र और पौत्र द्वारा चलाए जा रहे दो कारबारों में नियंत्रणकारी हित था या है न केवल गलत है वरन् ऐसा निष्कर्ष है जिस पर अभिलेख पर की सामग्री के आधार पर युक्तियुक्त रूप से नहीं पहुंचा जा सकता।

6. अतः स्थिति यह है कि प्रतिवादी ने अपने पुत्र और पौत्र को वादगत परिसरों के कमरा सं० 8 और 9 में या उसे पट्टान्तरित वाद परिसरों के एक भाग में पृथक्-पृथक् कारबार चलाने के लिए अनुज्ञात कर दिया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रतिवादी के पुत्र और पौत्र को, जो प्रतिवादी के कुटुम्ब के सदस्य हैं, इस प्रकार अनुदत्त को गई अनुज्ञप्ति अधिनियम की धारा 13(1) (क) की परिधि के अन्तर्गत आती है। अपीलार्थी की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि वादी के लिए प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा उप-पट्टे पर दिया जाना साबित करना संभव नहीं है। इस बात का केवल वाद परिसरों के भाग का अनन्य कब्जा अन्य व्यक्ति को देने के तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है। यहां तक कि इस प्रकार कब्जे सहित भाग को अपने पुत्र या पौत्र या अपने साथ रहने वाले

2. **रूप चन्द के मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय ने जो कुछ अभिनिर्धारित किया वह यह है कि राज्य सरकार, जिसने ईस्ट पंजाब होल्डिंग्स (कन्सोलिडेशन एण्ड प्रिवेन्शन आफ फ्रैगमैंटेशन) ऐक्ट, 1948 की धारा 41(1) के अधीन अपनी शक्तियां किसी अधिकारी को प्रत्यायोजित कर दी थीं, ऐसे प्रत्यायोजन के पश्चात् ऐसे अधिकारी द्वारा पारित किए गए आदेश में हस्तक्षेप नहीं कर सकती जो आदेश अधिनियम की धारा 42 के अधीन पुनरीक्षण शक्तियों का प्रयोग करते हुए उसने पारित किए थे। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया :—

> "इस मामले में शक्ति धारा 21(4) द्वारा सृष्ट की गई है। उक्त धारा सरकार को शक्ति देती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस शक्ति के प्रयोग में किया गया आदेश सरकार का आदेश होगा क्योंकि कानून के अधीन उस शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार किसी अन्य शक्ति को नहीं हो सकता। निस्संदेह अधिनियम द्वारा सरकार अपनी शक्तियों का प्रत्यायोजन करने के लिए समर्थ बनाई गई है। किन्तु जब ऐसी शक्ति प्रत्यायोजित कर दी जाती है तो सरकार की शक्ति बनी रहती है क्योंकि सरकार केवल अपनी ऐसी शक्ति ही प्रत्यायोजित कर सकती है जो उसे दी गई है और राज्य सरकार किसी अधिकारी को स्वतंत्र शक्ति नहीं दे सकती। जब प्रतिनिधि शक्ति का प्रयोग करता है तो वह ऐसा सरकार के लिए करता है। यहां इस बात के प्रति निर्देश करना रोचक होगा कि हथ **बनाम** क्लार्क [(1890) 25 क्यू० बी० डी० 391] वाले मामले में न्या० विल्स ने कहा कि 'प्रतिनिधि' (डेलीगेट) शब्द से अभिप्रेत है किसी अभिकर्ता से थोड़ी अधिक शक्ति। अभिकर्ता वास्तव में अपनी ओर से किसी भी शक्ति का प्रयोग नहीं करता है किन्तु अपने मालिक की शक्तियों का ही प्रयोग करता है। अतः धारा 41(1) के अधीन प्रत्यायोजन किए जाने पर किसी अधिकारी द्वारा पारित किया गया आदेश धारा 41 (1) के अधीन सरकार की शक्ति के अधीन उसके द्वारा प्रत्यायोजन पर धारा 21(4) के अधीन पारित किया गया है। अधिनियम के प्रयोजनों के लिए ऐसा आदेश सरकार का आदेश है, यदि ऐसा नहीं होता और यह अभिनिर्धारित करना पड़ता कि आदेश स्वयं अधिकारी द्वारा ही किया गया है और वह आदेश सरकार का आदेश नहीं है और निस्संदेह ऐसा आदेश एक या दूसरा अवश्य होता तब हमारे पास ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया

---

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1503.

> आदेश उपलब्ध होता जिसे अधिनियम के द्वारा ऐसा आदेश करने के लिए कोई शक्ति नहीं प्रदत्त की गई थी। ऐसी स्थिति सम्भव होगी।" (पैरा 11)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 381 से यह स्पष्ट है कि प्रत्यायोजन का कोई भी प्रश्न ऐसे मामले में उद्भूत नहीं होता है जहां सेशन न्यायालय मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट या सहायक सेशन न्यायाधीश के हवाले कोई अपील कर देता है क्योंकि दोनों को ही अपील की सुनवाई करनें और उसका निपटारा करने की शक्तियां प्राप्त हैं। अतः उच्चतम न्यायालय का ऊपर वर्णित विनिश्चय मामलों के तथ्यों को लागू नहीं होता है।

3. इस मामले में द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि और दण्डादेश के विरुद्ध अपील सेशन न्यायालय के समक्ष फाइल की गई। सेशन न्यायालय ने मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को यह मामला निर्देशित कर दिया जिसने अपील खारिज कर दी और दोषसिद्धि और दण्डादेश की पुष्टि कर दी। सेशन न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण में अभियुक्त ने उस विनिश्चय पर आक्षेप किया और अपर सेशन न्यायालय ने अभियुक्त को दोषमुक्त करते हुए उस पुनरीक्षण का निपटारा कर दिया। ऊपर वर्णित दोषमुक्ति के विरुद्ध ही इन मामलों में आक्षेप किया गया है।

4. उठाया गया मुद्दा यह है कि क्या सेशन न्यायालय, जिसके समक्ष द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील फाइल की जा सकती है, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, जिसके हवाले अपील की गई थी, के विनिश्चय के विरुद्ध पुनरीक्षण ग्रहण कर सकता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 सक्षेप में 'संहिता' की धारा 374 (दोषसिद्धि से अपील), धारा 381 (सेशन न्यायालय में की गई अपीलें कैसे सुनी जाएंगी) और धारा 397 (पुनरीक्षण की शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अभिलेख मंगाना) को एक साथ पढ़ने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। स्थिति यह है कि : द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा की गई दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील की सुनवाई सहायक सेशन न्यायाधीश या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा की जा सकती है और ऐसी अपील का निपटारा किया जा सकता है। किन्तु अपील केवल सेशन न्यायालय के समक्ष ही फाइल की जा सकती है। सेशन न्यायालय स्वयं अपील की सुनवाई कर सकता है या ऐसी अपील को सहायक सेशन न्यायाधीश या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के हवाले कर सकता है। सहायक सेशन न्यायाधीश या मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट यथास्थिति दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 381(1) के परन्तुक के अधीन निहित शक्ति का प्रयोग करते

हुए अपील का निपटारा करता है । अतः प्रत्यायोजन की बाबत धारा 381(2) के अधीन मामले को किसी के हवाले करने का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है क्योंकि प्रत्यायोजन अपनी शक्तियों का किसी अन्य व्यक्ति को प्रदत्त करना है जिसे ऐसा किए बिना किसी मामले में कोई शक्ति प्राप्त नहीं होती । धारा 397 के अधीन सेशन न्यायालय को सब अवर दाण्डिक न्यायालयों के आदेशों के विरुद्ध जो उसकी स्थानीय अधिकारिता में हों, पुनरीक्षण शक्तियां प्राप्त हैं । यह बात स्पष्ट है कि मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट धारा 397 के अधीन पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करने में सेशन न्यायाधीश से अवर (निम्नतर) है । यह बात उपधारा के स्पष्टीकरण से भी स्पष्ट कर दी गई है । अतः यह सीधी-सी बात है कि सेशन न्यायालय द्वारा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के हवाले की गई अपील में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए विनिश्चय के विरुद्ध पुनरीक्षण सेशन न्यायालय में हो सकता है । हम **गोपालन वाले मामले**[1] में खण्ड न्यायपीठ द्वारा दिए गए विनिश्चय से सादर सहमत हैं । इस विनिश्चय पर पुनः विचार किए जाने की जरूरत नहीं है । अतः निर्देश का तदनुसार उत्तर दिया जाता है । अब ये मामले सुनवाई और निपटारे के लिए एकल न्यायपीठ के समक्ष भेजे जाएं ।

निर्देश का उत्तर दिया गया ।

मि/

नि० प० 1984 : केरल—83

एस० चाको बनाम केरल राज्य

(M. Chacko *Vs.* The State of Kerala)

तारीख 28 अक्तूबर, 1983

[न्या० यू० एल० भट्ट]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 195—अभियोजन के विरुद्ध रक्षोपाय—धारा 195 का आशय प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा या पुलिस द्वारा न्याय प्रशासन को प्रभावित करने वाले या विधिपूर्ण प्राधिकारी का अवमान करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध अन्धाधुन्ध और परेशान करने वाले अभियोजनों

---

[1] 1981 के० एल० टी० 890.

के विरुद्ध एक रक्षोपाय के तौर पर है—**संबंधित** अधिकारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे जिम्मेदारी से कार्य करें और अभियोजन केवल तब ही प्रारम्भ करें जब आवश्यक हो।

पिटीशनर और अन्य व्यक्तियों के बीच एक पगडन्डी के सम्बन्ध में विवाद था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व प्रभागीय अधिकारी ने उक्त पगडन्डी को बनाए रखने के लिए एक आदेश जारी किया। अंतिम रिपोर्ट में यह वर्णित है कि सभी अभियुक्तों ने उक्त आदेश का अतिलंघन किया और पगडन्डी को नष्ट कर दिया। पिटीशनर और कई अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 149 सपठित धारा 143, 144, 188, 427 और 447 और 506 के अधीन अपराधों के लिए दाण्डिक मामला दर्ज किया गया। न्यायालय ने सभी अपराधों के सम्बन्ध में संज्ञान किया और सम्यक् अनुक्रम में आदेशिका जारी की। उक्त कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए अभियुक्त ने दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की ओर से यह दलील दी गई है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध जो अंतिम रिपोर्ट में वर्णित है और जिसके सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान किया गया है, ऐसा अपराध है जिसे संहिता की धारा 195(1)(क) (i) लागू होती है और सम्बन्धित लोक सेवक द्वारा लिखित में शिकायत किए जाने के अर्थात् कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा शिकायत किए जाने पर के सिवाय उसका संज्ञान नहीं किया जा सकता, विद्वान् मजिस्ट्रेट के कथनानुसार चूंकि संज्ञान किया जाना अवैध था, अतः सम्पूर्ण कार्यवाही अभिखंडित किए जाने योग्य है। विद्वान् मजिस्ट्रेट ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध का संज्ञान करने के सम्बन्ध में अवैधता की है क्योंकि कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा कोई परिवाद नहीं किया गया और इस विस्तार तक कार्यवाहियां चल नहीं सकतीं। पिटीशनर के काउन्सेल ने यह दलील दी कि कार्यवाहियां भागतः अभिखंडित नहीं की जा सकतीं और चूंकि अभियोजन के अभिकथनों से भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध आता है और अन्य अपराधों के होने का ज्ञान होता है और चूंकि अपराध एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं अतः सम्पूर्ण कार्यवाहियों को भी अभिखंडित करना होगा। इस दलील का विद्वान् लोक अभियोजक ने खण्डन किया है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 195 प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा या पुलिस द्वारा अन्धाधुन्ध और परेशान करने वाले अभियोजनों के विरुद्ध एक

रक्षोपाय के तौर पर आशयित है। उपबन्ध ऐसे अपराधों के बारे में हैं जिनसे न्याय प्रशासन प्रभावित होता है या विधिपूर्ण प्राधिकारी का अवमान होता है। विधायी आशय व्यक्तियों के आवेदन करने पर निरुद्देश्य अभियोजन की सम्भावना को दूर करना है। न्यायालयों और विधिपूर्ण प्राधिकारियों की गरिमा और प्रतिष्ठा को सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा कायम रखा जाना चाहिए और यह लोक हित की वृद्धि करने वाली बात नहीं होगी कि इस बात को प्राइवेट पक्षकारों पर इस दृष्टि से छोड़ दिया जाए कि वे ऐसे अपराधों में अन्तर्ग्रस्त दोषी व्यक्तियों को अभियोजित करें। इस क्षेत्र को प्राइवेट रागद्वेष या व्यक्तिगत तौर पर बदला लेने की भावना को प्रवर्तित करके दूषित नहीं किया जाना चाहिए। सम्बन्धित अधिकारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे जिम्मेदारी से कार्य करें और अभियोजन केवल तब ही प्रारम्भ करें जब आवश्यक हो। (पैरा 8)

किसी मामले के तथ्यों से सुभिन्न अपराधों का होना उद्भूत हो सकता है जिसके अंतर्गत लोक सेवकों के प्राधिकार के विरुद्ध अपराध या लोक-न्याय के विरुद्ध अपराध सम्मिलित है। साथ ही ऐसे अपराध भी सम्मिलित हैं जो प्राइवेट व्यक्तियों के विरुद्ध हैं। संहिता की धारा 195 के अधीन वर्जन से ऐसी परिस्थितियों में ऐसे अपराध जो लोक प्राधिकारी या लोक-न्याय के विरुद्ध हों, प्रभावित नहीं हो सकते। ऐसे अपराधों के लिए अभियोजन हेतु लोक प्राधिकारी या न्यायालय का होना अपेक्षित नहीं है। तथापि स्थिति उस समय भिन्न हो सकती है जब उसी संव्यवहार के अनुक्रम में दो प्रवर्गों वाले अपराध किए गए हैं। ऐसे मामलों में संव्यवहार को दो भागों में विभाजित करना सम्भव नहीं होगा और यह अभिनिर्धारित करना भी सम्भव नहीं होगा कि ऐसे अपराधों के लिए विधिमान्य अभियोजन प्रारम्भ किया जा सकता है जिनका उल्लेख संहिता की धारा 195 में नहीं किया गया है। यथास्थिति लोक प्राधिकारी या न्यायालय की लिखित शिकायत के बिना न्यायालयों को इस योग्य होना चाहिए कि वे यह बात भांप सकें कि संहिता की धारा 195 को शाब्दिक बाजीगरी के द्वारा किसी संव्यवहार की असली प्रकृति को छिपाकर नकारात्मक बनाया जा रहा है। यदि सिद्धांत और सार की दृष्टि से अभिकथित अपराध धारा 195 में वर्णित प्रवर्गों के अंतर्गत आता है तो वर्जन के लागू होने को टाला नहीं जा सकता। यदि सारतः अभिकथित अपराध उन प्रवर्गों के बाहर आता है तो वर्जन प्रवर्तित नहीं होगा। साथ ही यदि तथ्यों से सुभिन्न अपराध उद्भूत होते हैं जिनमें से कुछ पर धारा 195 का प्रवर्तन लागू होता है, अन्य जो इस प्रकार न हों, वर्जन केवल पूर्ववर्ती के बारे में ही लागू हो सकता है न कि पश्चात्वर्तियों के बारे में। (पैरा 9)

पैरा

[1981] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1417 : कर्नाटक राज्य **बनाम** हेमा रेड्डी (State of Karnataka *Vs.* Hem Reddy); 7

[1966] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1775 : दुर्गाचरण **बनाम** उड़ीसा राज्य (Durgacharan *Vs.* State of Orissa) 6

का **अनुसरण** किया गया ।

[1953] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 293 : बशीर-उल हक **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य (Basir-ul-Haq *Vs.* State of West Bengal); 5

[1939] ए० आई० आर० 1939 एफ० सी० 43 (बी) : होरी राम सिंह **बनाम** सम्राट (Hori Ram Singh *Vs.* Imperor); 5-ग

[1921] ए० आई० आर० 1921 कलकत्ता 1 : सतीश चंद्र **बनाम** राम दयाल (Satish Chandra *Vs.* Ram Dayal) 5-ख

निर्दिष्ट किए गए ।

दाण्डिक प्रकीर्ण अधिकारिता : 1982 का दाण्डिक प्रकीर्ण मामला सं० 769.

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन फाइल किया गया पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... मैसर्स सी० पी० सुधाकर प्रसाद, के० वी० प्रकाश और बाबू मैथ्यू, पी० जोसेफ

राज्य की ओर से ... लोक-अभियोजक

न्या० यू० एल० भट्ट :

चाथन्नूर पुलिस थाने के उप-निरीक्षक ने पिटीशनर और 16 अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 149 सपठित धारा 143, 144,

188, 427, 447 और 506 के अधीन अपराधों के लिए 1982 का दांडिक मामला सं० 14 दर्ज किया। अन्वेषण के पश्चात् न्यायालय के समक्ष अंतिम रिपोर्ट रखी गई और सम्यक् अनुक्रम में न्यायालय ने सभी अपराधों के सम्बन्ध में संज्ञान किया और आदेशिका जारी की। उक्त कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए एक अभियुक्त ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में 'संहिता') की धारा 482 के अधीन पिटीशन फाइल किया है।

2. यह स्पष्ट है कि पिटीशनर और अन्य व्यक्तियों के बीच अभिकथित पगडंडी (रास्ता) के सम्बन्ध में एक विवाद था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व प्रभागीय अधिकारी (स्पष्टतः कार्यपालक मजिस्ट्रेट) विवलन ने उक्त पगडंडी को बनाए रखने के लिए 6-2-82 को एक आदेश जारी किया। अंतिम रिपोर्ट में यह वर्णित है कि सभी अभियुक्तों ने उक्त आदेश का अतिलंघन किया और पगडंडी को नष्ट कर दिया। अंतिम रिपोर्ट में यह कहा गया है कि अभियुक्त ने सी० डब्लू० 1 की भूमि में अतिचार किया, बाड़ नष्ट कर दी तथा सी० डब्लू० 1 के अहाते की दीवाल भी तोड़ दी और उस हिस्से को समतल कर दिया जिससे कि एक नई पगडंडी बनाई जा सके और इस प्रकार सी० डब्लू० 1 को हानि कारित की। अतिम रिपोर्ट में अन्य सुसंगत अभिकथन भी वर्णित हैं।

3. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की ओर से यह दलील दी गई है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध, जो अंतिम रिपोर्ट में वर्णित है और जिसके सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान किया गया है, ऐसा अपराध है जिसे संहिता की धारा 195(1)(क)(i) लागू होती है और सम्बन्धित लोक सेवक द्वारा लिखित में शिकायत किए जाने के सिवाय उसका संज्ञान नहीं किया जा सकता अर्थात् कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा शिकायत किए जाने पर जिसने आदेश जारी किया था। विद्वान् मजिस्ट्रेट के कथनानुसार चूंकि संज्ञान किया जाना अवैध था, अतः संपूर्ण कार्यवाही ही अभिखंडित किए जाने योग्य है। इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है कि विद्वान् मजिस्ट्रेट ने भारतीय दंड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध का संज्ञान करने के सम्बन्ध में अवैधता की है क्योंकि कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा कोई परिवाद नहीं किया गया है और इस विस्तार तक कार्यवाहियां चल नहीं सकतीं।

4. पिटीशनर के विद्वान् मजिस्ट्रेट ने यह दलील दी है कि कार्यवाहियां भागतः अभिखंडित नहीं की जा सकतीं और चूंकि अभियोजन के अभिकथनों से भारतीय दंड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध आता है और अन्य अपराधों के होने का ज्ञान होता है और चूंकि अपराध एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं,

अतः संपूर्ण कार्यवाहियों को भी अभिखंडित करना होगा। इस दलील का विद्वान् लोक अभियोजक ने खंडन किया है।

5. इस सम्बन्ध में सबसे पुराने मामलों में एक मामला **बशीर उल-हक और अन्य** बनाम **पश्चिम बंगाल राज्य**[1] वाला मामला है। उक्त मामले में पुलिस को इस प्रभाव की जानकारी दी गई थी कि धीरेन्द्र नाथ बारा नामक एक व्यक्ति ने अपनी मां को पीटा और उसका गला दबा दिया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। शव श्मशान घाट ले जाया गया था। जब अर्थी चिता पर रखी गई और अग्नि प्रज्वलित हुई, तब सूचना देने वाला व्यक्ति कुछ अन्य व्यक्तियों और पुलिस के साथ श्मशान घाट पहुंचा। श्मशान घाट पर पुनः अभिकथन दोहराया गया और यह निवेदन किया कि क्षतियां मृतक के शरीर पर पाई जाएंगी। इसके पश्चात् आग बुझा दी गई और शव बाहर निकाला गया। उसकी जांच की गई और शव-परीक्षा की गई। किन्तु कोई क्षतियां नहीं पाई गईं। अन्वेषण से यह ज्ञात हुआ कि जानकारी मिथ्या थी। तब धीरेन्द्र नाथ बारा ने सूचना देने वाले व्यक्ति और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध एक प्राइवेट परिवाद फाइल किया और यह अभिकथन किया कि उन्होंने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 279 और 500 के अधीन इस आधार पर अपराध किए हैं क्योंकि उन्होंने श्मशान घाट पर शव के अंतिम संस्कार किए जाते समय अतिचार किया है और इस प्रकार परिवादी की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाई है और परिवादी पर हत्या का लांछन लगाकर उसकी मानहानि की है। यह स्पष्ट है कि पुलिस को दी गई सूचना के आधार पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 182 के अधीन अपराध बना। प्रश्न यह उद्भूत हुआ कि क्या संहिता की धारा 195 के अधीन मंजूरी आवश्यक थी। क्योंकि पुलिस को भी जो सूचना दी गई थी, उसमें उक्त लांछन लगाया गया था। 1898 की संहिता की धारा 195 के प्रति निर्देश करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :—

> "......इस प्रकार कानून द्वारा यह अपेक्षित है कि सम्बन्धित लोक सेवक की लिखित शिकायत किए बिना धारा 182 के अधीन अपराध के लिए अभियोजन का संज्ञान नहीं किया जा सकता। उसमें आगे यह भी उपबंधित नहीं है कि यदि उस अपराध के किए जाने के अनुक्रम में अन्य सुभिन्न अपराध किए जाते हैं तो मजिस्ट्रेट उन अपराधों के बारे में भी संज्ञान लेने से विवर्जित है। परिवाद में किए गए अभिकथन के दो पहलू हो सकते हैं अर्थात् एक ओर उनसे लोक सेवक या लोक न्याय के प्राधिकार के विरुद्ध अपराध गठित हो सकते हैं और

---

[1] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 293.

> दूसरे उनसे मानहानि का अपराध या अन्य कोई सुभिन्न अपराध गठित हो सकता है। उक्त धारा में स्वतः ही उस अपराध का संज्ञान करने से मजिस्ट्रेट वर्जित नहीं है भले ही उस लोक सेवक द्वारा कोई कार्यवाही न की गई हो जिसे मिथ्या रिपोर्ट की गई थी……।"

उच्चतम न्यायालय ने यह भी बतलाया कि मिथ्या रिपोर्ट करने के पश्चात् उक्त प्रकार के अतिचार बाद में किए जाने का अभिकथन किया गया था और लांछन न केवल पुलिस को दी गई सूचना में ही लगाया गया था किन्तु वह श्मशान घाट पर भी लगाया गया था। मानहानि के अपराध के बारे में न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था :—

> "यह बात सिद्धांतः और नजीर के द्वारा भी बहुत स्पष्ट प्रतीत होती है कि जहां मिथ्या रिपोर्ट में किए गए अभिकथनों से दो सुभिन्न अपराध का किया जाना प्रकट होता है अर्थात् एक अपराध लोक सेवक के विरुद्ध और दूसरा प्राइवेट व्यक्ति के विरुद्ध तो ऐसी स्थिति में धारा 195 के उपबंधों द्वारा अपराध इस हेतुक विवर्तित नहीं है कि उसके विरुद्ध किए गए अपराध के लिए किसी प्रतितोष की वांछा न की जाए···इन उपबंधों को ध्यान में रखते हुए इस प्रतिपादना के लिए सिद्धांततः कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है कि ऐसी स्थिति में धारा 499 के अधीन परिवाद का संज्ञान नहीं किया जा सकता है जब तक कि दो व्यक्ति ऐसे परिवाद को करने में सम्मिलित नहीं होते हैं अर्थात् इस बात पर केवल तब ही विचार किया जा सकता है यदि दोनों अर्थात् लोक सेवक और मानहानि किया गया व्यक्ति दोनों ही ऐसा अभिकथन करते हैं। अन्यथा वह व्यक्ति, जिसकी मानहानि की गई है, किसी भी प्रतितोष को प्राप्त नहीं कर सकेगा। कानून में भारतीय दंड संहिता के इन दो उपबंधों के अधीन परिवाद करने के लिए सुभिन्न प्रक्रिया विहित की गई है और जब विहित प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है तब न्यायालय परिवाद किए गए अपराध का संज्ञान करने के लिए आबद्ध है।"

5-ख. **सतीश चंद्र** बनाम **राम दयाल**[1] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :—

> "इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि अभियुक्त के बारे में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 182 और 500 के अधीन

---

[1] ए० आई० आर० 1921 कलकत्ता 1.

> आरोप के लिए विचार किया जा सकता है। ऐसा उन्हीं तथ्यों पर अलग-अलग किया जा सकता है परन्तु उपबंध यह है कि लोक सेवक और मानहानि किया गया व्यक्ति दोनों ही परिवाद करें। यदि ऐसा है तो इस बात का कोई कारण नहीं है कि एक व्यक्ति के विरुद्ध अपराध के लिए स्वतंत्र रूप से ही विचार क्यों नहीं किया जा सकता है जब तक कि प्रत्येक अपराध की अपेक्षाएं पूरी नहीं हो जाती हैं। पूर्ण न्यायपीठ का प्रश्नगत विनिश्चय सुनाते हुए कलकत्ता उच्च न्यायालय ने पूर्ववर्ती सभी मामलों की परीक्षा की और यह मत व्यक्त किया कि तथ्यों के आधार पर कई अपराधों के किए जाने की बात ज्ञात होती है जिनमें से कुछ के लिए मंजूरी अपेक्षित है और अन्य के लिए मंजूरी अपेक्षित नहीं है। अतः परिवादी को केवल उन अपराधों के सम्बन्ध में ही कार्यवाही करने का अधिकार है जिन अपराधों के लिए मंजूरी अपेक्षित नहीं है क्योंकि इसके विपरीत अभिनिर्धारित करने का अर्थ विधायन करने और सारभूत रूप से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 से 199 तक में कुछ उपबंध को जोड़ने की कोटि का होगा। धारा 195 से 199 तक में कतिपय विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए अभियोजन किए जाने के लिए अपेक्षित वादों का वर्णन है और उन धाराओं के उपबंध वास्तव में उपदर्शित अपराधों के लिए किसी निश्चित प्ररूप में मंजूरी या परिवाद किए जाने के सम्बन्ध में विधान-मंडल का ऐसा आशय होता जिससे इन धाराओं में विनिर्दिष्ट रूप से इंगित अपराधों का किया जाना माना जाता है तो विधान-मंडल इस प्रकार का उपबंध करता है किन्तु उसने ऐसा नहीं किया है।"

अंत में उच्चतम न्यायालय ने निष्कर्ष रूप में यह वर्णित किया। यद्यपि हमारे मतानुसार धारा 195 से एक-से ही तथ्यों से प्रकट हुए सुभिन्न अपराध के लिए किसी अभियुक्त व्यक्ति का विचारण वर्जित नहीं है और ऐसे अपराध उक्त धारा के व्याप्ति-क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आते हैं। फिर भी इस बात को ध्यान में रखना होगा कि उस धारा के उपबंधों को तरकीबों का सहारा लेकर टाला नहीं जा सकता है। इस बात की कसौटी कि क्या धारा से बचा जा रहा है या नहीं, यह है कि क्या तथ्यों से प्राथमिक रूप से और अत्यावश्यक रूप से ऐसा अपराध प्रकट होता है जिसके लिए न्यायालय का परिवाद या लोक सेवक का परिवाद अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति को ऐसे अपराध से आरोपित करने की तरकीब अपनाकर धारा के उपबंधों से बचा नहीं जा सकता है जिसके लिए उक्त धारा लागू नहीं होती और तब उसे ऐसे अपराध के लिए इस आधार पर

दोषसिद्ध करना कि उसने वह अपराध किया है और यह कि पश्चात्‌वर्ती अपराध उसी स्वरूप का लघु अपराध है या ऐसे अपराध को इस प्रकार वर्णित करना जैसा कि वह भारतीय दंड संहिता की किसी अन्य धारा के अधीन दण्डनीय है, यद्यपि सच्चाई की दृष्टि से और सारतः उक्त अपराध दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 में वर्णित धाराओं की कोटि में आता है। किसी अपराध का स्वरूप या लेबल बदलने मात्र से ही, जो वास्तव में ऐसा अपराध है जो धारा 195 के उपबंधों के अंतर्गत आत्यंतिक रूप से आता है, ऐसे अपराध के लिए अभियोजन का संज्ञान उसका गलत वर्णन करके या उस पर गलत लेबल लगाकर नहीं किया जा सकता।

5-ग. उच्चतम न्यायालय ने **होरी राम सिंह** बनाम **सम्राट**[1] वाले मामले में फैडरल न्यायालय के विनिश्चय के प्रति अनुमोदन सहित निर्देश किया है। उक्त मामले में अभियुक्त पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 और 477-क के अधीन अपराधों के लिए आरोप लगाया गया था। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 477-क के अधीन अपराध के बारे में संज्ञान नहीं किया जा सकता जब तक संविधान अधिनियम की धारा 270(1) के अधीन गवर्नर की पूर्व अनुमति प्राप्त नहीं की जाती है। जबकि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन कार्यवाहियों के संस्थित किए जाने के लिए राज्यपाल की सम्मति अपेक्षित नहीं थी। फैडरल न्यायालय ने गवर्नर की सम्मति न होने के आधार पर अधिकारिता के अभाव के कारण भारतीय दण्ड संहिता की धारा 477-क के अधीन कार्यवाहियों को अभिखंडित कर दिया। किन्तु भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन आरोपों के बारे में विचारण का निदेश दिया। ऐसा इस कारण किया गया क्योंकि एक ही संव्यवहार में दो सुभिन्न अपराध किए गए थे। एक अपराध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन दुर्विनियोजन के लिए अपराध था और दूसरा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 477-क के अधीन अपराध था जिसमें गवर्नर की मंजूरी अपेक्षित थी। यह परिस्थिति कि ऐसी सम्मति के बिना पश्चात्‌वर्ती अपराध का संज्ञान नहीं किया जा सकता था, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 409 के अधीन अपराध के सम्बन्ध में अपीलार्थी के विचारण के लिए वर्जन नहीं मानी गई।

6. उच्चतम न्यायालय ने **दुर्गाचरण** बनाम **उड़ीसा राज्य**[2] वाले मामले में इस प्रश्न पर पुनः विचार किया। उक्त मामले में परिवादी ने भारतीय दण्ड

---

[1] ए० आई० आर० 1939 एफ० सी० 43 (बी).

[2] ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1775.

संहिता की धारा 186 और 353 के अधीन अपराधों के किए जाने का अभिकथन किया। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 186 के अधीन अपराध के लिए अभियोजन के लिए संहिता की धारा 195 के अधीन मंजूरी अपेक्षित थी। किन्तु भारतीय दण्ड संहिता की धारा 353 के अधीन अभियोजन के लिए ऐसी किसी मंजूरी की अपेक्षा नहीं थी। दोनों अपराधों की प्रकृति अलग-अलग है और अपराध भी सुभिन्न हैं। संविदा पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :—

> "हमने यह मत व्यक्त किया है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 में ऐसे अभियुक्त व्यक्ति को ऐसे सुभिन्न अपराध के लिए विचारण किए जाने के लिए वर्जन नहीं है जो ऐसे अपराध से प्रकट होता है या थोड़े से भिन्न तथ्यों से प्रकट होता है और जो उक्त धारा के व्याप्तिक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता है। किन्तु हमें यह अवश्य बतलाना चाहिए कि धारा 195 के उपबन्धों से किसी तरकीब या छलावरण का सहारा लेकर बचा नहीं जा सकता है………।"

न्यायालय ने बशीरुल हक (उपर्युक्त) और होरी राम सिंह (उपर्युक्त) वाले मामले में अधिकथित सिद्धान्तों का अनुसरण किया।

7. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने उच्चतम न्यायालय के **कर्नाटक राज्य बनाम हेमा रेड्डी**[1] वाले मामले का अवलम्ब लिया। उस मामले में अभियुक्त व्यक्तियों में से एक व्यक्ति ने कतिपय बन्धकित सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक विक्रय-विलेख निष्पादित किया और उसको रजिस्ट्रीकृत करवाया। ऐसा उसने वास्तविक स्वामी का प्रतिरूपण करके किया और तद्द्वारा उसने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 467 के अधीन एक अपराध कारित किया। दूसरा अभियुक्त वह बन्धकदार था जिसके पक्ष में विक्रय विलेख तैयार किया गया था। उसने अपराध का उपशमन किया। बन्धककर्ता ने मोचन के लिए एक वाद फाइल किया और तत्पश्चात् दोनों अभियुक्तों के विरुद्ध आपवादिक अपराध फाइल किया। गढ़ा गया विक्रय-विलेख मोचन के वाद में न्यायालय में पेश नहीं किया गया। यह अभिनिर्धारित किया गया कि जिस व्यक्ति ने विक्रय-विलेख तैयार करवाया था, वह भारतीय दण्ड संहिता की धारा 467 के अधीन दायी था और भारतीय दण्ड संहिता की धारा 114 के साथ पठित धारा 467 के अधीन बन्धकदार दायी थी। एक प्राइवेट परिवाद के आधार पर और बन्धकदार के विरुद्ध न्यायालय द्वारा परिवाद करना आवश्यक नहीं था। चूंकि विक्रय-विलेख न्यायालय में पेश

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1417.

नहीं किया गया, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि संहिता की धारा 195 के व्याप्तिक्षेत्र के अन्तर्गत आने वाला अपराध तथा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 193 के अधीन वाला अपराध कारित किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने प्रासंगिक रूप से यह मत व्यक्त किया :—

> "………हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि ऐसे मामलों में जहां एक ही अपराध के संव्यवहार के अनुक्रम में जिसके लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(1)(ख) के अधीन न्यायालय द्वारा अपराध के लिए परिवाद किया जाना जरूरी था जिस धारा की उपधारा के अधीन अपराध किया गया था। ऐसी धारा को विभाजित करना और यह निर्धारित करना सम्भव नहीं है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 (1)(ख) में वर्णित नहीं किए गए अपराधों के लिए अभियुक्त का अभियोजन कायम रखा जाना चाहिए।"

पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने इन समुक्तियों का अवलम्ब लिया है। तथापि उक्त विनिश्चय में की गई निम्नलिखित समुक्तियां भी सुसंगत हैं :—

> "धारा 476 और धारा 195(1)(ख) और (ग) को अधिनियमित करने का अन्तर्निहित प्रयोजन प्राइवेट पक्षकारों को इस प्रलोभन से नियंत्रित करने का उस समय प्रतीत होता है जब उनके पक्ष में उक्त धाराओं में वर्णित अपराधों से उनका व्यथित होना मानकर दाण्डिक अभियोजन तुच्छ या तंग करने वाले या अपर्याप्त आधारों पर जो उनके विरोधियों को परेशान करने या तकलीफ पहुंचाकर बदला लेने की इच्छा से प्रारम्भ किए गए हैं। ये अपराध न्यायालय द्वारा नियन्त्रण किए जाने के लिए चुने गये हैं क्योंकि उनका न्यायिक प्रक्रिया पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यह एक न्यायिक प्रक्रिया ही है, जो दूसरे शब्दों में लोक न्याय का प्रशासन है जो प्रत्यक्ष और तत्काल होता है और वह ही ऐसे अपराधों का शिकार होता है और न्यायालयों को ही भ्रम में डालकर और तदद्वारा विधि और न्याय के सम्यक् अनुक्रम को विकृत करके प्राइवेट पक्षकार को नुकसान पहुंचाने के अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त करना स्पष्ट होता है। चूंकि न्यायालय की प्रक्रियाओं की विशुद्धता अपराध के किये जाने से प्रत्यक्ष रूप से कलुषित हो जाती है किन्तु न्यायालय केवल ऐसा पक्षकार माना जाता है जिसके बारे में उस पक्षकार के विरुद्ध परिवाद करने की आवश्यकता पर विचार किए जाने के लिए हकदार है। प्रकल्पित प्राइवेट पार्टी को अन्ततः उस अपराध से हानि पहुंचती है जो लोक न्याय के

प्रशासन के विरुद्ध होता है और वह निस्संदेह न्यायालय को समझाने-बुझाने की दृष्टि से जिससे कि वह परिवाद फाइल कर सके, उच्च न्यायालय में समावेदन करने के लिए हकदार है। किन्तु ऐसा पक्षकार इस सामान्य अधिकार से वंचित है जो दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 के अधीन व्यथित पक्षकारों के संज्ञान करने के अधिकार को वंचित करना है जिससे कोई पक्षकार प्रत्यक्षत: दाण्डिक कार्यवाहियां प्रारम्भ न करे। वे अपराध जिनके सम्बन्ध में प्राइवेट पक्षकारों को अपवर्जित करते हुए न्यायालय शिकायत के अधिकार के तौर पर समुचित रूप से विचार करके कार्यवाही करने के लिए हकदार है केवल ऐसे अपराध हैं जो उस न्यायालय में कार्यवाही की प्रक्रिया में एक पक्षकार द्वारा किए गए थे। अपराध के किए जाने के लिए उसका न्यायालय में की कार्यवाहियों से घनिष्ठ और युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए जिससे वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और नई जांच पड़ताल का सहारा लिए बिना संतोषजनक रूप से सिद्धांतों के प्रति निर्देश करके इस बात पर विचार कर सकता है कि मामले में अभिलिखित किए जाने वाले सिद्धांतों के प्रति निर्देश किया जाना चाहिए तथा कार्यवाहियों के किए जाने की दक्षता और दोषी पक्षकार के अभियोजित किए जाने की समीचीनता पर भी विचार किया जाना चाहिए। अत: हमें यह अर्थान्वयन उपयुक्त प्रतीत होता है कि हम धारा 195(1)(ग) में अंतर्विष्ट प्रतिषेध को कड़े अर्थान्वयन के सिद्धांत तक ही सीमित रखें जिससे उक्त धारा को केवल ऐसे मामलों तक ही सीमित रखे जिनमें उक्त धारा में विनिर्दिष्ट अपराध कार्यवाहियों के ऐसे पक्षकार द्वारा ऐसे पक्षकार के तौर पर और उस हैसियत में किए गए थे······”

8. संहिता की धारा 195 कमोबेश रूप से 1898 की संहिता की धारा 195 के समान हैं। इस मामले के प्रयोजन के लिए किए गए कुछ परिवर्तन तात्त्विक नहीं हैं। इस धारा में लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार के अवमान के लिए अभियोजन किए जाने का वर्णन है। ऐसा अभियोजन लोक-न्याय के विरुद्ध अपराधों के लिए और साक्ष्य में दी गई दस्तावेजों से सम्बन्धित अपराधों के लिए है। ऐसे मामलों में यथास्थिति कोई भी न्यायालय लोक सेवक या न्यायालय के लिखित परिवाद के सिवाय संज्ञान नहीं करेगा। यह उपबन्ध इस साधारण नियम का अपवाद है कि कोई भी व्यक्ति, जिसे अपराध किए जाने की जानकारी हो, दण्ड विधि को परिवाद द्वारा प्रचालित कर सकता है। भले ही वह अपराध से व्यक्तिसह हितबद्ध या प्रभावित न हो। यदि इस धारा के उपबन्धों के विरुद्ध संज्ञान किया जाता है तो ऐसा अवैध और अधिकारिता के बिना होगा।

इस उपबंध का आशय प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा या पुलिस द्वारा अन्धाधुन्ध और परेशान करने वाले अभियोजनों के विरुद्ध एक रक्षोपाय के तौर पर आशयित है। ये उपबंध ऐसे अपराधों के बारे में हैं जिनसे न्याय प्रशासन प्रभावित होता है या विधिपूर्ण प्राधिकारी का अवमान होता है। विधायी आशय व्यक्तियों के आवेदन करने पर निरुद्देश्य अभियोजन की सम्भावना को दूर करना है। न्यायालयों और विधिपूर्ण प्राधिकारियों की गरिमा और प्रतिष्ठा को सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा कायम रखा जाना चाहिए और यह लोकहित की वृद्धि करने वाली बात नहीं होगी कि इस बात को प्राइवेट पक्षकारों पर इस दृष्टि से छोड़ दिया जाए कि वे ऐसे अपराधों में अन्तर्ग्रस्त दोषी व्यक्तियों को अभियोजित करें। इस क्षेत्र को प्राइवेट रागद्वेष या व्यक्तिगत तौर पर बदला लेने की भावना को प्रवर्तित करके दूषित नहीं किया जाना चाहिए। सम्बन्धित अधिकारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे जिम्मेदारी से कार्य करें और अभियोजन केवल तब ही प्रारम्भ करें जब आवश्यक हो।

9. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 के अधीन वर्जन पूर्ण रूप से लागू होना चाहिए किन्तु वह केवल उन मामलों में ही लागू होना चाहिए जो उस धारा के व्याप्ति-क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। किसी मामले में दिए गए तथ्यों से विभिन्न अपराधों का होना प्रकट हो सकता है। उनमें से कुछ संहिता की धारा 195 के व्याप्ति-क्षेत्र के अंतर्गत आ सकते हैं और दूसरे इस प्रकार के अपराध नहीं हो सकते हैं। पश्चात्वर्ती अपराधों के बारे में इस संबंध में कोई कारण नहीं है कि उनके संबंध में प्राइवेट अभियोजन क्यों नहीं हो सका। विधि यह नहीं है कि जब किसी मामले के तथ्यों से एक बार यह प्रकट होता है कि कोई अपराध संहिता की धारा 195 के अन्तर्गत आ रहा है और अन्य अपराध भी उक्त धारा के अन्तर्गत आ रहा है, तब पश्चात्वर्ती के संबंध में अभियोजन केवल संबंधित न्यायालय या विधिपूर्ण प्राधिकारी द्वारा परिवाद करने पर ही शुरू किया जा सकता है। इससे अन्यथा अभिनिर्धारित करना संहिता की धारा 195 के व्याप्ति-क्षेत्र को ऐसे क्षेत्रों और परिक्षेत्रों तक विस्तारित करना है जिनकी बाबत विधानमंडल ने अनुध्यान नहीं किया था। किसी मामले के तथ्यों से सुभिन्न अपराधों का होना उद्भूत हो सकता है जिसके अन्तर्गत लोक-सेवकों के प्राधिकार के विरुद्ध अपराध या लोक न्याय के विरुद्ध अपराध सम्मिलित है। साथ ही ऐसे अपराध भी सम्मिलित हैं जो प्राइवेट व्यवितयों के विरुद्ध हैं। संहिता की धारा 195 के अधीन वर्जन से ऐसी परिस्थितियों में ऐसे अपराध जो लोक प्राधिकारी या लोक न्याय के विरुद्ध हों, प्रभावित नहीं हो सकते। ऐसे अपराधों के लिए अभियोजन हेतु लोक प्राधिकारी या न्यायालय का होना अपेक्षित नहीं है। तथापि स्थिति उस समय भिन्न हो

प्रशासन के विरुद्ध होता है और वह निस्संदेह न्यायालय को समझाने-बुझाने की दृष्टि से जिससे कि वह परिवाद फाइल कर सके, उच्च न्यायालय में समावेदन करने के लिए हकदार है। किन्तु ऐसा पक्षकार इस सामान्य अधिकार से वंचित है जो दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 190 के अधीन व्यथित पक्षकारों के संज्ञान करने के अधिकार को वंचित करना है जिससे कोई पक्षकार प्रत्यक्षतः दाण्डिक कार्यवाहियां प्रारम्भ न करे। वे अपराध जिनके सम्बन्ध में प्राइवेट पक्षकारों को अपवर्जित करते हुए न्यायालय शिकायत के अधिकार के तौर पर समुचित रूप से विचार करके कार्यवाही करने के लिए हकदार है केवल ऐसे अपराध हैं जो उस न्यायालय में कार्यवाही की प्रक्रिया में एक पक्षकार द्वारा किए गए थे। अपराध के किए जाने के लिए उसका न्यायालय में की कार्यवाहियों से घनिष्ठ और युक्तियुक्त सम्बन्ध होना चाहिए जिससे वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और नई जांच पड़ताल का सहारा लिए बिना संतोषजनक रूप से सिद्धांतों के प्रति निर्देश करके इस बात पर विचार कर सकता है कि मामले में अभिलिखित किए जाने वाले सिद्धांतों के प्रति निर्देश किया जाना चाहिए तथा कार्यवाहियों के किए जाने की दक्षता और दोषी पक्षकार के अभियोजित किए जाने की समीचीनता पर भी विचार किया जाना चाहिए। अतः हमें यह अर्थान्वयन उपयुक्त प्रतीत होता है कि हम धारा 195(1)(ग) में अंतर्विष्ट प्रतिषेध को कड़े अर्थान्वयन के सिद्धांत तक ही सीमित रखें जिससे उक्त धारा को केवल ऐसे मामलों तक ही सीमित रखे जिनमें उक्त धारा में विनिर्दिष्ट अपराध कार्यवाहियों के ऐसे पक्षकार द्वारा ऐसे पक्षकार के तौर पर और उस हैसियत में किए गए थे······"

8. संहिता की धारा 195 कमोबेश रूप से 1898 की संहिता की धारा 195 के समान हैं। इस मामले के प्रयोजन के लिए किए गए कुछ परिवर्तन तात्त्विक नहीं हैं। इस धारा में लोक सेवकों के विधिपूर्ण प्राधिकार के अवमान के लिए अभियोजन किए जाने का वर्णन है। ऐसा अभियोजन लोक-न्याय के विरुद्ध अपराधों के लिए और साक्ष्य में दी गई दस्तावेजों से सम्बन्धित अपराधों के लिए है। ऐसे मामलों में यथास्थिति कोई भी न्यायालय लोक सेवक या न्यायालय के लिखित परिवाद के सिवाय संज्ञान नहीं करेगा। यह उपबन्ध इस साधारण नियम का अपवाद है कि कोई भी व्यक्ति, जिसे अपराध किए जाने की जानकारी हो, दण्ड विधि को परिवाद द्वारा प्रचालित कर सकता है। भले ही वह अपराध से व्यक्तिसह हितबद्ध या प्रभावित न हो। यदि इस धारा के उपबन्धों के विरुद्ध संज्ञान किया जाता है तो ऐसा अवैध और अधिकारिता के बिना होगा।

इस उपबंध का आशय प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा या पुलिस द्वारा अन्धाधुन्ध और परेशान करने वाले अभियोजनों के विरुद्ध एक रक्षोपाय के तौर पर आशयित है। ये उपबंध ऐसे अपराधों के बारे में हैं जिनसे न्याय प्रशासन प्रभावित होता है या विधिपूर्ण प्राधिकारी का अवमान होता है। विधायी आशय व्यक्तियों के आवेदन करने पर निरुद्देश्य अभियोजन की सम्भावना को दूर करना है। न्यायालयों और विधिपूर्ण प्राधिकारियों की गरिमा और प्रतिष्ठा को सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा कायम रखा जाना चाहिए और यह लोकहित की वृद्धि करने वाली बात नहीं होगी कि इस बात को प्राइवेट पक्षकारों पर इस दृष्टि से छोड़ दिया जाए कि वे ऐसे अपराधों में अन्तर्ग्रस्त दोषी व्यक्तियों को अभियोजित करें। इस क्षेत्र को प्राइवेट रागद्वेष या व्यक्तिगत तौर पर बदला लेने की भावना को प्रवर्तित करके दूषित नहीं किया जाना चाहिए। सम्बन्धित अधिकारियों से यह आशा की जा सकती है कि वे जिम्मेदारी से कार्य करें और अभियोजन केवल तब ही प्रारम्भ करें जब आवश्यक हो।

9. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 के अधीन वर्जन पूर्ण रूप से लागू होना चाहिए किन्तु वह केवल उन मामलों में ही लागू होना चाहिए जो उस धारा के व्याप्ति-क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। किसी मामले में दिए गए तथ्यों से विभिन्न अपराधों का होना प्रकट हो सकता है। उनमें से कुछ संहिता की धारा 195 के व्याप्ति-क्षेत्र के अंतर्गत आ सकते हैं और दूसरे इस प्रकार के अपराध नहीं हो सकते हैं। पश्चात्वर्ती अपराधों के बारे में इस संबंध में कोई कारण नहीं है कि उनके संबंध में प्राइवेट अभियोजन क्यों नहीं हो सका। विधि यह नहीं है कि जब किसी मामले के तथ्यों से एक बार यह प्रकट होता है कि कोई अपराध संहिता की धारा 195 के अन्तर्गत आ रहा है और अन्य अपराध भी उक्त धारा के अन्तर्गत आ रहा है, तब पश्चात्वर्ती के संबंध में अभियोजन केवल संबंधित न्यायालय या विधिपूर्ण प्राधिकारी द्वारा परिवाद करने पर ही शुरू किया जा सकता है। इससे अन्यथा अभिनिर्धारित करना संहिता की धारा 195 के व्याप्ति-क्षेत्र को ऐसे क्षेत्रों और परिक्षेत्रों तक विस्तारित करना है जिनकी बाबत विधानमंडल ने अनुध्यान नहीं किया था। किसी मामले के तथ्यों से सुभिन्न अपराधों का होना उद्भूत हो सकता है जिसके अन्तर्गत लोक-सेवकों के प्राधिकार के विरुद्ध अपराध या लोक न्याय के विरुद्ध अपराध सम्मिलित है। साथ ही ऐसे अपराध भी सम्मिलित हैं जो प्राइवेट व्यक्तियों के विरुद्ध हैं। संहिता की धारा 195 के अधीन वर्जन से ऐसी परिस्थितियों में ऐसे अपराध जो लोक प्राधिकारी या लोक न्याय के विरुद्ध हों, प्रभावित नहीं हो सकते। ऐसे अपराधों के लिए अभियोजन हेतु लोक प्राधिकारी या न्यायालय का होना अपेक्षित नहीं है। तथापि स्थिति उस समय भिन्न हो

सकती है जब उसी संव्यवहार के अनुक्रम में दो प्रवर्गों वाले अपराध किए गए हैं। ऐसे मामलों में संव्यवहार को दो भागों में विभाजित करना संभव नहीं होगा और यह अभिनिर्धारित करना भी संभव नहीं होगा कि ऐसे अपराधों के लिए विधिमान्य अभियोजन प्रारम्भ किया जा सकता है जिनका उल्लेख संहिता की धारा 195 में नहीं किया गया है। यथा-स्थिति लोक प्राधिकारी या न्यायालय की लिखित शिकायत के बिना न्यायालयों को इस योग्य होना चाहिए कि वे यह बात भांप सकें कि संहिता की धारा 195 को शाब्दिक बाजीगरी के द्वारा किसी संव्यवहार की असली प्रकृति को छिपाकर नकारात्मक बनाया जा रहा है। यदि सिद्धांत और सार की दृष्टि से अभिकथित अपराध धारा 195 में वर्णित प्रवर्गों के अंतर्गत आता है तो वर्जन के लागू होने को टाला नहीं जा सकता। यदि सारतः अभिकथित अपराध उन प्रवर्गों के बाहर आता है तो वर्जन प्रवर्तित नहीं होगा। साथ ही यदि तथ्यों से सुभिन्न अपराध उद्भूत होते हैं जिनमें से कुछ पर धारा 195 का प्रवर्तन लागू होता है, अन्य जो इस प्रकार न हों, वर्जन केवल पूर्ववर्ती के बारे में ही लागू हो सकता है न कि पश्चात्वर्तियों के बारे में।

10. इस मामले में अंतिम रिपोर्ट में तथ्यों के दो सुभिन्न संवर्गों के प्रति निर्देश किया गया है। तथ्यों का प्रथम सेट लोक सेवक (या न्यायालय) के आदेश के अभिकथित उल्लंघन से संबंधित है जो यह है कि विवादग्रस्त पगडंडी को नष्ट नहीं किया जाना चाहिए। इस संबंध में प्रकथनों से ऐसा अपराध प्रकट होता है जो भारतीय दंड संहिता की धारा 188 के अधीन दण्डनीय है, जिसके संबंध में अभियोजन सम्पृक्त प्राधिकारी द्वारा लिखित में दिए गए परिवाद के आधार पर प्रारंभ किया जा सकता है। चूंकि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अधीन अपराध के लिए अभियोजन संबंधित प्राधिकारी की लिखित शिकायत के आधार पर प्रारम्भ नहीं किया गया था, अतः इस मामले में इस विस्तार तक कार्यवाहियां कायम रखी नहीं जा सकती। साथ ही भारतीय दण्ड संहिता की धारा 427 और 447 के अधीन अभिकथित अपराधों का प्राधिकारी द्वारा जारी किए गए आदेश से कोई ताल्लुक नहीं है और न उसके अतिलंघन से कोई ताल्लुक है। इस संबंध में किए गए प्रकथन सी० डब्लू० 1 की प्राइवेट संपत्ति से संबंधित हैं, जिसके संबंध में यह अभिकथित किया गया है कि इसके अंतर्गत प्राइवेट भूमि पर अतिचार अंतर्वलित है और सी० डब्लू० 1 की अहाते की दीवार तथा बाड़ के बारे में की गई रिष्टि इसके अंतर्गत है। ये अपराध सी० डब्लू० 1 के विरुद्ध हैं और अभियोजन सी० डब्लू० 1 द्वारा प्रत्यक्षतः या पुलिस के माध्यम से प्रारंभ किया जा सकता है और यही बात प्रस्तुत मामले में हुई है। अपराध के दो संवर्ग सुभिन्न अपराध हैं और वे सुभिन्न प्रकथनों और तथ्यों से उद्भूत हुए हैं। यह बात उस

अनुसूची (च) के खण्ड 1 (2) में यह उपबन्धित है कि विद्यालय में नियुक्त किए जाने के लिए अध्यापकों के चयन हेतु गठित चयन समिति में प्रशासनिक अधिकारी का एक प्रतिनिधि, विद्यालय का प्रधानाध्यापक और निकाय या समिति के प्रबन्ध-निकाय का एक प्रतिनिधि होगा। यह ऐसा उपबन्ध है जो अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था के प्रबन्ध तंत्र के अधिकारों पर गहरा आघात पहुंचाता है क्योंकि चयन समिति में प्रबन्ध-तंत्र का केवल एक ही प्रतिनिधि होगा। इसके परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक वर्गों को संस्था के प्रबन्ध-तंत्र पूरी तरह से उस दशा में असहाय हो जाएंगे जहां पर संबंधित विद्यालय का प्रधानाध्यापक प्रशासनिक अधिकारी के साथ सहमति प्रकट करता है, और अधिकतर मामलों में इस आकस्मिकता से इनकार नहीं किया जा सकता।

18. खण्ड 5 जो किसी न्यास या विद्यालय के प्रबन्ध निकाय को किसी शिक्षा सत्र के दौरान किसी कक्षा या समस्त विद्यालय को बन्द करने और इस प्रकार कक्षा या विद्यालय को बन्द करने के आशय की प्रस्तावित तिथि से छः मास पूर्व प्रशासनिक अधिकारी को ऐसा करने के अपने आशय की लिखित सूचना दिए बिना बन्द करने से प्रतिषिद्ध करती है, ऐसा उपबन्ध है जो प्रबन्ध-तंत्र के अधिकार को समाप्त करता है क्योंकि वास्तव में यह अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वह सूचना की अवधि के भीतर विद्यालय खुला रखे जिसके कारण उस पर काफी वित्तीय बोझ पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त यह विद्यालय स्थापित करने के अधिकार का, जिसमें बन्द करने का अधिकार भी सम्मिलित है, हनन करता है।

19. खण्ड 13(1) प्राइवेट विद्यालयों के प्रबन्धतंत्र को इस बात के लिए प्रतिषिद्ध करता है कि वह किसी भी स्थायी प्रशिक्षित अध्यापक की सेवाओं का पर्यवसान शास्ति के अतिरिक्त प्रशासन अधिकारी की पूर्व अनुमति के बिना नहीं करेगा। जैसा कि उच्चतम न्यायालय के अनेक विनिश्चयों में अभिनिर्धारित किया गया है यह अनुच्छेद 30(1) का अतिक्रमण करता है। खण्ड 13(2) को भी, जो ऐसे अध्यापक की सेवाओं का पर्यवसान प्रशासन अधिकारी की अनुमति से और प्रतिकर देकर करने के लिए प्रबन्धतंत्र को सक्षम बनाता है, विधिमान्य घोषित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह खण्ड (1) के साथ जटिल रूप से जुड़ा हुआ है अतः इसे मुख्य अधिनियमिति से पृथक् नहीं किया जा सकता। खण्ड 13(2) उस अध्यापक को, जिसकी सेवाओं का इस प्रकार पर्यवसान किया जाता है, खण्ड में विनिर्दिष्ट सेवा की अवधि के अनुसार भत्तों सहित 12 मास के वेतन के रूप में प्रतिकर प्राप्त करने के लिए हकदार बनाता है। यह उपबंध प्रबन्धतंत्र के अपनी रुचि की संस्था का प्रबन्ध करने के अधिकार का अतिक्रमण

करता है। उक्त खण्ड यह अपेक्षा करता है कि सेवा का पर्यवसान करने से पूर्व एक जांच समिति गठित की जाए। इस प्रकार की समिति में प्रबन्धतंत्र का एक प्रतिनिधि विद्यालय का मुख्याध्यापक और अध्यापकों का प्रतिनिधि होगा। यह भी स्पष्ट रूप से प्रबन्धतंत्र के अधिकार में हस्तक्षेप करता है।

20. इसी प्रकार खण्ड 15 भी, जिसमें स्थायी प्रशिक्षित अध्यापक से भिन्न, जिसके बारे में खण्ड 13 में उपबंध किया गया है, किसी स्थायी कर्मचारी की सेवाओं का पर्यवसान करने से पूर्व जांच किए जाने का उपबंध किया गया है, प्रबन्धतंत्र के अधिकार को कम करता है। यह बात उल्लेखनीय है कि सेवा का पर्यवसान करने का यह अधिकार शास्ति के रूप में नहीं है। इसके लिए 16 से 19 तक के खण्डों में विभिन्न उपबंध किए गए हैं। किसी स्थायी कर्मचारी की सेवा का पर्यवसान करने की शक्ति बिना कोई कारण बताए प्रबन्धतंत्र के अधिकार का अभिन्न भाग है जो सर्वसाधारण में और निजी सैक्टर में तथा सभी सेवा नियमावलियों में, चाहे वे कानूनी हों या न हों, मान्यता प्राप्त है और इस अधिकार का पालन निस्संदेह रूप से नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों और ऋजुता के अधीन रहते हुए प्रधानाध्यापकों द्वारा किया जा रहा है। आक्षेपित खण्ड, जहां तक कि इसमें आरोप-पत्र विरचित करने और प्रतिरक्षा करने के अधिकार का उपबंध किया गया है, प्रबन्धतंत्र के अधिकार का सारवान् रूप से ह्रास करता है। उस विस्तार तक जहां तक कि वह पर्यवसान की शक्ति को नियंत्रित करता है वहां तक इसके बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि यह अल्पसंख्यक वर्ग-संस्था के प्रबन्धतंत्र के अधिकार को समाप्त करता है।

21. खण्ड 24, जो कर्मचारी को निलम्बन के आदेश या शास्ति के अधिरोपण के आदेश के विरुद्ध प्रशासनिक अधिकारी के समक्ष अपील करने का अधिकार विनिहित करता है तथा खण्ड 27 जिसमें अपील प्राधिकारी की शक्तियों को विनिर्दिष्ट किया गया है और जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ शास्ति अपास्त करना या उसे कम करना भी सम्मिलित है, एक ऐसी शक्ति है जो प्रबन्धतंत्र के अधिकार को समाप्त करती है क्योंकि अपील प्राधिकारी किसी भी प्रकार का ऐसा आदेश पारित कर सकता है जिसमें शास्ति-आदेश को उलटना या अपास्त करना भी सम्मिलित है तथा खण्ड 24, जो बहाल किए जाने का आदेश पारित करने वाले प्राधिकारी को निलम्बनाधीन अवधि के लिए वेतन और भत्तों की बाबत और उस अवधि को किस रूप में माना जाए, इस बारे में स्पष्ट रूप से प्रबन्धतंत्र के अधिकार का विनाशक है और इस तरह यह संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करता है।

22. इसी प्रकार खण्ड 30, जो कर्मचारी को प्रशासनिक अधिकारी या जिले के शिक्षा अधिकारी के समक्ष ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील करने का अधिकार प्रदान करता है जिसमें उसे उच्चतर पद पर प्रोन्नत किए जाने से इनकार किया गया हो या उसे समय-वेतनमान में दक्षता रोध पार करने की उसकी अयोग्यता के आधार पर दक्षता रोध पर ही रोक दिया गया हो या उसे शास्ति से भिन्न किसी अन्य आधार पर निम्नतर सेवा या पद पर प्रतिवर्तित कर दिया हो, पुनः एक ऐसा उपबंध है जो प्रबन्धतंत्र के अधिकार को समाप्त करता है और चूंकि अपील प्राधिकारी की शक्ति असीमित और अनिर्बन्धित है अतः यह प्रबन्धतंत्र के अधिकार का विनाशक है ।

23. उपर्युक्त अनुसूची (च) के उपबंध स्पष्ट रूप से अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं का प्रबन्ध करने के अधिकार का अतिक्रमण करते हैं और जहां तक नियम 106(2) के अधीन दिए जाने वाला वचन अल्पसंख्यक वर्गों की संस्था के प्रबन्धतंत्र को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे मान्यता प्राप्त करने की शर्तों के रूप में इन उपबंधों का पालन करें वहां तक यह उपबंध स्पष्ट रूप से संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करता है और वे इस सीमा तक अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं के मामलों को लागू नहीं होंगे । चूंकि नई अनुसूची (च) के अन्य उपबंध, जिनमें अन्य बातों के साथ-साथ वेतनमान, छुट्टी, सेवा निवृत्ति लाभ, आचरण और अनुशासनिक कार्यवाहियां विहित की गई हैं, व्यवस्थापन सम्बन्धी सदुपाय स्वरूप के हैं अतः इनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रबन्धतंत्र के अधिकार का अल्पीकरण करने वाले हैं अतः इन उपबंधों के पालन के लिए दिए गए वचन के सम्बन्ध में अनुच्छेद 30 का प्रतिषेधात्मक आदेश लागू नहीं होता अतः इन्हें संविधान के अधिकारातीत नहीं कहा जा सकता ।

24. इस बात का स्मरण किया जाना चाहिए कि 1978 के विशेष सिविल आवेदन सं० 820 में आक्षेपित सूचनाएं प्रशासनिक अधिकारी द्वारा विद्यालय प्रबन्धतंत्र से यह अपेक्षा करते हुए जारी की गई थी कि वह यह हेतुक दर्शित करे कि उक्त सूचनाओं में उल्लिखित कारणों के आधार पर इसकी मान्यता क्यों न समाप्त कर दी जाए । किन्तु इस प्रश्न का निपटारा सक्षम प्राधिकारी को करना है, जैसा कि नियमों में विनिर्दिष्ट हैं, अतः तब तक प्रशासनिक अधिकारी विद्यालय की मान्यता को समाप्त नहीं कर सकता ।

25. परिणामस्वरूप ये पिटीशन भागतः यह घोषणा करते हुए स्वीकार किए जाते हैं कि मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन (गुजरात अमेंडमेंट) रूल्स, 1978

द्वारा यथा प्रतिस्थापित मुम्बई प्राइमरी एजूकेशन रूल्स की अनुसूची 'च' के खण्ड 1(2), 5, 13, 15, 24, 27 और 30 के उपबंध अल्पसंख्यक वर्गों की संस्थाओं को लागू नहीं होंगे क्योंकि वे संविधान के अनुच्छेद 30 का अतिक्रमण करते हैं और उस सीमा तक कानूनी वचन उपान्तरित समझा जाएगा और इन उपबंधों का अतिक्रमण करते हुए राज्य सरकार कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। यदि ऐसा कहा जाए तो सक्षम प्राधिकारी इन पिटीशनों से सम्बन्धित तीनों विद्यालयों की मान्यता को वापस लेने की बाबत सक्षम अधिकारी द्वारा सिफारिश करने पर नए सिरे से विचार कर सकता है। इन पिटीशनों में से प्रत्येक पिटीशन के न्यायादेश को आत्यन्तिक किया जाता है। खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

26. पिटीशनरों की ओर से श्री० डी० डी० व्यास ने यह प्रार्थना की है कि जहां तक अनुसूची 'च' के उपबंधों को इस न्यायालय ने कायम रखा है वहां तक, इस निर्णय के क्रियान्वयन को रोक दिया जाए। प्रार्थित रोक 6 सप्ताह के लिए इस शर्त पर मंजूर की जाती है कि सम्बन्धित विद्यालय का प्रबन्धतंत्र इस न्यायालय की अनुमति के बिना किसी शिक्षक या शिक्षकेतर सदस्य की सेवाओं का पर्यवसान नहीं करेगा।

पिटीशन भागतः मंजूर किए गए।

खन्ना/बंसल

नि० प० 1984 : गुजरात—88

जादवबेन एण्ड नागजीभाई इजवाला एजूकेशनल एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट (मै०) बनाम गुजरात राज्य और अन्य

(M/s. Jadavben and Nagjibhai Ijwala Educational and Charitable Trust *Vs*. The State of Gujarat and others)

तारीख 18 नवम्बर, 1983

[न्या० एस० ए० शाह]

गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट, 1972—धारा 35 सपठित विनियम सं० 20—प्रधानाध्यापक की नियुक्ति करने की शक्ति—राज्य सरकार या

जिला शिक्षा अधिकारी को प्रधानाध्यापक या किसी अध्यापक की नियुक्ति करने या ऐसा आज्ञापक निदेश देने की शक्ति नहीं है—अतः प्रबन्धतन्त्र द्वारा की गई नियुक्ति को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता—अतः सरकार या जिला शिक्षा अधिकारी द्वारा प्रधानाध्यापक की नियुक्ति के लिए जारी की गई संसूचना से धारा 35(7) और विनियम 20(1) के उपबन्धों का अतिक्रमण होता है और उसे कायम नहीं रखा जाएगा।

प्रशासनिक विधि—नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त—ऐसे प्रशासनिक आदेश भी, जो पक्षकारों के अधिकारों पर प्रभाव डालते हैं, नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अनुपालन करने के पश्चात् ही पारित किए जाने चाहिए।

पिटीशनर गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट, 1972 के अधीन रजिस्ट्रीकृत एक माध्यमिक विद्यालय है। प्रत्यर्थी सं० 3 को पिटीशनर-विद्यालय में एक सहायक अध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया था। नियुक्ति के पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 3 ने बी० एड० भी कर लिया किन्तु प्रत्यर्थी सं० 3 एक अन्य सहायक अध्यापक से कनिष्ठ है। पिटीशनर-विद्यालय के तत्कालीन प्रधानाध्यापक द्वारा पद त्याग देने के कारण प्रत्यर्थी सं० 3 को प्रधानाध्यापक बना दिया गया जिसका उससे ज्येष्ठ अध्यापिका ने विरोध किया। जिला शिक्षा अधिकारी ने भी ऐसा अवैध मार्ग अपनाए जाने का विरोध किया और पिटीशनर न्यास को विहित प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए निदेश दिया गया। इस बीच प्रत्यर्थी सं० 3 को आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत निरुद्ध कर लिया गया। फलस्वरूप उससे ज्येष्ठ अध्यापक की प्रभारी प्रधानाध्यापिका के रूप में नियुक्ति की गई। कुछ समय बाद उसे निरोध से छोड़ दिया गया। इस बीच विद्यालय द्वारा प्रधानाध्यापक का पद भरने के लिए आवेदन मांगे गए और प्रबन्धतन्त्र द्वारा उसके पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 3 की प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्ति उसे संसूचित कर दी गई। किन्तु प्राधिकारियों द्वारा इसका विरोध किए जाने पर उसकी नियुक्ति रद्द कर दी गई और वह सहायक अध्यापक ही बना रहा और प्रबन्धतन्त्र द्वारा एक अन्य ज्येष्ठ अध्यापिका की प्रधानाध्यापिका के पद पर नियुक्ति कर दी गई। किन्तु जिला शिक्षा अधिकारी ने प्रबन्धतन्त्र को सरकार द्वारा 4 नवम्बर, 1977 को पारित आदेशों को कार्यान्वित करने और प्रत्यर्थी सं० 3 के भूतलक्षी प्रभाव से प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त करने का निदेश दिया। अतः जिला शिक्षा अधिकारी के आदेश से व्यथित होकर पिटीशनर ने प्रबन्धतन्त्र के उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

पिटीशनर की ओर से संक्षेप में यह दलील दी गई है कि गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट की धारा 35(ख) के अधीन प्रधानाध्यापक की नियुक्ति करने की

शक्ति विद्यालय समिति में निहित है इसलिए प्राधिकारियों को आक्षेपित आदेश जारी करने की कोई शक्ति नहीं है, यह कि विनियम 20 के उपबन्धों के अधीन प्रत्यर्थी सं० 3 प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्ति के लिए अर्हित नहीं है, यह कि ज्येष्ठता के कारण और प्रबन्धतन्त्र के विनिश्चय के कारण ज्येष्ठ अध्यापिका की प्रधानाध्यापिका के रूप में नियुक्ति विधिक उपबन्धों और विनियम के अनुरूप है और सरकार द्वारा पारित आदेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हैं और दूसरे ज्येष्ठ अध्यापक की नियुक्ति रद्द करना और प्रत्यर्थी सं० 3 की नियुक्ति करना प्राधिकारियों की शक्तियों के अधिकारातीत है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट, 1972 की धारा 35(7) में स्पष्टतः यह कहा गया है कि इस धारा के उपबन्धों के उल्लंघन में की गई प्रधानाध्यापक या अध्यापक की कोई भी नियुक्ति अप्रभावी होगी। इस अधिनियम या विनियमों का ऐसा कोई भी उपबन्ध दर्शित नहीं किया गया है जिसमें सरकार या जिला शिक्षा अधिकारी को प्रधानाध्यापक की नियुक्ति करने या ऐसा आज्ञापक निदेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है। अतः यह पूरी तरह स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी कानूनी उपबन्ध नहीं है जिसके अधीन राज्य सरकार में प्रधानाध्यापक या अध्यापक की नियुक्ति का निदेश देने की शक्ति विनिहित की गई हो। इसके विरुद्ध, धारा 35 की उपधारा (7) धारा 35 में बनाए गए कानूनी उपबन्धों के उल्लंघन का प्रतिषेध करती है। यह निर्विवाद है कि यह नियुक्ति प्रबन्धतन्त्र के सम्पूर्ण निकाय द्वारा सरकार के आदेशों के पूर्व की गई है। प्रबन्धतन्त्र द्वारा की गई नियुक्ति को आक्षेपित पत्रों में दर्शित आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। आक्षेपित संसूचनाएं स्पष्टतः धारा 35 की उपधारा (7) के उल्लंघन में हैं और प्रधानाध्यापक की नियुक्ति के लिए निदेश जारी करने की शक्ति राज्य सरकार में निहित नहीं है। (पैरा 7 और 10)

पुराने विनियम 20 के उपबन्धों में प्रधानाध्यापक के पद के लिए अर्हता प्राप्त करने के पश्चात् तीन वर्ष का अध्यापन अनुभव अपेक्षित है। यह एक स्वीकृत स्थिति है कि अध्यापक ने अध्यापन अनुभव के तीन वर्ष पूरे नहीं किए। इस सीमित दलील के आधार पर भी वह अर्हित नहीं है। किसी अभ्यर्थी की पात्रता पर विचार करने के लिए सुसंगत तारीख वह नहीं है जब कोई रिक्ति हुई है बल्कि यह है कि नियुक्ति कब की गई थी क्योंकि जब किसी व्यक्ति की किसी रिक्त पद पर नियुक्ति की जाती है तब पात्रता पर अवश्य विचार करना होगा। नियुक्ति की तारीख को स्वीकृत रूप से उसने पांच वर्ष या अधिक का अपेक्षित अनुभव

प्राप्त नहीं किया था इसलिए वह प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं है। यहां तक कि जब यह रिक्ति हुई थी तब पुराने विनियम पर विचार करने पर उसने एक अर्हित अध्यापक के रूप में तीन वर्ष की सेवा पूरी नहीं की थी इसलिए वह प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए भी अर्हित नहीं था। मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार किए जाने पर सम्बन्धित अध्यापक की विद्यालय के प्रधानाध्यापक के रूप में पात्र न होने के कारण नियुक्ति नहीं की जा सकती। अतः सरकार का आदेश प्रत्यक्षतः नए विनियम 20(1) और साथ ही पुराने विनियम 20(1) के भी विरुद्ध है और उसे कायम नहीं रखा जा सकता। जब यह रिक्ति भरी जानी थी तब भी नया विनियम 20 हीं लागू होता है और भूतलक्षी प्रभाव से नियुक्ति करने का कोई भी आदेश नया विनियम प्रवृत्त होने के पश्चात् पारित नहीं किया जा सकता। (पैरा 11, 12 और 13)

इस दलील को कि प्रबन्धतन्त्र या सम्बन्धित पक्षकार की सुनवाई किए बिना ही आदेश पारित किए गए हैं, स्वीकार किया जायेगा क्योंकि राज्य सरकार ने उपर्युक्त आक्षेपित आदेशों द्वारा प्रबन्धतन्त्र और ज्येष्ठ अध्यापिका के अधिकारों पर प्रभाव डाला है। ऐसे आदेश प्रबन्धतन्त्र या सम्बन्धित पक्षकार की सुनवाई किये बिना पारित किये जाने के कारण उनसे स्पष्टतः नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण होता है। अब उच्चतम न्यायालय द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि ऐसे प्रशासनिक आदेश भी, जो पक्षकारों के अधिकारों पर प्रभाव डालते हों, निष्पक्षता और न्याय के सिद्धान्तों का अनुपालन करने के पश्चात् ही पारित किये जाने चाहिए। अतः ये आदेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अतिक्रमण में पारित किये गये हैं और उन्हें कायम नहीं रखा जा सकता। (पैरा 15)

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1977 का विशेष सिविल आवेदन सं० 1797.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री डी० डी० व्यास

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री एम० ए० बुखारी

प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से ... श्री आर० आर० त्रिपाठी

न्या० एस० ए० शाह :

इस पिटीशन में पिटीशनर गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट, 1972 के उपबन्धों के अधीन रजिस्ट्रीकृत एक माध्यमिक विद्यालय है। वह मुम्बई पब्लिक

ट्रस्ट ऐक्ट, 1950 के अधीन भी रजिस्ट्रीकृत है। पिटीशनर ने दो आदेशों को चुनौती दी है, अर्थात् (1) अनुभाग अधिकारी, शिक्षा विभाग सचिवालय गांधी नगर द्वारा हस्ताक्षरित तारीख 4 नवम्बर, 1977 का आदेश, उपाबन्ध-सी, जो गुजरात माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के सचिव को लिखा गया है और जिसमें यह संसूचित किया गया है कि पिटीशनर-विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर प्रत्यर्थी सं० 3 डी० टी० चद्दरवाला की नियुक्ति का एक विशेष मामले के रूप में अनुमोदन किया जाये, और (2) जिला शिक्षा अधिकारी भड़ोंच (भरुच) द्वारा तारीख 14 नवम्बर, 1977 को पारित आदेश जिसके द्वारा पिटीशनर-विद्यालय को प्रत्यर्थी सं० 3 को प्रधानाध्यापक के रूप में बनाये रखने और उसकी नियुक्ति को जून, 1976 से विधिमान्य मानने और उसे उक्त पद की उपलब्धियों का संदाय करने का निदेश दिया गया है। उक्त आदेश उपाबन्ध-एफ पर पेश किया गया है।

2. जिन सुसंगत तथ्यों पर विचार किये जाने की आवश्यकता है, वे इस प्रकार हैं :—

प्रत्यर्थी सं० 3, जिसे पिटीशनर-विद्यालय में 26 जून, 1972 से सहायक अध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया है, के पास बी० एस-सी० (विज्ञान स्नातक) की डिग्री है। अपनी नियुक्ति के पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 3 ने बी० एड० भी कर लिया जो कि अपेक्षित शैक्षिक अर्हता है और इस प्रकार वह 2 मई, 1973 को एक प्रशिक्षित अध्यापक बन गया और उसे जून, 1973 से नियमित वेतनमान दे दिया गया। यह एक स्वीकृत स्थिति है कि प्रत्यर्थी सं० 3 एक अन्य सहायक अध्यापिका कुमारी मधुबेन मेहता से कनिष्ठ है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री एस० बी० शाह को, जो पिटीशनर विद्यालय में प्रधानाध्यापक के रूप में कार्य कर रहा था, विभागाधीन जांच के लम्बित रहने के दौरान लगभग 1 नवम्बर, 1974 को सेवा से निलम्बित कर दिया गया और अन्ततोगत्वा उसने 23 जून, 1975 से प्रधानाध्यापक के पद से त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि कुमारी मधुबेन मेहता प्रत्यर्थी सं० 3 से ज्येष्ठ थी तथापि प्रत्यर्थी सं० 3 को 1 नवम्बर, 1974 से प्रधानाध्यापक के पद का कार्यभार सौंप दिया गया जिसका कुमारी मधुबेन मेहता ने विरोध किया। यह भी अभिलेख में मौजूद है कि जिला शिक्षा अधिकारी ने भी, जो विद्यालय का प्रभारी अधिकारी है, ऐसे अवध मार्ग अपनाये जाने का विरोध किया और पिटीशनर न्यास को 25 नवम्बर, 1974 को एक पत्र लिखा जिसमें विद्यालय को विहित प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए निदेश दिया गया। उक्त पत्र उपाबन्ध-ए पर पेश किया गया है। इस पत्र के बावजूद विद्यालय प्रबन्धतन्त्र ने प्रत्यर्थी सं० 3 को तारीख 13 मार्च, 1976 को

आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (मीसा) के अधीन निरुद्ध किये जाने तक कोई भी कार्यवाही नहीं की। यह भी अभिलेख में है कि कुमारी मधुबेन मेहता की 13 मार्च, 1976 से प्रभारी प्रधानाध्यापिका के रूप में नियुक्ति की गई।

3. प्रत्यर्थी सं० 3 को जनवरी, 1977 में निरोध से छोड़ दिया गया। उसने तारीख 23 जनवरी, 1978 के अपने शपथपत्र में यह दलील दी है कि विद्यालय द्वारा दैनिक समाचारपत्र 'प्रताप' में एक विज्ञापन जारी किया गया जिसके द्वारा प्रधानाध्यापक के पद के लिए आवेदन मांगे गए। पिटीशनर-विद्यालय में कार्य करने वाले सभी अध्यापकों को इस तथ्य के बारे में सूचित कर दिया गया कि प्रधानाध्यापक की नियुक्ति की जानी है और विद्यालय के सभी पात्र अध्यापक भी इसके लिए आवेदन कर सकेंगे। उसने शपथपत्र में यह भी बताया कि 17 अप्रैल, 1977 को उक्त पद के लिए साक्षात्कार करने के पश्चात् प्रबंधतंत्र ने प्रधानाध्यापक के रूप में उसकी नियुक्ति की और नियुक्ति का आदेश उसे 18 अप्रैल, 1977 को संसूचित कर दिया गया। तथापि इस महत्त्वपूर्ण दस्तावेज को प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा अपने शपथपत्र में पेश नहीं किया गया है बल्कि वह यह दर्शित करने के लिए कि 18 अप्रैल, 1977 की उसकी नियुक्ति को प्राधिकारियों द्वारा आपत्ति किये जाने के कारण रद्द कर दिया गया है और वह पिटीशनर विद्यालय में एक सहायक अध्यापक ही बना हुआ है और प्रबन्धतन्त्र द्वारा कुमारी मेहता की नियुक्ति कर दी गई और उससे कुमारी मेहता को कार्यभार सौंपने के लिए प्रार्थना की गई, उपाबंध-क्यू पर तारीख 15-10-1977 की एक अन्य संसूचना पेश करते हुए इन तथ्यों का अवलम्ब लेना चाहता है।

4. यह तथ्य निर्विवाद है कि पिटीशनर न्यास की प्रबन्ध समिति ने माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पत्र और अन्य दस्तावेजों और सुसंगत तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् तारीख 14 अक्तूबर, 1977 के एक संकल्प द्वारा कुमारी मधुबेन मेहता की प्रधानाध्यापिका के रूप में नियुक्ति कर दी। प्रबन्धतन्त्र ने जिला शिक्षा अधिकारी के तारीख 19 अक्तूबर, 1977 के उस निदेश का भी अवलम्ब लिया है, जो उपाबन्ध-डी पर पेश किया गया है और जिसमें पिटीशनर विद्यालय को यह सूचित किया गया है कि प्रत्यर्थी सं० 3 की नियुक्ति को सरकार द्वारा मंजूरी नहीं दी गई है और प्रभारी प्रधानाध्यापिका के रूप में कुमारी मधुबेन मेहता की नियुक्ति लम्बे समय तक जारी नहीं रखी जा सकती और इसलिए सरकार द्वारा समय-समय पर जारी किए गये परिपत्र के अनुसार उसकी नियमित नियुक्ति की जाए। वास्तव में इस पत्र अर्थात् 14 अक्तूबर, 1977 के पूर्व ही प्रबन्ध बोर्ड द्वारा नियमित नियुक्ति कर दी गई।

5. ऐसा प्रतीत होता है कि जिला शिक्षा अधिकारी ने तारीख 14 नवम्बर, 1977 की अपनी संसूचना द्वारा, प्रबन्धतन्त्र को सरकार द्वारा 4-11-1977 को पारित आदेशों को कार्यान्वित करने और प्रत्यर्थी सं० 3 को भूतलक्षी प्रभाव से प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त करने का निदेश दिया जिसके कारण प्रबन्धतन्त्र उपर्युक्त आदेशों को चुनौती देते हुए प्रस्तुत पिटीशन फाइल करने के लिए विवश हुआ है।

6. पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री व्यास ने विचारार्थ निम्नलिखित दलीलें पेश की हैं :—

(i) गुजरात सेकेण्डरी एजूकेशन ऐक्ट (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 35(ख) के उपबन्धों के अधीन प्रधानाध्यापक की नियुक्ति करने की शक्ति विद्यालय समिति में निहित है। प्रस्तुत मामले में यह नियुक्ति प्रबन्धतन्त्र के सम्पूर्ण निकाय द्वारा की गई है और इसलिए प्राधिकारियों को कोई भी प्रतिकूल निदेश जारी करने की शक्ति नहीं है।

(ii) स्थायी नियुक्ति 14 अक्तूबर, 1977 को की गई है और विनियम 20 के उपबन्धों के अधीन प्रत्यर्थी सं० 3 प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्ति के लिए अर्हित नहीं है।

(iii) कुमारी मेहता प्रत्यर्थी सं० 3 से ज्येष्ठ है और उसकी ज्येष्ठता के कारण और साथ ही प्रबन्धतन्त्र के विनिश्चय के कारण प्रधानाध्यापिका के रूप में उसकी नियुक्ति विधिक उपबन्धों और विनियमों के अनुरूप है।

(iv) मामले पर चाहे किसी भी दृष्टिकोण से विचार किया जाये, सरकार द्वारा पारित ऐसे कठोर आदेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हैं क्योंकि न तो प्रबन्धतन्त्र की और न कुमारी मेहता की ही सुनवाई उसकी नियुक्ति के आदेश को रद्द करने और प्रत्यर्थी सं० 3 की नियुक्ति करने के पूर्व की गई जो कि प्राधिकारियों की शक्तियों के अधिकारातीत है।

7. प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् अधिवक्ता श्री त्रिपाठी ने मेरा ध्यान अपने कक्षीकार (मुवक्किल) द्वारा फाइल किये गये शपथपत्र की ओर आकर्षित किया है और यह बताया है कि उसका कक्षीकार प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किये जाने के लिए पात्र है और उसे आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन विधिविरुद्धतः निरुद्ध किया गया है और इसलिए

सरकार ने उसके कक्षीकार की नियुक्ति उन व्यक्तियों को राहत देने के लिए, जिन्हें आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन गलत निरुद्ध किया गया है, सरकार द्वारा अपनाई गई नीति के अधीन एक विशेष मामले के रूप में की गई है। सखेद उसकी दलील का पश्चात्‌वर्ती भाग विधि के उपबन्धों के विरुद्ध है क्योंकि धारा 35(7) में स्पष्टत: यह कहा गया है कि इस धारा के उपबन्धों के उल्लंघन में की गई प्रधानाध्यापक या अध्यापक की कोई भी नियुक्ति अप्रभावी होगी। मैंने श्री त्रिपाठी से इस अधिनियम या विनियमों का ऐसा कोई भी उपबन्ध दर्शित करने के लिए कहा है जिसमें सरकार या जिला शिक्षा अधिकारी को प्रधानाध्यापक की नियुक्ति करने या ऐसा आज्ञापक निदेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है। श्री त्रिपाठी ने स्पष्टत: यह माना है कि यद्यपि ऐसी कोई भी अभिव्यक्त शक्ति नहीं है किन्तु सम्बन्धित प्राधिकारियों द्वारा यह आदेश उन व्यक्तियों को, जिन्हें आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के अधीन अवैध रूप से निरुद्ध किया गया है, प्रतितोष देने के लिए अपनाई गई नीति पर विचार करने के पश्चात् पारित किया गया है। अत: यह पूरी तरह स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी कानूनी उपबन्ध नहीं है जिसके अधीन राज्य सरकार में प्रधानाध्यापक या अध्यापक की नियुक्ति का निदेश देने की शक्ति विनिहित की गई हो। इसके विरुद्ध, धारा 35 की उपधारा (7) धारा 35 में बनाए गये क़ानूनी उपबन्धों के उल्लंघन का प्रतिषेध करती है।

8. अब हम श्री व्यास की दी हुई दलीलों पर उस क्रम में विचार करते हैं जिसमें वे दी गई हैं।

9. श्री व्यास की पहली दलील की विवेचना करने के लिए धारा 35 के सुसंगत उपबन्धों को उद्धृत करना आवश्यक है, जो इस प्रकार है :—

> *"35(1) प्रत्येक रजिस्ट्रीकृत प्राइवेट माध्यमिक विद्यालय के लिए निम्नलिखित दो समितियां होंगी, अर्थात् :—
>
> (क) प्रधानाध्यापक से भिन्न विद्यालय के अध्यापन कर्मचारिवृन्द की भर्ती करने के प्रयोजन के लिए एक विद्यालय कर्मचारिवृन्द चयन समिति;

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

> "35(1) For every registered private secondary school there shall be following two committees, namely :
>
> (a) a school staff selection committee for the purpose of recruiting the teaching staff of the school other than the head master.

(ख) प्रधानाध्यापक की भर्ती के प्रयोजन के लिए और नियत दिन के पश्चात् प्रारम्भ होने वाले विद्यालय के प्रधानाध्यापक और अध्यापन कर्मचारिवृन्द की आरम्भिक भर्ती के प्रयोजन के लिए एक विशेष विद्यालय समिति ।

× × ×

(7) इस धारा के उपबंधों के उल्लंघन में की गई प्रधानाध्यापक या किसी अध्यापक की नियुक्ति अप्रभावी होगी ।"

10. यह निर्विवाद है कि यह नियुक्ति प्रबन्धतंत्र के सम्पूर्ण निकाय द्वारा सरकार के आदेशों के पूर्व अर्थात् 14-10-1977 को की गई है । तारीख 19-10-1977 की संसूचना, उपाबंध-डी, को देखने मात्र से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उसमें यह निदेश दिया गया है कि सरकार को प्रत्यर्थी सं० 3 एक प्रधानाध्यापक के रूप में स्वीकार्य नहीं है और कुमारी मेहता को नियमित आधार पर नियुक्त किया जाए । अभिलेख में कुछ ऐसे अन्य दस्तावेज भी हैं जिन पर भी विचार किए जाने की आवश्यकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबन्धतंत्र प्रत्यर्थी सं० 3 के प्रति कुछ सहानुभूति रखता था और प्रबन्धतंत्र ने वास्तव में प्रधानाध्यापक के रूप में उसकी नियुक्ति करने का प्रयत्न किया है । किन्तु गुजरात माध्यमिक शिक्षा बोर्ड गांधी नगर ने तारीख 14 जून, 1977 के अपने पत्र द्वारा प्रत्यर्थी सं० 3 की नियुक्ति को स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह विनियम 20(1) के अधीन पात्र नहीं था । मैं पात्रता के प्रश्न पर अलग से विचार करूंगा । यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि न तो गुजरात माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और न सरकार ही तारीख 19 अक्तूबर, 1977 के पत्र तक जब प्रदर्श-डी० लिखा गया था, प्रत्यर्थी सं० 3 की प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्ति के पक्ष में थी और उन्होंने सन् 1974 में कुमारी मेहता की शिकायतों

(b) a special school committee for the purpose of recruiting the head master, and for the purpose of the initial recruitment of the head-master and the teaching staff of a school started after the appointed day.

× × ×

(7) Any appointment of a head-master or a teacher made in contravention of the provisions of this section shall be ineffective."

के प्रतितोष का सुझाव दिया था जो कि प्रत्यर्थी सं० 3 से ज्येष्ठ थी। मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार करने पर श्री व्यास की पहली दलील स्वीकार किए जाने योग्य है। प्रबन्धतंत्र द्वारा की गई नियुक्ति को आक्षेपित पत्रों में दर्शित आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। आक्षेपित संसूचनाएं, उपाबंध-एफ और जी, स्पष्टतः धारा 35 की उपधारा (7) के उल्लंघन में हैं और चाहे कोई भी स्थिति हो, श्री त्रिपाठी यह दर्शित करने में असमर्थ रहे हैं कि प्रधानाध्यापक की नियुक्ति के लिए निदेश जारी करने की शक्ति राज्य सरकार में निहित है।

11. श्री व्यास की दूसरी दलील यह है कि नियुक्ति की तारीख अर्थात् 14 अक्तूबर, 1977 को प्रत्यर्थी प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित अर्थात् पात्र भी नहीं था और इसलिए विनियम के आज्ञापक उपबंधों को देखते हुए सरकार के आदेश विनियम 20(1) के उपबंधों के स्पष्ट उल्लंघन में हैं। इस सम्बन्ध में श्री त्रिपाठी ने यह उत्तर दिया है कि उसके कक्षीकार ने सन् 1976 में तीन वर्ष पूरे कर लिए हैं और उसके कक्षीकार के मामले को असंशोधित विनियम 20(1) लागू होना चाहिए और चूंकि उसने सेवा के तीन वर्ष पूरे कर लिए हैं इसलिए वह प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए पात्र हैं। मेरे मतानुसार त्रिपाठी की यह दलील पूरी तरह भ्रामक है। प्रधानाध्यापक का पद तत्कालीन प्रधानाध्यापक श्री एस० वी० शाह के तारीख 23-6-1975 से पद त्याग देने के कारण खाली हुआ था। पुराने विनियम 20 के उपबंधों में प्रधानाध्यापक के पद के लिए अर्हता प्राप्त करने के पश्चात् तीन वर्ष का अध्यापन अनुभव अपेक्षित है। यह एक स्वीकृत स्थिति है कि प्रत्यर्थी सं० 3 ने 23 जून, 1975 को अध्यापन अनुभव के तीन वर्ष पूरे नहीं किए। इस सीमित दलील के आधार पर भी प्रत्यर्थी सं० 3 अर्हित नहीं है। मेरे मतानुसार किसी अभ्यर्थी की पात्रता पर विचार करने के लिए सुसंगत तारीख वह नहीं है जब कोई रिक्ति हुई है बल्कि यह है कि नियुक्ति कब की गई थी क्योंकि जब किसी व्यक्ति की किसी रिक्त पद पर नियुक्ति की जाती है तब पात्रता पर अवश्य विचार करना होगा। अब तारीख 14 अक्तूबर, 1977 को, जब कुमारी मेहता की नियुक्ति की गई थी, विनियम संशोधित हो गया था (21 जून, 1976 को संशोधित) और नया विनियम लागू होगा, जो इस प्रकार है :—

*"20(1) कोई भी व्यक्ति तब तक प्रधानाध्यापक या उप-प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त नहीं किया जाएगा जब तक वह प्रशिक्षित स्नातक (बी० टी० या बी० एड०) या उसके समतुल्य न हो जैसा कि राज्य सरकार द्वारा घोषित किया गया हो (कम से कम पांच वर्ष का प्रशिक्षणोत्तर अध्यापन/निरीक्षण अनुभव सहित जिसमें से कम से कम तीन वर्ष का अध्यापन अनुभव किसी माध्यमिक विद्यालय का अवश्य हो) :

परन्तु ऐसे विद्यालय में, जिसमें अनन्यतः छात्राएं हों, उपर्युक्त अर्हताएं रखने वाली महिला को छोड़कर किसी भी व्यक्ति को प्रधानाध्यापक या उप-प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त नहीं किया जाएगा।"

12. प्रत्यर्थी सं० 3 की 26 जून, 1972 को एक सहायक अध्यापक के रूप में नियुक्ति की गई थी। उसने 2 मई, 1973 को बी० एड० की प्रशिक्षण अर्हता प्राप्त कर ली। नियुक्ति की तारीख अर्थात् 14 अक्तूबर, 1977 को स्वीकृत रूप से उसने पांच वर्ष या अधिक का अपेक्षित अनुभव प्राप्त नहीं किया था इसलिए वह प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं है। यहां तक कि 23 जून, 1975 को भी जब रिक्ति हुई थी, पुराने विनियम पर विचार करने पर उसने एक अर्हित अध्यापक के रूप में तीन वर्ष की सेवा पूरी नहीं की थी इसलिए वह प्रधानाध्यापक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए भी अर्हित नहीं था। मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार किए जाने पर

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"20(1) No person shall be appointed as a Head-Master or a second Head unless he is trained graduate (B. T. or B. Ed.) or its equivalent as declared by the State Government (with post-training teaching) inspecting experience of not less than five years of which at least three year's teaching experience must be in a secondary school :

Provided that in a school having exclusively girl students, no person other than a woman having the aforesaid qualifications shall be appointed as Head or Second Head."

प्रत्यर्थी सं० 3 की पिटीशनर-विद्यालय के प्रधानाध्यापक के रूप में पात्र न होने के कारण नियुक्ति नहीं की जा सकती।

13. अतः सरकार का आदेश प्रत्यक्षतः नए विनियम 20(1) और साथ ही पुराने विनियम 20(1) के भी विरुद्ध है और उसे कायम नहीं रखा जा सकता। इस बात को मैंने केवल यह दर्शित करने के लिए प्रोद्धृत किया है कि श्री त्रिपाठी की दलील के अनुसार भी सरकार के आदेश कायम नहीं रखे जा सकते। मेरे मतानुसार जब यह रिक्ति 14 अक्तूबर, 1977 को भरी जानी थी तब भी नया विनियम 20 ही लागू होता है और भूतलक्षी प्रभाव से नियुक्ति करने का कोई भी आदेश नया विनियम प्रवृत्त होने के पश्चात् पारित नहीं किया जा सकता।

14. श्री व्यास की अगली दलील का, कि कुमारी मेहता प्रत्यर्थी सं० 3 से ज्येष्ठ है, दूसरे पक्षकार की ओर से विरोध नहीं किया गया है। अतः प्रधानाध्यापिका के रूप में कुमारी मेहता की नियुक्ति तथ्यों और साथ ही विधि की दृष्टि में वैध और विधिमान्य है और उसके अधिकार को कायम रखा जाना चाहिए।

15. श्री व्यास की अगली दलील को कि प्रबन्धतंत्र या सम्बन्धित पक्षकार अर्थात् कुमारी मेहता की सुनवाई किए बिना ही आदेश पारित किए गए हैं, स्वीकार किया जाएगा क्योंकि राज्य सरकार ने उपर्युक्त आक्षेपित आदेशों द्वारा प्रबन्धतंत्र और कुमारी मेहता के अधिकारों पर प्रभाव डाला है। ऐसे आदेश प्रबन्धतंत्र या सम्बन्धित पक्षकार की सुनवाई किए बिना पारित किए जाने के कारण उनसे स्पष्टतः नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अतिक्रमण होता है। अब उच्चतम न्यायालय द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि ऐसे प्रशासनिक आदेश भी, जो पक्षकारों के अधिकारों पर प्रभाव डालते हों, निष्पक्षता और न्याय के सिद्धान्तों का अनुपालन करने के पश्चात् ही पारित किए जाने चाहिए। अतः ये आदेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अतिक्रमण में पारित किए गए हैं और उन्हें कायम नहीं रखा जा सकता।

16. परिणामस्वरूप पिटीशन सफल होता है। उपाबंध-एफ पर तारीख 14 नवम्बर, 1977 और उपाबंध-जी पर तारीख 4 नवम्बर, 1977 के आक्षेपित आदेश और साथ ही उपाबंध-एल पर तारीख 23 नवम्बर, 1977 और उपाबंध-ओ और एम पर तारीख 1 दिसम्बर, 1977 के प्रत्यर्थी सं० 2

के पारिणामिक आदेश भी अभिखण्डित और अपास्त किए जाते हैं। न्यायादेश खर्च सहित आत्यंतिक किया जाता है। समुचित रिट जारी किया जाए।

पिटीशन मंजूर किया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : गुजरात—100

सरदूल कुमार जयंत कुमार पासवाला और अन्य बनाम अहमदाबाद नगर विकास प्राधिकरण और अन्य

(Shardul Kumar Jayant Kumar Pasawala and others *Vs.* Ahmedabad Urban Development Authority and another)

तारीख 22 अगस्त, 1983

[न्या० एन० एच० भट्ट और बी० ए० शाह]

गुजरात टाउन प्लानिंग एण्ड अर्बन डेवेलपमेंट ऐक्ट, 1976—धारा 21(1) और (2) तथा 119(2) तथा विनियम—विकास फीस का उद्ग्रहण—फीस प्रभारित करने की शक्ति अभिव्यक्त होनी चाहिए—यदि इस प्रकार की शक्ति का अभिव्यक्त रूप से उपबंध नहीं किया गया है तो उसके लिए कोई विवक्षित शक्ति नहीं हो सकती—अभिव्यक्त रूप से उल्लेख न होने पर यह माना जाएगा कि विधानमंडल ने अपने द्वारा सृष्ट किए गए निकाय को फीस प्रभारित करने की शक्ति देना आवश्यक नहीं समझा।

गुजरात टाउन प्लानिंग एण्ड अर्बन डेवेलपमेंट ऐक्ट, 1976—धारा 119—विनियम बनाने की शक्ति—उक्त धारा में विनियम बनाने की किसी शक्ति का उल्लेख नहीं है—फीस प्रभारित करने के लिए बनाए गए विनियम क्षमता से परे होने के कारण ऐसे विनियम के अधीन वसूल की गई फीस का प्रतिदाय करना होगा।

इन दोनों पिटीशनों में की भूमियां अहमदाबाद नगरपालिक निगम की सीमाओं से परे हैं किन्तु वे प्रत्यर्थी सं० 1 अर्थात् अहमदाबाद नगर विकास प्राधिकरण के प्रभावी क्षेत्र के भीतर हैं। गुजरात टाउन प्लानिंग एण्ड अर्बन डेवेलपमेंट ऐक्ट, 1976 की धारा 49 में स्कीम की घोषणा के पश्चात् भूमि के

उपयोग और विकास के बारे में निर्बन्धनों का उल्लेख है और यह प्रश्न ही इन दोनों पिटीशनों की भूमियों पर लागू होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उद्भूत हुआ है, वह यह है कि क्या कोई ऐसी विधायी क्षमता है जिसके कारण राज्य सरकार या प्रत्यर्थी सं० 1 प्राधिकरण, विकास फीस प्रभारित करने के लिए सक्षम है। सुनवाई के समय दोनों पिटीशनों में पिटीशनरों की ओर से निम्नलिखित प्रश्नों की संयाचना की गई :—

(क) विकास फीस का उद्ग्रहण कानून द्वारा प्राधिकृत नहीं है और इसलिए प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा इन दो पिटीशनों के पिटीशनरों से विभिन्न प्रकार की रकमें विकास फीस के रूप में इकट्ठा करना ऐसा कार्य है जो अप्राधिकृत है;

(ख) राज्य सरकार भी कोई विकास फीस प्रभारित नहीं कर सकती क्योंकि भारत के संविधान से संलग्न सातवीं अनुसूची की सूची 2 में किसी भी प्रविष्टि में ऐसा कोई उपबंध नहीं है;

(ग) विकास फीस का यह उद्ग्रहण अधिकारातीत है क्योंकि यह धारा 119 के अधीन नहीं आता है और प्रत्यर्थी प्राधिकरण द्वारा बनाए गए विनियम उस विस्तार तक अप्राधिकृत और अवैध हैं; और

(घ) विकास फीस का उद्ग्रहण करने के लिए प्रत्यर्थी प्राधिकारियों के पक्ष में शक्ति का अप्राधिकृत रूप से प्रत्यायोजन किया गया है भले ही राज्य विधानमंडल को ऐसी कोई शक्ति प्राप्त हो।

दोनों पिटीशनों में एक से तथ्य की पृष्ठभूमि के संदर्भ में समान विधि प्रश्न उठाए गए हैं। अतः उन पर एक ही मामले में सुविधाजनक रूप से विचार किया जा सकता है और एक ही निर्णय के द्वारा उनका निपटारा किया जा सकता है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किए गए।

संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची सं० 2 की प्रविष्टि 5 में स्थानीय शासन, अर्थात् नगर निगमों, सुधार न्यास, जिला बोर्डों, खनन बस्ती प्राधिकारियों और स्थानीय स्वशासन या ग्राम प्रशासन के प्रयोजनों के लिए अन्य स्थानीय प्राधिकरणों का गठन और शक्तियों का वर्णन है। अतः प्रविष्टि सं० 66 से यह ज्ञात होता है कि राज्य विधान-मंडल को इस बात की विधायी क्षमता प्राप्त है कि वह उस सूची में वर्णित किसी भी विषय के सम्बन्ध में, जिसके अंतर्गत द्वितीय सूची की प्रविष्टि 5 में वर्णित विषय भी सम्मिलित हैं, फीस के लिए

उपबध करने के लिए सक्षम है। अत: यह कहना सही नहीं है कि विधान-मंडल इस बात के लिए सक्षम नहीं है कि वह स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा प्रभारित की जाने वाली फीसों के लिए उपबंध करे। (पैरा 5)

केवल इस कारण कि कर या फीस प्रभारित करने की शक्ति का अस्तित्व है, केवल इस कारण कि राज्य विधान-मंडल को किसी कर या फीस का उपबंध करने की सक्षमता है, इससे यह आवश्यक रूप से ही निष्कर्ष नहीं निकलता है कि जब कभी कोई अवसर होता है तो विधानमंडल उस शक्ति का अवश्य ही प्रयोग करता है। विभिन्न मदों के सम्बन्ध में विधियां बनाते समय और विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए विधानमंडल विभिन्न प्राधिकरणों का गठन करते समय इस प्रकार सृष्ट प्राधिकरणों को सभी शक्तियां निहित कर सकता है या ऐसी शक्तियां निहित नहीं कर सकता है जिन्हें प्रदत्त करने के लिए विधानमंडल सक्षम है। विधानमंडल ने ऊपर वर्णित अधिनियमिति के द्वारा अर्थात् गुजरात टाउन प्लानिंग एण्ड अर्बन डेवेलपमेंट ऐक्ट, 1976 को अधिनियमित करते समय यह उचित नहीं समझा कि प्रत्यर्थी सं० 1 प्राधिकरण को शक्ति विनिहित की जाए या अधिनियम के अधीन तथ्य के तौर पर किसी अन्य प्राधिकरण को फीस प्रभारित करने की शक्ति प्रदत्त की जाए। उचित रूप से कहा जाए तो विकास फीस प्रभारित करने की शक्ति की तो बात ही नहीं की जा सकती। (पैरा 6)

जब कभी किसी नागरिक से अनिवार्य रूप से कोई धन इकट्ठा किया जाता है तो ऐसा करने के लिए कोई विनिर्दिष्ट उपबंध होना चाहिए। इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के आशय की कोई गुंजाइश नहीं है। कर के बारे में साम्या का कोई प्रश्न नहीं होता। कराधान अधिनियम में केवल वह ही देखना होता है जो कुछ स्पष्ट रूप से कहा गया होता है। कर के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की उपधारणा नहीं की जाती। इस सम्बन्ध में कोई भी बात न तो ज्यादा पढ़ी जाती है और न किसी बात की विवक्षा की जाती है, प्रयुक्त की गई भाषा को उचित रूप से देखना होता है। (पैरा 6)

ऐसा कोई उपबंध नहीं मिला है जहां फीस का संदाय करने के लिए कोई विशेष अधिनियम बनाया गया हो। यह बात दुहराई जाती है कि फीस प्रभारित करने की शक्ति अभिव्यक्त होनी चाहिए और यदि इस प्रकार की शक्ति का अभिव्यक्त रूप से उपबंध नहीं किया गया है तो उसके लिए कोई विवक्षित शक्ति नहीं हो सकती। (पैरा 7)

कर का संदाय हर एक नागरिक को करना पड़ेगा भले ही उसके विकल्प कुछ भी हों जबकि फीस का संदाय केवल उन्हीं नागरिकों द्वारा किया जाता है जो

अपने विकल्प के द्वारा प्राधिकरण द्वारा की जाने वाली सेवा का उसका फायदा उठाने के लिए स्वतंत्र हैं या प्राधिकरण द्वारा दी गई सेवाओं का लाभ उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। यह प्राधिकरण किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए फीस प्रभारित करने का प्रयत्न कर रहा है। (पैरा 8)

इस बात का खण्डन नहीं किया जा सकता है कि किसी कर को उद्ग्रहीत करने के लिए कोई विनिर्दिष्ट शक्ति नहीं है किन्तु उससे इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता कि प्राधिकरण के सम्बन्ध में यह उपधारणा की जानी चाहिए कि उसने उन व्यक्तियों को, जो अपनी भूमियों के विकास की वांछा कर रहे हैं, फीस प्रभारित करने की शक्ति विवक्षित रूप से दे दी थी। प्रासंगिक रूप से इस बात पर ध्यान देना होगा कि यह प्राधिकरण कानूनी तौर पर विकास प्रभारों का दावा करने के लिए हकदार है जिससे उसकी तिजोरी में धन संग्रह होता है। (पैरा 8)

अधिनियम की धारा 91(1) में आय के केवल तीन स्रोतों के प्रति विनिर्दिष्ट रूप से निर्देश किया गया है और जब अधिनियम की धारा 91(2) में अधिनियम के प्रशासन के लिए किए जाने वाले व्यय के लिए विनिर्दिष्ट उपबंध किया गया है और जब विधानमंडल ने प्रभारित की जाने की वांछा की जाने वाली विकास फीस के लिए विनिर्दिष्ट उपबंध करना उचित नहीं समझा तो इन दलीलों को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव होता है। कर या फीस प्रभारित करने की शक्ति का विनिर्दिष्ट रूप से और अभिव्यक्त रूप से उल्लेख होना चाहिए और यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो यह माना जाएगा कि विधानमंडल ने अपने द्वारा सृष्ट किए गए निकाय को फीस प्रभारित करने की शक्ति देना आवश्यक नहीं समझा। (पैरा 8)

अधिनियम की धारा 119 में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे कि समुचित प्राधिकारी को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाए जिससे कि यह विनियम बना सके जबकि ऐसी शक्ति के बारे में स्वयं कानून में ही कोई उपबंध न किया गया हो। (पैरा 9)

प्रत्यर्थी सं० 1 प्राधिकरण को विकास फीस प्रभारित करने की कोई शक्ति नहीं है जैसा कि उक्त प्राधिकरण ने इन मामलों में किया है। विकास फीस प्रभारित करने का उनका यह कार्य अधिकारातीत घोषित किया जाता है और यह कि फीस प्रभारित करने के प्रयोजन के लिए जो विनियम बनाए गए हैं, वे प्रत्यर्थी सं० 1 की क्षमता से परे हैं। (पैरा 10)

		पैरा
[1983]	ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 617 : दिल्ली नगर निगम **बनाम** मोहम्मद यासीन (Delhi Municipal Corporation *Vs.* Mohd. Yasin);	7
[1961]	1969 (3) आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स पृष्ठ 39(90) : (क्वीन्स बैंच, कोर्ट आफ अपील) कमिश्नर आफ कस्टम्स एण्ड एक्साइज **बनाम** टापटेल प्रोमोशन्स लि० (Commissioners of Customs and Excise *Vs.* Top Ten Promotions Ltd.);	6
[1961]	ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 459 : हिनगीर रामपुर कोल कम्पनी लिमिटेड **बनाम** उड़ीसा राज्य (Hingir Rampur Coal Co. Ltd. *Vs.* State of Orrisa);	6
[1954]	ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 400 : श्री जगन्नाथ रामानुज दास **बनाम** उड़ीसा राज्य (Sri Jagannath Ramunuj Das *VS.* State of Orissa)	6

निर्दिष्ट किये गये।

आरम्भिक अधिकारिता : 1980 का विशेष सिविल आवेदन सं० 3494 और 3702.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से ... श्री जी० एन० देसाई

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री एस० बी० वकील

प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से ... श्री आर० आर० शाह, सहायक सरकारी अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० एन० एच० भट्ट ने दिया।

न्या० एन० एच० भट्ट :

ये दो पिटीशन दो संवर्ग के पिटीशनरों ने दिए हैं, किन्तु प्रत्यर्थी एक ही है अर्थात् अहमदाबाद नगर विकास प्राधिकरण जो गुजरात टाउन प्लानिंग एण्ड

असंशोधित उपबंधों में अधिनियमित उपचारात्मक अध्योपायों के कारण बचाया नहीं जा सकता; और इसलिए दो उपबंध मात्र अतिशय सावधानी की दृष्टि से ही अन्त:स्थापित किए गए हैं । वस्तुत: अतिविलम्बता और पेचीदगी को रोकने के लिए परन्तुक जोड़कर इन दो उपबंधों को और अधिक अर्थपूर्ण और प्रभावकारी बनाया गया है । अत: इनका अर्थान्वियन यह नहीं करना है कि मात्र क्योंकि आवश्यक पक्षकार न्यायालय के समक्ष नहीं था इसलिए वाद को खारिज कर दिया जाना चाहिए । निस्सन्देह ऐसे मामलों में न्यायालय की वह शक्ति जो यह आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 7 के अधीन प्रयुक्त कर सकती है और जो असंशोधित हैं, लागू की जा सकती हैं और यह शक्ति किसी भी प्रकार से दो नए परन्तुकों के द्वारा बाधित या आक्षेपित नहीं की जा सकती क्योंकि जैसा कि मैंने पहले ही उपदर्शित किया है कि इन परन्तुकों का वास्तविक आशय दाण्डिक नहीं अपितु उपचारात्मक है । (पैरा 7)

		पैरा
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 485 : सूरजप्रकाश **बनाम** राजरानी (Suraj Prakash *Vs.* Raj Rani);	5
[1969]	ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 1269 : मनोहर लाल **बनाम** एन० बी० एम० सप्लाई (Manoharlal *Vs.* N. B. M. Supply);	5
[1968]	ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1165 : नायर सर्विस सोसाइटी **बनाम** के० सी० अलेग्जैंडर (Nair Service Society *Vs.* K. C. Alexander);	5
[1960]	ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 622 : लक्ष्मीनरसिम्हाचारी **बनाम** श्री अगस्तेश्वर स्वामीवरु (Lakshminarashimhachari *Vs.* Shri Agasthe Swamivaru);	5

का अवलम्ब लिया गया ।

[1965]	ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 231 : कंकरनाथानम्माल **बनाम** लोगनाथ (Ksnakarnathanammal *Vs.* Loganatha)	4

से असहमति प्रकट की गई ।

[1958]	ए० आई० आर० 1958 एस० सी० ४86 : रजिया वेगम **बनाम** अनवर वेगम (Razia Begum *Vs.* Anowar Begum);	6
[1957]	ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 357 : लीच एण्ड कम्पनी **बनाम** जार्डाइन सिकनर एण्ड कम्पनी (Leach and Co. *Vs.* Jardine Sininner and Co.);	5
[1949]	ए० आई० आर० 1949 लाहौर 248 : इमामदीन **बनाम** मुस्म्मात फजलन (Imam Din *Vs.* Mt. Fazlan);	6
[1940]	ए० आई० आर० इलाहाबाद 399 : नूरमोहम्मद **बनाम** जैनुल आब्दीन (Noor Mahammad *Vs.* Zainul Abdin);	6
[1929]	ए० आई० आर० 1929 कलकत्ता 669 : मकसूद मण्डल **बनाम** खेदू मण्डल (Mokshud Mondal *Vs.* Khedu Mondal);	6
[1928]	ए० आई० आर० 1928 कलकत्ता 138 : अरुणादय चक्रवर्ती **बनाम** मोहम्मद अली (Arundoya Chakrabarty *Vs.* Mahammad Ali);	6
[1925]	ए० आई० आर० 1925 इलाहाबाद 368 : फर्म श्यामलाल **बनाम** धनपतराय (Firm Shiam Lal *Vs.* Danpat Rai)	6

अनुसरित किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1978 की द्वितीय अपील सं० 42.

1975 के पी० एस० सं० 154 में कछार के सहायक जिला न्यायाधीश श्री एस० हक द्वारा किए गए 28 नवम्बर, 1977 के विनिश्चय के विरुद्ध द्वितीय अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री एस० ए० लश्कर

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री ए० के० ए० लश्कर

न्या० (डा०) टी० एन० सिंह :

प्रतिवादियों द्वारा यह अपील प्रतिप्रेक्षण (रिमाण्ड) आदेश के विरुद्ध की गई है और इसमें विधि का संक्षिप्त किन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न उद्भूत होता है। अनुसूचित भूमि के अपूर्ण विभाजन को प्रभावी किये जाने पर वादियों के तत्संबंधी अंशों के अवधारण के लिए वाद किया गया था। अभिवाक किये जाने पर 6 विवाद्यक विरचित किये गये थे जिनमें से विवाद्यक सं० 1, 3 और 5 का विनिश्चय वादियों के पक्ष में किया गया था। विद्वान् मुंसिफ ने यह अभिनिर्धारित किया कि वादियों को वाद फाइल करने के लिए वादहेतुक उपलब्ध था। यह कि यह वाद परिसीमा द्वारा वर्जित नहीं था और यह भी कि वादियों का वादगत भूमि में हक था। यह वाद विवाद्यक सं० 2 और 4 के बारे में उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों के आधार पर खारिज कर दिया गया था। ये विवाद्यक एक मामले में तो पक्षकारों के असंयोजन से और दूसरे मामले में चलाये जाने की योग्यता से सम्बन्धित था। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि वाद विभाजन के लिए था इसलिए सभी सह-अंशधारी आवश्यक पक्षकार थे और चूंकि साक्ष्य से यह पाया जा चुका है कि कुछ सह-अंशधारियों को वादियों ने वाद में पक्षकार नहीं बनाया था इसलिए उन्होंने विवाद्यक सं० 7 को यह अभिनिर्धारित करते हुए प्रतिवादियों के पक्ष में विनिश्चित कर दिया कि वादी किसी भी अनुतोष के लिए हकदार नहीं थे और तद्नुसार वाद खारिज कर दिया।

2. विद्वान् अवर अपील न्यायालय ने विवाद्यक सं० 2 और 4 के बारे में साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि अवर न्यायालय के अनुसार पक्षकारों के बीच में झगड़े की जड़ यह थी कि क्या एक व्यक्ति इशान मियां भी, जो एक व्यक्ति सागिर मोहम्मद का पुत्र था, सह-अंशधारी था अथवा नहीं क्योंकि पक्षकारों का यह सामान्य पक्ष-कथन था कि सागिर मोहम्मद गुलाम मोहम्मद के पुत्रों में से एक पुत्र था, जिसके दावे के बारे में किसी भी ओर से विवाद नहीं किया गया था, फिर भी विद्वान् मुंसिफ का निष्कर्ष अस्थिर आधारों पर किया गया था क्योंकि इस वृतांत के समर्थन के लिए कोई साक्ष्य नहीं था कि सागिर मोहम्मद नवाज मियां के नाम से भी जाना जाता था। अतः यह वाद विद्वान् अपील न्यायालय के अनुसार, इशान मियां के वारिसों को पक्षकार न बनाये जाने के कारण खारिज नहीं किया जा सकता था। यह और अभिनिर्धारित किया गया था कि चूंकि वाद 5 सितम्बर, 1972 को संस्थित किया गया था और निर्णय चूंकि 19 नवम्बर, 1975 को दिया गया था इसलिए इसे असंशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के उपबंध लागू होंगे और इसलिए आदेश 1, नियम 9 के अधीन पक्षकारों के असंयोजन के कारण वाद खारिज नहीं किया जा सकता था। यह और मत व्यक्त किया गया था कि विद्वान् मुंसिफ

को वाद को एकदम सीधे खारिज करने की बजाय आवश्यक पक्षकारों को पक्षकार बनाने के लिए वादियों को अवसर देना चाहिए था। 20 अप्रैल, 1976 को वादी-अपीलार्थी ने यह निवेदन करते हुए अपील का आवेदन फाइल किया कि प्रतिवादी-प्रत्यर्थी के द्वारा अवर न्यायालय में आवश्यक पक्षकारों के असंयोजन के कारण उठाये गये आक्षेप को देखते हुए, जिसको स्वीकार करते हुए अवर न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया था, उन्हें आक्षेप का उत्तर देने के लिए अनुज्ञात किया जाए और आवेदन में उल्लिखित पक्षकारों को अपील में प्रत्यर्थियों के रूप में पक्षकार बनाये जाने के लिए अनुज्ञात किया जाए और उन्हें भी वाद-पत्र संशोधित करके प्रतिवादियों के रूप में पक्षकार बनाया जाए। विद्वान् सहायक जिला न्यायाधीश ने जिन्होंने अपील की सुनवाई की थी, इसे मंजूर कर लिया और वाद को पुनः विचारण के लिए इस निदेश के साथ प्रतिप्रेषित कर दिया कि अवर न्यायालय वाद में आवश्यक पक्षकारों को पक्षकार बनाये जाने का अवसर वादियों को देगा और तद्नुसार वादपत्र में आवश्यक संशोधन करने का भी अवसर देगा।

3. आक्षेपित निर्णय और डिक्री पर आक्षेप करते हुए मेरे समक्ष अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री एस० के० लश्कर ने यह मुख्य दलील दी कि विद्वान् अवर न्यायालय ने विधि की दृष्टि से यह अभिनिर्धारित करने में गलती की है कि इस मामले की इस सुस्थिर विधि को देखते हुए पुरानी (असंशोधित) सिविल प्रक्रिया संहिता लागू होती थी कि प्रक्रिया के बारे में कोई निहित अधिकार नहीं हो सकता और चूंकि 1976 के सिविल प्रक्रिया संहिता संशोधन अधिनियम में धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में अन्तर्विष्ट सुसंगत उपबंधों के सम्बन्ध में अभिव्यक्त रूप से कोई व्यावृत्ति नहीं की गई थी इसलिए इसे मामले को असंशोधित उपबंध ही लागू करने चाहिए थे। तद्नुसार उन्होंने मेरा ध्यान धारा 99 में तथा आदेश 1, नियम 9 में संशोधित अधिनियम द्वारा जोड़े गये दो उपबंधों की ओर आकृष्ट किया है जो निस्सन्देह निम्नलिखित शब्दावली में हैं :—

> "परन्तु इस धारा (नियम) की कोई भी बात किसी आवश्यक पक्षकार के असंयोजन को लागू नहीं होगी।"

4. श्री लश्कर ने यह और निवेदन किया कि किसी भी दशा में यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि इस मामले को असंशोधित उपबंध लागू होते हैं तो वादी धारा 99 या आदेश 1, नियम 9 में से किसी भी उपबंध का लाभ उठाने के हकदार नहीं हैं क्योंकि इन उपबंधों के अधीन जो कुछ बहुत गहन रूप से अनुज्ञात किया गया है वह यह है कि कोई भी डिक्री उस दशा में उलटी

नहीं जायेगी या उसमें सारवान फेरफार नहीं किया जायेगा और कोई भी मामला उस दशा में अपील में परिप्रेषित नहीं किया जायेगा जबकि त्रुटि या अनियमितता मामले के गुणागुण या न्यायालय की अधिकारिता को प्रभावित नहीं करती है तथा यह और कि कोई भी वाद ऐसे मामले में विफल नहीं होगा जहां कि त्रुटि मात्र साधारणतः पक्षकारों के असंयोजन या कुसंयोजन से सम्बन्धित है तथा ये उपबंध उस दशा में लागू नहीं होते जबकि मामला "आवश्यक पक्षकारों" के पक्षकार न बनाये जाने का मामला है। इस सम्बन्ध में उन्होंने हमारा ध्यान **कंकरथानम्माल** बनाम **लोगनाथ**[1] में प्रतिवेदित विनिश्चय की ओर आकृष्ट किया। उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि आदेश 1, नियम 9 के उपबंध ऐसे मामले को लागू किये जाने के लिए नहीं हैं जहां कि त्रुटि ऐसी है जो आवश्यक पक्षकार के असंयोजन से संबंधित है तथा यह और कि ऐसे मामलों में त्रुटि को घातक माना जाना चाहिए। तथापि, उस मामले में भी न्यायालय ने यह नहीं माना था कि यह उपबंध आदेश 6, नियम 17 के अधीन अभिवचनों का संशोधन अनुज्ञात करने के लिए न्यायालय की शक्ति को नियंत्रित या प्रभावित करता था। यह मत व्यक्त किया गया था कि उस मामले में, फायदा प्राप्त करने वाले से सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए विल के अधीन दावा करने वाली पुत्री द्वारा किए गए वाद में भाई आवश्यक पक्षकार थे क्योंकि भाई उस (पुत्री) के साथ सम्पत्ति को विरासत में लेने के हकदार थे और वाद की प्रकृति विभाजन के लिए किए गए वाद की हो गई थी। असंयोजन का आक्षेप विचारण न्यायालय में किया गया था और विवाद्यक भी विरचित किया गया था किन्तु वादी ने उच्च न्यायालय के समक्ष की गई अपील में भी वाद-पत्र को संशोधित करने का कोई प्रयास नहीं किया और उच्चतम न्यायालय में की गई अपील में भी तब तक कोई (संशोधन) आवेदन नहीं किया गया था जब तक कि अपील सुनवाई के पश्चात् भी बनी रहने के लिए अनुज्ञात कर दी गई थी। अतः उच्चतम न्यायालय ने संशोधन के लिए उस विलम्बकारी आवेदन को नामंजूर कर दिया था जो उसके समक्ष पेश किया गया था। आदेश 1, नियम 10 के अधीन आवश्यक पक्षकारों को पक्षकार बनाये जाने के बारे में निदेश देने की न्यायालय की शक्ति के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया गया था कि ऐसा विचारण के प्रक्रम पर ही किया जाना चाहिए और यह भी परिसीमा सम्बन्धी पक्षकारों के अभिवाक् पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना किया जाना चाहिए। अतः मेरी राय में यह विनिश्चय श्री लश्कर की दलील का समर्थन नहीं करती।

---

[1] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 271.

5. मेरी राय में मामले का मुख्य बिन्दु सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6, नियम 17 के अधीन अभिवचनों का संशोधन अनुज्ञात करने के बारे में न्यायालय की शक्ति की व्याप्ति और सीमा का अवधारण करने में है, चूंकि जब किसी पक्षकार का नाम वाद में जोड़ दिए जाने के लिए अनुज्ञात कर दिया जाता है तो उसका अन्तिम परिणाम संशोधन में परिलक्षित होता है। मामले के इस पहलू पर उच्चतम न्यायालय द्वारा अनेक विनिश्चयों में विचार किया गया है। हाल ही के एक मामले अर्थात् **सूरज प्रकाश बनाम राजरानी**[1] में इस न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्या० कृष्ण अय्यर ने अपने विनिश्चय में निम्नलिखित मत व्यक्त किये :—

> "संशोधन अनुज्ञात करने के बारे में विवेकाधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में मार्गदर्शन करने वाले उदार सिद्धान्त इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों में अधिकथित किये गये हैं। कार्यवाहियों की बहुलता से बचना एक कसौटी है। ऐसे संशोधनों को वस्तुतः मंजूर कर लिया जाता है जो कार्यवाही की प्रकृति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं करते, जबकि इस बात की ओर ध्यान दिया जाता है कि अभिवचनों में संशोधन के बहाने विरोधी पक्षकार के साथ असाध्य प्रकृति का अन्याय और प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ने दिया जाना चाहिए।"

यह सही है कि उस मामले में जिस संशोधन की मांग की गई थी और जिसे अनुज्ञात किया गया था वह एक नये अनुतोष के बारे में था और नए व्यक्तियों को पक्षकार बनाने के बारे में नहीं था। फिर भी मेरी राय में इस मामले में अधिकथित सिद्धान्त इन दो परिस्थितियों के बीच कोई अन्तर नहीं करता। **मनोहर लाल बनाम एन० बी० एम० सप्लाई**[2] का विनिश्चय, दूसरी ओर वस्तुतः अपने आप को उचित रूप में वर्णित करने के लिए वादी को अनुज्ञात किये जाने से सम्बन्धित संशोधन के बारे में था और इसीलिए यह मामला व्यक्तियों को पक्षकार बनाये जाने का मामला था। उस मामले में भी यह मत व्यक्त किया गया था : "प्रथम लोप चाहे कितना ही उपेक्षापूर्ण और असावधानीपूर्ण भी क्यों न हो और प्रस्तावित संशोधन चाहे कितनी ही देर में भी क्यों न किया गया हो फिर भी ऐसा संशोधित अनुज्ञात कर दिया जाना चाहिए, यदि यह दूसरे पक्षकार के प्रति कोई अन्याय किए बिना ही किया जा सकता है" ; तथा यह और कहा गया था कि : "मात्र गलती, उपेक्षा अनावधानता या प्रक्रिया के

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 485.

[2] ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 1269.

उल्लंघन के कारण भी किसी पक्षकार को न्यायोचित अनुतोष देने से इनकार नहीं किया जा सकता।" **नायर सर्विस सोसाइटी** बनाम **के० सी० अलैग्जेंडर**[1] में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि मुकदमेबाजी की बहुलता को देखते हुए अपील के प्रक्रम पर दिये जाने वाले निर्णय के समय भी अभिवचनों में संशोधन अनुज्ञात कर दिया जाना चाहिए। उस मामले में संशोधन के लिए आवेदन उच्च न्यायालय को किया गया था और चूंकि यह आवेदन "वस्तुतः निर्णय सुनाए जाने की तारीख को ही किया गया था", न्यायालय ने इसे नामंजूर कर दिया था। उच्चतम न्यायालय ने अपील मंजूर कर ली थी और मामले को यह अभिनिर्धारित करते हुए प्रतिप्रेषित कर दिया था कि संशोधन अनुज्ञात किया जाना चाहिए और यह कि इस प्रयोजन के लिए परिवर्तित परिस्थितियों पर भी "मुकदमे को छोटा करने और कार्यवाही की विलम्बना से बचने की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए।" **लक्ष्मीनरसिम्हाचारी** बनाम **श्री अगस्त्तेश्वर स्वामीवरु**[2] में न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि वाद-पत्र में नई प्रार्थना को जोड़कर किये जाने वाले संशोधन को अपील के प्रक्रम पर अनुज्ञात करने में उच्च न्यायालय का निर्णय सही था क्योंकि पक्षकार संविवाद के मुद्दों से भलिभांति भिज्ञ थे और उन्होंने इसके बारे में आवश्यक साक्ष्य भी पेश कर दिया था। **लीच एण्ड कम्पनी** बनाम **जार्डाइन सिकनर एण्ड कम्पनी**[3] में न्यायालय ने यहां तक अभिनिर्धारित किया था कि यदि संशोधित दावे के आधार पर कोई नया वाद ऐसे आवेदन की तारीख पर परिसीमा के कारण वर्जित था तो यह मात्र ऐसा विषय होगा जिसका अवधारण न्यायालय द्वारा अपने विवेकाधिकार के प्रयोग में किया जायगा और यह कि इससे प्रार्थन को अनुज्ञात करने में न्यायालय की शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, यदि ऐसा करना न्याय के हित में अपेक्षित था।

6. मैंने ऐसे मामलों में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 6, के नियम 17 के उपबंधों की प्रमुखता पर इस कारण भी बल दिया है कि हितकर निर्वचन का एक यह नियम है कि किसी मामले के पक्ष विशेष पर प्रभाव डालने वाले कानून के विभिन्न उपबंधों को इसलिए एक साथ पढ़ा जाना चाहिए ताकि उनके बीच किसी सम्भाव्य परस्पर विरोध से बचा जा सके और ऐसी रीति में विधायी आशय को पढ़ा जा सके जो सुसंगत उपबन्धों के बारे में समदर्शी सह-अस्तित्व की प्राप्ति कर सके। 'कार्य मात्र से आशय या आशय का

---

[1] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1165.

[2] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 622.

[3] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 357.

पता चलता है', यह कहावत वस्तुतः इसी सिद्धान्त का रूप है। वह विधि एक घिसी-पिटी विधि होती है जो प्रक्रिया को न्याय का मात्र एक सेवक समझती है और इसलिए न्यायालय ऐसे निर्वचन का पक्ष लेने का प्रयत्न करेंगे कि केवल किसी तकनीकी आधार पर वादी को वाद लाने में असमर्थ न बनाया जा सके। अतः इस सम्बन्ध में मेरी राय में इसी सन्दर्भ में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 (2) के उपबन्धों को भी पढ़ना आवश्यक होगा जो अन्य बातों के साथ-साथ, न्यायालय को किसी मामले में किसी पक्षकार को, कार्यवाही के किसी भी प्रक्रम पर वादी या प्रतिवादी के रूप में शामिल करने के लिए सशक्त करते हैं ताकि न्यायालय "वाद में अन्तर्वलित सभी प्रश्नों के बारे में प्रभावी और पूर्ण रूप से न्याय-निर्णयन कर सके और वाद में अन्तर्विष्ट सभी प्रश्नों को तय कर सके।" इस बारे में मेरा ध्यान ऐसे अनेक विनिश्चयों की ओर आकृष्ट किया गया है जो प्रस्तुत मामले से सम्बन्ध रखते हैं और जिनके प्रति अब भलि-भांति निर्देश किया जा सकता है। **फर्म श्याम लाल** बनाम **धनपत राय**[1] में न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए न्या० सुलेमान ने यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि आदेश 41, नियम 20 के अधीन अपील न्यायालय को ऐसे व्यक्ति को अपील में पक्षकार बनाने की शक्ति नहीं थी जो आरम्भिक वाद में पक्षकार नहीं था। यदि न्यायालय का यह विचार था कि आवश्यक पक्षकार छूट गया था और उसे वाद में पक्षकार बनाना आवश्यक था तो ऐसे मामले में अपनाये जाने के लिए उचित प्रक्रिया मामले को इस बारे में आवश्यक निदेश के साथ प्रथम वाद के न्यायालय को प्रतिप्रेषित करना था। **नूरमोहम्मद** बनाम **जैनुल आब्दीन**[2] में इस न्यायालय की एकल न्यायपीठ ने विभाजन-वाद से उद्भूत होने वाले एक मामले पर विचार करते हुए, जैसाकि प्रस्तुत मामला है, यह अभिनिर्धारित किया कि अपील प्रक्रम पर भी, यदि न्यायालय का यह विचार है कि कोई व्यक्ति-विशेष आवश्यक पक्षकार था और उसे वाद में पक्षकार बनाया जाना चाहिए तो वह मामला उस व्यक्ति को पक्षकार बनाये जाने के लिये अवर न्यायालय को प्रतिप्रेषित कर दिया जाना चाहिए और इसके पश्चात् ही मामले का निपटारा किया जाना चाहिए। इस मामले में आदेश 1, नियम 10 के उपबन्धों पर ध्यान दिया गया था और यह मत व्यक्त किया गया था कि इस बारे में शक्ति अवर न्यायालय द्वारा प्रयुक्त किये जाने योग्य थी जिसके परिणामस्वरूप तत्पश्चात् वाद-पत्र में संशोधन किया जा सकता

---

[1] ए० आई० आर० 1925 इलाहाबाद 368.

[2] ए० आई० आर० 1940 इलाहाबाद 399.

था और लिखित विवरणी फाइल करने के लिए उन व्यक्तियों को अवसर दिया जा सकता था जो इस मामले में पक्षकार बनाये गये थे। ऐसा ही दृष्टिकोण **इमाम्दीन** बनाम **मुसम्मात फजलन**[1] में अपनाया गया था जिसमें न्यायालय ने आदेश 1, नियम 10 (2) के उपबन्धों का ऐसा ही अर्थान्वयन किया था और **अरुणोदय चक्रवर्ती** बनाम **मोहम्मद अली**[2] तथा **मकसूद मण्डल** बनाम **खेदू मण्डल**[3] के विनिश्चयों का अनुसरण करते हुए द्वितीय अपील को मंजूर कर लिया था और मामले को उन व्यक्तियों को पक्षकार बनाये जाने के पश्चात् नये सिरे से विनिश्चय के लिए विचारण न्यायालय को प्रतिप्रेषित कर दिया था, जिनकी अनुपस्थिति में मामले में प्रभावी डिक्री पारित नहीं की जा सकती थी। मैं इन विनिश्चयों में व्यक्त किये गये मतों के साथ ससम्मान अपनी सहमति प्रकट करता हूं और मेरी राय में इलाहाबाद, कलकत्ता और लाहौर के उच्च न्यायालयों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त प्रस्तुत मामले के तथ्यों को पूरी तरह से लागू होते हैं। तथापि, यहां इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि आदेश 1, नियम 10 (2) पर **रजिया बेगम** बनाम **अनवर बेगम**[4] में विचार किया गया था जहां कि न्या० बी० पी० सिन्हा (जैसा कि वे उस समय उस पद पर थे) ने बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया था कि व्यक्तियों को पक्षकार बनाने के मामले में यह नहीं समझना चाहिए कि यह बात आरम्भिक अधिकारिता का कोई प्रश्न उठाती है और यह कि यह मात्र विवेकाधिकार का मामला होता है जिसका प्रयोग मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर ध्यान देते हुए न्यायिकतः किया जाना चाहिए था। न्या० जाफर इमाम ने भी, यद्यपि वे मामले के तथ्यों के आधार पर एक विभिन्न निष्कर्ष पर पहुंचे थे, यह मत व्यक्त किया था कि (विवेकाधिकार की) शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है "यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि प्रभावी और पूर्ण रूप से न्यायनिर्णयन करने के लिए तथा मामले में अन्तर्विष्ट सभी प्रश्नों को तय करने के लिए आदेश 1, नियम 10 के अधीन आदेश जारी करना आवश्यक है।"

7. आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 7 के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए तथा ऊपर विवेचित विभिन्न विनिश्चयों में प्रतिपादित विधिक स्थिति की विवेचना को ध्यान में रखते हुए मेरी यह दृढ़ राय है कि

---

[1] ए० आई० आर० 1949 लाहौर 248.

[2] ए० आई० आर० 1928 कलकत्ता 138.

[3] ए० आई० आर० 1929 कलकत्ता 669.

[4] ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 886.

धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 में दो परन्तुकों को जोड़ कर सन् 1976 में सिविल प्रक्रिया संहिता में किये गये संशोधन द्वारा आवश्यक पक्षकारों के जोड़े जाने से सम्बन्धित विधि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। जैसा कि पहले ही मत व्यक्त किया जा चुका है इन सभी उपबन्धों को एक साथ पढ़ा जाना होगा और इसलिए इस स्थिति पर ध्यान देना आवश्यक है कि दो परन्तुकों के जोड़े जाने के परिणामस्वरूप भी दो में से किसी भी उपबन्ध [आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 17] के मामले में विधानमंडल द्वारा किसी प्रकार का कोई संशोधन करना आवश्यक नहीं समझा गया था। अतः मेरी राय में दोनों परन्तुकों का आशय वादी को वाद फाइल करने से वंचित करना नहीं है, यदि उसे न्यायालय द्वारा आदेश 1, नियम 10 और आदेश 6, नियम 17 के अधीन अपनी शक्ति के प्रयोग में अनुतोष उपलब्ध करा दिया जाता है। यह बात संदेह रहित है कि परन्तुक का साधारण तात्पर्य मुख्य उपबन्ध के प्रवर्तन की परिधि को मात्र सीमित करना या कम करना होता है। अतः परन्तुक आमतौर पर मुख्य उपबन्ध की परिधि को विस्तृत न तो करता है और न कर सकता है और न इसमें आप में ही कोई अधिष्ठायी अधिकार या नियम या प्रक्रिया ही अन्तर्विष्ट होती है। इस स्थिति के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि धारा 99 और आदेश 1, नियम 9, दोनों ही उपचारात्मक उपबन्ध हैं। इन दोनों उपबन्धों का उद्देश्य यह संसूचित करना है कि मुकदमों में एक ओर तो अतिविलम्बता से बचा जाय और दूसरी ओर उन तकनीकी बातों को न्याय के उद्धेश्य को असफल बनाने नहीं दिया जाना चाहिए जो अनिवार्य रूप से प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालती हैं। मेरी राय में इन दो परन्तुकों के कारण किसी भी प्रकार से इस उद्देश्य पर प्रभाव नहीं पड़ा है। क्योंकि ऐसी दशा में इसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से मुख्य भाग में अन्तर्विष्ट अधिष्ठायी उपबन्धों के विरुद्ध होगा किन्तु निर्वचन के किसी भी सिद्धान्त के द्वारा किसी परन्तुक को ऐसा परिणाम प्राप्त करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जा सकता। मेरी राय में दोनों परन्तुकों का वास्तविक उद्देश्य यह है कि किसी भी वाद में आवश्यक पक्षकारों के अभाव में कोई विनिश्चय नहीं लिया जाना चाहिए और यदि ऐसा किया जाता है तो ऐसा विनिश्चय मुख्य भाग में या धारा 99 और आदेश 1, नियम 9 के असंशोधित उपबंधों में अधिनियमित उपचारात्मक अद्योपायों के कारण बचाया नहीं जा सकता : और इसलिए दो उपबंध मात्र अतिशय सावधानी की दृष्टि से ही अन्तःस्थापित किये गये हैं। वस्तुतः अतिविलम्बता और पेचीदगी को रोकने के लिए परन्तुक जोड़कर इन दो उपबधों को और अधिक अर्थपूर्ण और प्रभावकारी बनाया गया है। अतः इनका अर्थान्वयन यह नहीं करना है कि मात्र क्योंकि आवश्यक पक्षकार न्यायालय के समक्ष नहीं

था इसलिए वाद को खारिज कर दिया जाना चाहिए । निस्संदेह ऐसे मामलों में न्यायालय की वह शक्ति जो यह आदेश 1, नियम 10 (2) और आदेश 6, नियम 7, के अधीन प्रयुक्त कर सकती है और जो असंशोधित है, लागू की जा सकती है और यह शक्ति किसी भी प्रकार से दो नये परन्तुकों के द्वारा बाधित या आक्षेपित नहीं की जा सकती क्योंकि जैसा कि मैंने पहले ही उपदर्शित किया है इन परन्तुकों का वास्तविक आशय दाण्डिक नहीं अपितु उपचारात्मक है ।

8. ऊपर विवेचित विधिक स्थिति को देखते हुए मेरी यह दृढ़ राय है कि आवश्यक व्यक्तियों को पक्षकार बनाने के लिए और तत्पश्चात् विचारण की कार्यवाही करने के लिए विचारण न्यायालय को मामला प्रतिप्रेषित करते हुए अवर न्यायालय द्वारा पारित आक्षेपित डिक्री और निर्णय न केवल बिल्कुल वैध और सही ही था अपितु यह न्यायपूर्ण तथा समीचीन भी था क्योंकि ऐसे मामलों में अनुसारण किये जाने के लिए यही समुचित तरीका था । मुझे इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि इस मामले में अनुज्ञात किया गया संशोधन किसी भी प्रकार से पक्षकार बनाये जाने वाले व्यक्तियों के प्रति अन्याय करेगा क्योंकि इस मामले में परिसीमा का कोई भी प्रश्न उद्भूत नहीं होता है । दूसरी ओर, मुकदमें में बहुलता और अतिविलम्बन को रोकते हुए सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति इस संशोधन से पूर्ण न्याय होगा । तद्नुसार मैं विद्वान् अवर अपील न्यायालय द्वारा पारित निर्णय और डिक्री की पुष्टि करता हूं और अपील को खारिज करता हूं । तथापि इस तथ्य को देखते हुए कि इस अपील में महत्व का एक विधि का मुद्दा उठाया गया है जिसके बारे में इस न्यायालय का अभी तक कोई विनिश्चय प्रतीत नहीं होता है इसलिए मैं इस अपील में पक्षकार को अपना-अपना खर्चा वहन करने का निदेश देता हूं ।

9. अब ये सम्बन्धित कागजात प्रतिप्रेषण आदेश में अवर न्यायालय द्वारा दिए गए निदेशों के अनुसार वाद का शीघ्रता से निपटारा करने के लिए विचारण न्यायालय को भेज दिए जाएं ।

अपील खारिज की गई ।

शर्मा

नि० प० 1984 : गोहाटी—68

मरमेश्वर दास बनाम पीठासीन अधिकारी, श्रम न्यायालय और अन्य

(Mermeswar Das *Vs.* The Presiding Officer, Labour Court and Others)

तारीख 25 अगस्त, 1983

[न्या० बी० एल० हंसारिया और न्या० डा० टी एन० सिंह]

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947—धारा 2 (णण) -- "छंटनी" शब्द का अर्थ और परिधि—कर्मकार के "स्वास्थ्य के निरन्तर खराब रहने" पर किया गया सेवा का पर्यवसान छंटनी की कोटि में नहीं आता है परन्तु अगर "चिकित्सक दृष्टया अयोग्य" होने के आधार पर कर्मकार की सेवा का पर्यवसान किया जाता है तो इसे छंटनी माना जाएगा।

पिटीशनर को 17 अगस्त, 1961 को फायर-फाइटिंग ओपरेटर के पद पर परिवीक्षा पर प्रथम बार 6 मास के लिए 71/-रुपये के वेतन और सामान्य भत्तों पर नियुक्त किया गया था। परिवीक्षा की इस अवधि को 28 मई, 1962 को पारित आदेश द्वारा तारीख 22 फरवरी, 1962 से 6 माह के लिए बढ़ा दिया गया। तथापि इसके पश्चात् 5 नवम्बर, 1962 को पिटीशनर की सेवा की समाप्ति कर दी गई क्योंकि उसे "चिकित्सक-दृष्टया अयोग्य" पाया गया था। ऐसा 5 नवम्बर, 1962 को पारित आदेश द्वारा किया गया था। उस आदेश में यह कथन किया गया था कि पिटीशनर को एक माह के नोटिस के बदले में महंगाई-भत्ते और महंगाई-वेतन (डी० पी०) सहित एक माह के वेतन का संदाय किया जाएगा। यह दलील दी गई है कि पिटीशनर की सेवा शर्तों में से एक शर्त यह भी थी कि उसको सेवा में बने रहना चिकित्सकदृष्टया योग्य पाए जाने पर निर्भर करेगा। नियोजक ने संविदा के अधीन उसे प्राप्त अधिकार का प्रयोग किया था। इसलिए यह मामला 'छंटनी' का नहीं है बल्कि सेवा की संविदा के पर्यवसान का मामला है। विचारार्थ प्रश्न यह है कि इस प्रकार की गई उसकी सेवा की समाप्ति 'छंटनी' शब्द की परिभाषा की परिधि के अन्तर्गत आती है या नहीं ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

सिद्धांततः 'छंटनी' किसी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि अगर कहीं पर युक्तियुक्त रूप से दो दृष्टिकोण सम्भव हों तो कर्मकार के पक्ष वाला दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। तथापि,

उच्चतम न्यायालय के हाल ही के कुछ विनिश्चयों के दृष्टिकोण से इसकी सीमा को बढ़ाना नहीं है परन्तु उन विनिश्चयों के विनिश्चयाधारों को प्रस्तुत मामले पर लागू करते समय उच्चतम न्यायालय द्वारा दर्शाई गई दिशा की कुछ और आगे बढ़ना है। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 25च और ऐसे ही उपबंधों का स्पष्ट उद्देश्य कर्मकार को रोजगार के न रहने पर प्रतिकर प्रदान करना है और जब तक उसे नया रोजगार नहीं मिलता तब तक के लिए जीवित रहने के लिए साधन उपलब्ध कराना है। एक कारण से सेवा की समाप्ति या किसी दूसरे कारण से सेवा की समाप्ति में किसी प्रकार की भिन्नता स्थापित करना कठिन था। जब यह निवेदन किया गया कि अनावश्यक कर्मकारों की सेवोन्मुक्ति को ही 'छंटनी' माना जाना चाहिए तो न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि इसे स्वीकार करना असम्भव है क्योंकि अगर यह आशय होता तो 'छंटनी' अभिव्यक्ति को इतने विस्तार के साथ परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं होती, "निरन्तर खराब स्वास्थ्य" के आधार पर सेवा की समाप्ति को छंटनी की परिभाषा माना जाए तो एक तरह से पूर्वोक्त विनिश्चय और बाद वाले विनिश्चय में किसी प्रकार का तात्विक विरोध नहीं है। ऐसी दशा में 'निरन्तर खराब स्वास्थ्य' होना चाहिए। इसलिए बाद वाले निर्णय को निरन्तर खराब स्वास्थ्य तक सीमित रख कर चलना होगा चूंकि, पिटीशनर को (i) छोटी आंत के अग्र भाग में बार-बार होने वाला पुराना फोड़ा है, और (ii) उत्तेजित करने वाली मनोविकृति है तो वर्तमान मामला वास्तव में निरन्तर खराब स्वास्थ्य का मामला है। इस संदर्भ में वैबस्टर कृत ट्वन्टियथ सैंचुरी शब्दाकोश में 'मनोविकृति' (साइकोसिस) परिभाषा के प्रति निर्देश किया जा सकता है। उसमें यह परिभाषित किया गया है कि 'मनोविकृति' की बीमारी एक शारीरिक बीमारी न हो कर एक मानसिक विकार है। न्यायालय के समक्ष जो सामग्री है उसके आधार पर यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि वर्तमान मामला 'निरन्तर खराब स्वास्थ्य' का मामला है। यहां पर यह भी कहा जा सकता है कि जब किसी व्यक्ति की बीमारी कुछ समय तक बनी रहती है तो उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि उसका स्वास्थ्य निरन्तर खराब रहता है। न्यायालय के समक्ष ऐसी कोई सामग्री नहीं है जिससे यह पता चले कि पिटीशनर उपर्युक्त बीमारी में कितने समय से ग्रसित है। वास्तव में सेवा को समाप्त करने वाले आदेश तक में इस बात का कथन नहीं किया गया है कि सेवा को समाप्त करने का ऐसा आधार था। इसमें केवल 'चिकित्सकदृष्टया अयोग्य' होने का उल्लेख किया गया है। फिर भी युक्तियुक्त रूप से इस प्रश्न के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। प्रस्तुत

मामले सदृश्य मामलों में वही दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए जो कर्मकार की सहायता करता हो। (पैरा 2, 6 और 11)

प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 25च लागू नहीं होती है क्योंकि सेवा की समाप्ति से पूर्व पिटीशनर परिवीक्षा पर ही था, इसलिए उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह निरन्तर नियोजक की सेवा में था। इस निवेदन में कोई औचित्य नहीं है क्योंकि भारतीय तेल निगम के स्थायी आदेश के प्रति निर्देश करने से यह पता चलेगा कि परिवीक्षाधीन व्यक्तियों को कर्मचारियों के रूप में स्वीकार किया गया है। औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 2(णण) के उप-खण्ड (ग) में प्रयुक्त 'स्वास्थ्य निरन्तर खराब रहा' अभिव्यक्ति को न्यायालय आम शारीरिक अयोग्यता या दुर्बलता के संदर्भ में नहीं मानता बल्कि इसको नियोजन के दौरान किसी कर्मकार के किसी विशेष समय काफी समय तक नियोजन के लिए उपलब्ध न होना मानता है। यह आवश्यक रूप से बीमारी के बार-बार होने के कारण नहीं बल्कि बीमारी की इस प्रकृति के कारण है जिसके परिणामस्वरूप कर्मकार कार्य करने के लिए उपलब्ध होने के अयोग्य हो गया था। उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय में ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता है जिसके बारे में यह कहा जा सके कि वह उपर्युक्त दृष्टिकोण के विपरीत है। वास्तव में एक मामले में भी न्यायालय ने "उनका स्वास्थ्य इतना खराब है कि उन्हें सेवा में बिल्कुल भी बनाए नहीं रखा जा सकता" वाली कसौटी अपनाई थी। अब विभिन्न कानूनी उपबंधों द्वारा नियोक्ताओं पर सामाजिक जिम्मेदारी की यह बाध्यता अधिरोपित कर दी गई है कि वे अपने कर्मकारों के स्वास्थ्य का ध्यान रखें और जब भी आवश्यकता हो, उन्हें ऐसी चिकित्सीय सुविधा प्रदान करें जिससे उनकी निःशक्तता को, जिसके कारण वे अपनी जीविका के उपार्जन से वंचित हो गए हैं, निवारित किया जा सके या उस पर काबू पाया जा सके। पिटीशनर का मामला 'निरन्तर खराब स्वास्थ्य' के अपवाद के अधीन नहीं आता है जिससे कि यह छटनी के अन्तर्गत न आए। उसकी सेवाओं का पर्यवसान तो केवल इस स्पष्ट निष्कर्ष के आधार पर किया गया था कि वह 'चिकित्सीय दृष्टया अयोग्य' पाया गया है। न्यायालय का यह मत है कि इस निष्कर्ष के आधार पर इस मामले में इस अपवाद को लागू नहीं किया जा सकता। इसलिए इस मामले में नियोक्ता 'स्वास्थ्य निरन्तर खराब रहा है' के आधार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता था और इसलिए इस दलील को कायक नहीं रखा जा सकता कि पिटीशनर का मामला धारा 2(णण) के अधीन नहीं आता है। (पैरा 1, 18 और 19)

		पैरा
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1253 : मोहन लाल **बनाम** भारत इलैक्ट्रोनिक्स लिमिटेड (Mohan lal *Vs*. Bharat Electronics Limited) का अवलम्ब लिया गया।	6, 12
[1983]	1983(1) एस० एल० जे० 370 : अजीत सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Ajit Singh *Vs*. State of Punjab);	12
[1983]	ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 617 : दिल्ली नगरपालिका **बनाम** यासीन (Delhi Municipality *Vs*. Yasin);	17
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 879 : रणधीर सिंह वाला मामला (In Re Randhir Singh);	17
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 854 : एल० राबर्ट डिसूजा **बनाम** कार्यपालक इंजीनियर (L. Robert Disouza *Vs*. Executive Engineer);	7
[1981]	[1981] 2 उम० नि० प० 487=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1219 : सन्तोष गुप्ता **बनाम** स्टेट बैंक ऑफ पटियाला (Santosh Gupta *Vs*. State Bank of Patiala);	3,6
[1978]	ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 8 : दिल्ली क्लाथ और जनरल मिल्स **बनाम** शम्भू नाथ (Delhi Cloth and General Mills *Vs*. Shambhu Nath);	5
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 31 : हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड **बनाम** पीठासीन अधिकारी, श्रम न्यायालय (Hindustan Steel Limited *Vs*. Presiding Officer, Labour Court);	4,9

[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1111 : भारतीय स्टेट बैंक **बनाम** सुन्दरा मोनी (State Bank of India *Vs.* Sundara Mony);	4, 9
[1962]	1962(1) एल० एल० जे० 213 : बंगलूर वूलन, काटन और सिल्क मिल्स के कर्मकार **बनाम** उसका प्रबन्ध-तन्त्र (Workmen of Bangalore Woollen Cotton and Silk Mills *Vs.* Its Management);	10,11,18
[1957]	ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 121 : हरी प्रसाद शिवशंकर **बनाम** ए० डी० दिविकर (Hari Prasad Shivshankar *Vs.* A. D. Divikar);	3, 4

निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक सिविल रिट अधिकारिता : 1978 की सिविल न्यादेश सं० 54.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री डी० एन० चौधरी और एच० सर्मा

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री पी० सी० डेका और वी० कलीता

न्यायालय का निर्णय न्या० वी० एल० हंसारिया ने दिया ।

न्या० हंसारिया :

विधि स्थिर नहीं है । यह स्थिर हो भी नहीं सकती । समाज के रीति रिवाज और प्रकृति में परिवर्तन के साथ-साथ रहन-सहन और साधारण विचार-धारा में हुआ परिवर्तन सामाजिक विधायी अधिनियमितियों पर नये सिरे से, विशेषकर अगर वे समाज के कमजोर वर्ग के बारे में है, विचार करने की आवश्यकता होती है । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि ओद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947, जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है, ऐसा अध्युपाय है जो अन्य बातों के साथ-साथ श्रमिकों के हितों की रक्षा करने के लिए तात्पर्यित है । श्रमिकों को "भाड़े का टट्टू" बनाए जाने के सिद्धांत से संरक्षण प्रदान किया जाना है । चूंकि जीविका चलाना जीवित रहने का ही एक भाग है और जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 21 में आज्ञापक रूप से उपबंधित है इसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त छीना नहीं जा सकता । अधिनियम के संरक्षा प्रदान करने वाले अध्युपायों का अर्थान्वयन न केवल प्रकट

निकाल सकता है। तथापि ऐसा करते समय वह विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित विचारों और निष्कर्षों को उचित सम्मान देगा। विचारण न्यायालय को साक्षियों की भावभंगिमा की जांच करने का अवसर भी मिलता है। उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटते समय इस बात की पूरी सावधानी बरतनी चाहिए कि विचारण न्यायाधीश द्वारा किसी विशिष्ट साक्षी पर अविश्वास करने के कारणों पर ध्यान देना चाहिए और उसे मामले में इससे विपरीत दृष्टिकोण अपनाने से पूर्व उन कारणों को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। यह इसलिए है क्योंकि जब अभियुक्त का विचारण किया जा रहा होता है तो उसके सम्बन्ध में यह उपधारणा की जाती है कि वह निर्दोष है और उसकी दोषमुक्ति से इस उपधारणा में कोई कमी नहीं आती है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सुस्थिर सिद्धांतों की रोशनी में न्यायालय तथ्यों पर और इस अपील में अन्तर्वलित कानूनी मुद्दों पर विचार करेंगे। जहां तक हेतु का सम्बन्ध है अभियोजन साक्षी, मृतक के पुत्र, के साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि प्रत्यर्थियों और मृतक के बीच कुछ मुकदमेबाजी चल रही थी। तथापि हेतु एक दुधारी तलवार है। जबकि हेतु किसी अपराध को करने को प्रेरित कर सकता है वहां पर इसके विद्यमान होने से विरोधियों को मिथ्या रूप से फंसाया भी जा सकता है। अभिलेख पर साक्ष्य का परिशीलन करने से यह पता चलता है कि पक्षकारों के बीच में जो मुकदमेबाजी चल रही थी वह पुरानी थी। अभियोजन ने न तो मुकदमे की प्रकृति के बारे में ही कुछ कहा है और न ही अभियुक्तों द्वारा मृतक पर हमला करने का कोई वर्तमान कारण बताया है। यह अभिकथन भी नहीं किया गया है कि मुकदमे की सुनवाई के लिए नियत तारीख के आस-पास घटना घटित हुई थी। इसलिए यह कहना कठिन है कि प्रत्यर्थियों द्वारा मृतक की हत्या करने के लिए यह लम्बित वाद पर्याप्त हेतुक था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की कठिनाई आने पर अन्वेषण अभिकरण ने निधान सिंह द्वारा इस प्रकार ललकारा गया कि "(हरनाम सिंह को) पकड़ लो और उसे जिन्दा मत जाने दो" शब्दों का सहारा लिया। ऐसा लांछन लगाना एक ऐसा हथियार है जो अभियोजन पक्ष द्वारा साधारणतया उस समय प्रयोग किया जाता है जबकि आशय या ज्ञान के संबंध में उनका साक्ष्य कमजोर होता है। साधारणतया इन लांछनों का प्रयोग सबूतों के रूप में किया जाता है। इस मामले में न्यायालय ने यह पाया है कि केवल निधान सिंह द्वारा ही ललकारा जाना इस दृष्टकोण से कहा गया है कि जिससे मतक की हत्या करने के लिए अभिकथित आशय के अभाव को पूरा किया जा सके। इसलिए न्यायालय का यह समाधान नहीं हुआ है कि अभियोजन पक्ष यह

सिद्ध करने में सफल हो गया है कि अभिकथित अपराध को करने के लिए प्रत्यर्थियों के पास पर्याप्त हेतुक था। (पैरा 9 और 10)

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 में संज्ञेय अपराधों की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित करने के लिए उपबंध किया गया है। उसमें यह अधिकथित किया गया है कि संज्ञेय अपराध के किए जाने से संबंधित इत्तिला यदि पुलिस थाने के भार-साधक अधिकारी को मौखिक रूप से दी गई है तो उसके द्वारा या उसके निदेशाधीन लेखबद्ध कर ली जायेगी और उस व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षर किए जाएंगे जो उसे दे रहा है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 157 में यह अधिकथित है कि यदि पुलिस थाने के भार-साधक अधिकारी को इत्तिला प्राप्त होने पर या अन्यथा यह सन्देह करने का कारण है कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है "तो वह उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजेगा जो ऐसे संज्ञेय अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने के लिए सशक्त है" और मामले के तथ्यों और परिस्थितियों का अन्वेषण करने के लिए उस स्थान पर या तो स्वयं जाएगा या अपने अधीनस्थ अधिकारियों में से एक को भेजेगा। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है यद्यपि यह एक पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। इसको तत्काल करने से अभियोजन पक्ष के कथन में विश्वास पैदा होता है और इस संभावना को कम करता है कि परिवादी द्वारा रिपोर्ट में बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। इसी कारण न्यायालय द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को देरी से दर्ज करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कानून के अनुसार रजिस्टर पर जब प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित की जाती है तो उस पर उसका समय और तारीख का भी उल्लेख किया जाता है और वह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के किए जाने में दिखाई गई तत्परता की आन्तरिक रूप से जांच करने में सहायता करता है। अविलम्ब प्रथम इत्तिला रिपोर्ट करने से बहुत हद तक घटना का तुरन्त विवरण मिल जाता है और इसमें इस बात की सम्भावना नहीं रह जाती कि इसमें सोच-समझकर कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। विधानमण्डल ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 157 में यह उपबंध किया है कि पुलिस स्टेशन भार-साधक अधिकारी द्वारा अपराध की रिपोर्ट संबंधित मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजी जाएगी। इससे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट किए जाने के सम्बन्ध में बाहरी तौर से जांच हो जाती है। यह धारा उस परिस्थिति में एक सुरक्षा उपाय का काम करती है जहां पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या तो समय पूर्व या तारीख पूर्व की जाती है। मजिस्ट्रेट द्वारा समय पर विशेष रिपोर्ट प्राप्त करने पर यह विश्वास

पैदा हो जाता है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के करने में विलम्ब नहीं हुआ था और विलम्ब के बारे में कोई कारण न बताये जाने से सम्बन्धित मजिस्ट्रेट के मस्तिष्क में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के अविलम्ब किए जाने के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होता है और यह न्यायालय को इसका पता लगाने के लिए कहता है। (पैरा 12)

प्रस्तुत मामले में यह अभिकथन किया गया है कि घटना को घटित होते देखने के पश्चात् तुरन्त ही मृतक का पुत्र साम्बा पुलिस स्टेशन गया और उसने वहां पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखवाई। ऐसा प्रतीत होता है कि वह रिपोर्ट पूर्वाह्न में 8-30 बजे पर लिखवाई गई थी। सूचना देने वाले ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में यह कथन किया है कि क्षतियों के कारण मृतक की मृत्यु हो गई है। इसलिए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से यह स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है। इसलिए पुलिस के लिए यह वाध्यता थी कि वह तुरन्त सम्बन्धित मजिस्ट्रेट को विशेष रिपोर्ट भेजे। स्पष्टतः यह नहीं किया गया था। सम्बन्धित मजिस्ट्रेट द्वारा 21 जून, 1971 को विशेष रिपोर्ट प्राप्त की गई थी अर्थात् 3 दिनों से भी अधिक समय के पश्चात्। मजिस्ट्रेट द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को देर से प्राप्त किये जाने के सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था यद्यपि मजिस्ट्रेट का न्यायालय पुलिस स्टेशन से केवल 7 किलोमीटर दूर था। न केवल यह ही बल्कि पुलिस अधीक्षक, जम्मू, ने भी 21 जून,1971 को ही पुलिस अधीक्षक और मजिस्ट्रेट को विशेष रिपोर्ट की प्रतियां प्रेषित की गई थीं और इससे पहले नहीं। न तो अन्वेषण अधिकारी और न ही किसी अन्य साक्षी ने वे कारण बताए हैं जिनसे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट देर से प्राप्त हुई थी। इसलिए इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि रिपोर्ट पूर्व तारीख की थी और रिपोर्ट के किए जाने के समय और तारीख के बारे में गम्भीर सदेह उत्पन्न होता है। विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी है कि चूंकि 3 अभियुक्तों के नाम प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में लिखवाए गए थे और उन्हें 18 जून, 1971 को ही गिरफ्तार कर लिया गया था इस सम्भावना को कायम नहीं रखा जा सकता कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पूर्व तारीख की है; और यह बात नहीं जंचती कि विलम्ब भार-साधक अधिकारी की लापरवाही के कारण हुआ होगा। यही सही है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रथम तीन प्रत्यर्थियों का हत्यारों के रूप में उल्लेख किया गया है और हमें अभियोजन साक्षी उप-निरीक्षक के साक्ष्य से यह पता चला है कि उन प्रत्यर्थियों को 18 जून, 1971 को गिरफ्तार कर लिया गया था परन्तु जैसा कि

अभियोजन ने अभिकथन किया है इन परिस्थितियों से निश्चित रूप से यह पता नहीं चलता कि 18 जून, 1971 की पूर्वाह्न 8-30 बजे पर यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अस्तित्व में आ चुकी थी। मृतक के पुत्र के कथन से यह पता चला है कि जब वह पुलिस वालों के साथ पुलिस स्टेशन से वापस आया उस समय घटनास्थल पर उसका कथन अभिलिखित किया गया। जैसा कि अभिकथन किया गया है अगर मृतक के पुत्र ने पुलिस स्टेशन पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखा दी थी तब घटनास्थल पर पुलिस द्वारा मृतक के पुत्र के एक और कथन को अभिलिखित करने की आवश्यकता नहीं थी। अभियोजन पक्ष ने इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि उसी स्थान पर मृतक के पुत्र के कथन को फिर क्यों अभिलिखित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाह्न में 8-30 बजे पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट नहीं लिखवाई गई थी और जब पुलिस को इस घटना के बारे में पता चला वे घटनास्थल पर आए और उन्होंने मृतक के पुत्र के कथन को अभिलिखित किया और संदेह के आधार पर प्रथम तीन अभियुक्तों को गिरफ्तार कर लिया और उन्होंने अभियोजन के कथन को गढ़ा। इसलिए विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष युक्तियुक्त और सही है। (पैरा 13)

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1973 की दोषमुक्ति अपील सं० 13 से उद्भूत अपील।

सेशन न्यायाधीश, जम्मू के दिनांक 6 नवम्बर, 1972 वाले आदेश के विरुद्ध प्रथम दाण्डिक अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री सालारिया, महाधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री टी० एस० ठाकुर, महाधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० डाक्टर ए० एस० आनन्द ने दिया।

न्या० डाक्टर आनन्द :

18 जून, 1671 को प्रातःकाल 6 बजे अड्डा बरियान में हरनाम सिंह नामक एक व्यक्ति की अभिकथित हत्या के सम्बन्ध में गांव संजवान, तहसील साम्बा के 9 व्यक्तियों अर्थात् निधान सिंह, मिलखा सिंह के पुत्र जगजीत सिंह, बाधवा सिंह के पुत्र कुलदीप सिंह, निहाल सिंह के पुत्र दीवान सिंह, मानसिंह के पुत्र निहाल सिंह, मंगल सिंह के पुत्र मंगा सिंह, मिखला सिंह के पुत्र तारा

सिंह, किरपाल सिंह के पुत्र शोंकू राम और राम सिंह के पुत्र अजीत सिंह को अभियुक्त बनाया गया। अभियुक्त व्यक्तियों का रणबीर पीनल कोड की धारा 302/34/120-ख के अपराधों के लिए विचारण किया गया। जम्मू के सेशन न्यायाधीश ने दिनांक 6 नवम्बर, 1972 वाले अपने निर्णय द्वारा उन सभी को सभी अपराधों से दोषमुक्त कर दिया। राज्य ने इस दोषमुक्ति के विरुद्ध यह अपील की है।

2. दिनांक 2 मार्च, 1973 को प्रत्यर्थी सं० 1, 2, 3 अर्थात् निधान सिंह, जगजीत सिंह और कुलदीप सिंह के विरुद्ध अपील किए जाने की इजाजत दे दी गई। बाकी के 6 अभियुक्तों के विरुद्ध अपील की इजाजत को आरम्भ में ही खारिज कर दिया गया। परिणामस्वरूप, विवक्षा द्वारा उनकी दोषमुक्ति की पुष्टि हो गई है।

3. अभियोजन का पक्षकथन यह है कि 17 जून, 1971 की रात्रि में सभी 9 अभियुक्त, कुलदीप सिंह प्रत्यर्थी सं० 3 के घर पर एकत्र हुए और उन्होंने हरनाम सिंह की मृत्यु कारित करने के लिए एक दाण्डिक षड्यंत्र रचा। इस षड्यंत्र को अग्रसर करने के लिए प्रथम तीन प्रत्यर्थी अर्थात् निधान सिंह, कुलदीप सिंह और जगजीत सिंह 18 जून, 1971 को मृतक की राह में छिप कर उसका इन्तजार करने लगे। उन्होंने जम्मू-पठानकोट राज-मार्ग पर स्थित अड्डा बरियान के नजदीक सुबह हरनाम सिंह को देखा और उस पर आक्रमण कर दिया। यह अभिकथन किया गया है कि मृतक हरनाम सिंह साइकिल पर आ रहा था और प्रत्यर्थी निधान सिंह ने उसे देखकर ललकारते हुए यह कहा कि इसे पकड़ लो और उसे जिन्दा मत जाने दो। इसी के अनुसार प्रत्यर्थी सं० 3 कुलदीप सिंह ने हरनाम सिंह को कमर से पकड़ लिया और प्रत्यर्थी सं० 1, निधान सिंह ने मृतक के सिर पर 'दरात' से 2-3 प्रहार किए। प्रत्यर्थी सं० 2, जगजीत सिंह ने भी उसकी पीठ पर लाठी से प्रहार किया। हरनाम सिंह गिर गया और इन क्षतियों के कारण उसकी मृत्यु हो गई। मृतक का पुत्र, गुरमीत सिंह ने, जो कि कुछ खरीदारी करने के लिए अपने पिता के पीछे-पीछे अड्डे बरियान आ रहा था, तमाम घटना घटित होते हुए देखी। उसने शोर मचाया, जिसे सुनकर अभियुक्त व्यक्ति भाग गये। तब गुरमीत सिंह अकेले ही साम्बा पुलिस थाने की ओर भाग कर गया और पूर्वाह्न 8 बजकर 30 मिनट पर उसने वहां पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखाई। प्रथम तीन प्रत्यर्थियों को अभियुक्त के रूप में लिखवाया गया था और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में यह भी लिखवाया गया था कि इसके अतिरिक्त कुछ और व्यक्ति भी वहां पर उपस्थित

थे और उन्होंने हरनाम सिंह की हत्या में भाग लिया था। पुरानी मुकदमेबाजी और शत्रुता को हरनाम सिंह पर हमला करने का हेतु बताया गया। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखवाए जाने के पश्चात् अन्वेषण अधिकारी एस० रावेल सिंह, थाना भारसाधक अधिकारी घटना स्थल की ओर गये और उन्होंने अन्वेषण आरम्भ कर दिया। उसने दण्ड प्रक्रिया सहिता की धारा 161 के अधीन साक्षियों के कथन अभिलिखित किए और घटनास्थल से एक थैला, एक साइकल और एक पहचान-पत्र, जो कि मृतक का था, अपने कब्जे में लिया। खून से सनी हुई मिट्टी भी अभिगृहीत करके मुहरबन्द की गई और हरनाम सिंह के मृतक शरीर को शव-परीक्षा के लिए अस्पताल भेज दिया गया। प्रथम तीन प्रत्यर्थियों को गिरफ्तार कर लिया गया और प्रत्यर्थी सं० 1 निधान सिंह द्वारा अभिकथित सूचना के आधार पर प्रदर्श पी-1, दरात उसके घर के अहाते से बरामद किया गया और कब्जे में ले लिया गया। प्रत्यर्थी सं० 1 की एक कमीज, जिसके बारे में यह अभिकथन किया गया है कि वह खून से सनी हुई थी, भी अभिगृहीत कर ली गई। प्रत्यर्थी सं० 2, जगजीत सिंह से एक लाठी बरामद की गई। अभियोजन साक्षी डा० युगल किशोर ने शव-परीक्षा की थी और उसने मृतक के शरीर पर निम्नलिखित क्षतियां पायीं :—

(1) शिरोवल्क के सामने के भाग के बीच में एक छिन्न घाव है। यह 3" × 1/4" चौड़ा घाव है जो हड्डी तक चला गया है।

(2) सामने के भाग में दाहिनी और $3\frac{1}{2}$" लम्बा और 1/4" चौड़ा हड्डी तक एक छिन्न घाव।

(3) पार्श्विक भाग के दाहिनी ओर से पश्चकपाल तक बढ़ा हुआ एक छिन्न घाव। यह हड्डी तक लगभग 4" लम्बा था। यह 1/4" चौड़ा था।

(4) दाहिने कान के कर्णमूल के दाहिनी ओर एक नील पड़ा हुआ था।

(5) शिरोवल्क के मध्य से पश्चकपाल भाग की ओर बढ़ता हुआ एक छिन्न घाव था। यह $1\frac{1}{2}$" लम्बा और 1/6" चौड़ा छेद था।

(6) दाहिनी बाजू के बीच में बहुत सी हड्डियां टूटी हुई थीं। चमड़ी पर लगभग 4" लम्बा एक घाव था और हड्डियों के साथ भी

मुलायम ऊतक कट चुके थे और केवल बीच में एक थोड़ी-सी चमड़ी ही बची थी । यह घाव छिन्न प्रकृति का था ।

(7) दाहिनी भुजा के अग्र भाग की कोहनी के नीचे एक छिन्न घाव था । इससे लगभग 3" चमड़ी छिल गई थी और एक तिकोनी आकृति की खाल लटक रही थी । यह घाव चमड़ी की गहराई तक ही था ।

(8) चमड़ी की गहराई तक दाहिनी कलाई के पृष्ठ जोड़ पर एक 1" लम्बा छेद था ।

(9) बाईं कोहिनी के जोड़ पर रगड़ के बहुत से चिन्ह थे ।

(10) बाईं टांग के एक तिहाई (1/3) भाग में नीचे की ओर 4" लम्बा और 1/4" गहरा छिन्न घाव था ।

(11) 3" लम्बा चमड़ी तक गहरा टांग के 1/3 भाग में छिन्न घाव था, जोकि क्षति सं० 10 के बराबर ही ऊपर की ओर 1" का था ।

(12) 5" लम्बा और 4" गहरा, 3" चौड़ा घुटिकास्थि के ऊपर की चमड़ी काटते हुए और फेबुला के निचले भाग और ऊपर की ओर काटते हुए अन्तर्जंघिका तक जाने वाला एक छिन्न घाव। यह दाहिनी घुटने और टांग के निचले भाग में बाहर की ओर था ।

(13) दाहिनी चमड़ी के बीच में 1" लम्बा हड्डी तक काटते हुए 1/2" छिन्न घाव ।

(14) दाहिनी टांग के निचले 1/3 भाग में अन्तर्जन्घिका और फेबुला और साथ ही मुलायम ऊतक को काटता हुए एक छिन्न घाव । टांग बीच में से केवल चमड़ी के सहारे ही टंगी हुई थी ।

(15) दाहिने घुटने के जोड़ में बिलकुल नीचे, टांग के निचले भाग में बाहर की ओर बहुत से छिन्न घाव थे। फेबुला के ऊपरी भाग और अन्तर्जंघिका के ऊपरी भाग में बहुत तरह के कटे हुए निशान थे और वे घुटनों के जोड़ तक खुले हुए थे। यह घाव लगभग 7" लंबा, 3" गहरा और 4" चौड़ा था ।

(16) दाहिने घुटने को चमड़ी तक काटता हुआ और दाहिने पट्टेला को भी काटते हुए और घुटने के जोड़ तक जाता हुआ एक सीधा 3½" लम्बा छिन्न घाव ।

(17) दाहिनी तर्जनी के अन्दर की ओर उसके मध्य और अन्तस्थ फलांजेस पर एक 2" लम्बा छिन्न घाव था।

4. अभियोजन पक्ष ने अभियुक्तों को अपराध के साथ सम्बद्ध करने के दृष्टिकोण से चिकित्सीय साक्ष्य के अतिरिक्त प्रत्यक्षदर्शी साक्षी गुरमीत सिंह बिहारी लाल, मंसा राम, परमानन्द और बलदेव सिंह और निधान सिंह प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा अभिकथित निशानदेही के आधार पर बरामद की गई दरात का भी अवलम्ब लिया। जब अपराधियों की दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 342 के अधीन परीक्षा की गई तो उन्होंने इसमें भाग लेने से इनकार किया और यह अभिकथन किया कि उन्हें मिथ्या रूप से फंसाया गया है। उन्होंने प्रतिरक्षा में सरन सिंह, देस राज, ज्ञान सिंह और बिशन दास की परीक्षा की।

5. अभियोजन के साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष निकाला कि जैसा अभिकथित किया गया है कि घटना अड्डा बरियान पर नहीं घटी थी बल्कि रात के अन्धेरे में किसी और स्थान पर घटी थी, कि न केवल षड्यंत्र का आरोप गढ़ा गया है बल्कि प्रथम तीन प्रत्यार्थियों को सन्देह के आधार पर मामले में फंसाया गया है और यह कि उन्हें अभिकथित अपराध के साथ सम्बद्ध करने के लिए कोई कानूनी सबूत नहीं है। फलस्वरूप उसने उन्हें दोषमुक्त कर दिया।

6. विद्वान् महाधिवक्ता श्री सालारिया ने हमारे समक्ष उपस्थित हो कर यह निवेदन किया है कि विचारण न्यायालय द्वारा किया गय साक्ष्य का मूल्यांकन पूर्णरूप से त्रुटिपूर्ण था और अभियोजन साक्षी गुरमीत सिंह और बिहारी लाल ने संगत रूप से घटना का विवरण दिया है और इस पर गलत ढंग से अविश्वास किया गया था और विचारण न्यायालय द्वारा अभियोजन पक्ष के साक्ष्य को अपर्याप्त कारणों से नामंजूर कर दिया था।

7. दूसरी ओर अभियुक्त प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल श्री टी० एस० ठाकुर ने यह निवेदन किया है कि न केवल विचारण न्यायालय द्वारा साक्ष्य का सही मूल्यांकन किया गया था बल्कि मामले में भी कई ऐसी परिस्थितियां थीं जिनसे अभियुक्त प्रत्यर्थियों की दोषमुक्ति को उचित ठहराया जाता है उसने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि प्रथम इत्तला रिपोर्ट देर से दर्ज करवाई गई थी और जांच दूषित हो गई थी। विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में युक्तियुक्त रूप से अगर दो दृष्टिकोण संभव हों तो दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील की सुनवाई में उच्च न्यायालय को दोषमुक्ति के आदेश में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

8. हमने न्यायालय में दी गई दलीलों पर बहुत सावधानीपूर्वक विचार किया है और पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों की सहायता से साक्ष्य का परिशीलन भी किया है ।

9. यद्यपि साधारण तौर पर दोषमुक्ति के आदेश में उच्च न्यायालय बहुत कम हस्तक्षेप करता है । बशर्ते कि उसमें गम्भीर अन्याय न हुआ हो और उसको अपास्त किए जाने के ठोस कारण न हों तब तक दोषमुक्ति के विरुद्ध की गई अपील में उच्च न्यायालय को उस न्यायालय से भिन्न शक्ति प्राप्त नहीं है जैसी कि दोषसिद्धि के विरुद्ध अपील को सुनने वाले न्यायालय को प्राप्त हैं । ऐसी अपील की सुनवाई करते समय उच्च न्यायालय तथ्य और विधि सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विचार कर सकता है और साक्ष्य के आधार पर अपने निष्कर्ष निकाल सकता है । तथापि ऐसा करते समय वह विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित विचारों और निष्कर्षों को उचित सम्मान देगा । विचारण न्यायालय को साक्षियों की भावभंगिमा की जांच करने का अवसर भी मिलता है । उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटते समय इस बात की पूरी सावधानी बरतनी चाहिए कि विचारण न्यायाधीश द्वारा किसी विशिष्ट साक्षी पर अविश्वास करने के कारणों पर ध्यान देना चाहिए और उसे मामले में इससे विपरीत दृष्टिकोण अपनाने से पूर्व उन कारणों को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए । यह इसलिए है क्योंकि जब अभियुक्त का विचारण किया जा रहा होता है तो उसके सम्बन्ध में यह उपधारणा की जाती है कि वह निर्दोष है और उसकी दोषमुक्ति से इस उपधारणा में कोई कमी नहीं आती है । मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इन सुस्थिर सिद्धान्तों की रोशनी में हम तथ्यों पर और इस अपील में अन्तर्वलित कानूनी मुद्दों पर विचार करेंगे ।

10. जहां तक हेतु का सम्बन्ध है अभियोजन साक्षी गुरमीत सिंह के साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि प्रत्यर्थियों और मृतक हरनाम सिंह के बीच कुछ मुकदमेबाजी चल रही थी । तथापि हेतु एक दुधारी तलवार है । जबकि हेतु किसी अपराध को करने के लिए प्रेरित कर सकता है वहां पर इसके विद्यमान होने से विरोधियों को मिथ्या रूप से फंसाया भी जा सकता है । अभिलेख पर के साक्ष्य का परिशीलन करने से हमें यह पता चलता है पक्षकारों के बीच में जो मुकदमेबाजी चल रही थी वह पुरानी थी । अभियोजन पक्ष ने न तो मुकदमे की प्रकृति के बारे में ही कुछ कहा है और न ही अभियुक्तों द्वारा मृतक पर हमला करने का कोई वर्तमान कारण बताया है । यह अभिकथन भी नहीं किया गया है कि मुकदमे की सुनवाई के लिए नियत तारीख के आस-पास घटना

घटित हुई थी। इसलिए यह कहना कठिन है कि प्रत्यर्थियों द्वारा हरनाम सिंह की हत्या करने के लिए वह लम्बित वाद पर्याप्त हेतुक था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की कठिनाई आने पर अन्वेषण अभिकरण ने निधान सिंह द्वारा इस प्रकार ललकारा गया कि “(हरनाम सिंह को) पकड़ लो और उसे जिन्दा मत जाने दो”। हमारा यह अनुभव है कि ऐसा लांछन लगाना एक ऐसा हथियार है जो अभियोजन पक्ष द्वारा साधारणतया उस समय प्रयोग किया जाता है जबकि आशय या ज्ञान के सम्बन्ध में उनका साक्ष्य कमजोर होता है। साधारणतया इन लांछनों का प्रयोग सबूतों के रूप में किया जाता है। इस मामले में हमने यह पाया है कि केवल निधान सिंह द्वारा ही ललकारा जाना इस दृष्टिकोण से कहा गया है कि जिससे हरनाम सिंह की हत्या करने के लिए अभिकथित आशय के अभाव को पूरा किया जा सके। इसलिए हमारा यह समाधान नहीं हुआ है कि अभियोजन पक्ष यह सिद्ध करने में सफल हो गया है कि अभिकथित अपराध को करने के लिए प्रत्यर्थियों के पास पर्याप्त हेतु था।

11. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल श्री ठाकुर ने बलपूर्वक यह कहा है कि इस मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट देर से दर्ज करवाई गई थी और अपनी इस दलील के समर्थन में उन्होंने हमारा ध्यान उस तथ्य की ओर दिलाया कि 21 जून, 1971 को मजिस्ट्रेट के पास विशेष रिपोर्ट पहुंची थी जबकि वह मजिस्ट्रेट केवल 7 किलोमीटर दूरी पर था। दोषमुक्ति के आदेश को अभिलिखित करते समय विचारण न्यायालय ने इस पहलू पर भी विचार किया था। हमारा भी यह मत है कि इस परिस्थिति से अन्वेषण अभिकरण के सद्‌भाव के प्रति संशय उत्पन्न होता है।

12. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 में संज्ञेय अपराधों की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित करने के लिए उपबन्ध किया गया है। उसमें यह अधिकथित किया गया है कि संज्ञेय अपराध के किए जाने से सम्बन्धित इत्तिला यदि पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी को मौखिक रूप से दी गई है तो उसके द्वारा या उसके निदेशाधीन लेखबद्ध कर ली जाएगी और उस व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षर किए जाएंगे जो उसे दे रहा है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 157 में यह अधिकथित है कि यदि पुलिस थाने के भार-साधक अधिकारी को इत्तिला प्राप्त होने पर या अन्यथा यह संदेह करने का कारण है कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है “तो वह उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजेगा जो ऐसे संज्ञेय अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने के लिए सशक्त है” और मामले के तथ्यों और परिस्थितियों का अन्वेषण करने

के लिए उस स्थान पर या तो स्वयं जाएगा या अपने अधीनस्थ अधिकारियों में से एक को भेजेगा । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है यद्यपि यह एक पर्याप्त साक्ष्य नहीं है । इसको तत्काल करने से अभियोजन पक्ष के कथन में विश्वास पैदा होता है और इस सम्भावना को कम करता है कि परिवादी द्वारा रिपोर्ट में बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है । इसी कारण न्यायालय द्वारा प्रथम इत्तला रिपोर्ट को देरी से करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है । कानून के अनुसार रजिस्टर पर जब प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित की जाती है तो उस पर उसका समय और तारीख का भी उल्लेख किया जाता है और वह प्रथम इत्तला रिपोर्ट के किए जाने में दिखाई गई तत्परता की आन्तरिक रूप से जांच करने में सहायता करता है । अविलम्ब प्रथम इत्तिला रिपोर्ट करने से बहुत हद तक घटना का तुरन्त विवरण मिल जाता है और इसमें इस बात की सम्भावना नहीं रह जाती कि इसमें सोच-समझ कर कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है । विधानमण्डल ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 157 में यह उपबंध किया है कि पुलिस स्टेशन भार-साधक अधिकारी द्वारा अपराध की रिपोर्ट सम्बन्धित मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजी जाएगी । इससे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट किए जाने के सम्बन्ध में बाहरी तौर से जांच हो जाती है । यह धारा उस परिस्थिति में एक सुरक्षा उपाय का काम करती है जहां पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या तो समय पूर्व या तारीख पूर्व की जाती है । मजिस्ट्रेट द्वारा समय पर विशेष रिपोर्ट प्राप्त करने पर यह विश्वास पैदा हो जाता है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के करने में विलंब नहीं हुआ था और विलम्ब के बारे में कोई कारण न बताए जाने से संबंधित मजिस्ट्रेट के मस्तिष्क में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के अविलम्ब किए जाने के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होता है कि और वह न्यायालय को इसका पता लगाने के लिए कहता है ।

13. वर्तमान मामले में यह अभिकथन किया गया है कि घटना को घटित होते देखने के पश्चात् तुरन्त ही गुरमीत सिंह साम्बा पुलिस स्टेशन गया और उसने वहां पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखवाई । ऐसा प्रतीत होता है कि वह रिपोर्ट पूर्वाह्न में 8.30 बजे पर लिखवाई गई थी । सूचना देने वाले ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में यह कथन किया है कि क्षतियों के कारण हरनाम सिंह की मृत्यु हो गई है। इसलिए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से यह स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है । इसलिए पुलिस के लिए यह बाध्यता थी कि वह तुरन्त सम्बन्धित मजिस्ट्रेट को विशेष रिपोर्ट भेजते । स्पष्टतः यह नहीं किया गया था । सम्बन्धित मजिस्ट्रेट द्वारा 21 जून, 1971 को विशेष रिपोर्ट प्राप्त की गई थी अर्थात् 3 दिनों से भी अधिक समय के पश्चात् । मजिस्ट्रेट द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को

देर से प्राप्त किए जाने के सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था यद्यपि मजिस्ट्रेट का न्यायालय पुलिस स्टेशन से केवल 7 किलोमीटर दूर था। न केवल यह ही बल्कि पुलिस अधीक्षक, जम्मू, ने भी 21 जून, 1971 को ही विशेष रिपोर्ट की प्रति प्राप्त की थी। यह अभियोजन पक्ष साक्षी सिपाही ज्ञान सिंह ने कथन किया था। इसलिए यह प्रतीत होता है कि केवल 21 जून, 1971 को ही पुलिस अधीक्षक और मजिस्ट्रेट को विशेष रिपोर्ट की प्रतियां प्रेषित की गई थीं और इससे पहले नहीं। न तो अन्वेषण अधिकारी और न ही किसी अन्य साक्षी ने वे कारण बताए हैं जिनसे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट देर से प्राप्त हुई थी। इसलिए इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि रिपोर्ट पूर्व तारीख की थी और रिपोर्ट के किए जाने के समय और तारीख के बारे में गम्भीर सन्देह उत्पन्न होता है। विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी है चूंकि, 3 अभियुक्तों के नाम प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में लिखवाए गए थे और उन्हें 18 जून, 1971 को ही गिरफ्तार कर लिया गया था तो इस सम्भावना को कायम नहीं रखा जा सकता कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पूर्व तारीख की है, और हमें यह बात नहीं जंचती कि विलंब भार-साधक अधिकारी की लापरवाही के कारण हुआ होगा। यह सही है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रथम तीन प्रत्यर्थियों का हत्यारों के रूप में उल्लेख किया गया है और हमें अभियोजन साक्षी, उपनिरीक्षक, रवैल सिंह के साक्ष्य से यह पता चला है कि उन प्रत्यर्थियों को 18 जून, 1971 को गिरफ्तार कर लिया गया था परन्तु जैसाकि अभियोजन पक्ष ने अभिकथन किया है, इन परिस्थितियों से निश्चित रूप से यह पता नहीं चलता कि 18 जून, 1971 को पूर्वाह्न 8.30 बजे पर यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अस्तित्व में आ चुकी थी। गुरमीत सिंह के कथन से हमें यह पता चला है कि जब वह पुलिस वालों के साथ पुलिस स्टेशन से वापिस आया उस समय घटनास्थल पर उसका कथन अभिलिखित किया गया। जैसा कि अभिकथन किया गया है अगर गुरमीत सिंह ने पुलिस स्टेशन पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट लिखा दी थी तब घटनास्थल पर पुलिस द्वारा गुरमीत सिंह के एक और कथन को अभिलिखित करने की आवश्यकता नहीं थी। अभियोजन ने इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि उसी स्थान पर गुरमीत सिंह के कथन को फिर क्यों अभिलिखित किया गया है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाह्न में 8.30 बजे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट नहीं लिखवाई गई थी और जब पुलिस को इस घटना के बारे में पता चला वे घटनास्थल पर आए और उन्होंने गुरमीत सिंह का कथन अभिलिखित किया और सदेह के आधार पर प्रथम तीन अभियुक्तों को गिरफ्तार कर लिया और उन्होंने अभियोजन पक्ष के कथन को गढ़ा। इसलिए विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष युक्तियुक्त

और सही है और जहां तक प्रतिरक्षा का संबंध है, अभियोजन के पक्षकथन में जो यह कमी है काफी महत्त्वपूर्ण है ।

14. विलम्ब से की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से सम्बद्ध एक परिस्थिति यह भी है कि चाक्षुष परिसाक्ष्य और चिकित्सीय साक्ष्य में गम्भीर विरोध है। ससे भी अभियोजन के पक्षकथन पर काफी कुप्रभाव पड़ता है ।

15. अभियोजन साक्षी गुरमीत सिंह और बिहारी लाल जो क्रमशः मृतक के पुत्र और किरायेदार हैं, प्रत्यर्थी सं० 1 निधान सिंह के बारे में यह भी कथन किया है कि उसने मृतक के सिर पर दरात से 2-3 प्रहार किए थे। इन क्षतियों के अतिरिक्त यह अभिकथन किया गया है कि निधान सिंह ने मृतक के शरीर के किसी भी अन्य भाग पर दरात से प्रहार नहीं किया था। किसी और अभियुक्त के पास भी तेजधार वाले हथियार थे और न ही अभियोजन का यह कथन है कि निधान सिंह के साथियों ने भी मृतक पर छिन्न घाव कारित किए थे। वास्तव में, जैसा कि प्रत्यर्थी निधान सिंह ने दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 342 के अधीन कथन करते हुए कहा है कि अभियोजन ने भी यही कथन किया है कि उसने मृतक के सिर पर दरात से 2-3 प्रहार किए थे। तथापि चिकित्सीय साक्षी डा० युगल किशोर ने मृतक के शरीर के विभिन्न भागों पर 14 छिन्न घाव पाए इसके अतितिरक्त उसने लात के निचले भाग के बाहर की ओर और दाहिने घुटने के जोड़ के निचने भाग में भी बहुत से छिन्न घाव पाए। उसने दाहिने कान के पीछे एक नील पाया और बाईं कोहिनी के जोड़ पर बहुत-सी खरोंचे भी पाईं। यदि अभियोजन साक्षी गुरमीत सिंह और बिहारी लाल ने घटना को घटित होते हुए देखा जैसाकि उन्होंने अभिकथन किया है, तो वे इस बात का उल्लेख करने में असफल न होते कि कैसे और किसके द्वारा मृतक के शरीर के दूसरे भागों पर बाकी की क्षतियां कारित की गई थीं। अभियोजन उन क्षतियों के कारित करने वाले के विषय में बिल्कुल खामोश है। इस प्रकार चिकित्सीय और चाक्षुष-परिसाक्ष्य में गम्भीर विरोध है। इस विरोध से न केवल अभियोजन का पक्षकथन प्रभावित होता है बल्कि इससे श्री ठाकुर की इस दलील को भी समर्थन मिलता है कि घटना किसी और ढंग से हुई थी और प्रत्यक्ष साक्षियों ने सन्देह के कारण अभियुक्त व्यक्तियों को इस में फंसाने का विचार किया। साधारणतया चिकित्सीय मत एक साक्ष्य सम्बन्धी मत है जिसके आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता और यह आमतौर से अधूरा होता है और इसे चाक्षुष परिसाक्ष्य पर अधिमान नहीं दिया जाना चाहिए। चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर और चाक्षुष परिसाक्ष्य के अधार पर जब

क्षतियों की संख्या और उनकी प्रकृति के बारे मे कोई विवाद होता है तब अभियोजन का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस विवाद के बारे में विस्तार के साथ बताए और अभियोजन द्वारा इसमें असफल रहने पर प्रतिरक्षा पक्ष संदेह का लाभ प्राप्त होने का हकदार होता है। वर्तमान मामले में अभियोजन ने इसके बारे में कुछ भी स्पष्टीकरण देने की चेष्टा नहीं की है। अभियोजन ने इसके बारे में कुछ नहीं बताया है कि मृतक के शरीर पर बाकी की क्षतियां किसने कारित की हैं और किस हथियार से की हैं। यह एक बहुत ही गम्भीर कमीं है और विद्वान् विचारण न्यायालय ने इस परिस्थिति को अभियोजन के विरुद्ध ठीक ही प्रयोग किया है।

16. इसके अतिरिक्त इस मामले में अन्वेषण भी निष्पक्ष नहीं था। अभियोजन साक्षी परमानन्द और मन्शाराम को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के रूप में दर्शाया गया था। सम्भवत: अभियोजन पक्ष इन निष्पक्ष साक्षियों के साक्ष्य का मृतक के पुत्र गुरमीत सिंह और मृतक के किराएदार बिहारी लाल के परिसाक्ष्य के समर्थन में प्रयोग करना चाहता था। तथापि इन दोनों साथियों ने विचारण के दौरान यह अभिसाक्ष्य दिया कि उन्होंने घटना को घटित होते हुए नहीं देखा था और उन्हें इसके बारे में बाद में बताया गया था। इसलिए उनके कथनानुसार वे प्रत्यक्षदर्शी साक्षी नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरमीत सिंह और बिहारी लाल दोनों ने ही इस आशा में अभियोजन साक्षी परमानन्द और मंशाराम के नाम का उल्लेख किया था कि यह दोनों साक्षी सम्भवत: उनका समर्थन करेंगे और चूंकि इन दोनों साक्षियों ने घटना के बारे में अनभिज्ञता जाहिर की है इसलिए हमारे विचार से अभियोजन साक्षी गुरमीत सिंह और बिहारी लाल के प्रति विश्वास करना भी तात्त्विक रूप से मुश्किल हो गया है। इसके अतिरिक्त अभियोजन साक्षी गुरमीत सिंह के साक्ष्य का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने से हमारे मस्तिष्क में यह प्रभाव पड़ता है कि वह प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहना भी सुसंगत होगा कि घटना घटित होने और उसके पश्चात् का उसका अप्राकृतिक आचरण भी इस सम्भावना को समाप्त कर देता है कि वह घटना घटित होने के समय अड्डा पर उपस्थित था। उसने अपने परिसाक्ष्य में यह कहा है कि जब अभियुक्तों ने उसके पिता को ललकारा था उस समय वह अपने पिता के पीछे-पीछे आ रहा था। तथापि, जैसाकि साधारणतया एक पुत्र वहां पर उपस्थित होते हुए करता वह अपने पिता की सहायता के लिए नहीं आया। यह और कि यद्यपि उसने यह कथन किया है कि वह रिपोर्ट लिखवाने के लिए पुलिस स्टेशन गया था तथापि [illegible] पाया है कि उसने प्रति-परीक्षा में यह स्वीकार

किया है कि पुलिस ने घटनास्थल पर ही उसके कथन को अभिलिखित किया था। उसने प्रतिरक्षा में यह भी स्वीकार किया है कि जब शव को शव-परीक्षा के लिए अस्पताल ले जाया गया तो वह उसके साथ नहीं गया था और मृतक के शरीर को घटनास्थल से हटाया जाने और हमला होने के बीच में जो दो घण्टे से अधिक का समय व्यतीत हुआ है उस दौरान वह अपनी माता और दूसरे रिश्तेदारों को इस बात की सूचना देने के लिए घर पर भी नहीं गया और न ही इस प्रयोजन के लिए उसने किसी को भेजा था। उसने साक्ष्य में यह भी कहा है कि उसने अपने पिता का जीवन बचाने के लिए चेष्टा नहीं की थी और न ही उसने अपने पिता को किसी प्रकार का प्राथमिक उपचार प्रदान किया था या उसने अपनी पगड़ी या रूमाल के साथ अपने पिता के उन घावों को, जिनसे खून बह रहा था, बांधा था। यदि वह वहां पर उपस्थित होता और उसने अपनी आंखों से घटना को घटित होते हुए देखा होता तब मानवीय आचरण के साधारण अनुक्रम में उसने यह सब कुछ किया होता जो कि एक पुत्र अपने पिता के लिए करता। हमारा यह मत है कि अधिक सम्भावना यह है कि घटना के घटित होने के समय वह वहां पर उपस्थित नहीं था और बाद में उसने अपने आपको प्रत्यक्षदर्शी बताया। हमारे विचार से अभियोजन साक्षी बिहारी लाल को भी साक्षी के रूप में तैयार किया गया था क्योंकि अभिलेख से न केवल यह पता चलता है कि उसकी चाय की दुकान से घटनास्थल नजर नहीं आता था बल्कि जब उसके मकान-मालिक पर हमला किया जा रहा था तो उसने उसको नहीं देखा था। प्रदर्श पी०-1, जो कि मृत्यु-परीक्षा रिपोर्ट है, में भी उसके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। चूंकि वह मृतक का किराएदार है इसलिए निःस्संदेह रूप से वह एक हितबद्ध साक्षी है। तथापि, केवल यही एक ऐसा पर्याप्त आधार नहीं है जिसके कारण उसके सम्पूर्ण परिसाक्ष्य पर अविश्वास किया जाए तथापि हम उसके परिसाक्ष्य से प्रभावी नहीं हुए हैं और पर्याप्त सम्पोषण के बिना दोषमुक्ति के आदेशों में हस्तक्षेप करना उचित नहीं होगा।

17. हमारे द्वारा ऊपर पाई गई कमियों को ध्यान में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि अभिलेख पर के साक्ष्य के आधार पर विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष या तो अयुक्तियुक्त थे या तर्क विरोधी थे। इसलिए हमें इसमें कोई तात्त्विक या दृढ़ कारण प्रतीत नहीं होता है जिससे कि हम विद्वान् सेशन न्यायाधीश द्वारा अपनाए गए मत से भिन्न मत अपनाएं, और

इसी के अनुसार हम इस अपील को खारिज करते हैं। प्रत्यर्थी संख्या 1, 2 और 3 जमानत पर हैं। उनके जमानत बंध-पत्र को उन्मोचित किया जाता है।

अपील खारिज की गई।

खन्ना

नि० प० 1984 : जम्मू-कश्मीर—72

राम नाथ बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य और एक अन्य

(Ram Nath *Vs.* State of Jammu and Kashmir and Another)

तारीख 23 मार्च, 1984

[मु० न्या० वी० खालिद]

जम्मू-कश्मीर हाउसेस एण्ड शाप्स रेण्ट कन्ट्रोल ऐक्ट, 2009 (वि०)—धारा 12(4)—इस धारा में यह उपबन्धित है कि बेदखली के लिए किए गए वाद का प्रतिवाद किए जाने पर न्यायालय प्रतिवादी को बकाया किराए के संदाय के लिए तथा अन्तिम बार जिस दर पर किराए का संदाय किया गया था उसके संदाय का आदेश दे सकेगा—ऐसा करने में असफ़ल रहने पर प्रतिवादी का प्रतिवाद रद्द कर दिया जाएगा—इस धारा के प्रथम भाग के अनुसार विवेकाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है जबकि द्वितीय भाग अज्ञापक है और न्यायालय पर आबद्धकर है—न्यायालय इस धारा के आशय से भिन्न आशय नहीं लगा सकता।

एक किराएदार के विरुद्ध जम्मू-कश्मीर हाउसेस एण्ड शाप्स रेण्ट कंट्रोल ऐक्ट की धारा 12(4) के अधीन बेदखली की कार्यवाहियां लम्बित थीं। इसी के दौरान किराएदार ने अधिनियम की धारा 12 की उपधारा (4) को इस आधार पर चुनौती दी कि यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करती है इसलिए इसे अविधिमान्य घोषित किया जाए और यह भी प्रार्थना की कि इस धारा में प्रयुक्त "करेगा" (शैल) शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया जाए कि इसका अर्थ "कर सकेगा" (मे) निकाला जाए। विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या अधिनियम की उपर्युक्त धारा भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने के कारण अविधिमान्य है ? क्या न्यायालय को यह अधिकार

मात्र से ही यह दर्शित होता है कि यह तर्क अमान्य है और इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। विभाग उन तथ्यों पर कार्यवाही नहीं कर रहा है जो न्यायालय के समक्ष के आरोप से संबंधित नहीं हैं और जो भिन्न आरोप के आधार पर विभागीय जांच को न्यायोचित ठहराता है किन्तु विभाग यथावत् रूप से उन्हीं आरोपों के आधार पर अग्रसर हो रहा है जो सक्षम दाण्डिक न्यायालय के समक्ष विचारण की विषय-वस्तु थे।

6. इसके अतिरिक्त भी पिटीशनर की एक अन्य व्यथा है जो उसने रिट पिटीशन में संशोधन करके व्यक्त की है। इस पिटीशन के लम्बित रहने के दौरान पिटीशनर ने विभागीय कार्यवाहियों को रोकने के लिए आवेदन फाइल किया। इस न्यायालय ने 4 मार्च, 1981 के आदेश द्वारा कार्यवाहियों के रोकने की प्रार्थना मंजूर की। इस प्रकार के आवेदन फाइल किए जाने से पूर्व विभाग ने स्वयं मूल कार्यवाहियों को अभिखण्डित कर दिया था और उन्हीं आरोपों के आधार पर नए सिरे से जांच का निदेश दिया था। श्री जगमल सिंह, ए० सी० पी० को जांच अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया था। पिटीशनर ने डी० सी० पी० (दक्षिण) के समक्ष एक आवेदन फाइल किया जिसमें उसने जांच अधिकारी को बदलने की प्रार्थना की थी। आवेदन में यह अभिकथन किया गया था कि 1977 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट 160 के आधार पर मूल मामले में अन्वेषण उक्त जगमल सिंह, ए० सी० पी० के पर्यवेक्षण के अधीन किया गया था जिसने कि पिटीशनर के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामले का निष्कर्ष निकाला था। आगे यह अभिकथन किया गया कि जांच के प्रथम दिन ही उक्त जगमल सिंह ने अपने रीडर के माध्यम से पिटीशनर के विरुद्ध टीका-टिप्पणी की थी जिसे आवेदन में निम्न प्रकार प्रोद्धृत किया गया है :—

> "यह बड़ा हरफन मौला है यह सीधे हाथों काबू नहीं आएगा, बहुत अच्छा हुआ कि यह फिर मेरे पास आ गया है अब इसे देखभाल के बांधेंगे।"

इस आवेदन के आधार पर जगमल सिंह से अपनी टीका-टिप्पणी प्रस्तुत करने के लिए कहा गया। अपनी टीका-टिप्पणी में श्री जगमल सिंह ने इस बात को स्वीकार किया कि दाण्डिक मामले में अन्वेषण का पर्यवेक्षण उसके द्वारा किया गया था किन्तु उसने पिटीशनर के विरुद्ध न्यायालय में टीका-टिप्पणी करने से इनकार किया। उसने यह भी कहा कि इस प्रकार की टीका-टिप्पणी से विभागीय जांच को पिटीशनर के विरुद्ध माना जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त टीका-टिप्पणी और ए० सी० पी० की सिफारिश के आधार

पर पिटीशनर के विरुद्ध विभागीय जांच का निदेश दिया गया। रिट पिटीशन के संशोधन द्वारा पिटीशनर ने उक्त जांच को अभिखण्डित करने की भी प्रार्थना की। जांच अधिकारी को बदलने के लिए दिए गए आवेदन पर, जिसमें अभिकथन किए गए हैं और जिनके आधार पर जांच का आदेश दिया गया है और अभिकथनों की संक्षिप्ति की पिटीशनर को तामील की गई है, मैंने सावधानीपूर्वक विचार किया है। मेरी यह राय है कि श्री जगमल सिंह को, जिसने स्वीकृत रूप से दाण्डिक मामले में अन्वेषण का संचालन किया था, प्रत्यर्थी द्वारा जांच अधिकारी के रूप में कभी भी नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। चूंकि उसे नियुक्त कर दिया गया है, अतः पिटीशनर को जांच अधिकारी बदलने के लिए निवेदन करने का अधिकार है और उसके द्वारा प्रयुक्त की गई भाषा ऐसी नहीं है जिसके आधार पर विभागीय जांच की जा सके जैसा कि निदेश दिया गया है। फिर भी इस प्रकार का आदेश 5 मार्च, 1981 को उस समय किया गया जबकि जांच की कार्यवाहियों को इस न्यायालय द्वारा पहले ही रोक दिया गया था। 4 मार्च, 1981 के पश्चात् विभागीय जांच के लिए और कोई आदेश उस समय नहीं दिया जा सकता जबकि दोनों पक्षकारों की उपस्थिति में कार्यवाहियों को रोकने वाला प्रश्नगत आदेश स्वीकृत रूप से दे दिया गया था। विभाग को जांच-फाइल पर किसी प्रकार के आदेश देने से रोकने के लिए कहा गया था। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रारम्भ की गई द्वितीय जांच भी अभिखण्डित की जाती है।

7. ऊपर अभिलिखित किए गए कारणों के आधार पर यह न्यायादेश आत्यंतिक किया जाता है और 21 फरवरी, 1980 के आदेश सं० 1881-96/एस०डी०(पी०) में यथा प्रकल्पित जांच जो कि पिटीशन का उपाबंध 'एफ' है और जिसे अपर पुलिस आयुक्त द्वारा पारित किया गया है तथा 5 मार्च, 1981 के आदेश सं० 1644-55/एस०डी०(पी०) जिसे प्रत्यर्थी सं० 4 द्वारा पिटीशनर के विरुद्ध विभागीय जांच का आदेश देते हुए पारित किया गया है तथा अभिकथनों की संक्षिप्ति और उसके सम्बन्ध में कार्यवाहियां अभिखण्डित की जाती हैं। पिटीशनर अपने खर्चे का हकदार है। काउन्सेल की फीस 300 रुपये है। निलम्बन की अवधि के दौरान अनुतोषों के सम्बन्ध में तथा पिटीशनर के पुष्ट किए जाने सम्बन्धी प्रश्न के सम्बन्ध में इस मामले में दिए गए निर्णय के आधार पर विभाग द्वारा विचार किया जाएगा।

पिटीशन मंजूर किया गया।

बंसल/श

नि० प० 1984 : दिल्ली—155

एस० एस० कुंवर बनाम भारत संघ और एक अन्य

(S. S. Kunwar *Vs.* Union of India and another)

तारीख 20 जनवरी, 1984

[न्या० एच० एल० आनन्द]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 311 सपठित केन्द्रीय सिविल सेवा (अस्थायी सेवा) नियम, 1965, नियम 5(1) तथा भारत सरकार द्वारा जारी किया गया 1959 का ज्ञापन—कर्मचारियों की पद्च्युति, पद से हटाया जाना या पंक्तिच्युत किया जाना—'धारणाजन्य पुष्टीकरण' (डीम्ड कनफरमेशन) पद की अर्थव्याप्ति—सरकारी ज्ञापन के अनुसार सेवा में किसी सिविल सेवक के चार वर्ष पूरे हो जाने पर 'धारणाजन्य पुष्टीकरण' के सिद्धान्त के आधार पर यह समझा जाएगा कि सेवा में उसकी पुष्टि हो गई है और ऐसे पुष्टीकरण पर सिविल सेवक को ऐसे पद का अधिकार अर्जित हो गया है—चूंकि सेवा के चार वर्ष पूरे कर लेने के बाद सिविल सेवक की सेवा-समाप्ति उसको पद से हटाए जाने की कोटि में आती है, अतः सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिए बिना पारित आदेश अनुच्छेद 311 के अतिक्रमण के आधार पर अवैध और असांविधानिक होगा।

2. केन्द्रीय सिविल सेवा (अस्थायी सेवा) नियम 1965—नियम 5(1) सपठित भारत सरकार द्वारा जारी किया गया 1959 का ज्ञापन तथा संविधान, 1950, अनुच्छेद 311—कर्मचारियों की पदच्युति, पद से हटाया जाना या पंक्तिच्युत किया जाना—'धारणाजन्य पुष्टीकरण' (डीम्ड करफरमेशन) पद की अर्थव्याप्ति—सरकारी ज्ञापनके अनुसार सेवा में किसी सिविल सेवक के चार वर्ष पूरे हो जाने पर 'धारणाजन्य पुष्टीकरण' के सिद्धान्त के आधार पर यह समझा जाएगा कि सेवा में उसकी पुष्टि हो गई है और ऐसे पुष्टीकरण पर सिविल सेवक को ऐसे पद का अधिकार अर्जित हो गया है—चूंकि सेवा के चार वर्ष पूरे कर लेने के बाद सिविल सेवक की सेवा-समाप्ति उसको पद से हटाए जाने की कोटि में आती है, अतः सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिए बिना पारित आदेश अनुच्छेद 311 के अतिक्रमण के आधार पर अवैध और असांविधानिक होगा।

पिटीशनर की, जो कि उत्तर प्रदेश सरकार की सेवा में है, संघ लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर अस्थायी आधार और दो वर्ष की परिवीक्षा

पर निदेशक के रूप में नियुक्ति की गई जो कि एक स्थायी पद है। विदेश व्यापार मंत्रालय द्वारा जारी किए गए ज्ञापन के निबन्धनों के अनुसार दो वर्ष की परिवीक्षा की अवधि नियुक्ति प्राधिकारी के विवेकानुसार बढ़ाई या कम की जा सकेगी। भारत सरकार के सभी मंत्रालयों को भेजे गए ज्ञापन के द्वारा गृह मंत्रालय ने विभिन्न सेवाओं में परिवीक्षा पर नियुक्ति के पहलुओं पर विचार किया और जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह सिफारिश की गई कि किसी परिवीक्षार्थी के काम और आचरण के बारे में विभिन्न अधिकारियों से प्राप्त रिपोर्ट पर सेवा में उसकी पुष्टि किए जाने की पात्रता का अवधारण वरिष्ठ अधिकारियों के बोर्ड द्वारा किया जाना चाहिए तथा यद्यपि परिवीक्षा की अवधि सामान्यतः दो वर्ष होती है किन्तु विशेष कारणों से और गृह मंत्रालय के साथ परामर्श से यह अवधि लम्बी या कम की जा सकेगी। इस अधिसूचना के पैरा 8 और 9 में यह उपबन्ध किया गया है कि असाधारण कारणों के सिवाय परिवीक्षा की अवधि एक वर्ष से अधिक के लिए नहीं बढ़ाई जानी चाहिए और किसी भी कर्मचारी को सामान्य अवधि की दुगुनी अवधि से अधिक के लिए परिवीक्षा पर नहीं रखा जाना चाहिए तथा किसी कर्मचारी की पुष्टि की जाने या परिवीक्षा की अवधि बढ़ाए जाने का विनिश्चय आरम्भिक परिवीक्षा की अवधि के समाप्त होने के सामान्यतया 6 से 8 सप्ताह के भीतर किया जाना चाहिए और कर्मचारी को सकारण संसूचित किया जाना चाहिए।

किन्तु इस सबके बावजूद भारत सरकार द्वारा पिटीशनर की सेवाएं समाप्त कर दी गईं। अतः भारत सरकार के आदेश से व्यथित होकर पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है, जिसमें उन आदेशों को चुनौती दी गई है जिनके द्वारा परिवीक्षा की अवधि आरम्भिक नियुक्ति के चार वर्ष से अधिक के लिए बढ़ाई गई थी और परिवीक्षा पर पांच वर्ष से अधिक की अवधि तक काम करने के बाद भी सेवाएं समाप्त कर दी गई थीं। संक्षेप में पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई है कि—(1) परिवीक्षा पर सेवा के चार वर्ष पूरे हो जाने पर पिटीशनर के सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि मूलतः नियत की गई अवधि की दुगुनी अवधि से अधिक के लिए परिवीक्षा के विस्तार के वर्जन को ध्यान में रखते हुए, जो कि 1959 के सरकारी ज्ञापन में समाविष्ट है, उसकी सम्यक् रूप से पुष्टि कर दी गई है। अतः पिटीशनर को इस पद का एक अधिकार अर्जित हो गया और इन परिस्थितियों में पर्यवसान सेवा से हटाए जाने की कोटि में आता है। (2) परिवीक्षा की अवधि के दौरान पिटीशनर को मूल नियमों के नियम 24 के इन उपबंधों के होते हुए

भी सामान्य वार्षिक वेतन-वृद्धियां दी गई हैं कि वार्षिक वेतन-वृद्धि केवल उस दशा में ही विधारित की जा सकती है यदि उसका काम असंतोषजनक हो और इसका ऐसे किसी भी आक्षेप को समाप्त करने वाला प्रभाव होगा कि इस अवधि के दौरान पिटीशनर का कार्य या आचरण संतोषजनक नहीं है। (3) चाहे कोई भी स्थिति हो, पर्यवसान का आदेश और अन्य आदेश, चाहे वे प्रत्यक्षतः अनपकारी हों या न हों, दण्डात्मक प्रकृति के हैं क्योंकि पूर्वगामी परिस्थितियों से और कुछ आदेशों की अन्तर्वस्तु से यह बात स्पष्ट है कि वे पिटीशनर को दण्डित करने के लिए आशयित हैं और उनका आशय कलंक अधिरोपित करना है। अतः पिटीशनर आक्षेपित आदेशों के विधिसम्मत रूप से पारित किए जा सकने के पूर्व सुने जाने का समुचित अवसर पाने का हकदार है। (4) आक्षेपित आदेश इस रूप में असद्भाव से ग्रस्त हैं कि वे तत्कालीन हस्तशिल्प विकास आयुक्त की ओर से प्रतिकूल प्रभाव और पूर्वाग्रह का परिणाम है जो कि पिटीशनर को तत्कालीन उक्त रूपांकन निदेशक श्रीमती आयोला बसु की सम्भाव्यताओं में वृद्धि के मार्ग से पिटीशनर को हटाने में रुचि रखता है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या सिविल सेवक की सेवा शर्तों, सुसंगत सेवा नियमों और भारत सरकार द्वारा जारी किए गए 1959 के ज्ञापन को ध्यान में रखते हुए ऐसे सिविल सेवक के सम्बन्ध में यह समझा जा सकता है कि परिवीक्षा के चार वर्ष पूरे हो जाने पर उसकी पुष्टि कर दी गई है। यह निर्विवाद है कि न तो नियुक्तिपत्र में और न सिविल सेवक को लागू होने वाले किसी नियम में ही परिवीक्षा की कोई अधिकतम अवधि नियत की गई है और ऐसे किसी भी नियम में एक निश्चित सीमा के बाद विस्तार किए जाने के विरुद्ध कोई प्रतिषेध अन्तर्विष्ट नहीं है। यह भी निर्विवाद है कि न तो सेवा की शर्तों में और न किसी नियम में ही किसी प्राधिकारी द्वारा पुष्टीकरण का प्ररूपिक आदेश प्रकल्पित है। यह भी निर्विवाद है कि परिवीक्षा के विषय पर गृह मन्त्रालय का 15 अप्रैल, 1959 का ज्ञापन सिविल सेवक को पूरी तरह लागू होता है। वास्तव में सिविल सेवक का नियुक्ति-पत्र उसके निबन्धनानुसार बिना किसी सीमा के दो वर्ष की मूल अवधि से अधिक परिवीक्षा की अवधि बढ़ाए जाने की शक्ति प्रदान करता है किन्तु वह प्राधिकारियों को उपरिनिर्दिष्ट किए गए प्रशासनिक अनुदेशों को ध्यान में रखते हुए परिवीक्षा की अवधि को मूल अवधि से दुगुनी अवधि तक बढ़ाते रहने के लिए हकदार नहीं बनाता। 1959 के ज्ञापन के निबन्धनानुसार सिविल सेवक की परिवीक्षा के चार वर्ष पूरे हो जाने पर पुष्टि हो गई जिसके परिणामस्वरूप एक पुष्टीकृत सिविल

सेवक के रूप में उसे उस पद का अधिकार मिल गया जिस पर उसकी इस प्रकार पुष्टि की गई है और इन परिस्थितियों में सिविल सेवक की सेवा-समाप्ति उसको पद से हटाए जाने की कोटि में आती है और इसलिए उससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 311 का उल्लंघन होता है और इसलिए उसे केवल इस आधार पर ही अपास्त किया जाना चाहिए। जब तक वेतनवृद्धि विधारित किए जाने का कोई आशय न हो तब तक वार्षिक वेतन-वृद्धियां सामान्य रूप से दे दी जाती हैं। यदि सिविल सेवक को दक्षतारोध पार करने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया होता या उसकी किसी उच्चतर पद पर प्रोन्नति कर दी गई होती तो स्थिति भिन्न होती। वार्षिक वेतन-वृद्धियां उस स्थिति में एक भिन्न आधार पर होती हैं जहां सिविल सेवक के कार्य या आचरण के सम्बन्ध में असंतोष न केवल अनेक कार्यालय टिप्पणों से ही बल्कि उन सभी अवसरों से भी स्पष्ट रूप से दर्शित होता है जब परिवीक्षा अवधि बढ़ाई गई थी। अतः वार्षिक वेतन-वृद्धि दी जाने को किसी भी प्रकार से परिवीक्षा की अवधि के दौरान सिविल सेवक के कार्य या आचरण के सम्बन्ध में किसी भी असंतोष को समाप्त करना नहीं माना जा सकता। (पैरा 6 और 7)

अतः 'धारणाजन्य पुष्टीकरण' (डीम्ड कनफरमेशन) के सिद्धान्त को लागू किए जाने पर सिविल सेवक की सेवा में पुष्टि हो गई जिसके परिणामस्वरूप ऐसे पुष्टीकरण पर उसे उस पद का अधिकार अर्जित हो गया। यह पद स्थायी है भले ही उसे इस पद पर अस्थायी रूप से और परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया हो। अतः पर्यवसान का आदेश स्वयमेव दण्डात्मक है क्योंकि यह सिविल सेवक को उस पद को धारण करने के अधिकार से वंचित करता है जिस पद के लिए वह पुष्टीकरण के आधार पर हकदार हो गया है। तथापि आक्षेपित आदेश पूर्ववर्ती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अन्यथा भी दण्डात्मक है क्योंकि वह कलंकात्मक है और जिसके परिणामस्वरूप उसकी परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई गई थी और संयोगवश पर्यवसान का आदेश किया गया था। यह सुस्थिर है कि उन मामलों में जहां किसी आभासी अनपकारी आदेश की प्रकृति को दण्डात्मक कहा जाता है वहां न्यायालय को इस बात का अवधारण करने के लिए उस आदेश की पृष्ठभूमि पर विचार करने और उन पूर्ववर्ती परिस्थितियों की परीक्षा करने की छूट है जिनके परिणामस्वरूप पर्यवसान का आदेश किया गया है कि क्या वह एक अनपकारी पर्यवसान है जैसा कि वह प्रत्यक्षतः तात्पर्यित है या सिविल सेवक की भर्त्सना करने की प्रवृत्ति रखता है। यह सुस्थिर है कि किसी पद पर परिवीक्षा पर नियुक्त

व्यक्ति को परिवीक्षा की अवधि के दौरान परीक्षण पर रखा जाता है और उसकी पुष्टि किए जाने से पहले समुचित प्राधिकारी को इस बात का आदेश देने की स्वतंत्रता है कि क्या उसका कार्य और आचरण संतोषजनक है। निस्संदेह परिवीक्षा किसी परिवीक्षार्थी को पद पर बने रहने का अधिकार प्रदान नहीं करती और परिवीक्षा की अवधि के दौरान या उसके समाप्त होने पर सरकार को कोई भी कारण दिए बिना या इस आधार पर परिवीक्षार्थी की सेवा समाप्त करने की स्वतंत्रता है कि वह संतोषजनक कार्य देने में असफल रहा है। तथापि सरकार को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है कि वह किसी परिवीक्षार्थी की एक अक्षम व्यक्ति के रूप में या अन्यथा किसी अवचार या कार्य-अदक्षता के आधार पर भर्त्सना करे और यदि सरकार इन आधारों में से किसी भी आधार पर किसी परिवीक्षार्थी की सेवाएं समाप्त करना चाहती है तो ऐसा परिवीक्षार्थी नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्तों का संरक्षण पाने का हकदार होगा क्योंकि ऐसा आदेश उन परिस्थितियों को और उन कारणों को ध्यान में रखते हुए जो तथ्यतः उसमें दिए गए हैं, परिवीक्षार्थी पर कलंक अधिरोपित करता है। (पैरा 8)

समिति द्वारा एकपक्षीय जांच के तथ्य और सिविल सेवक की कार्यक्षमता और योग्यता के बारे में समिति द्वारा व्यक्त की गई राय और सिविल सेवक के सम्बन्ध में सत्यनिष्ठा के अभाव के संदर्भ से इस विषय में कोई भी संदेह नहीं रहता कि एक परिवीक्षार्थी के रूप में सिविल सेवक के मामले पर विचार करते समय सरकार पिटीशनर के कार्य और आचरण के मूल्यांकन की सामान्य सीमा भी लांघ गई है और ये मत स्पष्टतः सिविल सेवक पर कलंक अधिरोपित करते हैं और उसकी भर्त्सना करने वाले हैं। यदि परिवीक्षार्थी की परिवीक्षा की अवधि को बढ़ाया जाता है और परिवीक्षार्थी की सेवाओं को संसूचना में उपवर्णित आधारों पर या अन्यथा कार्य-अक्षमता, अदक्षता, गतिशीलता के अभाव और उसकी सत्यनिष्ठा के बारे में सन्देह के आधार पर समाप्त किया जाता है तो वह निश्चित रूप से समुचित कार्यवाहियों में सुने जाने का हकदार है। निस्संदेह पर्यवसान के आभासी अनपकारी आदेश और साथ ही परिवीक्षा के विस्तार के आदेशों के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वे दाण्डिक हैं क्योंकि वे परिवीक्षार्थी पर कलंक अधिरोपित करने की प्रवृत्ति रखते हैं और वे उसे सुनवाई का समुचित अवसर दिए बिना पारित किए गए हैं। (पैरा 9)

		पैरा
[1979]	1979 (3) एस० एल० आर० 72 दिल्ली : एम० पी० पाण्डेय **बनाम** भारत संघ (M. P. Pandey *Vs.* Union of India) का अवलम्ब किया गया ।	2, 6
[1983]	(1983) 2 एस० सी० सी० 217 : अजीत सिंह और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य और एक अन्य (Ajit Singh and others *Vs.* State of Punjab and another);	7
[1979]	1979 की लैटर्स पेटेण्ट अपील सं० 63 जो 24 जुलाई, 1981 को विनिश्चित की गई : भारत संघ **बनाम** आर० बी० शर्मा (Union of India *Vs.* R. B. Sharma);	6
[1975]	1975 (2) एस० एल० आर० 230 दिल्ली : अयोध्या नाथ धींगड़ा **बनाम** भारत संघ (Ayodhya Nath Dhingra *Vs.* Union of India) **निर्दिष्ट किए गए ।**	2

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1977 का सिविल रिट पिटीशन सं० 1009.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... श्री सी० डी० गुप्त और कुमारी अनीता

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री डी० पी० वाधवा, मदन लोकुर और अतुल कुमार

न्या० एच० एल० आनन्द :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन यह पिटीशन भूतपूर्व निदेशक, प्रादेशिक रूपांकन और तकनीकी विकास केन्द्र, अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड, वाणिज्य मंत्रालय, भारत सरकार, द्वारा कतिपय उन आदेशों के विरुद्ध किया गया है जिसके द्वारा परिवीक्षा की अवधि आरम्भिक नियुक्ति के चार वर्ष से अधिक के लिए बढ़ाई गई थी और उस आदेश के विरुद्ध भी किया गया है जिसके द्वारा परिवीक्षा पर पांच वर्ष से अधिक की अवधि तक सेवा में रहने के पश्चात् पिटीशनर की सेवाएं समाप्त कर दी गई थीं ।

2. एस० एस० कुंवर, पिटीशनर ने, जो कि सन् 1959 से विभिन्न हैसियत में उत्तर प्रदेश सरकार की सेवा में है, संघ लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर इस पद पर अपनी नियुक्ति के आधार पर निदेशक, प्रादेशिक रूपांकन और तकनीकी विकास केन्द्र, नई दिल्ली के रूप में अस्थायी आधार पर और दो वर्ष की अवधि की परिवीक्षा पर 19 जून, 1971 को पद-भार ग्रहण किया था । तथापि जिस पद पर पिटीशनर की नियुक्ति की गई थी वह एक स्थायी पद है । विदेश व्यापार मन्त्रालय द्वारा, जिसने इस पद पर पिटीशनर की नियुक्ति की है, जारी किए गए 2 अप्रैल, 1971 के ज्ञापन के निबन्धनों के अनुसार 2 वर्ष की परिवीक्षा की अवधि "नियुक्ति प्रधिकारी के विवेकानुसार बढ़ाई या कम की जा सकेगी।" इस ज्ञापन में आगे यह उपवर्णित किया गया है कि "सेवा की अन्य शर्तें सुसंगत नियमों और समय-समय पर प्रवृत्त आदेशों द्वारा शासित होंगी।" इस पद पर सेवा के पहले $1\frac{1}{2}$ वर्ष के दौरान पिटीशनर ने सीधे श्री भरत सहाय के अधीन काम किया जो कि हस्तशिल्प निदेशक हैं । श्री डी० एन० सराफ, जो कि तत्समय हस्तशिल्प विकास आयुक्त के रूप में कार्य कर रहे थे, उस समय पिटीशनर के पुनर्विलोकन अधिकारी थे और श्रीमती आयोला वसु उप-निदेशक (रूपांकन) के रूप में कार्य कर रही थीं । श्री डी० एन० सराफ इस पिटीशन में प्रत्यर्थी सं० 2 हैं और आयोला वसु को प्रत्यर्थी सं० 3 के रूप में सम्मिलित किया गया है किन्तु उनका नाम संयोगवश निकाल दिया गया है । इनमें से दोनों ही प्रकटतः अब सेवा-निवृत्त हो चुके हैं । भारत सरकार के सभी मंत्रालयों को भेजे गए 15 अप्रैल, 1959 के अपने ज्ञापन के द्वारा गृह मंत्रालय ने विभिन्न सेवाओं में परिवीक्षा पर नियुक्ति के कतिपय पहलुओं के सम्बन्ध में विचार किया और विभिन्न मंत्रालयों द्वारा नियंत्रित सेवाओं की बाबत अपनाए जाने के लिए अपनी सिफारिशें भेजीं । इस ज्ञापन में, जिसे इसके विरुद्ध किसी नियम के अभाव में आबद्धकारी प्रभाव रखने वाले ज्ञापन के रूप में और अस्थायी व्यवस्था किए जाने के रूप में न्यायिकतः मान्यता प्रदान की गई है, अन्य बातों के साथ-साथ यह बताया गया है कि पिटीशनर को परिवीक्षा की अवधि के दौरान एक से अधिक अधिकारी के अधीन काम करने का अवसर दिया जाना चाहिए और विभिन्न अधिकारियों से प्राप्त उसके काम की बाबत रिपोर्ट पर सेवा में स्थायी किए जाने के लिए परिवीक्षार्थी की पात्रता का अवधारण करने के लिए वरिष्ठ अधिकारियों के बोर्ड द्वारा विचार किया जाना चाहिए । उसमें आगे यह उपबंध किया गया है कि यद्यपि परिवीक्षा की अवधि सामान्यतः दो वर्ष होनी चाहिए किन्तु जहां कोई लम्बी या कम अवधि विहित करने के लिए कोई विशेष कारण

हों वहां ऐसा गृह-मन्त्रालय के साथ परामर्श करने के पश्चात् नियत किया जा सकेगा। इस अधिसूचना का पैरा 8 और 9, जो कि परिवीक्षा की अधिकतम अवधि और पात्रता की बाबत विनिश्चय लिए जाने की प्रक्रिया के बारे में है, इस प्रकार है :—

> "8. जबकि सामान्य परिवीक्षा की अवधि निश्चित रूप से उपयुक्त मामलों में बढ़ाई जा सकती है किन्तु यह वांछनीय नहीं है कि किसी कर्मचारी को कई वर्षों तक परिवीक्षा पर रखा जाए जैसा कि प्राय: आजकल होता है। अत: यह सुझाव दिया जाता है कि असाधारण कारणों के सिवाय परिवीक्षा की अवधि एक वर्ष से अधिक के लिए नहीं बढ़ाई जानी चाहिए और किसी भी कर्मचारी को सामान्य अवधि की दुगुनी अवधि से अधिक के लिए परिवीक्षा पर नहीं रखा जाना चाहिए।"
>
> "9. यह विनिश्चय कि क्या किसी कर्मचारी की पुष्टि की जानी चाहिए या उसकी परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई जानी चाहिए, आरम्भिक परिवीक्षा की अवधि के समाप्त होने के तुरन्त पश्चात् लिया जाना चाहिए अर्थात् सामान्यतया 6 से 8 सप्ताह के भीतर लिया जाना चाहिए और उसे बढ़ाई जाने की दशा में कर्मचारी को सकारण संसूचित किया जाना चाहिए। ऐसे परिवीक्षार्थी को, जो सन्तोषजनक प्रगति नहीं कर रहा है या जो किसी भी प्रकार सेवा में अयोग्य पाया जाता है, आरम्भिक परिवीक्षा की अवधि के समाप्त होने के काफी समय पूर्व उसकी कमियों के बारे में बताया जाना चाहिए ताकि वह अपने को सुधारने के लिए विशेष प्रयास कर सके।"

अनुभव से यह दर्शित होता है कि हालांकि इस ज्ञापन की न्यायिकत: अवेक्षा की गई है, निर्वचन किया गया है और उसे कतिपय परिस्थितियों में सरकार पर आबद्धकर माना गया है तथापि इसका अनेक वर्षों से केवल भंग की दशा में ही अनुसरण किया जाता रहा है। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत मामले की स्थिति भी कोई भिन्न नहीं है। दो वर्ष की परिवीक्षा की आरम्भिक अवधि 18 जून, 1973 को समाप्त हो गई क्योंकि पिटीशनर ने 18 जून, 1971 को पद-भार ग्रहण किया था। पिटीशनर के काम और आचरण की बाबत प्रथम कार्य निर्धारण (मूल्यांकन) रिपोर्ट 12 मार्च, 1973 को की गई थी और दूसरे वर्ष के सम्बन्ध में यह रिपोर्ट 21 जुलाई, 1973 को की गई थी। तथापि परिवीक्षा की अवधि के समाप्त होने, पुष्टीकरण या उसके बढ़ाए जाने के बारे में कोई विनिश्चय

17 अक्तूबर, 1973 तक नहीं लिया गया था जब परिवीक्षा की अवधि यद्यपि भागतः भूतलक्षी रूप से 19 जून, 1973 से 18 दिसम्बर, 1973 तक 6 मास के लिए बढ़ाई गई थी। परिवीक्षा की अवधि बढ़ाए जाने वाले आदेश में यह बताया गया था कि पिटीशनर के मामले में "उसकी रिपोर्टों में कतिपय कमियां पाई गई हैं" और "उसके काम को 6 वर्ष की अतिरिक्त अवधि तक और देखा जाएगा।" तथापि जिस अधिकारी के अधीन पिटीशनर सीधे काम कर रहा था, उसने इस आधार पर परिवीक्षा की अवधि समाप्त किए जाने की सिफारिश की कि पिटीशनर का कार्य और आचरण "सन्तोषजनक" है। प्रकटतः इस दृष्टिकोण के साथ पुनर्विलोकन प्राधिकारी श्री सराफ द्वारा सहमति व्यक्त नहीं की गई। इस प्रक्रम पर इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि पिटीशनर या तो अपने असन्तोषजनक कार्य या आचरण के कारण जैसा कि संघ द्वारा अभिकथन किया गया है या जैसा कि पिटीशनर द्वारा अभिकथन किया गया है, इस कारण कि पुनर्विलोकन प्राधिकारी पिटीशनर की उस पद पर नियुक्ति से प्रसन्न नहीं था जिसके लिए पुनर्विलोकन अधिकारी, श्रीमती आयोला बसु को या तो इस कारण कि वह उनमें किसी प्रकार हितबद्ध था या उसकी सक्षमता (योग्यता) के बारे में और उस पद के लिए पिटीशनर के अयोग्य माने जाने के बारे में अपने सद्भाविक विश्वास के कारण अधिक योग्य मानता था जबकि अभिलेख पर मौजूद सामग्री सम्भवतः पिटीशनर द्वारा श्री सराफ के विरुद्ध किए गए अभिकथनों का गहराई से अन्वेषण करने के लिए अपर्याप्त है, तथापि कतिपय पत्र-व्यवहार के अलावा दो घटनाओं से इन दोनों के बीच एक प्रकार से स्पष्ट विरोध का कुछ संकेत मिलता है। पिटीशनर के पद-भार ग्रहण करने के तुरन्त पश्चात् उसका श्री सराफ द्वारा निदेशक, प्रादेशिक रूपांकन केन्द्र, बंगलौर के रूप में स्थानान्तरण कर दिया गया और उससे निदेशक, प्रादेशिक रूपांकन केन्द्र, दिल्ली को पद-भार सौंपने के लिए कहा गया। स्वाभाविक रूप से पिटीशनर ने इस स्थानान्तरण का विरोध किया और इस आदेश को वापस ले लिया गया। मार्च, 1972 में पिटीशनर का उप-निदेशक, रूपांकन, के पद पर स्थानान्तरण कर दिया गया जिस पद को उस समय तक श्रीमती आयोला बसु धारण की हुई थीं। पिटीशनर ने इसका पुनः इस आधार पर विरोध किया कि उसका निदेशक के रूप में चयन किया गया है और नियुक्ति की गई है और उसका उप-निदेशक, रूपांकन के पद पर स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता। एक बार पुनः श्री सराफ ने इसे रद्द कर दिया और यह निदेश दिया कि पिटीशनर निदेशक का पद ही धारण किए रहे और श्रीमती बसु उपनिदेशक, रूपांकन के अपने वर्तमान पद को धारण किए

रहे। जबकि मौजूद सामग्री के आधार पर इस न्यायालय के लिए उन परिस्थितियों को नकारना सम्भव नहीं है जिनमें ये दोनों आदेश किए गए थे तथापि वाणिज्य मंत्रालय के एक ज्येष्ठ अधिकारी द्वारा एक टिप्पण में कुछ रोचक और व्यंगात्मक टिप्पणियां की गईं जिसको पिटीशनर द्वारा उद्धृत किया गया है और जिसका कोई विरोध नहीं किया गया। यह टिप्पण इस आशय का है कि यदि श्रीमती वसु निदेशक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए योग्य थी तो पिटीशनर के इस पद के लिए चुने जाने के पहले उन्हें इस पद पर नियुक्त क्यों नहीं किया गया और क्यों पिटीशनर की इस पद पर नियुक्ति की गई। चाहे जो भी स्थिति हो जबकि अक्तूबर, 1973 के पूर्व पिटीशनर के विरुद्ध अभिलेख में कोई भी विशेष बात नहीं थी, तथापि 11 दिसम्बर, 1973 की अपनी संसूचना में श्री सराफ़ ने पिटीशनर के "विगत दो वर्षों में दिल्ली रूपांकन केन्द्र में दैनिक भत्ता मजदूरों को पक्षपातपूर्ण तरीके से काम दिए जाने की" और "तकनीकी काम की और केन्द्र की निधि की विवेकपूर्ण और उचित योजना का गम्भीर अभाव दर्शित करते हुए पिटीशनर द्वारा प्रत्यायोजित शक्तियों के गम्भीर दुरुपयोग की भी शिकायत की जिसके परिणामस्वरूप अधिक खर्च हुआ और निधि समाप्त हो गई।" उसमें यह भी बताया गया कि यह पाया गया है कि "ऐसा इस बात के किसी भी संतोषजनक समर्थनकारी साक्ष्य के बिना किया गया है कि इस केन्द्र पर काम में निरन्तर वृद्धि हुई है।" तदनुसार पिटीशनर को उसकी "कमियों" के बारे में चेतावनी दे दी गई और पिटीशनर से "भविष्य में और अधिक उत्तरदायी और सक्षम रीति में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए कहा गया।" पिटीशनर ने अपने विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों और आरोपों का खण्डन किया और इस मामले की विभिन्न स्तरों पर परीक्षा किए जाने के पश्चात् तारीख 11 अप्रैल, 1974 की संसूचना द्वारा परिवीक्षा की अवधि, जो पहले ही दिसम्बर, 1973 के अन्त में समाप्त हो गई थी, 19 अक्तूबर, 1974 तक बढ़ा दी गई। उपर्युक्त संसूचना में पिटीशनर को उसकी निम्नलिखित कमियों के बारे में बताया गया है :—

"1. तकनीकी और साथ ही प्रशासनिक रूप में अक्षमता अर्थात् रूपांकन कार्य और निदेश देने का अभाव।

2. रूपांकन केन्द्र की सलाहकारी समिति द्वारा असन्तोषजनक कार्य पाया जाना।

3. लेखा परीक्षा में इस बात की मताभिव्यक्ति कि उसने अधिक समय तक धन रोके रखा है; और

> 4. पर्याप्त बजट उपबंध के बिना दैनिक मजदूरी आधार पर अत्यधिक व्यक्तियों को काम पर लगाते हुए रूपांकन केन्द्र का कुप्रबन्ध।"

पिटीशनर को इस बात की भी चेतावनी दी गई कि "यदि वह परिवीक्षा की बढ़ी हुई अवधि के अन्दर अपने काम में सुधार नहीं दिखाता है तो उसकी सेवाएं बिना किसी नोटिस के तुरन्त समाप्त कर दी जाएंगी।" पिटीशनर ने परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई जाने का विरोध किया और साथ ही एक अभ्यावेदन द्वारा पहले की तरह ही दोहराते हुए इन अभिकथनों का खण्डन करना चाहा कि आरोप दुष्प्रेरित और श्रीमती वसु को अवसर देने के लिए पिटीशनर को रास्ते से हटाने के षड्यन्त्र के परिणाम थे। परिवीक्षा की बढ़ी हुई अवधि 18 अक्तूबर, 1974 को समाप्त होने वाली थी और वह 19 अक्तूबर, 1975 तक एक वर्ष की अवधि के लिए और बढ़ा दी गई किन्तु यह आदेश भी 15 दिसम्बर, 1975 तक नहीं किया गया। तारीख 17 जून, 1976 के आदेश द्वारा परिवीक्षा की अवधि को इस आधार पर 20 अक्तूबर, 1975 से 19 जुलाई, 1976 तक बढ़ा दिया गया कि पिटीशनर का कार्य "19 अक्तूबर, 1975 को समाप्त होने वाली अवधि के दौरान संतोषजनक नहीं है।" तारीख 20 नवम्बर, 1976 के आदेश द्वारा परिवीक्षा की अवधि को 20 जुलाई, 1976 से 30 नवम्बर, 1976 तक इस आधार पर बढ़ा दिया गया कि "19 जुलाई, 1976 को समाप्त होने वाली अवधि के दौरान भी उसका काम असंतोषजनक बना हुआ है।" इसके साथ ही पिटीशनर की सेवाएं 30 नवम्बर, 1976 के अपराह्न से समाप्त कर दी गईं। उपर्युक्त अवधि के दौरान विभाग के साथ पर्याप्त पत्र-व्यवहार हुआ और इस बारे में टिप्पण भी लिखे गए कि क्या पिटीशनर को उसके काम या आचरण में पाई गई कमियों को समय-समय पर संसूचित करना आवश्यक है और क्या कुछ आरोपों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर के विरुद्ध कोई विभागीय जांच की जानी चाहिए और यदि यह कहा जा सके कि नियुक्ति की तारीख से 4 वर्ष के समाप्त होने पर पिटीशनर के सम्बन्ध में यह समझा जाना चाहिए कि उसकी पुष्टि कर दी गई है और यदि इन परिस्थितियों में सेवा का पर्यवसान सेवा से हटाए जानें की कोटि में आता है जिसके लिए उसकी विधिमान्यता के लिए नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्तों का अनुपालन किया जाना अपेक्षित है। पत्र-व्यवहार और टिप्पण के अनुक्रम में "कमियों", "अक्षमता" और "गतिशीलता के अभाव" के अलावा यह सुझाव भी दिया गया कि

पिटीशनर की सत्यनिष्ठा कुछ प्रक्रम पर संदिग्ध रही है। इस बात का आनुकल्पिक पद पर पिटीशनर की सम्भव पुर्ननियुक्ति के संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। तथापि पिटीशनर के काम का मूल्यांकन अपने से अव्यवहित पदीय वरिष्ठ और पुर्नविलोकन अधिकारी तक ही सीमित नहीं है बल्कि इस काम को पूर्वान्तिम प्रक्रम पर एक उच्चस्तरीय समिति को भी सौंप दिया गया जिसमें बोर्ड के भूतपूर्व उपाध्यक्ष और बोर्ड की सलाहकार समिति का एक सदस्य भी सम्मिलित है और इस समिति ने भी प्रादेशिक रूपांकन केन्द्र का कार्यभार सम्भालने में पिटीशनर की "सक्षमता" और "गतिशीलता के अभाव" के वारे में प्रतिकूल टीका-टिप्पणियां की हैं। तथापि यह बात रुचिपूर्ण है कि पिटीशनर का निदेशक के रूप में उसकी सेवा के पांच वर्ष के दौरान मूल नियम के नियम 24 के इस उपबंध के होते हुए भी उसकी सामान्य वार्षिक वेतन-वृद्धियां अनुज्ञात कर दी गईं कि सामान्यतया वेतन-वृद्धि तव तक अनुज्ञात की जाएगी जव तक कि उसे विधारित न किया जाए और ऐसी वार्षिक वेतन-वृद्धि नियम 6 के अधीन उस दशा में विधारित की जा सकती है "यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है या उसका कार्य संतोषजनक नहीं है।" विभिन्न वातों या विभिन्न विषयों पर विचार करने में भिन्न-भिन्न स्तरों पर मन्त्रालय के अधिकारी अधिकांशतः वहुत ही सतर्क रहे हैं। उनमें से कुछ ने 4 वर्ष से अधिक परिवीक्षा के बढ़ाए जाने और मात्र पर्यवसान का आदेश करने पर आपत्ति भी उठाई है और अत्यधिक सतर्कता के रूप में मामले को विधि मन्त्रालय तक को भी निर्दिष्ट किया गया है जिसने दुर्भाग्यवश **अयोध्या नाथ धींगड़ा वनाम भारत संघ**[1] में इस न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का आधार लेते हुए यह मत व्यक्त किया है कि 1959 के ज्ञापन के वावजूद भी कोई भी धारणाजन्य पुष्टीकरण (डीम्ड कानफरमेशन) नहीं किया गया है। हालाकि अग्रेषण टिप्पण में विधि मन्त्रालय का ध्यान विनिर्दिष्ट रूप से **एम० पी० पाण्डेय** वनाम **भारत संघ**[2] में इस न्यायालय के इस विनिश्चय की ओर भी आकर्षित किया गया है जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि ज्ञापन के उपबंध, जिसमें परिवीक्षा की अधिकतम अवधि अधिकथित की गई है, न केवल सरकार पर आवद्धकर हैं वल्कि उसे किसी लोक सेवक द्वारा प्रवर्तित भी कराया जा सकता है। विधि मन्त्रालय ने प्रकटतः इस बात की उपेक्षा कर दी कि **धीगड़ा के मामले**[1] में ज्ञापन लागू नहीं होता।

---

[1] 1975 (2) एस० एल० आर० 230 दिल्ली.

[2] 1979 (3) एस० एल० आर० 72 दिल्ली.

3. पर्यवसान के आक्षेपित आदेश और 4 वर्ष की परिवीक्षा की अवधि समाप्त होने के बाद भी परिवीक्षा की अवधि बढ़ाए जाने के आदेश को पिटीशनर की ओर से निम्नलिखित चार आधारों पर चुनौती दी गई है :—

"1. परिवीक्षा पर सेवा के चार वर्ष पूरे हो जाने पर पिटीशनर के सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि मूलतः नियत की गई अवधि की दुगुनी अवधि से अधिक के लिए परिवीक्षा के विस्तार के वर्जन को ध्यान में रखते हुए, जो कि 1959 के सरकारी ज्ञापन में समाविष्ट है, उसकी सम्यक् रूप से पुष्टि कर दी गई है। अतः पिटीशनर को इस पद का एक अधिकार अर्जित हो गया और इन परिस्थितियों में पर्यवसान सेवा से हटाए जाने की कोटि में आता है।

2. परिवीक्षा की अवधि के दौरान पिटीशनर को मूल नियमों के नियम 24 के इन उपबंधों के होते हुए भी सामान्य वार्षिक वेतन-वृद्धियां दी गई हैं कि वार्षिक वेतनवृद्धि केवल उस दशा में ही विधारित की जा सकती है यदि उसका काम असंतोषजनक हो और इसका ऐसे किसी भी आक्षेप को समाप्त करने वाला प्रभाव होगा कि इस अवधि के दौरान पिटीशनर का कार्य या आचरण सतोषजनक नहीं है।

3. चाहे कोई भी स्थिति हो पर्यवसान का आदेश और अन्य आदेश, चाहे वे प्रत्यक्षतः अनपकारी हों या न हों, दण्डात्मक प्रकृति के हैं क्योंकि पूर्वगामी परिस्थितियों से और कुछ आदेशों की अन्तर्वस्तु से यह बात स्पष्ट है कि वे पिटीशनर को दण्डित करने के लिए आशयित हैं और उनका आशय कलंक अधिरोपित करना है। अतः पिटीशनर आक्षेपित आदेशों के विधिसम्मत रूप से पारित किए जा सकने के पूर्व सुने जाने का समुचित अवसर पाने का हकदार है।

4. आक्षेपित आदेश इस रूप में असद्भाव से ग्रस्त हैं कि वे तत्कालीन हस्तशिल्प विकास आयुक्त की ओर से प्रतिकूल प्रभाव और पूर्वाग्रह का परिणाम है जो कि पिटीशनर को तत्कालीन उक्त रूपांकन निदेशक श्रीमती आयोला बसु की सम्भाव्यताओं में वृद्धि के मार्ग से पिटीशनर को हटाने में रुचि रखता है।"

4. इस पिटीशन का संघ की ओर से सभी मुद्दों पर विरोध किया गया है। संघ ने आक्षेपित आदेशों को न्यायोचित ठहराते हुए भरत सहाय का

एक शपथपत्र फाइल किया है जिनके अधीन पिटीशनर ने कुछ समय तक काम किया है और साथ ही न्यायालय में पिटीशनर के सम्पूर्ण सुसंगत सेवा अभिलेख को भी पेश किया है। जबकि आयोला वसु का नाम प्रत्यर्थियों की सूची में से निकाल दिया गया है। किन्तु डी० एन० सराफ, भूतपूर्व विकास आयुक्त, हस्तशिल्प, जिनके विरुद्ध पिटीशनर द्वारा प्रतिकूल प्रभाव और पूर्वाग्रह के अभिकथन किए गए हैं, ने कोई भी शपथपत्र फाइल नहीं किया है किन्तु पूर्वाग्रह और प्रतिकूल प्रभाव के अभिकथनों से भरत सहाय द्वारा अपने शपथपत्र में इनकार किया गया है। जिस समय शपथपत्र फाइल किया गया था उस समय भरत-सहाय, जो कि भूतपूर्व हस्तशिल्प निदेशक थे, हस्तशिल्प विकास आयुक्त के रूप में कार्य कर रहे थे जिस पद पर पहले श्री डी० एन० सराफ थे।

5. मैंने पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल को सुना है और पिटीशनर के सेवा अभिलेख की भी परीक्षा की है।

6. पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या पिटीशनर की सेवा शर्तों, सुसंगत सेवा नियमों और 1959 के ज्ञापन को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर के सम्बन्ध में यह समझा जा सकता है कि परिवीक्षा के चार वर्ष पूरे हो जाने पर उसकी पुष्टि कर दी गई है। यह निर्विवाद है कि पिटीशनर ने 19 जून, 1971 को सेवा आरम्भ की थी और 2 अप्रैल, 1971 के नियुक्ति-पत्र, उपाबंध II के अनुसार, जिसमें पिटीशनर की सेवा के निबन्धन और शर्तें उपवर्णित की गई हैं, पिटीशनर को "दो वर्ष की अवधि के लिए परिवीक्षा पर रखा गया था।" यह भी निर्विवाद है कि उपर्युक्त नियुक्ति-पत्र के निबन्धनों के अनुसार उक्त अवधि "नियुक्ति प्राधिकारी के विवेकानुसार बढ़ाई या कम की जा सकती है।" यह भी निर्विवाद है कि नियुक्ति-पत्र के अनुसार पिटीशनर की सेवा की अन्य शर्तें "समय-समय पर प्रवृत्त सुसंगत नियमों और आदेशों" द्वारा शासित होंगी। यह भी निर्विवाद है कि न तो नियुक्ति-पत्र में और न पिटीशनर को लागू होने वाले किसी नियम में ही परिवीक्षा की कोई अधिकतम अवधि नियत की गई है और ऐसे किसी भी नियम में एक निश्चित सीमा के बाद विस्तार किए जाने के विरुद्ध कोई प्रतिषेध अन्तर्विष्ट नहीं है। यह भी निर्विवाद है कि न तो सेवा की शर्तों में और न किसी नियम में ही किसी प्राधिकारी द्वारा पुष्टीकरण का प्ररूपिक आदेश प्रकल्पित है। यह भी निर्विवाद है कि परिवीक्षा के विषय पर गृह-मन्त्रालय के 15 अप्रैल, 1959 का ज्ञापन पिटीशनर को पूरी तरह लागू होता है और यह भी निर्विवाद है कि जहां सेवा की शर्तें और सेवा नियमों में कोई कमी हो, वहां ज्ञापन में अन्तर्विष्ट प्रशासनिक अनुदेश

विधिसम्मत रूप से उस कमी को पूरा कर सकते हैं और इन अनुदेशों से न केवल सरकार आबद्ध है बल्कि इन्हें लोक सेवक द्वारा किसी न्यायालय में प्रवर्तित भी कराया जा सकता है। यह भी निर्विवाद है कि उपर्युक्त ज्ञापन में समाविष्ट प्रशासनिक अनुदेशों का, जैसा कि सामान्यत: होता है, इस मामले में उनके भंग की स्थिति में अनुसरण किया गया है क्योंकि परिवीक्षा की अवधि के समाप्त होने के पहले परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई जाने की ईप्सा नहीं की गई थी। अन्त में यह भी निर्विवाद है कि पिटीशनर को पांच वर्ष से अधिक के लिए परिवीक्षा पर रखा गया है और पिटीशनर ने 18 जून, 1975 को अपनी मूल परिवीक्षा की अवधि से दुगुनी अवधि पूरी कर ली है और यदि ज्ञापन में अन्तर्विष्ट अनुदेशों को इस प्रकार पढ़ा जाए, जैसाकि इस न्यायालय ने बार-बार किया है कि उसमें मूल परिवीक्षा की अवधि की दुगुनी अवधि से अधिक परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई जाने के विरुद्ध प्रतिषेध अधिकथित किया गया है तो पिटीशनर के सम्बन्ध में यह माने जाने में कोई भी अड़चन नहीं है कि धारणाजन्य पुष्टीकरण (डीम्ड कनफरमेशन) के सिद्धान्त को लागू करने पर, जिसका कतिपय परिस्थितियों में उच्चतम न्यायालय और इस न्यायालय द्वारा निरन्तर अनुसरण किया गया है, पिटीशनर की पुष्टि कर दी गई है। वास्तव में पिटीशनर का नियुक्ति-पत्र उसके निबन्धनानुसार बिना किसी सीमा के दो वर्ष की मूल अवधि से अधिक परिवीक्षा की अवधि बढ़ाए जाने की शक्ति प्रदान करता है किन्तु वह प्राधिकारियों को ऊपर निर्दिष्ट किए गए प्रशासनिक अनुदेशों को ध्यान में रखते हुए परिवीक्षा की अवधि को मूल अवधि से दुगुनी अवधि तक बढ़ाते रहने के लिए हकदार नहीं बनाता और पाण्डेय के मामले[1] में मेरे द्वारा यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। यही दृष्टिकोण भारत संघ बनाम आर० बी० शर्मा[2] के मामले में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा व्यक्त किया गया है। खण्ड न्यायपीठ ने 'धारणाजन्य पुष्टीकरण' के सिद्धान्त को ही लागू किया है हालांकि परिवीक्षा अवधि में विस्तार को सशक्त करने वाले कानूनी नियम भी हैं और यदि सही विधिक स्थिति मान ली जाए तो सेवा की शर्तों में इस आशय के उपबंध से एक सिविल सेवक के मामले में स्थिति अधिक बुरी नहीं होगी। यह निस्सन्देह सही है कि प्रस्तुत मामले में यह अन्तर किया गया है कि 'विस्तार करने वाले आदेश अशर्त नहीं हैं बल्कि वे सकारण आदेश हैं जिनमें पिटीशनर के कार्य या आचरण के बारे में स्पष्ट शब्दों में असंतोष व्यक्त किया गया है जबकि

---

[1] 1979 (3) एस० एल० आर० 72 (दिल्ली)

[2] 1979 की लैटर्स पेटैण्ट अपील संख्या 63 जो 24 जुलाई, 1981 को विनिश्चित की गई।

पाण्डेय के मामले[1] में और साथ ही **आर० बी० शर्मा वाले मामले**[2] में भी परिवीक्षा की अवधि के विस्तार के आदेश में ऐसी वृद्धि के लिए कारण नहीं दिए गए हैं किन्तु मेरे मतानुसार इस अन्तर के कारण धारणाजन्य पुष्टीकरण के सिद्धान्त को लागू किए जाने में कोई फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि इन अनुदेशों में ऐसा कोई अन्तर नहीं किया गया है कि क्या परिवीक्षा की अवधि किसी कारण के बिना बढ़ाई गई है या वह इस कारण पर आधारित है कि सिविल सेवक का कार्य या आचरण असंतोषजनक है। इस सिद्धान्त का एकमात्र सम्भव अपवाद, जो कि खण्ड न्यायपीठ द्वारा प्रकल्पित किया गया है, यह है कि क्यों परिवीक्षा की अवधि के दौरान किसी सिविल सेवक के विरुद्ध विभागीय जांच में दुराचार के लिए कार्यवाही की गई है किन्तु यह एक सामान्य पक्षकथन है कि पिटीशनर के विरुद्ध किसी भी आरोप के आधार पर ऐसी कोई भी जांच या कोई अन्य विभागीय कार्यवाही नहीं की गई है। संघ की ओर से उन प्रशासनिक अनुदेशों का इस आधार पर समर्थन करने का प्रयास किया गया है, जो 1959 के ज्ञापन में समाविष्ट है कि ये अनुदेश 19 मई, 1983 के एक हाल ही के ज्ञापन में रूपान्तरित कर दिए गए हैं और पश्चात्वर्ती ज्ञापन में विनिर्दिष्टतः यह उपबंध किया गया है कि "परिवीक्षा की अवधि के समाप्त होने के पश्चात् परिवीक्षार्थी का पुष्टीकरण स्वयमेव न होकर प्ररूपिक आदेशों द्वारा किया जाएगा। जब तक परिवीक्षा के संतोषजनक रूप से समाप्त होने के लिए पुष्टीकरण के विनिर्दिष्ट आदेश परिवीक्षार्थी को जारी नहीं किए जाते हैं तब तक ऐसे परिवीक्षार्थी के सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि वह परिवीक्षा पर ही बना हुआ है।" निस्सन्देह हाल ही के ज्ञापन में इस स्थिति में एक बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया है किन्तु इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि मई, 1983 के ज्ञापन को भूतलक्षी प्रभाव दिया गया है या दिया जा सकता है और इससे सम्भवतः पिटीशनर का मामला विनियमित हो सकता है जिसकी सेवाएं हाल ही का ज्ञापन जारी किए जाने के कई वर्ष पूर्व सन् 1976 में ही समाप्त कर दी गई थी। तथापि इस निष्कर्ष से बचने की कोई भी गुंजाइश नहीं है कि 1959 के ज्ञापन के निबन्धनानुसार पिटीशनर की 18 जून, 1975 को परिवीक्षा के चार वर्ष पूरे हो जाने पर पुष्टि हो गई जिसके परिणामस्वरूप एक पुष्टीकृत सिविल सेवक के रूप में उसे उस पद का अधिकार मिल गया जिस पर उसकी इस प्रकार पुष्टि की गई है और इन परिस्थितियों में

---

[1] 1979 (3) एस० एल० आर० 72 (दिल्ली)

[2] 1979 की लैटर्स पेटेण्ट अपील सं० 63 जो 24 जुलाई, 1981 को विनिश्चित की गई।

पिटीशनर की सेवा-समाप्ति उसको पद से हटाए जाने की कोटि में आती है और इसलिए उससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 311 का उल्लंघन होता है और इसलिए उसे केवल इस आधार पर ही अपास्त किया जाना चाहिए।

7. तथापि पिटीशनर की ओर से दी गई दूसरी दलील में कोई भी सार नहीं है। यह सही है कि पिटीशनर को उसके पूरे सेवाकाल में सामान्य वार्षिक वेतन-वृद्धियां बिना किसी कलंक के दी गई थीं भले ही परिवीक्षा की अवधि विनिर्दिष्टतः असंतोषजनक कार्य या आचरण के आधार पर समय-समय पर बढ़ाई गई थी। यह भी समानतः सही है कि मूल नियमों के नियम 24 के निबन्धनानुसार पिटीशनर की वेतन-वृद्धियों को उस दशा में विधारित किया जा सकता है यदि उसका कार्य या आचरण संतोषजनक नहीं है। तथापि इस दलील में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि जब तक वेतन-वृद्धि विधारित किए जाने का कोई आशय न हो तब तक वार्षिक वेतन-वृद्धियां सामान्य रूप से दे दी जाती हैं। यदि पिटीशनर को दक्षतारोध पार करने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया होता या उसकी किसी उच्चतर पद पर प्रोन्नति कर दी गई होती जैसा कि उन कुछ मामलों में हुआ है जिनके साथ न्यायालयों का उन मामलों में सम्बन्ध है और जिनमें विपरीत परिस्थितियों को समाप्त करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, तो स्थिति भिन्न होती। **अजीत सिंह और अन्य बनाम पंजाब राज्य और एक अन्य**[1] के मामले में दिए गए विनिश्चय सें, जिसका पिटीशनर की ओर से अवलम्ब लिया गया है कोई भी सहायता नहीं मिलती। वार्षिक वेतन-वृद्धियां उस स्थिति में एक भिन्न आधार पर होती हैं जहां पिटीशनर के कार्य या आचरण के सम्बन्ध में असंतोष न केवल अनेक कार्यालय टिप्पणों से ही बल्कि उन सभी अवसरों से भी स्पष्ट रूप से दर्शित होता है जब परिवीक्षा अवधि बढ़ाई गई थी। अतः वार्षिक वेतन-वृद्धि दी जाने को किसी भी प्रकार से परिवीक्षा की अवधि के दौरान पिटीशनर के कार्य या आचरण के सम्बन्ध में किसी भी असंतोष को समाप्त करना नहीं माना जा सकता। तथापि जैसा कि मैं ऊपर अभिनिर्धारित कर चुका हूं, पिटीशनर के सम्बन्ध में यह समझा जाना कि उसकी पुष्टि कर दी गई है, समस्या का एक अलग पहलू है और इन दोनों दलीलों के बीच कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह कि पिटीशनर का कार्य या आचरण असंतोषजनक नहीं है क्योंकि वेतन-वृद्धियां दे दी गई हैं, मामले का एक दूसरा पहलू है। इसके कारण तथ्य सम्बंधी विवाद उठ सकता है या परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई जाने की सद्भाविकता पर कलंक लग सकता है।

---

[1] (1983) 2 एस० सी० सी० 217.

8. तथापि पिटीशनर की ओर से जिस तीसरे आधार पर आक्षेपित आदेश को चुनौती दी गई है वह दो कारणों से सुआधारित प्रतीत होता है। मैं पहले ही ऊपर यह अभिनिर्धारित कर चुका हूं कि धारणाजन्य पुष्टीकरण (डीम्ड कनफरमेशन) के सिद्धान्त को लागू किए जाने पर पिटीशनर की सेवा में पुष्टि हो गई जिसके परिणामस्वरूप ऐसे पुष्टीकरण पर उसे उस पद का अधिकार अर्जित हो गया। यह पद स्थायी है भले ही उसे इस पद पर अस्थायी रूप से और परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया हो। अतः पर्यवसान का आदेश स्वयमेव दण्डात्मक है क्योंकि यह पिटीशनर को उस पद को धारण करने के अधिकार से वंचित करता है जिस पद के लिए वह पुष्टीकरण के आधार पर हकदार हो गया है। तथापि आक्षेपित आदेश पूर्ववर्ती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अन्यथा भी दण्डात्मक हैं क्योंकि वह कलंकात्मक है और जिसके परिणामस्वरूप उसकी परिवीक्षा की अवधि बढ़ाई गई थी और संयोगवश पर्यवसान का आदेश किया गया था। यह सुस्थिर है कि उन मामलों में, जहां किसी आभासी अनपकारी आदेश की प्रकृति को दण्डात्मक कहा जाता है वहां न्यायालय को इस बात का अवधारण करने के लिए उस आदेश की पृष्ठभूमि पर विचार करने और उन पूर्ववर्ती परिस्थितियों की परीक्षा करने की छूट है जिनके परिणामस्वरूप पर्यवसान का आदेश किया गया है कि क्या वह एक अनपकारी पर्यवसान है जैसाकि वह प्रत्यक्षतः तात्पर्यित है या सिविल सेवक की भर्त्सना करने की प्रवृत्ति रखता है'। यह सुस्थिर है कि किसी पद पर परिवीक्षा पर नियुक्त व्यक्ति को परिवीक्षा की अवधि के दौरान परीक्षण पर रखा जाता है और उसकी पुष्टि किए जाने से पहले समुचित प्राधिकारी को इस बात का आदेश देने की स्वतन्त्रता है कि क्या उसका कार्य और आचरण संतोषजनक है। निस्सन्देह परिवीक्षा किसी परिवीक्षार्थी को पद पर बने रहने का अधिकार प्रदान नहीं करती और परिवीक्षा की अवधि के दौरान या उसके समाप्त होने पर सरकार को कोई भी कारण दिए विना या इस आधार पर परिवीक्षार्थी की सेवा समाप्त करने की स्वतंत्रता है कि वह संतोषजनक कार्य देने में असफल रहा है। तथापि सरकार को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है कि वह किसी परिवीक्षार्थी की एक अक्षम व्यक्ति के रूप में या अन्यथा किसी अवचार या कार्य-अदक्षता के आधार पर भर्त्सना करे और यदि सरकार इन आधारों में से किसी भी आधार पर किसी परिवीक्षार्थी की सेवाएं समाप्त करना चाहती है तो ऐसा परिवीक्षार्थी नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्तों का संरक्षण पाने का हकदार होगा क्योंकि ऐसा आदेश उन परिस्थितियों को और उन कारणों को ध्यान में रखते हुए, जो तथ्यतः उसमें दिए गए हैं, पिटीशनर पर कलंक अधिरोपित

करता है । प्रस्तुत मामले में ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार के अनुसार परिवीक्षा की अवधि के दौरान पिटीशनर के कार्यपालन में अनेकानेक कमियां पाई गई हालांकि दुर्भाग्यवश उन्हें न तो अभिलेख में सम्मिलित किया गया और न उन्हें 11 अप्रैल, 1984 की सरकारी संसूचना द्वारा परिवीक्षा की अवधि को 19 अक्तूबर, 1974 तक बढ़ाए जाने तक पिटीशनर को संसूचित ही किया गया । इस संसूचना का सुसंगत भाग पहले ही ऊपर उद्धृत किया जा चुका है । पिटीशनर ने इस संसूचना में लगाए गए आरोपों के विरुद्ध एक अभ्यावेदन किया किन्तु इसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह अत्यधिक स्पष्ट और अपेक्षाकृत दुर्भाग्यपूर्ण है । पिटीशनर ने हमेशा यही दलील दी है कि न तो पिटीशनर के कार्य में और न उसके आचरण में ही ऐसी कोई कमियां पाई गई थीं और न पिटीशनर ऐसे किसी भी अवचार का, जो उसके विरुद्ध लगाए गए हैं, दोषी है और यह कि परिवीक्षा की अवधि का विस्तारण उस प्रतिकूल प्रभाव और पूर्वाग्रह का परिणाम है जो सराफ तत्कालीन उप रूपांकन निदेशक, आयोला वसु के अवसर को बढ़ाने के असद्भावपूर्ण उद्देश्य पिटीशनर के विरुद्ध पाले हुए हैं । पिटीशनर ने इस संदर्भ में उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें पिटीशनर का सबसे पहले स्थानान्तरण किया गया था और तत्पश्चात् उसे वस्तुतः पदावनत कर दिया गया और किस प्रकार इन दोनों ही अवसरों पर सराफ को हार स्वीकार करनी पड़ी थी और इन आदेशों को वापस ले लिया गया था । एक दलील यह भी दी गई कि इससे सराफ और भी पिटीशनर के विरुद्ध हो गया तथापि अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि एक प्रक्रम पर बोर्ड के तत्कालीन उपाध्यक्ष और बोर्ड की सलाहकार समिति के एक सदस्य से मिलकर बनी समिति का केन्द्र के काम का पुनर्विलोकन करने के लिए गठन किया गया था जिसका पिटीशनर निदेशक था और इस समिति ने केन्द्र के काम की एकपक्षीय जांच की थी और यह मत व्यक्त किया था कि पिटीशनर में गतिशीलता का अभाव है और वह केन्द्र के काम-काज में उचित मार्गदर्शन देने में असमर्थ है और यह कि सेवाएं तुरन्त समाप्त की जानी चाहिए । किन्तु सेवा-समाप्ति का आदेश किए जाने के पूर्व इस मामले को एक प्रक्रम पर तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री के पास भेजा गया जिन्होंने प्रकटतः पिटीशनर के अभ्यावेदन से प्रभावित होकर फाइल पर यह सहानुभूतिपूर्ण टिप्पण लेखबद्ध किया कि भले ही पिटीशनर को वर्तमान पद पर रखा न जा सके, किन्तु उसे समान प्रास्थिति और उपलब्धियों सहित कोई उपयुक्त आनुकल्पिक पद दिया जाए जिसके उत्तर में मन्त्री महोदय से यह कहा गया कि ऐसा मार्ग अपनाना इस कारण सम्भव नहीं होगा क्योंकि पिटीशनर की सत्यनिष्ठा भी संदिग्ध है ।

9. मैं फिलहाल इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में, जो पिटीशनर को भोगनी पड़ी है या पिटीशनर के प्रति सराफ के रवैये के पीछे हेतु के बारे में सराफ द्वारा अभिनीत भूमिका की और इस बात की भी उपेक्षा करूंगा कि सराफ ने पिटीशनर के कार्य और आचरण के बारे में क्या सोचा था, किन्तु 11 अप्रैल, 1974 की संसूचना को पढ़ने से समिति द्वारा एकपक्षीय जांच के तथ्य और पिटीशनर की कार्यक्षमता और योग्यता के बारे में समिति द्वारा व्यक्त की गई राय और पिटीशनर के सम्बन्ध में सत्यनिष्ठा के अभाव के संदर्भ से इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं रहता कि एक परिवीक्षार्थी के रूप में पिटीशनर के मामले पर विचार करते समय सरकार पिटीशनर के कार्य और आचरण के मूल्यांकन की सामान्य सीमा भी लांघ गई है और ये मत स्पष्टत: पिटीशनर पर कलंक अधिरोपित करते हैं और वे उसकी भर्त्सना करने वाले हैं। यदि पिटीशनर की परिवीक्षा की अवधि को बढ़ाया जाता है और पिटीशनर की सेवाओं को 11 अप्रैल, 1974 की संसूचना में उपवर्णित आधारों पर या अन्यथा कार्य-अक्षमता, अदक्षता, गतिशीलता का अभाव और उसकी सत्यनिष्ठा के बारे में सन्देह के आधार पर समाप्त किया जाता है तो पिटीशनर निश्चित रूप से समुचित कार्यवाहियों में सुने जाने का हकदार है। निस्सन्देह पर्यवसान के आभासी अनपकारी आदेश और साथ ही परिवीक्षा के विस्तार के आदेशों के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वे दाण्डिक हैं क्योंकि वे पिटीशनर पर कलंक अधिरोपित करने की प्रवृत्ति रखते हैं और वे पिटीशनर को सुनवाई का समुचित अवसर दिए विना पारित किए गए हैं।

10. अब इसके पश्चात् हम उस अंतिम आधार पर विचार करते हैं जिस पर पिटीशनर ने आक्षेपित आदेशों को चुनौती दी है। यह दलील दी गई है कि आक्षेपित आदेश असद्भाव के दोष से ग्रस्त हैं क्योंकि डी० एन० सराफ को, जो कि तत्कालीन हस्तशिल्प विकास आयुक्त हैं, पिटीशनर की नियुक्ति से संतोष नहीं हुआ क्योंकि वह इस पद पर तत्कालीन उप-रूपांकन निदेशक, श्रीमती आयोला बसु की पदोन्नति में हितबद्ध था और इसलिए वह पिटीशनर को मार्ग से हटाने में हितबद्ध था। आगे यह अभिकथन किया गया है कि इस विभाग में उसके सेवाकाल के लगभग प्रारम्भ में ही पिटीशनर का विकास आयुक्त से विरोध हो गया जबकि विकास आयुक्त ने पिटीशनर को इस पद से हटाने के अपने पहले प्रयास में उसका बंगलौर स्थानान्तरण कर दिया और तत्पश्चात् उसे वस्तुत: उससे निम्नतर रैंक में पदावनत कर दिया जिसमें उसकी नियुक्ति की गई थी ताकि श्रीमती बसु को लाभ मिल सके और यह कि विकास आयुक्त को इसमें मुंह की खानी पड़ी क्योंकि उसके दोनों

ही आदेश संयोगवश अभिखण्डित कर दिए गए। तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ सामग्री ऐसी भी है जो पिटीशनर की दलील का समर्थन करती है। श्री भरत सहाय, अधिकारी, जिनके अन्तर्गत पिटीशनर ने अपनी परिवीक्षा के प्रथम $1\frac{1}{2}$ वर्ष की अवधि के दौरान कार्य किया है, स्वीकृत रूप से उसके पक्ष में रिपोर्ट दी है। इस अवधि के दौरान अभिलेख में पिटीशनर के विरुद्ध कोई भी बात नहीं थी और जिस प्रथम अवसर पर पिटीशनर के कार्य और आचरण के बारे में असंतोष व्यक्त किया गया था वह विकास आयुक्त का मत था और ऐसा उस समय किया गया था जब ऊपर उल्लिखित दोनों ही घटनाएं पहले ही घटित हो चुकी थीं। मन्त्रालय के ज्येष्ठ अधिकारी के टिप्पण में असद्भाव का अभिकथन मिलता है जिसमें उसने इस बारे में कुछ व्यंग्यात्मक टीका-टिप्पणी की है कि विकास आयुक्त ने क्यों श्रीमती बसु को पिटीशनर की अपेक्षा अधिक दक्ष समझा था जबकि श्रीमती बसु के नाम पर इस पद के लिए विचार भी नहीं किया गया था और इसकी बजाय पिटीशनर की उस पद पर नियुक्ति की गई थी। किन्तु इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि सराफ ने प्रकटतः इन अभिकथनों में से किसी भी अभिकथन का खण्डन करते हुए कोई भी शपथ-पत्र फाइल नहीं किया है क्योंकि उसका स्थानान्तरण हो चुका है और इसलिए वह इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता। श्रीमती बसु ने भी कोई शपथ-पत्र फाइल नहीं किया है और उसका नाम भी प्रत्यर्थियों की सूची में से निकाल दिया गया है। जबकि इन सभी बातों से यह सबल सन्देह उत्पन्न होता है कि पिटीशनर के प्रति सराफ के रवैये के कारण एक सीमा तक पिटीशनर को सेवाकाल में दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ा है तथापि किसी भी आदेश को विशेष रूप से सेवा-समाप्ति के आदेश को इस आधार पर दूषित ठहराना सम्भव नहीं है कि ये आदेश श्री सराफ द्वारा नहीं बल्कि मन्त्रालय में उच्चतर स्तर पर विभिन्न बातों पर विचार किए जाने के पश्चात् किए गए थे भले ही इस बात की सम्भावना हो कि जो कुछ श्री सराफ ने पिटीशनर के बारे में कहा है या उसके कार्य और आचरण के बारे में महसूस किया है उससे कुछ सीमा तक उनकी विचारधारा प्रभावित हुई है। तथापि संयोगवश कार्यवाही में जिस आधार पर तीव्रता आई है वह उस उच्चस्तरीय समिति की प्रबल सिफारिश है जिसका गठन केन्द्र के काम-काज का पुनर्विलोकन करने के लिए किया गया था और जिसने अन्य बातों के साथ-साथ पिटीशनर की अनुपस्थिति में यह निष्कर्ष निकाला कि पिटीशनर में आवश्यक गतिशीलता का अभाव है और इसलिए उसे हटाया जाना चाहिए और साथ ही तत्कालीन मन्त्री महोदय के उस प्रश्न के उत्तर में मन्त्रालय के एक ज्येष्ठ अधिकारी का टिप्पण भी है

कि क्या पिटीशनर को हटाए जाने की वजाय मन्त्रालय में अन्यत्र उसी प्रास्थिति और उपलब्धियों सहित कोई आनुकल्पिक नियुक्ति दी जा सकती है। इस टिप्पण में कुछ प्रक्रमों पर पिटीशनर की सत्यनिष्ठा पर सन्देह किए जाने का स्पष्ट संकेत किया गया है। अतः श्री सराफ द्वारा चाहे जो भी भूमिका अदा की गई हो या चाहे जिस सीमा तक उनके विचारों का पिटीशनर के भाग्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हो, किन्तु उन प्रतिकूल आदेशों से असद्भाव के आधार पर बचा नहीं जा सकता। अतः यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि पिटीशनर के कार्य और आचरण का मूल्यांकन करने में, जो वर्तमान विभाग में पांच वर्ष की अवधि तक सेवा करने से पहले उत्तर प्रदेश सरकार में कई वर्षों तक सेवा कर चुका है, इस बात की सम्भवतः उपेक्षा कर दी गई है कि जब पिटीशनर के पास इस नियुक्ति की प्रस्थापना की गई तब भारत सरकार में किसी ने भी इस बात की पूर्व कल्पना नहीं की कि वे केन्द्र के निदेशक के रूप में एक ऐसे शक्तिशाली या प्रतिभाशाली व्यक्ति की नियुक्ति कर रहे हैं जो रूपांकन केन्द्र में कोई अभूतपूर्व कार्य करने और परिवर्तन लाने में समर्थ है। मेरे मतानुसार बहुत कुछ दोष परिवीक्षा की अवधि बढ़ाए जाने, पुष्टीकरण या उनकी गोपनीय रिपोर्ट करने के मामले में सिविल सेवकों के कार्य या आचरण का मूल्यांकन करने में अपनाई गई पद्धति में निहित है। इनसे अनेक कठिन समस्याएं पैदा होती हैं। किसी व्यक्ति के कार्य या आचरण के मूल्यांकन की समस्याएं अपनी प्रकृति के कारण एक ऐसा कठिन काम है जिसमें मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति की न केवल उत्कृष्टता ही अपेक्षित है बल्कि न केवल उसके काम और आचरण को समझने पर अपितु एक मानवीय व्यक्तित्व पर भी निर्भर करती है। ये प्रतियोगी अनुभूति (बोध क्षमता) की समस्याएं है। मूल्यांकन प्राधिकारी अनुभूति के एक स्तर पर कार्य कर सकता है जबकि वह अधिकारी, जिसका मूल्यांकन किया गया है, अनुभूति के एक भिन्न स्तर पर काम कर रहा हो सकता है। तथापि इस शक्ति के प्रयोग में जो गोपनीयता बरती जाती है उससे यह विषय और अधिक खराब हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप जिस समय तक प्रभावित अधिकारी को इस बात की जानकारी मिल पाती है कि उसके ज्येष्ठ अधिकारी उसके कार्य और आचरण के बारे में क्या सोचते हैं तब तक बहुत कुछ नुकसान पहले ही हो चुका होता है क्योंकि तब तक आदेश कर दिया जाता है या टीका-टिप्पणी लेखबद्ध कर दी गई होती है या संसूचनाएं जारी कर दी गई होती हैं। उसके पश्चात् किसी भी प्रकार का अभ्यावेदन सम्भवतः उस प्रभाव को पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकता जो पहले ही पड़ चुका है। अब वह समय आ गया है जब किसी व्यक्ति के कार्य और आचरण के

मूल्यांकन की और/या गोपनीय रिपोर्ट लेखबद्ध किए जाने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का उच्चतम स्तर पर पुनर्विलोकन किया जाए जिससे सम्बंधित अधिकारी को उसके मूल्यांकन की प्रक्रिया के साथ सहयोग दिया जा सके और ऐसा मूल्यांकन सम्बंधित अधिकारी को इस मामले में इस बारे में कुछ कहने का अवसर देने के पश्चात् कि उसके कार्य का मूल्यांकन उस रूप में क्यों न किया जाए जिस रूप में उसकी प्रस्थापना की गई है, खुली रीति में किया जाए। 1959 के सरकारी ज्ञापन में यह बताया गया है कि ऐसा मूल्यांकन एक से अधिक अधिकारी की परीक्षा के आधार पर किया जाना चाहिए और सम्भव हो तो किसी बोर्ड द्वारा किया जाना चाहिए किन्तु दुर्भाग्यवश ज्ञापन के इस भाग का उसके अनुपालन के बजाय भंग में अधिक अनुसरण किया गया है। इससे अधिक हृदय विदारक और यहां तक कि अन्याय की स्थिति झलकती है और इसलिए वर्तमान पद्धति न्यायसंगत या समुचित प्रतीत नहीं होती।

11. इन सभी कारणों के आधार पर पिटीशन सफल होता है और न्यायादेश आत्यंतिक बनाया जाता है। पिटीशनर की परिवीक्षा की अवधि को 18 जून, 1975 से अधिक तक बढ़ाने वाले आदेश और पिटीशनर की सेवा-समाप्ति के आदेश अभिखण्डित किए जाते हैं। पिटीशनर अपनी मूल नियुक्ति की तारीख से चार वर्ष की अवधि समाप्त होने पर सम्यक्रूपेण पुष्ट हो गया है और उसके साथ विधि के अनुसार इस रूप में ही कार्यवाही की जानी चाहिए। पिटीशनर अपने खर्चे का भी हकदार है। काउन्सेल की फीस 750 रु० निर्धारित की जाती है।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

प्रमोद

नि० प० 1984 : दिल्ली—177

फर्नल एस० जे० चौधरी बनाम राज्य

(Col. S. J. Chowdhary *Vs.* State)

तारीख 25 जनवरी, 1984

[न्या० जगदीश चन्द्र]

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 162, 173 और 207-क(3)— अभियुक्त व्यक्ति को अपनी प्रतिरक्षा करने की स्वतंत्रता देने के लिए अभियोजन

पक्ष की यह बाध्यता है कि वह अपने उन सभी साक्षियों के कथनों की तथा उन दस्तावेजों की, जिनका उसने अवलम्ब लिया है, प्रतियां उसे उपलब्ध कराए—अभियोजन पक्ष ऐसा नही कर सकता कि साक्षियों के कुछ कथनों की या दस्तावेजों में से कुछ दस्तावेजों की प्रतियां तो अभियुक्त व्यक्ति को दे दे किन्तु बाकी के लिए इनकार कर दे।

पिटीशनर को भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 120-ख और 302 तथा विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 की धारा 3, 4 और 6 के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया था। यद्यपि पिटीशनर को दस्तावेजों की प्रतियां दे दी गई थीं किन्तु उसने यह कहा कि उसे सभी दस्तावेजों की प्रतियां नहीं दी गई हैं जिसके कारण वह अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों से अपनी प्रतिरक्षा नहीं कर सकेगा, अतः उसने महानगर मजिस्ट्रेट को सभी दस्तावेजों की प्रतियां देने के लिए आवेदन किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि इस मामले में अभियोजन पक्ष की ओर से कई साक्षियों को पेश किया गया है तथा अन्वेषण अभिकरण ने उन साक्षियों के कथनों को एक से अधिक बार अभिलिखित किया है तथा इन कथनों में से कुछ कथन पुलिस डायरी में अभिलिखित किए गए हैं किन्तु पिटीशनर को इन कथनों की प्रतियां नहीं दी गई हैं जबकि इन कथनों की प्रतियां प्राप्त करने का उसका अधिकार है क्योंकि ये कथन दण्डप्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 161(3) के अधीन अनुध्यात ऐसे कथन हैं जिनकी बाबत अभियोजन पक्ष उसे देने से इनकार करने का मात्र इस आधार पर विशेषाधिकार नहीं रखता कि इनका वर्णन पुलिस डायरी में किया गया है, अतः सुपुर्दगी मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया आदेश गलत है। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या अभियोजन पक्ष अपने साक्षियों द्वारा दिए गए कथनों की प्रतियां तथा उन दस्तावेजों की प्रतियां अभियुक्त-पिटीशनर को देने से इनकार कर सकता है जिनका अभियोजन पक्ष द्वारा अवलम्ब लिया गया है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

यदि अन्वेषणकारी अभिकरण ने साक्षी के कथन एक से अधिक बार अभिलिखित किए हैं तो उनमें तात्त्विक अन्तर्विरोध हो सकता है और अभियुक्त व्यक्ति उनका अपने फायदे के लिए प्रयोग करना चाह सकता है और इस निमित्त न्याय के उद्देश्य को ऐसे सभी कथनों की प्रतियां उसे देने से ही सुनिश्चित किया जा सकता है किन्तु यह प्रयोजन निष्फल हो जाएगा यदि उन्हीं कथनों की प्रतियां, जैसा कि अभियोजन पक्ष द्वारा चाहा गया है, अभियुक्त को दी जाती हैं और शेष प्रतियों को देने से मना कर दिया जाता है क्योंकि यह एक ऐसा

मामला होगा जिसमें अभियोजन पक्ष द्वारा अवलम्ब लिए गए कथनों की प्रतियों के दिए जाने पर ही जोर दिया गया हो। उन साक्षियों पर जोर देना, जिनका अभियोजन पक्ष ने अवलम्ब लिया है तो इसका यह अभिप्राय होगा कि अभियोजन पक्ष उन सभी कथनों को चाहे वे ऐसे साक्षियों के एक से अधिक बार अभिलिखित किए गए कथन हों, जैसे कि संहिता की धारा 161(3) के अधीन यथा-अनुध्यात हैं, और चाहे वे पुलिस डायरी में या अन्यथा अभिलिखित किए गए हों और तद्द्वारा अभियुक्त व्यक्ति को एक बहुत ही मूल्यवान् अधिकार प्रदत्त किया गया है और कथन करने वाले 'साक्षियों' के विपरीत, अभियोजन पक्ष द्वारा अवलम्ब लिए जाने के लिए ईप्सित "कथनों" पर गलत जोर देकर इस निमित्त अभियुक्त-पिटीशनर की प्रार्थना को अस्वीकार करके अभियोजन पक्ष और विद्वान् सुपुर्दकारी मजिस्ट्रेट द्वारा उसे उस अधिकार से गलत ढंग से वंचित किया गया है क्योंकि उसे उक्त अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। संहिता की धारा 161 की उपधारा (3) के उपबंध इसी उद्देश्य से पुरःस्थापित किए गए हैं जिससे कि पुलिस अधिकारियों की असाधारण और पथभ्रष्ट प्रवीणता को उस पद्धति का अनुसरण करने से रोका जा सके जिसके अनुसार वे संहिता की धारा 172 के अधीन मामले की डायरियों में उनके समक्ष किए गए मौखिक कथनों को इस विश्वास के आधार पर सम्मिलित करते हैं कि ऐसा करके वे उन कथनों को अभियुक्त की जानकारी से अलग रख सकें किन्तु इस पद्धति को विधि द्वारा समाप्त नहीं किया गया है बल्कि अन्वेषण करने वाले अधिकारी की इस गोपनीय रिष्टि को जीवित रखा गया है। (पैरा 6)

अभियोजन पक्ष के लिए शेष 9 फोटोचित्रों से अभियुक्त-पिटीशनर को न देकर उन्हें इस आधार पर विधारित करना कि वे उसके लिए अनुपयुक्त हैं न केवल अनुचित ही है वरन् विधि के अधीन अनुज्ञेय भी नहीं है क्योंकि प्रतिरक्षा पक्ष अभियोजन पक्ष के उन साक्षियों की प्रति-परीक्षा नहीं कर सकेगा जो घटना के दृश्य के बारे में अभिसाक्ष्य दें और भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 145 के अधीन उस समय खण्डन करने के मामले में जबकि साक्षी फोटोचित्रों की, विशिष्टतया विशेषज्ञ की प्रति-परीक्षा करते समय, शुद्धता को स्वीकार कर लेते हैं, अतः इस प्रश्न पर अभियुक्त की प्रार्थना को अननुज्ञात करने में विद्वान् मजिस्ट्रेट ने भूल की है। (पैरा 7)

जहां तक आवाज का प्रश्न है, चाहे यह अभियुक्त की हो या न हो, अभियोजन पक्ष के इस साक्ष्य के बारे में आधारिक रूप से महत्वपूर्ण तथ्य है और अभियुक्त-पिटीशनर को शीघ्रतम अवसर पर डुप्लीकेट कैसेट देने से

इनकार करने के लिए कोई औचित्य नहीं है क्योंकि इन्हें देने से अभियुक्त इस सम्बन्ध में अपनी प्रतिरक्षा तैयार करने में समर्थ हो सकेगा। (पैरा 8)

		पैरा
[1974]	1974 क्रिमिनल एल० जे० 1373 : केरल राज्य **बनाम** राघवन आदि (State of Kerala *Vs.* Raghavan etc.);	6
[1974]	1974 (जिल्द 76) पी० एल० आर० 364 : पंजाब राज्य **बनाम** मोहिन्दर सिंह और अन्य (The State of Punjab *Vs.* Mohinder Singh and others);	6
[1955]	आई० एल० आर० 1955 हैदराबाद 644 : गोगीकरी नरसोजी **बनाम** राज्य (Gogikari Narsoji *Vs.* State)	6

का अवलम्ब लिया गया।

[1973]	1973 क्रिमिनल एल० जे० 504 : कल्ले बीरे और अन्य **बनाम** आन्ध्र प्रदेश राज्य (Kalle Byre and others *Vs.* State of Andhra Pradesh)	8

निर्दिष्ट किया गया।

दाण्डिक अधिकारिता : 1984 का दाण्डिक प्रकीर्ण मामला सं० 15.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन किया गया पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... बावा गुरचरण सिंह, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... सर्वश्री पी० के० चौबे और एम० एल० सचदेवा, अधिवक्ता

न्या० जगदीश चन्द्र :

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् संक्षेप में संहिता कहा गया है) की धारा 482 के अधीन किए गए इस पिटीशन के द्वारा पिटीशनर कर्नल एस० जे० चौधरी ने श्री के० सी० लोहिया, महानगर मजिस्ट्रेट, नई दिल्ली के 20 दिसम्बर, 1983 के आदेश की शुद्धता को चुनौती दी है। उक्त आदेश द्वारा पिटीशनर ने 12 दिसम्बर, 1983 को अभियोजन साक्षियों के कथनों तथा अभियोजन पक्ष द्वारा अवलम्ब लिए गए

दस्तावेजों की प्रतियां देने के लिए निवेदन किया था जिसे नामंजूर कर दिया गया।

2. पिटीशनर को दण्ड संहिता, 1860 की धारा 120-ख/302 और विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 की धारा 3, 4 और 6 के अधीन गिरफ्तार किया गया था। न्यायालय में 28 अक्तूबर, 1983 को चालान प्रस्तुत किया गया तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 के अधीन यथा-अपेक्षित दस्तावेज अभियुक्त-पिटीशनर को दिए गए लेकिन यह अभिकथन किया गया कि दस्तावेजों की संवीक्षा करने के पश्चात् उसने यह निष्कर्ष निकाला कि उसके विरुद्ध आरोप को साबित करने के लिए अभियोजन पक्ष ने जिन दस्तावेजों, कथनों और प्रदर्शों का अवलम्ब लिया गया है उनमें से बहुत से दस्तावेज, कथन और प्रदर्श उसे नहीं दिये गये हैं जिसके कारण विद्वान् सुपुर्दगी मजिस्ट्रेट, श्री के० सी० लोहिया, महानगर मजिस्ट्रेट को 12 दिसम्बर, 1983 का पूर्वोक्त आवेदन करना आवश्यक हो गया था।

3. पिटीशनर की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि इस मामले में अभियोजन पक्ष की ओर से कई साक्षियों को पेश किया गया है तथा उनमें से कुछ साक्षियों के कथनों को अन्वेषणकारी अभिकरण द्वारा एक से अधिक बार अभिलिखित किया गया है और उन कथनों में से कुछ कथनों को पुलिस की डायरियों में भी अभिलिखित किया गया है किन्तु उन कथनों की प्रतियां अभियुक्त-पिटीशनर को नहीं दी गई हैं जबकि उनका दिया जाना उसका अधिकार है क्योंकि वे ऐसे कथन हैं जो दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1963 की धारा 161(3) में अनुध्यात हैं तथा अभियोजन पक्ष को मात्र इस आधार पर कि उनका दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 172 के अधीन पुलिस डायरियों में उल्लेख कर दिया गया है, कथनों की प्रतियां देने के विषय में कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है जिसके कारण विद्वान् सुपुर्दगी मजिस्ट्रेट का आदेश गलत है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन किसी मामले का अन्वेषण करने वाला पुलिस अधिकारी किसी भी ऐसे व्यक्ति की मौखिक परीक्षा कर सकेगा जिसके बारे में वह यह समझता हो कि वह मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से अवगत है तथा उसकी उपधारा (3) के अधीन वह इस धारा के अधीन परीक्षा के दौरान उसे किए गए कथन को लेखबद्ध कर सकेगा, और यदि वह ऐसा करता है तो वह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के कथन का पृथक् और सही अभिलेख बनाएगा जिसके कथन वह अभिलिखित करता है। इसके पश्चात् संहिता की धारा 162 के शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण

हैं क्योंकि इनसे यह दर्शित होता है कि पुलिस अधिकारी द्वारा अन्वेषण के दौरान परीक्षित साक्षियों के ऐसे कथन उसके द्वारा पुलिस डायरी में या अन्यथा इस बात को पर्याप्त रूप से और सुस्पष्ट रीति से स्पष्ट करते हुए अभिलिखित किए जा सकेंगे कि अन्वेषण के दौरान साक्षियों के कथन पुलिस अधिकारी द्वारा न केवल साधारण कागज पर अभिलिखित किए जा सकेंगे वरन् पुलिस डायरी में भी अभिलिखित किए जा सकेंगे । संहिता की धारा 162 के सुसंगत भाग का उल्लेख करना और उसे निम्न प्रकार पुनः उद्धृत करना वांछनीय है :—

> "पुलिस से किए गए कथनों का हस्ताक्षरित न किया जाना, कथनों का साक्ष्य में उपयोग—(1) किसी व्यक्ति द्वारा किसी पुलिस अधिकारी से इस अध्याय के अधीन अन्वेषण के दौरान किया गया कोई कथन, यदि लेखबद्ध किया जाता है तो कथन करने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित नहीं किया जाएगा, और न ऐसा कोई कथन या उसका कोई अभिलेख, चाहे वह पुलिस डायरी में हो या न हो, और न ऐसे कथन या अभिलेख का कोई भाग ऐसे किसी अपराध की, जो ऐसा कथन किए जाने के समय अन्वेषणाधीन था, किसी जांच या विचारण में, इसमें इसके पश्चात् यथा-उपबंधित के सिवाय, किसी भी प्रयोजन के लिए उपयोग में लाया जाएगा :
>
> ... ...
>
> ... ..."

4. पुलिस डायरी सामान्यतया दाण्डिक मामले का अन्वेषण करने वाले पुलिस अधिकारी के लिए उसमें अन्वेषण सम्बन्धी दिन प्रतिदिन के टिप्पण अभिलिखित करने के लिए होती है किन्तु उसे उसमें किसी साक्षी के कथन अभिलिखित करने से विवर्जित नहीं किया गया है, अतः संहिता की धारा 172 के अधीन अनुध्यात अभियुक्त व्यवित या उसके अभिकर्ता द्वारा पुलिस डायरी मंगाने के विषय में विशेषाधिकार केवल उसमें पुलिस अधिकारी द्वारा अभिलिखित किए गए टिप्पणों तक ही विस्तृत है न कि उसमें अभिलिखित किए गए साक्षियों के कथनों की प्रतियां देने के लिए है क्योंकि इस प्रकार के कथन संहिता की धारा 161 की उपधारा (3) के अन्तर्गत आते हैं । धारा 172 निम्न प्रकार है :—

> "अन्वेषण में कार्यवाहियों की डायरी—(1) प्रत्येक पुलिस अधिकारी, जो इस अध्याय के अधीन अन्वेषण करता है, अन्वेषण में

की गई अपनी कार्यवाही को दिन-प्रतिदिन एक डायरी में लिखेगा, जिसमें वह समय जब उसे इत्तिला मिली, वह समय जब उसने अन्वेषण आरम्भ किया और जब समाप्त किया, वह स्थान का या वे स्थान जहां वह गया और अन्वेषण द्वारा अभिनिश्चित परिस्थितियों का विवरण होगा ।

(2) कोई दण्ड न्यायालय ऐसे न्यायालय में जांच या विचारण के अधीन मामले की पुलिस डायरियों को मंगा सकता है और ऐसी डायरियों को मामले में साक्ष्य के रूप में तो नहीं किन्तु ऐसी जांच या विचारण में अपनी सहायता के लिए उपयोग में ला सकता है ।

(3) न तो अभियुक्त और न उसके अभिकर्त्ता ऐसी डायरियों को मंगाने के हकदार होंगे और न वह या वे केवल इस कारण उन्हें देखने के हकदार होंगे कि वे न्यायालय द्वारा देखी गई हैं, किन्तु यदि वे उस पुलिस अधिकारी द्वारा, जिसने उन्हें लिखा है, अपनी स्मृति को ताजा करने के लिए उपयोग में लाई जाती है, या यदि न्यायालय उन्हें ऐसे पुलिस अधिकारी की बातों का खण्डन करने के प्रयोजन के लिए उपयोग में लाता है तो भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की, यथास्थिति, धारा 161 या धारा 145 के उपबन्ध लागू होंगे ।"

८. इसके पश्चात् संहिता की धारा 173(5)(ख) के अधीन अन्वेषण पूर्ण हो जाने के पश्चात् पुलिस अधिकारी अपनी रिपोर्ट में उस मजिस्ट्रेट के पास भेजेगा जो पुलिस रिपोर्ट के आधार पर अपराध का संज्ञान करने के लिए सशक्त हो और उस रिपोर्ट के साथ वह उन सभी व्यक्तियों के, जिनकी अभियोजन पक्ष अपने साक्षियों के रूप में परीक्षा करने की प्रस्थापना करता है, धारा 161 के अधीन अभिलिखित किए गए कथन भी भेजेगा । यद्यपि संहिता की धारा 173 की उपधारा (6) में इसके अपवाद का भी उपबंध किया गया है किन्तु यदि पुलिस अधिकारी की यह राय हो कि ऐसे किसी कथन का कोई भाग कार्यवाहियों की विषय-वस्तु से सुसंगत नहीं है या अभियुक्त को इसका प्रकटन करना न्याय के हित में आवश्यक नहीं है और लोक हित में ऐसा किया जाना अनुपयुक्त है तो वह कथन के उस भाग को उपदर्शित करेगा और मजिस्ट्रेट से आवेदन करते हुए यह टिप्पण देगा कि वह अभियुक्त को मंजूर की गई प्रतियों से उस भाग का अपवर्जन कर दे और इस प्रकार का निवेदन करने के लिए वह अपने कारण भी देगा । लेकिन प्रस्तुत मामले में इस अपवाद का अन्वेषण करने वाले अधिकारी द्वारा संहिता की धारा 173 के अधीन अनुध्यात

दस्तावेजों की अभियुक्त को प्रतियां देते समय आश्रय नहीं लिया गया है। यहां संहिता की धारा 207 के प्रति निर्देश करना भी आवश्यक प्रतीत होता है, अतः उसके सुसंगत भाग का नीचे उल्लेख किया जाता है :—

> "**अभियुक्त को पुलिस रिपोर्ट या अन्य दस्तावेजों की प्रतिलिपि देना**—किसी ऐसे मामले में जहां कार्यवाही पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित की गई है, मजिस्ट्रेट निम्नलिखित में से प्रत्येक की एक प्रतिलिपि अभियुक्त को अविलम्ब निःशुल्क देगा—
>
> (i) पुलिस रिपोर्ट ;
>
> (ii) धारा 154 के अधीन लेखबद्ध की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट ;
>
> (iii) धारा 161 की उपधारा (3) के अधीन अभिलिखित उन सभी व्यक्तियों के कथन, जिनकी अपने साक्षियों के रूप में परीक्षा करने का अभियोजन का विचार है, उनमें से किसी ऐसे भाग को छोड़कर जिनको ऐसे छोड़ने के लिए निवेदन धारा 173 की उपधारा (6) के अधीन पुलिस अधिकारी द्वारा किया गया है ;
>
> ... ..." ... ...

6. संहिता की धारा 173(5)(ख) और धारा 207(iii) का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि उस व्यक्ति पर जोर दिया गया है जिसकी अभियोजन पक्ष विचारण के दौरान अपने साक्षी के रूप में परीक्षा करने की प्रस्थापना करता है न कि उनके उन कथनों पर जिनका अभियोजन पक्ष अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध आरोप को साबित करने के लिए अवलम्ब लेता है और इस अन्तर को विधि के इन दो उपबंधों में "जिनकी" शब्द के प्रयोग से दोहरे रूप में पुनः सुनिश्चित किया गया है जो आवश्यक रूप से व्यक्तियों के प्रति निर्देश करता है न कि उनके कथनों के प्रति जिनके लिए "जिनकी" शब्द के प्रयोग के बजाए "जो" शब्द का प्रयोग किया गया होता। अभियुक्त व्यक्ति के दृष्टिकोण के आधार पर यह अन्तर बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि अन्वेषणकारी अभिकरण ने साक्षी के कथन एक से अधिक बार अभिलिखित किए हैं तो उनमें तात्विक अन्तर्विरोध हो सकता है और अभियुक्त व्यक्ति उनका अपने फायदे के लिए प्रयोग करना चाह सकता है और इस निमित्त न्याय के उद्देश्य को ऐसे सभी कथनों की प्रतियां उसे देने से ही सुनिश्चित किया जा सकता है किन्तु यह प्रयोजन निष्फल हो जाएगा यदि उन्हीं कथनों की प्रतियां, जैसा कि अभियोजन

उप-न्यायाधीश के निर्णय से व्यथित होकर प्रतिवादी-अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत द्वितीय अपील फाइल की है।

संक्षेप में अपीलार्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि दोहलीदार की प्रास्थिति मालिकान कब्जा वाली है इसलिए वह वादगत भूमि को अन्य-संक्रान्त करने के लिए सक्षम है। इसके विरुद्ध प्रत्यर्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि रोहतक जिले की रूढ़ि के अनुसार दोहली में धार्मिक प्रयोजनों के लिए भूमि को दान में देने की एक सामान्य पद्धति है और भू-राजस्व का संदाय भूस्वामी द्वारा किया जाता है।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

दोहली एक स्थायी भूधृति नहीं है और जैसे ही कोई दोहलीदार उन अपेक्षित सेवाओं का पालन करने में असफल रहता है जिसके लिए दोहली का सृजन किया गया है वैसे ही दोहली अधिकार निर्वापित हो जाते हैं और सम्पत्ति मूल स्वत्वधारियों को वापस मिल जाती है। दोनों ही निचले न्यायालयों द्वारा एक साथ यह अभिनिर्धारित किया गया है कि दोहलीदार द्वारा निष्पादित किए गए पट्टे बन्धक की कोटि में आते हैं और/या अन्यसंक्रामण हैं और इसलिए वे इन स्वत्वधारियों पर आवद्धकर नहीं हैं जो दोहलीदार से वादगत भूमि का कब्जा पाने के हकदार हैं। इसके अलावा भी यह सावित करने के लिए शर्त वाजिब उल-अर्ज पेश नहीं किया गया है कि वह दोहलीदारों को एक सीधा दान है और इस कारण दोहलीदार उसका अन्यसंक्रामण करने के लिए सक्षम है। ऐसे साक्ष्य के अभाव में दोहलीदार की ओर से सफलतापूर्वक यह दलील नहीं दी जा सकती कि दोहलीदार होने के कारण वह वादगत भूमि का स्वामी वन गया और इस कारण वह अन्यसंक्रामण करने के लिए सक्षम है। (पैरा 4)

		पैरा
[1982]	आई० एल० आर० 1982 (जिल्द 1) पंजाब-हरियाणा 491 : वावा बद्री दास **बनाम** धर्मा और अन्य (Baba Badri Dass *Vs.* Dharma and others) से **प्रभेद** किया गया।	3
[1976]	1976 पी० एल० जे० 617 : धर्मा **बनाम** श्रीमती हरबाई (Dharma *Vs.* Smt. Harbai) का **अवलम्ब** लिया गया।	3
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1821 : मारा	3

और अन्य **बनाम** मुसम्मात निक्को **उर्फ** पंजाब कौर और एक अन्य (Mara and others *Vs.* Mst. Nikko alias Punjab Kaur and another);

[1937] ए० आई० आर० 1937 लाहौर 805 : खेमानन्द और अन्य **बनाम** कुन्दन पट्टेदार और एक अन्य, पट्टाकर्ता (Khema Nand and others *Vs.* Kundan Lesses and another Lessor); 3

[1922] ए० आई० आर० 1922 लाहौर 126 : सेवा राम **बनाम** उदेगिर (Sewa Ram *Vs.* Udegir) 3

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1976 की नियमित द्वितीय अपील सं० 129.

श्री जे० सी० नागपाल, ज्येष्ठ उप-न्यायाधीश, सोनीपत के तारीख 30 अगस्त, 1975 की डिक्री और आदेश के विरुद्ध नियमित द्वितीय अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... श्री एन० के० सोढ़ी

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री एस० सी० कपूर

न्या० जे० बी० गुप्त :

यह प्रतिवादियों की द्वितीय अपील है जिनके विरुद्ध कृषि भूमि के कब्जे के लिए वाद दोनों निचले न्यायालयों द्वारा डिक्रीत कर दिया गया है। वादियों ने भू-स्वामियों के रूप में यह अभिकथन करते हुए एक वाद फाइल किया कि धनीराम-प्रतिवादी सं० 1 उस दोहली भूधृति के आधार पर, जिसका सृजन वादियों के हितपूर्वाधिकारियों द्वारा सम्भवतः प्रतिवादी सं० 1 के हितपूर्वाधिकारियों द्वारा ब्राह्मणों के रूप में धार्मिक कर्त्तव्यों और कृत्यों के कारण सृजन किया गया है, विभिन्न भू-खण्डों पर उनके अधीन इच्छाधीन अभिधारी (टेनेन्ट एट विल) है। प्रतिवादी सं० 1 के हितपूर्वाधिकारियों के समान उसको भी उसके द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कृत्यों को ध्यान में रखते हुए वादगत भूमि में खेती करने के लिए अनुज्ञात कर दिया गया । अब उसने अपने धार्मिक कृत्यों और कर्तव्यों का पालन करना छोड़ दिया है और वादगत भूमि प्रतिवादी सं० 2 से 4 को 114 वर्ष के पट्टे पर दे दिए जाने के पश्चात् वह गांव से भी प्रवास कर गया है । चूंकि ये पट्टे अब अन्यसंक्रामण की प्रकृति के हैं इसलिए वे शून्य हैं और वादियों पर आबद्धकर नहीं हैं, इसलिए वे वादगत

भूमि के स्वामियों के रूप में उसका कब्जा पाने के हकदार हैं। यह भी अभिवचन किया गया है कि प्रश्नगत दोहली भूधृति प्रतिवादी सं० 1 के ग्राम से प्रवास कर जाने से समाप्त हो गई।

2. इस बात का अन्य बातों के साथ-साथ इस अभिवाक् के आधार पर भी विरोध किया गया कि दोहली भूधृति अप्रतिसंहरणीय है और वादगत भूमि सीधे एक दान के रूप में दी गई थी। वादगत भूमि दिए जाने के साथ किसी भी धार्मिक कृत्यों के पालन की कोई शर्त नहीं लगाई गई थी और इसलिए प्रतिवादी सं० 1 वादियों के अधीन इच्छाधीन अभिधारी नहीं है। उसके द्वारा निष्पादित पट्टा-विलेख विधिमान्य है और वादियों को स्वयं उसके स्वामी होने का अभिकथन करते हुए कब्जे का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है। विचारण न्यायालय ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि वादी विनिर्दिष्टत: उन प्रयोजनों या कर्त्तव्यों को, जिनका दोहलीदारों से पालन करना अपेक्षित है, सिद्ध करने में असफल रहे हैं। आगे यह और निष्कर्ष निकाला गया कि प्रतिवादी सं० 1 उस गांव से प्रवास कर गया है जिसमें विवादगत भूमि स्थित है और उसने दोहलीदारों के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना छोड़ दिया है और इसलिए उसके दोहली अधिकारों का विशेष रूप से इस कारण कि उसने वादगत भूमि छोड़ दी है, पट्टे के रूप में विस्तार नहीं होता है जो वस्तुत: भोग बन्धक की कोटि में आता है। अत: यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रतिवादी सं० 1 द्वारा प्रतिवादी सं० 2 से 4 के पक्ष में निष्पादित पट्टा विलेख वादियों पर आबद्धकर नहीं है। इन निष्कर्षों के परिणामस्वरूप वादियों का वाद डिक्रीत कर दिया गया। अपील में विद्वान् ज्येष्ठ उप-न्यायाधीश (जिन्हें वर्धित अपीली शक्तियां प्राप्त हैं) ने विचारण न्यायालय के उक्त निष्कर्षों की अभिपुष्टि कर दी और इस प्रकार वादियों के पक्ष में पारित डिक्री कायम रखी। इससे असंतुष्ट होकर प्रतिवादियों ने इस न्यायालय में द्वितीय अपील फाइल की है।

3. अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि निचले अपील न्यायालय ने मुख्यत: **सेवा राम** बनाम **उदेगिर**[1] के निर्णय का अवलम्ब लिया है जिस निर्णय के साथ विद्वान् काउंसेल के अनुसार **बाबा बद्री दास** बनाम **धर्मा और अन्य**[2] में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा विसम्मति प्रकट की गई है। उक्त निर्णय को ध्यान में रखते हुए विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि दोहलीदार की प्रास्थिति मालिकान कब्जा वाली है और

---

[1] ए० आई० आर० 1922 लाहौर 126

[2] आई० एल० आर० 1982 (जिल्द 1) पंजाब-हरियाणा 491,

इसलिए वह वादगत भूमि को अन्यसंक्रान्त करने के लिए सक्षम है। इसके विपरीत वादी प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि रोहतक जिले की रूढ़ि के अनुसार दोहली में धार्मिक प्रयोजनों के लिए भूमि को दान में देने की एक सामान्य पद्धति है और भू-राजस्व का संदाय भू-स्वामी द्वारा किया जाता है। उसने **धर्मा** बनाम **श्रीमती हरबाई**[1] में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के निर्णय का और **खेमानन्द और अन्य** बनाम **कुन्दन पट्टेदार और एक अन्य पट्टाकर्ता**[2] के निर्णय को भी उद्धृत किया है। यह भी दलील दी गई है कि यह रूढ़ि एक जिले से दूसरे जिले में, एक तहसील से दूसरे तहसील में, एक परगने से दूसरे परगने में बदल जाती है और इसलिए अपीलार्थियों द्वारा अवलम्बित निर्णय रोहतक जिले की रूढ़ि को लागू नहीं होता। इस दलील के समर्थन में उन्होंने **मारा और अन्य** बनाम **मुसम्मात निक्को उर्फ पंजाब कौर और एक अन्य**[3] के प्रति निर्देश किया है।

4. मैंने दोनों पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल की दलीलों को सुना है और न्यायालय के समक्ष उद्धृत की गई निर्णयज विधि पर भी भली प्रकार विचार किया है। **बाबा बद्री दास का मामला**[4] एक रिट पिटीशन से उद्भूत हुआ है। दोहलीदार ने पंजाब सिक्योरिटी आफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953 के प्ररूप एल के आधार पर धारा (1) के अधीन अपने पट्टेदार/अभिधारियों के विरुद्ध सहायक कलक्टर, प्रथम ग्रेड, रोहतक के समक्ष बेदखली पिटीशन फाइल किया। अभिधारियों ने पिटीशनर के दावे का अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर विरोध किया कि पिटीशनर अधिनियम में यथापरिभाषित भू-स्वामी नहीं है और इसलिए बेदखली पिटीशन सक्षम नहीं है। अतः इस मामले पर पंजाब सिक्योरिटी आफ लैण्ड टेन्योर्स ऐक्ट, 1953 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए विचार किया गया और इसलिए निर्णय के पैरा 13 के अंत में इस प्रकार मत व्यक्त किया गया :—

> "अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि यद्यपि दोहलीदार भूमि का उस अर्थ में एक स्वामी नहीं है जैसा कि इस पद का भली प्रकार अर्थ लगाया जाता है, तथापि अन्यथा वह अधिनियम के प्रयोजनों के लिए एक भू-स्वामी है। अन्य प्रश्न कि क्या वह एक न्यासी है या उसके अन्यसंक्रामण आरम्भ से ही शून्य हैं, इस मामले में उद्भूत नहीं

---

[1] 1976 पी० एल० जे० 617.

[2] ए० आई० आर० 1937 लाहौर 805.

[3] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1821.

[4] आई० एल० आर० 1982 (जिल्द 1) पंजाब-हरियाणा 491.

> होते हैं हालांकि सेवाराम के मामले में (ए० आई० आर० 1922 लाहौर 126) लाहौर उच्च न्यायालय द्वारा इस बारे में अपनाए गए दृष्टिकोण की शुद्धता के बारे में हमारे अपने सन्देह हैं।"

इन विचारों को ध्यान में रखते हुए उक्त मामला स्पष्टतः प्रभेदनीय है और वह प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता जो कि भू-स्वामियों द्वारा दोहलीदार के विरुद्ध इस आधार पर फाइल किए गए एक नियमित वाद से उद्भूत होता है कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में असफल रहा है और उसने पट्टे के रूप में भूमि अन्तरित कर दी है। इस विषय पर **धर्मा के मामले में**[1] खण्ड न्यायपीठ द्वारा विचार किया गया है। उस मामले में निर्णय के पैरा 7 में यह मत व्यक्त किया गया है कि "दोहली एक स्थायी भूधृति नहीं है और जैसे ही कोई दोहलीदार उन अपेक्षित सेवाओं का पालन करने में असफल रहता है जिसके लिए दोहली का सृजन किया गया है वैसे ही दोहली अधिकार निर्वापित हो जाते हैं और सम्पत्ति मूल स्वत्वधारियों को वापस मिल जाती है।" उक्त विचार प्रस्तुत मामले के तथ्यों को पूरी तरह लागू होते हैं। निचले दोनों ही न्यायालयों द्वारा एक साथ यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रतिवादी सं० 1 द्वारा प्रतिवादी सं० 2 से 4 के पक्ष में निष्पादित किए गए पट्टे बन्धक की कोटि में आते हैं और 1 या अन्यसंक्रामण हैं और इसलिए वे उन स्वत्वधारियों पर आवद्धकर नहीं हैं जो प्रतिवादियों से वादगत भूमि का कब्जा पाने के हकदार हैं। इसके अलावा भी प्रतिवादियों ने इस मामले में यह साबित करने के लिए शर्त वाजिब उल-अर्ज पेश नहीं किया है कि वह दोहलीदारों को एक सीधा दान है और इस कारण वह अन्यसंक्रामण करने के लिए सक्षम है। ऐसे साक्ष्य के अभाव में अपीलार्थियों की ओर से सफलतापूर्वक यह दलील नहीं दी जा सकती कि दोहलीदार होने के कारण प्रतिवादी सं० 1 वादगत भूमि का स्वामी बन गया और इस कारण वह अन्यसंक्रामण करने के लिए सक्षम है। प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल ने ई० जोसफ आई० सी० एस० सैटलमैंट आफिसर कृत "कस्टमरी लॉ आफ दि रोहतक डिस्ट्रिक्ट" के प्रति भी निर्देश किया है। दान के संबंध में प्रश्न सं० 94 के उत्तर में उसमें इस प्रकार कहा गया है :—

> "सभी जनजातियां यह कहती हैं कि दान सशर्त या विवक्षित नहीं होना चाहिए। वह मौखिक या लिखित हो सकता है किन्तु मौखिक दान राजस्व अभिलेखों में दर्ज किया जाना चाहिए। कब्जे का अन्तरण सभी मामलों में अनिवार्य है।"

---

[1] 1976 पी० एल० जे० 617.

टिप्पण :

> "दान का सबसे अधिक प्रचलित तरीका धार्मिक प्रयोजनों के लिए दोहलू में एक बीघा या उससे अधिक भूमि का दान है। इन मामलों में कब्जा दिया जाता है हालांकि कभी-कभी भू-स्वामी के पास भी कब्जा बना रहता है और वह उसकी उपज दोहलीदार को दे देता है। एक दोहली का सार यह है कि भू-स्वामी राजस्व का संदाय करता है। निस्सन्देह भले सीधे किसी धार्मिक व्यक्ति को दान में दी गई हो किन्तु आदाता उसका पूर्ण स्वामी बन जाता है और राजस्व का संदाय करता है।"

अत: इन परिस्थितियों में यदि प्रतिवादी सं० 1 स्वयं को पूर्ण स्वामी होने का और राजस्व का संदाय करने का दावा करता है तो उसके लिए अपने इस दावे के समर्थन में शर्त वाजिब उल-अर्ज या वैसा ही कोई अन्य साक्ष्य पेश करना आबद्धकर है और जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है वह अभिलेख में इस बात को साबित करने में असफल रहा है।

5. अत: अपील असफल होती है और खारिज की जाती है। तथापि खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता।

अपील खारिज की गई।

प्रमोद

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—134

हरनाम सिंह बनाम सुरजीत सिंह

(Harnam Singh *Vs.* Surjit Singh)

तारीख 15 नवम्बर, 1983

[मु० न्या० एस० एस० संघवालिया, न्या० प्रेमचन्द जैन और
न्या० एस० पी० गोयल]

ईस्ट पंजाब अर्बन रेण्ट रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट, 1949 (1949 का 3)—धारा 13(2)(i) और 3(क)(i), सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 3) की धारा 11, 20 और आदेश 2, नियम 2—यदि किसी परिसर से बेदखली का आवेदन किराए के संदाय में व्यतिक्रम (चूक) के आधा पर खारिज कर दिया जाता है तो सद्भावी आवश्यकता के आधार पर

परिसर से बेदखली के लिए किया गया परवर्ती आवेदन प्रलक्षित पूर्वन्याय का सिद्धांत लागू करके, वर्जित नहीं किया जा सकता क्योंकि परिसर के किराए के संदाय में चूक तथा उसकी सद्भावी आवश्यकता सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुक है—वाद हेतुक का अर्थ – वाद हेतुक से ऐसा प्रत्येक तथ्य अभिप्रेत है जिसे वादी को अपने पक्ष में निर्णय के अधिकार को साबित करने के लिए उस दशा में साबित करना पड़ता है जब उसका प्रत्याख्यान कर दिया जाता है ।

पिटीशनर मकान-मालिक ने प्रारम्भ में 7 मार्च, 1973 को किराए के असंदाय के आधार पर प्रत्यर्थी किराएदार की बेदखली के लिए एक आवेदन परिसर की सद्भावी आवश्यकता के आधार पर फाइल किया था। इस आवेदन का निपटारा प्रदर्श सं० 5 वाले आदेश द्वारा कर दिया गया था। इसके बाद मकान-मालिक ने 15 अप्रैल, 197 को नए सिरे से एक आवेदन अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर किया था कि किराएदार पर परिसर का किराया बाकी था और उसे विवादग्रस्त परिसर की अपने इस्तेमाल और अधिभोग के लिए आवश्यकता थी। इस आवेदन की सूचना मिलने पर किराएदार ने न्यायालय में हाजिर होकर किराए की उतनी रकम ब्याज और आवेदन करने के व्यय सहित निविदत्त कर दी थी जितनी उस पर बकाया अभिकथित की गई थी । वह रकम मकान-मालिक की ओर से स्वीकार कर ली गई थी जिसके परिणामस्वरूप किराए के बकाया होने के कारण बेदखली के आधार का परित्याग कर दिया गया था । इस प्रकार मकान मालिक ने विवाद व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग तक सीमित कर दिया था । तथापि, किराएदार की ओर से यह एक और आक्षेप किया गया था कि मकान-मालिक को तथाकथित आधार उपलब्ध नहीं था क्योंकि जब उसने बेदखली के लिए पहला आवेदन किया था तब उसे तथाकथित आधार उपलब्ध था तथा उसने उसका लाभ नहीं उठाया था और इस प्रकार वह प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांत के अनुसार तथाकथित आधार का लाभ उठाने के लिए वर्जित था । विचारण न्यायालय ने आवेदन को स्वीकार करके प्रत्यर्थी किराएदार की बेदखली का आदेश पारित कर दिया था तथा इस आदेश के विरुद्ध की गई अपील भी अपील प्राधिकारी ने खारिज कर दी थी । तथापि, प्रत्यर्थी किराएदार द्वारा पुनरीक्षण फाइल किए जाने पर उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके कि पिटीशन में धारा 13(3)(क)(i) में उल्लिखित सभी दावों का अभिवाक् नहीं किया गया है, मामला इस निदेश के साथ किराया नियंत्रक को प्रतिप्रेषित कर दिया था कि वह अधिनियम की धारा 13(3)(क)(i) के दावों की समाविष्टि के लिए आवेदन के संशोधन की मंजूरी दे और पक्षकारों

के साक्ष्य का अभिलेखन करने के पश्चात् मामले का विनिश्चय नए सिरे से करे। किराया नियंत्रक ने तथाकथित निदेश का अनुपालन करते हुए मामले का विनिश्चय नए सिरे से किया था और किराएदार की बेदखली का निदेश दिया था। किराएदार द्वारा अपील की जाने पर अपील प्राधिकारी ने पिटीशनर के व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग के लिए परिसर की सद्भावी आवश्यकता से संबंधित विवाद्यक सं० 1 की बाबत कोई स्पष्ट निष्कर्ष निकाले बिना विवाद्यक सं० 2 की बाबत यह अभिनिर्धारित कर दिया था कि आवेदक का दावा प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांतों के अनुसार वर्जित है क्योंकि उसने अपने पूर्ववर्ती आवेदन में तथाकथित आधार नहीं लिया था। परिणामतः अपील मंजूर कर ली गई थी और तथाकथित आवेदन खारिज कर दिया गया था। इन परिस्थितियों में मामला प्रामाणिक न्यायनिर्णयन के लिए पूर्ण न्यायपीठ को निर्देशित किया गया था। पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष मुख्य रूप से ये दो प्रश्न उद्भूत हुए थे :

(i) क्या परिसर के किराए के संदाय में चूक और मकान-मालिक की अपनी व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग के लिए परिसर की सद्भावी आवश्यकता पृथक् और सुभिन्न हेतुक हैं, और एक वादहेतुक के असफल हो जाने पर दूसरे के आधार पर बेदखली का आवेदन किया जा सकता है, और (ii) क्या दूसरा आवेदन प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांतो के आधार पर वर्जित होता है ?

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

प्रश्नगत अधिनियम की धारा 13 की व्यापकतर स्कीम, संबंधित उपबंध की विनिर्दिष्ट भाषा, सिद्धांत और पूर्व निर्णय के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि मकान-मालिक की परिसर की व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए आवश्यकता पर आधारित वाद हेतुक किराएदार द्वारा किराए के असंदाय पर आधारित वाद हेतुक से सुभिन्न और पृथक् है। अतः प्रारम्भ में उत्पन्न प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया जाता है। यदि वाद हेतुक् पृथक् और सुभिन्न है तो "आवश्यक था" और "चाहिए था" के (सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के चतुर्थ स्पष्टीकरण में यथा-परिकल्पित) नियम के लागू होने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होगा और परिणामतः न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों के प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांत द्वारा वर्जित किए जाने से सम्बन्धित कोई विवाद्यक न्यायनिर्णयन के लिए नहीं है। इस मामले के गुणागुण पर ध्यान देने के बाद आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि विवाद्यक सं० 2 की बाबत अपील न्यायालय के निष्कर्ष

उलट दिए जाने चाहिए और यह अभिनिर्धारित करते समय कि आवेदक का दावा किसी भी रूप में प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांत द्वारा वर्जित नहीं था, विचारण न्यायालय के निष्कर्षों की अभिपुष्टि की जानी चाहिए। (पैरा 15, 16 और 18)

धारा 13 की उपधारा (2)(i) के अधीन किराएदार द्वारा किराए के असंदाय के आधार पर बेदखली के दावे का समर्थनकारी साक्ष्य इस साक्ष्य से एकदम सुभिन्न और असंबद्ध है जो यह सिद्ध करने के लिए आवश्यक होता है कि मकान-मालिक को परिसर की अपने व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए सद्भावेन आवश्यकता है। वास्तव में इसकी और व्याख्या करने में श्रम करना अनावश्यक है। चूंकि, दोनों को सिद्ध करने वाला साक्ष्य स्पष्टतः सुभिन्न है, अतः इस कसौटी पर भी दोनों वाद हेतुक स्पष्टतः सुभिन्न और पृथक् हैं। अतः वे किसी एकल वाद हेतुक के आधार मात्र नहीं कहे जा सकते। (पैरा 10)

धारा 13 की स्कीम से सम्बन्धित उपबन्धों की विशिष्ट भाषा तथा कानून द्वारा प्रत्येक मामले में अनुदत्त अनुतोष की प्रकृति भी निदेशात्मक प्रतीत होती है। जैसा कि स्पष्ट है, किराए के असंदाय के आधार पर किराएदार की बेदखली का वाद हेतुक धारा 13 की उपधारा (2) में रखा गया है जबकि व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के आधार पर कब्जे की ईप्सा से संबंधित वाद हेतुक धारा 13 की उपधारा (3) में। पूर्ववर्ती मामले में किराएदार की चूक यदि पूर्ण रूप से नहीं तो मुख्य रूप से वाद हेतुक को अवश्य जन्म देती है जबकि परवर्ती मामले में किराएदार की ओर से चूक का कोई प्रश्न अन्तर्वलित नहीं होता। परवर्ती मामले में मकान-मालिक की किराए पर दिए गए परिसर की अपने व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए सद्भावी आवश्यकता ही वह कारक होती है जो वादहेतुक को जन्म देती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधि कार्यवाहियों के बाहुल्य के पक्ष में नहीं है। तथापि, यह सुस्थापित है कि यदि अनेक सुभिन्न ओर पृथक् वादहेतुक हों तो वादी पर ऐसी कोई विधिक बाध्यता नहीं है कि वह उन्हें किसी एकल कार्यवाही में संयोजित करे, हां, यदि वह चाहे तो उसे ऐसा करने की अनुमति दी जा सकेगी। इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि मकान-मालिक द्वारा तंग किए जाने की बात किंचित् निराधार कल्पना है। एक के बाद एक आवेदन करना मकान-मालिक के लिए भी, यदि अधिक नहीं तो उतना ही बोझिल है जितना कि शायद किसी ऐसे किराएदार के लिए जो प्रतिरक्षा के समय निश्चित रूप से परिसर पर काबिज रहता है। (पैरा 11 और 14)

इस प्रतिपादना के सम्बन्ध में संभवतः कोई विवाद नहीं हो सकता कि तथाकथित अधिनियम ऐसे विधान का अंग है जिसमें किराएदारों के हितों के संरक्षण का ध्यान रखा गया है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह कानून मकान-मालिकों के विरुद्ध निश्चित रूप से ऐसा उलटा पासा है जिसके प्रत्येक उपबन्ध का अर्थान्वियन मकान-मालिकों के विरुद्ध किया जाना चाहिए। (पैरा 5)

		पैरा
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 161 : केवल सिंह **बनाम** मुसम्मात लाजवंती (Kewal Singh *Vs.* Mst. Lajwanti);	5, 9
[1977]	(1977) 2 रेण्ट लॉ रिपोर्ट 253 : डा० हंसराज डावर **बनाम** श्याम किशोर (Dr. Hansraj Davar *Vs.* Shyam Kishore) ; और	9-क
[1949]	ए० आई० आर० 1949 प्रिवी कौंसिल 78 : मोहम्मद खलील खां **बनाम** महबूब अली मियां (Mohd. Khalil Khan *Vs.* Mahboob Ali Miyan)	9-ख

का **अवलंब** लिया गया।

[1973]	1973 रेण्ट केसेज जर्नल 785 दिल्ली : भीमसेन **बनाम** राजदेवी (Bhim Sen *Vs.* Raj Devi);	13
[1972)	ए० आई० आर० 1972 दिल्ली 150 : रामदेव सिंह **बनाम** रायल स्टूडियो (Ramdeo Singh *Vs.* Royal Studio);	13
[1972]	ए० आई० आर० 1971 दिल्ली 213=1972 रैण्ट केसेज जर्नल 876 : राजकिशन जैन **बनाम** मास्टर होशियार सिंह (Rajkishan Jain *Vs.* Master Hoshiar Singh); और	13
[1964]	ए० आई० आर० 1964 पंजाब 408 : मन मोहन लाल **बनाम** वी० डी० गुप्ता (Manmohan Lal *Vs.* V. D.Gutpa)	12

से **प्रभेद** बताया गया।

[1978] (1978) 1 रैण्ट लॉ रिपोर्ट 120 : रतन सिंह **बनाम** जगजीत सिंह भान (Ratan Singh *Vs.* Jagjit Singh Bhan) 4

निर्दिष्ट किया गया।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1977 का सिविल पुनरीक्षण सं० 1852.

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री एम० एल० सरीन और आर० पी० जग्गा

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री डी० वी० सहगल, वरिष्ठ अधिवक्ता (सर्वश्री आर० पी० सूद, वी० आर० महाजन और पी० एस० राणा)

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० एस० एस० संधावालिया ने दिया।

मु० न्या० संधावालिया :

पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष यह प्रश्न एक मुख्य प्रश्न के रूप में आया है कि ईस्ट पंजाब अर्बन रैंट रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट, 1949 की धारा 13 द्वारा यथा विहित किराएदार की बेदखली के लिए उपधारा (3)(क)(i) के अधीन मकान-मालिक की व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग के लिए मकान की आवश्यकता उस वाद हेतुक से सुभिन्न और प्रथक वाद हेतुक है जो उपधारा 2(i) के अधीन किराए के असंदाय के कारण उत्पन्न होता है।

2. हरनामसिंह अर्थात् पिटीशनर मकान-मालिक ने प्रारम्भ में 7 मार्च, 1973 को किराए के असंदाय के आधार पर प्रत्यर्थी-किराएदार की बेदखली के लिए एक आवेदन फाइल किया था। इस आवेदन का निपटारा प्रदर्श सं० 5 वाले आदेश द्वारा कर दिया गया था। तथाकथित आदेश के परिशीलन से यह दर्शित होगा कि आवेदन में पिटीशनर ने उस बात से भिन्न किसी बात को आधार नहीं बनाया था जिसमें व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग की बात शामिल थी।

3. इसके बाद 15 अप्रैल, 1974 को पिटीशनर-मकान-मालिक ने नए सिरे से एक आवेदन अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर किया था कि प्रत्यर्थी-किराएदार पर किराया बाकी था और उसे विवादग्रस्त परिसर की अपने इस्तेमाल और अधिभोग के लिए सद्भावेन आवश्यकता थी। तथाकथित आवेदन की सूचना मिलने पर प्रत्यर्थी किराएदार ने न्यायालय में हाजिर होकर किराए की उतनी रकम ब्याज और आवेदन करने के व्यय सहित निविदत्त की

थी जितनी उस पर बकाया अभिकथित की गई थी। वह रकम पिटीशनर-मकान-मालिक की ओर से स्वीकार कर ली गई थी जिसके परिणामस्वरूप किराए के बकाया होने के कारण बेदखली के आधार का परित्याग कर दिया गया था। इस प्रकार मकान-मालिक ने विवाद व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग तक सीमित कर दिया था। तथापि, किराएदार की ओर से यह एक और आक्षेप किया गया था कि मकान-मालिक को तथाकथित आधार उपलभ्य नहीं था क्योंकि जब उसने बेदखली के लिए पहला आवेदन किया था तब उसे तथाकथित आधार उपलभ्य था तथा उसने उसका लाभ नहीं उठाया था और इस प्रकार वह प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांतों के अनुसार तथाकथित आधार का लाभ उठाने के लिए वर्जित था। विचारण न्यायालय ने आवेदन को स्वीकार करके प्रत्यर्थी किराएदार की बेदखली का आदेश पारित कर दिया था तथा इस आदेश के विरुद्ध की गई अपील भी अपील प्राधिकारी ने खारिज कर दी थी। तथापि, प्रत्यर्थी किराएदार द्वारा पुनरीक्षण फाइल किए जाने पर उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके, कि पिटीशन में धारा 13(3)(क)(i) में उल्लिखित सभी तत्वों का अभिवाक् नहीं किया गया था, मामला इस निदेश के साथ किराया नियंत्रक को प्रतिप्रेषित कर दिया था कि वह अधिनियम की धारा 13(3)(क)(i) के तत्वों के समाविष्टि के लिए आवेदन के संशोधन की मंजूरी दे और पक्षकारों के साक्ष्य का अभिलेखन करने के पश्चात् मामले का विनिश्चय नए सिरे से करे। किराया नियंत्रक ने तथाकथित निदेश का अनुपालन करते हुए मामले का विनिश्चय नए सिरे से किया और यह निष्कर्ष निकालकर, कि मकान-मालिक और उसके परिवार को तथाकथित परिसर की व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग के लिए सद्भावेन आवश्यकता है, तथा यह अभिनिर्धारित करके कि मकान-मालिक का दावा किसी भी रूप में प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांतों के अनुसार वर्जित नहीं है, तथाकथित आवेदन मंजूर कर लिया था और प्रत्यर्थी किराएदार की बेदखली का निदेश दे दिया था। प्रत्यर्थी किराएदार द्वारा अपील की जाने पर अपील प्राधिकारी ने पिटीशनर की व्यक्तिगत इस्तेमाल और अधिभोग के लिए परिसर की सद्भावी आवश्यकता से सम्बन्धित विवाद्यक सं० 1 की बाबत कोई स्पष्ट निष्कर्ष निकाले बिना विवाद्यक सं० 2 की बाबत यह अभिनिर्धारित कर दिया था कि आवेदक का दावा प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांतों के अनुसार वर्जित था क्योंकि उसने अपने पूर्ववर्ती आवेदन में तथाकथित आधार नहीं लिया था। परिणामत: अपील मंजूर कर ली गई थी और तथाकथित आवेदन खारिज कर दिया गया था।

4. पिटीशनर मकान-मालिक का यह सिविल पुनरीक्षण प्रारम्भ में मेरे विद्वान् बन्धु न्या॰ एस॰ पी॰ गोयल के समक्ष आया था जो एकल न्यायाधीश की भूमिका निभा रहे थे। तथाकथित मामला अंतर्वलित विवाद्यक के महत्व पर विचार करके तथा **रतन सिंह** बनाम **जगजीत सिंह भान**[1] वाले मामले में अभिव्यक्त मत के प्रति कुछ शंकायें व्यक्त करते हुए बृहत्तर न्यायपीठ को निर्देशित कर दिया गया था। अब खण्ड न्यायपीठ ने लगभग वैसे ही कारणों से मामले को पूर्ण न्यायपीठ द्वारा प्रामाणिक न्यायनिर्णयन के लिए निर्देशित किया है।

5. मैं इस मामले में उद्भूत होने वाले दोनों प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व यह उपयुक्त समझता हूं कि किराया विधान के वास्तविक बोध के अपेक्षाकृत बड़े प्रश्न पर विचार किया जाए ताकि उसका अर्थान्वयन किया जा सके। प्रत्यर्थी-किराएदार की ओर से यह तर्क देने की ईप्सा की गई थी कि ईस्ट पंजाब अर्बन रेंट रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट, 1949 (जिसे इसमें आगे अधिनियम कहा गया है) किराएदारों के संरक्षण के प्रयोजनार्थ निर्मित विधान का एक अंग है अतः उसका निर्वचन पूर्ण रूप से उनके पक्ष में किया जाना चाहिए। इस प्रतिपादना के सम्बन्ध में सम्भवतः कोई विवाद नहीं हो सकता कि तथाकथित अधिनियम ऐसे विधान का अंग है जिसमें किराएदारों के हितों के संरक्षण का ध्यान रखा गया है। परन्तु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह कानून मकान मालिकों के विरुद्ध निश्चित रूप से एक ऐसा उल्टा पांसा है जिसके प्रत्येक उपबन्ध का अर्थान्वयन मकान-मालिकों के विरुद्ध किया जाना चाहिए। वास्तव में यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि किराया अधिनियम सामाजिक विधान हैं जो किराएदारों के हितों का संरक्षण करने के साथ-साथ मकान-मालिकों को भी समान अधिकार प्रदान करते हैं, एक आबद्धकर नजीर विद्यमान है। इस मुद्दे से सम्बन्धित सिद्धांत से भटकना अनावश्यक है क्योंकि यह **केवल सिंह** बनाम **मुसम्मात लाजवंती**[2] नामक आबद्धकर नजीर की परिधि के अन्तर्गत आता है :—

> "अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों की चर्चा करने से पूर्व यह मत व्यक्त करना आवश्यक होगा कि किराया नियंत्रण अधिनियम सामाजिक विधान का एक अंग है और उसका अभिप्राय मुख्य रूप से किराएदारों को निरर्थक वेदखलियों से संरक्षण प्रदान करना है। इसके साथ ही विधानमंडल ने मकान-मालिकों के प्रति न्याय करने तथा किराएदारों

---

[1] (1978) 1 रें॰ ला॰ रि॰ 120.

[2] (1980) ए॰ आई॰ आर॰ 1980 एस॰ सी॰ 161 (पृ॰ 165).

> को बेदखल करने के उनके अधिकार पर ऐसे निर्बंधन, जो उनके विधिक साम्पत्तिक अधिकार को नष्ट करते हों, अधिरोपित करने से बचने के लिए मकान-मालिकों को अनुतोष प्रदान करने वाले कतिपय उपबन्ध किए हैं। ऐसे विधान के अभाव में सामान्य विधि मकान-मालिक को यह अधिकार प्रदान करती है कि वह अन्तरण अधिनियम के अधीन सूचना देने के पश्चात् या तो काफी समय बीत जाने के कारण किराएदारी के पर्यवसान के आधार पर, अथवा किराए के संदाय में चूक के आधार पर, अथवा अन्य आधारों पर किराएदार को बेदखल कर दें। किराया नियंत्रण अधिनियम ने किराएदारों की उचित और गम्भीर आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से मकान-मालिकों के इस विस्तृत अधिकार को सीमित किया है। यद्यपि किराया नियंत्रण विधान ने किराएदारों को अनेक सुविधायें प्रदान की हैं तो भी उसका ऐसा अर्थान्वयन न किया जाए जो उस सीमित अनुतोष को नष्ट कर देता हो जिसे वह मकान-मालिक को भी देना चाहता है। उदाहरणार्थ बेदखली का एक आधार, जो देश में लागू लगभग सभी किराया नियंत्रण अधिनियमों में अन्तर्विष्ट है, मकान-मालिक की सद्भावी व्यक्तिगत आवश्यकता का प्रश्न है। सद्भावी आवश्यकता की संकल्पना का ऐसा सार्थक अर्थान्वयन किया जाना चाहिए जो मकान-मालिक को अनुदत्त अनुतोष को वास्तविक और व्यावहारिक बनाता हो।"

पूर्वोक्त प्रामाणिक प्रतिपादना को ध्यान में रखते हुए यह अभिवाक् अस्वीकार किया जाना चाहिए कि किराया अधिनियमों का अर्थान्वयन किराएदारों के पक्ष में किया जाए।

6. पिटीशनर मकान-मालिक की ओर से न्यायमित्र की हैसियत से हाजिर होने वाले श्री एम० एल० सरीन ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि अधिनियम की धारा 13 में किसी किराएदार के विरुद्ध बेदखली के अनुतोष के लिए सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुक वर्णित हैं। अपने तर्क पर विशेष रूप से बल देते हुए उसने यह निवेदन किया था कि उपधारा (3)(क)(i) के अधीन मकान-मालिक की व्यक्तिगत आवश्यकता पर आधारित वाद हेतुक उपधारा 2(i) के अधीन किराए के असंदाय के कारण उत्पन्न होने वाले वाद हेतुक से पूर्णतः मुक्त है। इससे यह परिणाम निकालने की ईप्सा की गई थी कि मकान-मालिक उसे उपलभ्य मुक्त वाद हेतुकों के अधीन अनुतोष का पृथक् रूप से

दावा करने का हकदार होता है और वह उन्हें संयोजित करने के लिए बाध्य नहीं होता। दूसरी ओर किराएदार की ओर से न्यायमित्र के रूप में न्यायालय की सहायता कर रहे श्री डी० वो० सहगल ने दृढ़तापूर्वक यह निवेदन किया था कि धारा 13 में परिसर से बेदखली के अनुतोष के लिए मकान-मालिक के हक पर आधारित एक ही वादहेतुक की व्यवस्था की गयी है तथा उसकी विभिन्न उपधाराओं में केवल उसके आधार वर्णित हैं।

7. पूर्वोक्त विरोधी तर्कों के परिणामस्वरूप हर व्यक्ति अपरिहार्य रूप से इस प्रश्न का सामना करने के लिए विवश हो जाता है कि वादहेतुक का सही स्वरूप क्या है। मैं उसकी यथावत् परिभाषा देने का प्रयत्न करने की उलझन में नहीं फंसना चाहता। तथापि, यह सुस्थापित है कि वादहेतुक से ऐसा प्रत्येक तथ्य अभिप्रेत है जिसे वादी को अपने पक्ष में निर्णय के अधिकार के समर्थन के लिए उस दशा में सावित करना होगा जव उसका प्रत्याख्यान कर दिया गया होगा। दूसरे शब्दों में वाद हेतुक तथ्यों का एक ऐसा पुंज है जो उन पर लागू होने वाली विधि के संदर्भ में वादी को किराएदार के विरुद्ध अनुतोष का अधिकार प्रदान करता है। परन्तु, इसके विपरीत इसमें तथ्यों के पुंज को साबित करने के लिए आवश्यक साक्ष्य समाविष्ट नहीं है और साथ ही इसका प्रतिवादी द्वारा की जा सकने वाली प्रतिरक्षा से किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है और न ही यह वादी द्वारा ईप्सित अनुतोष के स्वरूप पर निर्भर करता है। यह बात वाद हेतुक से संबंधित इस व्यापक संकल्पना के विरुद्ध है कि किसी को अधिनियम की धारा 13 के विभिन्न उपबंधों का अर्थान्वयन यह अवधारित करने के लिए करना पड़े कि उसकी विभिन्न उपधाराओं में ऐसे किन्हीं सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुकों की व्यवस्था है अथवा नहीं जिनके आधार पर मकान-मालिक अपने किराएदार की बेदखली करा सकता है।

8. यह प्रतीत होगा कि संभवतः इस मुद्दे के सम्बन्ध में व्यापक प्रयुक्ति का कोई ऐसा सार्वभौम नियम अधिकथित नहीं किया जा सकता कि किसी कानून के विशिष्ट उपबंध प्रदत्त अनुतोष के संबंध में किसी एकल वाद हेतुक की व्यवस्था करते हैं अथवा अनेक वाद हेतुकों की। प्रत्येक मामले में इस प्रश्न के अवधारण के लिए संबंधित कानून की स्कीम, सुसंगत उपबंध की विनिर्दिष्ट भाषा; उपबंधित वाद हेतुकों तथा प्रदत्त कानूनी अनुतोष के स्वरूप की बारीकी से जांच करनी होगी। धारा 13 के उपबन्धों के व्यापक परिप्रेक्ष्य से यह उपदर्शित होगा कि उसकी उपधाराएं (2) और (3) अत्यधिक सर्वांगीणता और सर्तकता के साथ उन वादहेतुकों को वर्णित करती हैं जिनके आधार पर कोई मकान-मालिक अपने किराएदार को विवादग्रस्त परिसर से

बेदखल कर सकेगा अथवा उसका कब्जा लेने का हकदार हो जाएगा। विवाद के क्षेत्र का विस्तार न करके यह सर्वोत्तम होगा कि इस मामले में उत्पन्न होने वाले इस संकीर्ण प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित किया जाए कि अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (2)(1) में उसकी उपधारा (3)(1) में वर्णित वाद हेतुक से सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुक की व्यवस्था है अथवा नहीं।

9. मैं यह मत व्यक्त करने के पक्ष में हूं कि हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया मुख्य मुद्दा आबद्धकर नजीर की परिधि के अन्तर्गत सर्वांगीण रूप से नहीं तो कम से कम निकटतम युक्तियुक्त सादृश्यता के आधार पर अवश्य आता है। अतः पहले **केवल सिंह** बनाम **मुसम्मात लाजवंती**[1] वाले मामले पर ध्यान दिए बिना इस पर तथाकथित सिद्धांत के आधार पर विचार करना अनावश्यक प्रतीत होता है। उस मामले में न्यायालय को दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 14(1)(क) और (च) तथा 4-क(i) का अर्थान्वियन विशेष रूप से करना था। इस बात पर विशेष प्रकाश डालना आवश्यक है कि मकान-मालिक की व्यक्तिगत आवश्यकता तथा परिसर के असुरक्षित हो जाने की दशा में उसकी ऐसी मरम्मत कराने के लिए, जो उसे खाली कराए बिना न की जा सकती हो, मकान मालिक की सद्भावेन आवश्यकता के आधार पर किराएदार की परिसर से बेदखली की व्यवस्था करने वाली दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 की धारा 14(1)(ङ) और (च) निकट रूप से सदृश हैं भले ही वे अधिनियम के तद्रूपी उपबंधों के अनुरूप नहीं हैं। दूसरी ओर दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 में उन मामलों में बेदखली की व्यवस्था की गई थी जिनमें किसी सरकारी कर्मचारी से सरकारी आवास को खाली करने की अपेक्षा की जाती थी। उसमें यह मुद्दा, कि मकान-मालिक का दूसरा आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 2, नियम 2 में यथाअंतर्विष्ट पूर्व-न्याय के सिद्धांत पर वर्जित है, विशेष रूप से उठाया गया था। इस प्रश्न के ज्ञानकृत विचारण और वादहेतुक के सही स्वरूप पर ध्यान देने के पश्चात् न्यायमूर्तियों ने पूर्वोक्त तीन वादहेतुकों के बारे में बार-बार यही कहा था ये तीनों वादहेतुक, जिनका ग्रहण अथवा परित्याग मकान-मालिक अपने विवेकानुसार कर सकता है, पृथक् और सुभिन्न हैं। उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "प्रिवी कौंसिल द्वारा अधिकथित पूर्वोक्त सिद्धांतों को लागू करते हुए हमारा यह मत है कि प्रिवी कौंसिल द्वारा उल्लिखित शर्तों में से कोई भी शर्त इस मामले में लागू नहीं होती। वादी ने प्रथमतः

---

[1] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 161.

> अपना वाद तीन विभिन्न वाद हेतुकों पर आधारित किया था किन्तु बाद में उसने उसे प्रथम वाद हेतुक, अर्थात् धारा 14-क (1) में उल्लिखित वादहेतुक, तक सीमित कर दिया था और धारा 14(1) (ङ) तथा (च) से सम्बन्धित वादहेतुक का परित्याग कर दिया था। बाद में उसने एक संशोधन के आधार पर धारा 14-क(1) से उत्पन्न होने वाले हेतुक का परित्याग करके धारा 14(1)(ङ) पर आधारित वाद हेतुक को पुनरुज्जीवित करने की ईप्सा की थी। जब वादी ने धारा 14(1)(ङ) से उत्पन्न होने वाले वाद हेतुक का परित्याग किया था उस समय प्रत्यर्थी का इस मामले से कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः प्रत्यर्थी को वादी द्वारा ईप्सित संशोधन पर आक्षेप करने की कोई छूट नहीं थी। इन कारणों के आधार पर हमारा इस बाबत समाधान हो गया है कि दूसरा आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के नियम 2, आदेश 2 के सिद्धांतों द्वारा वर्जित नहीं था और अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल की दलील असफल होनी चाहिए।"

उपर्युक्त मत से यह निष्कर्ष निकलेगा कि दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम के समरूप और सदृश उपबंधों के अधीन न्यायमूर्तियों ने निश्चायक रूप से यह मत व्यक्त किया है कि धारा 14-क(1), 14(1)(ङ) और 14(1) (च) के अधीन विनिर्दिष्ट तीनों शर्तें सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुक थीं। मुझे यह प्रतीत होता है कि ये मताभिव्यक्तियां अधिनियम की धारा 13 के उपबंधों पर भी आवश्यक परिवर्तनों सहित लागू होती हैं। वस्तुतः ये मताभिव्यक्तियां किराए के असंदाय, सद्भावी व्यक्तिगत आवश्यकता और परिसर के उपयोग और अधिभोग के मामलों में और भी विशेष रूप से लागू होंगी।

9-क. यद्यपि **केवल सिंह वाले मामले**[1] (पूर्वकथित) में दी गई पूर्वोक्त प्रतिपादना के आधार पर इस मामले का भली-भांति निपटारा किया जा सकता है तो भी **डा० हंसराज दावर** बनाम **श्याम किशोर**[2] वाले मामले में न्यायमूर्ति मिश्र द्वारा इस सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या पर भी ध्यान देना चाहिए। इसमें भी दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम की धारा 14 के उपबंध कार्यवाहियों पर प्रलक्षित पूर्व न्याय के सिद्धांत के लागू होने के विनिर्दिष्ट दावे के संदर्भ में विचारणीय थे। मामले पर कुछ सविस्तार विचार करने के बाद निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :—

---

[1] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 161.

[2] (1977) 2 रें० ला० रि० 253 (दिल्ली).

"अत: मेरी राय में बेदखली के किसी पिटीशन में वाद हेतुक का सृजन बेदखली का आदेश प्राप्त करने की ईप्सा मात्र से न होकर उन आधारों पर बेदखली के आदेश की प्राप्ति से होता है जो कानून में विनिर्दिष्ट हैं। फकीर चन्द **बनाम** रामरतन भनौट (ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 921) वाले मामले में न्या० अलागिरिस्वामी ने न्यायालय की ओर से निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया था कि खण्ड (ट) और खण्ड (ग) में उल्लिखित बेदखली के आधार परस्पर भिन्न हैं और यह तथ्य मात्र, कि मकान-मालिक खण्ड (ग) उल्लिखित दुरुपयोग के आधार पर बेदखली का दावा करने से विबंधित कर दिया गया था (क्योंकि उसने तथाकथित दुरुपयोग के प्रति अपनी सहमति दे दी थी), मकान-मालिक को खण्ड (ट) में उल्लखित आधार पर बेदखली का दावा करने से विवर्जित नहीं करता था।

पुनश्च :—

परन्तु, मकान-मालिक अपने पिटीशन में उन सभी कानूनी आधारों का अवलम्ब लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता जो उसे बेदखली कराने का हकदार बनाते हैं। मेरी राय में, यदि किसी मकान-मालिक को कानून द्वारा प्रदत्त आधारों पर बेदखली कराने का अधिकार है तो वह अपने अधिकार का दावा उनमें से किसी भी आधार पर कराने के लिए स्वतन्त्र है तथा वह एक ही पिटीशन में सभी आधारों का अवलम्ब लेने के लिए बाध्य नहीं है और न ही वह किसी परवर्ती पिटीशन में बेदखली का दावा करने अथवा उसे उपलभ्य आधारों का अवलम्ब लेने से विवर्जित किया जा सकता है बशर्ते कि वह सम्बन्धित आधार के अनिवार्य तत्वों (अवयवों) का समाधान करता हो, उदाहरणार्थ, जब कोई मकान-मालिक किराए के असंदाय के आधार पर बेदखली का दावा करता है, तब सम्भव है कि उसे शिकमी किराएदारी का पता ही न हो और यदि उसके बारे में बाद में पता चलता है तो वह शिकमी किराएदारी, जिसे वह इस तथ्य के निरपेक्ष साबित कर सकता है कि वह कब हुई थी, के आधार पर बेदखली का दावा करने से विवर्जित नहीं किया जा सकता।"

उपर्युक्त मत से यह निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि आबद्धकर और प्रेरणात्मक, दोनों प्रकार की, नजीरों में यह मत व्यक्त किया गया है कि किराया विधान किराए पर दिए गए परिसरों से बेदखली के अनुतोष के लिए **सुभिन्न** और पृथक् वाद हेतुकों की व्यवस्था कर सकता है।

9-ख. इस मामले की परीक्षा एक दूसरे पहलू से भी की जाने योग्य है। **मो० खलील खां बनाम महबूब अली मियां**[1] वाले मामले में वाद हेतुक का स्वरूप प्रामाणिक रूप से निश्चित करते हुए अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित अभिनिर्धारण किया गया है :—

> "अत: जिन मामलों की चर्चा अब तक की गई है उनमें अधिकथित सिद्धांतों का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है :—
>
> (1) तथा (2) ×× ×× ××
>
> (3) यदि दो दावों का समर्थनकारी साक्ष्य परस्पर भिन्न हो तो वाद हेतुक भी भिन्न होते हैं (ब्रुसडेन बनाम हम्फ्री (1884) 14 क्वी० बें० डि० 141)"

10. इस कसौटी को लागू करने पर यह बात स्वयं स्पष्ट प्रतीत होती है कि धारा 13 की उपधारा (2)(i) के अधीन किराएदार द्वारा किराए के असंदाय के आधार पर बेदखली के दावे का समर्थनकारी साक्ष्य इस साक्ष्य से एकदम सुभिन्न और असम्बद्ध है जो यह सिद्ध करने के लिए आवश्यक होता है कि मकान-मालिक को परिसर की अपने व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए सद्भावित आवश्यकता है। वास्तव में इसकी और व्याख्या करने में श्रम करना अनावश्यक है। चूंकि दोनों को सिद्ध करने वाला साक्ष्य स्पष्टत: सुभिन्न है अत: इस कसौटी पर भी दोनों वाद हेतुक भी स्पष्टत: सुभिन्न और पृथक् हैं। अत: वे किसी एकल वाद हेतुक के आधार मात्र नहीं कहे जा सकते।

11. इसके अतिरिक्त, धारा 13 की स्कीम, सम्बन्धित उपबंधों की विशिष्ट भाषा तथा कानून द्वारा प्रत्येक मामले में अनुदत्त अनुतोष की प्रकृति भी निदेशात्मक प्रतीत होती है। जैसा कि स्पष्ट है, किराए के असंदाय के आधार पर किराएदार की बेदखली का वाद हेतुक धारा 13 की उपधारा (2) में रखा गया है जबकि व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के आधार पर कब्जे की ईप्सा से सम्बन्धित वाद हेतुक धारा 13 की उपधारा (3) में। पूर्ववर्ती मामले में किराएदार की चूक यदि पूर्ण रूप से नहीं तो मुख्य रूप से वाद हेतुक को जन्म देती है जबकि परवर्ती मामले में किराएदार की ओर से चूक का कोई प्रश्न अंतर्वलित नहीं होता। परवर्ती मामले में मकान-मालिक की किराए पर दिए गए परिसर की अपने व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए सद्भावी आवश्यकता ही वह कारक होती है जो वाद हेतुक को जन्म देती है। यहां दोनों मामलों में प्रदत्त अनुतोष की प्रकृति में अन्तर की कुछ बातों का उल्लेख करना भी सुसंगत

---

[1] ए० आई० आर० 1949 प्रि० को० 78

है। किराए का असंदाय सिद्ध कर दिए जाने पर किराएदारी आत्यंतिक रूप से समपहृत हो जाती है जबकि व्यक्तिगत आवश्यकता सिद्ध कर दी जाने के मामले में परिसर के कब्जे का अधिकार सशर्त होता है। धारा 13 की उपधारा (4) में यह उपबंधित है कि जिन मामलों में मकान-मालिक परिसर का स्वयं अधिभोग नहीं करता, उनमें वह अपना अधिकार खो सकता है और परिसर का कब्जा फिर से किराएदार को दिया जा सकेगा। इस प्रकार ये सभी कारक इसी तथ्य के द्योतक हैं कि किराए के असंदाय के कारण बेदखली का वाद हेतुक तथा मकान मालिक कि व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए कब्जे के अधिकार का वाद हेतुक परस्पर भिन्न और पृथक् हैं।

12. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेल के साथ ऋजुता बरतने के लिए यह अनिवार्य है कि दिल्ली किराया विधान के अधीन विनिश्चित किए गए उन चारों मामलों की अवेक्षा की जाए जिनका अवलम्ब लिया गया था। **मनमोहन लाल** बनाम **बी० डी० गुप्ता**[1] वाले मामले में मकान-मालिक ने बेदखली का वाद प्रारम्भ में दिल्ली-अजमेर-मारवाड़ किराया नियंत्रण अधिनियम, 1947 की धारा 9 के अधीन संस्थित किया था और बाद में उसने यह ईप्सा की थी कि किराएदार 1952 के अधिनियम की धारा 13(1)(ट) के अधीन बेदखल किया जाए। न्यायपीठ ने यह अधिनिर्धारित किया था कि किराएदार की बेदखली का कारण तथ्यों के तद्रूप समुच्चय (सेट) पर आधारित था, अर्थात् आवासिक परिसर का उपयोग कारबार के प्रयोजनों के लिए किया जा रहा था अतः दूसरा वाद सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के चतुर्थ स्पष्टीकरण द्वारा वर्जित था। यह भी निष्कर्ष निकाला गया था कि बाद वाली बात, किराएदार पर नोटिस तामील करने जैसे किसी औपचारिक कार्य को करने में मकान-मालिक की ओर से लोप जैसी बारीकी मात्र के आधार पर, उठाने की ईप्सा की गई थी, जिसे उसने पूर्ण रूप से स्वयं अपनी इच्छा से किया था। उसमें बेदखली के सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुकों के उत्पन्न होने का कोई प्रश्न नहीं था और परिणामतः उसे परोक्ष रूप से न्यायनिर्णीत भी नहीं करना था। उसमें सामान्य आधार यही प्रतीत होता था कि साबित तथ्यों की बाबत सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के उपबंध लागू होते थे अथवा नहीं और मुख्य प्रश्न उसके चतुर्थ स्पष्टीकरण की प्रयोज्यता से संबंधित था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मामला स्पष्ट रूप से प्रभेदनीय है और प्रत्यर्थियों के लिए इसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

---

[1] ए० आई० आर० 1964, पंजाब 408.

13. **रामदेव सिंह** बनाम **रायल स्टुडियोज**[1] वाले मामले में, जिसमें एकल न्यायाधीश ने निर्णय दिया था, दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 के अधीन दो आवेदनों को तथ्यों के वैसे ही समुच्चय (सेट) पर, जैसे किराएदार ने मकान-मालिक की सहमति के बिना परिसर को या तो शिकमी किराएदारी पर दे दिया है या समनुदेशित कर दिया है या उसके कब्जे से अन्यथा विलग हो गया है, आधारित करने की ईप्सा को गई थी। उसमें किराएदार की बेदखली के पृथक् वाद हेतुकों के होने का कोई भी प्रश्न न तो उठा था और न ही वस्तुतः विनिश्चित किया गया था। वह मामला प्रकटतः इस निश्चित आधार वाक्य के आधार पर अग्रसर हुआ था कि धारा 11 का चतुर्थ स्पष्टीकरण लागू होता था और उसे लागू करने पर उलट गया था। वास्तव में जो विशिष्ट मुद्दा हमारे समक्ष है उसकी बाबत न्या० वी० एस० देशपांडे ने दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम की धारा 14(1) के संबंध में निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की थी :—

> “इनमें से प्रत्येक आधार, जहां तक वह एक पृथक् वाद हेतुक का गठन करता है, एक दूसरे से मुक्त कहा जा सकता है। सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 2, नियम 2(1) केवल यह अपेक्षा करता है कि वादी वाद में उस पूरे दावे को सम्मिलित करेगा जिसे वह किसी वाद हेतुक के संबंध में करने का हकदार है। अतः आदेश 2, नियम 2 मकान-मालिक से यह अपेक्षा करता प्रतीत नहीं होता कि वह बेदखली का पिटीशन फाइल करने की तारीख को धारा 14(1) के विभिन्न परन्तुकों के अधीन उसे उपलभ्य सभी आधारों का अभिवचन बेदखली के उसी पिटीशन में करें।”

उपर्युक्त मताभिव्यक्ति पिटीशनर को उसके द्वारा अपनाई गई स्थिति से हटाने के बजाए वास्तव में उसकी सहायता ही करती है। **राजकिशन जैन** बनाम **मास्टर होशियार सिंह**[2] वाले मामले में उन्हीं विद्वान् न्यायाधीश ने दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1958 के अधीन कार्यवाहियों पर पूर्व न्याय के सिद्धांत की प्रयोज्यता के संबंध में रिपोर्ट के पैरा 7 में सामान्य मताभिव्यक्तियां मात्र की हैं। **भीमसेन** बनाम **राजदेवी**[3] वाले मामले में भी, जिसमें एकल न्यायाधीश ने निर्णय दिया था, पृथक् और सुभिन्न वाद हेतुकों की बाबत न तो कोई प्रश्न उठा था और न ही न्यायनिर्णीत किया गया था। वास्तव में

---

[1] ए० आई० आर० 1972 दिल्ली 150.

[2] 1972 रें० कें० जं० 876 : (ए० आई० आर० 1971 दिल्ली 213).

[3] 1973 रें० कें० जं० 785 (दिल्ली).

यह प्रतीत होगा कि प्रकटतः तथ्यों के उसी समुच्चय (सेट) के आधार पर बेदखली के दूसरे आवेदन को पोषणीय बनाने की ईप्सा की गई थी। इस प्रकार यह मामला भी प्रभेदनीय है।

14. अंत में, प्रत्यर्थी की ओर से किया गया यह निवेदन ध्यान देने योग्य है कि एक के बाद एक आवेदन करना किराएदार को तंग करने की कोटि में आएगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधि कार्यवाहियों के बाहुल्य के पक्ष में नहीं है। तथापि, यह सुस्थापित है कि यदि अनेक सुभिन्न और पृथक् वाद हेतुक हों तो वादी पर ऐसी कोई विधिक बाध्यता नहीं है कि वह उन्हें किसी एकल कार्रवाई में संयोजित करे, हां, यदि वह चाहे तो उसे ऐसा करने की अनुमति दी जा सकेगी। इस प्रकार यह प्रतीत होगा कि मकान-मालिक द्वारा तंग किए जाने की बात किंचित् निराधार कल्पना है। एक के बाद एक आवेदन करना मकान-मालिक के लिए भी यदि अधिक नहीं तो उतना ही बोझिल है जितना कि शायद किसी ऐसे किराएदार के लिए जो प्रतिरक्षा के समय निश्चित रूप से परिसर पर काबिज रहता है। जैसा कि श्री सरीन ने इंगित किया है, इस मामले में औचित्य की बात अधिक विवादग्रस्त है और यदि क्रमिक समवर्ती आवेदन अस्तित्वशील हों तो वे या तो समेकित किए जा सकते हैं या उनमें से किसी अथवा किन्हीं को रोका जा सकता है। अतः किराएदार को होने वाली विशेष तंगी की बात में कोई गुणता नहीं है और यदि कोई है भी तो वह मुकदमा लड़ने वाले दोनों पक्षकारों को है।

15. अन्तिम रूप से निष्कर्ष निकालने के लिए अधिनियम की धारा 13 की व्यापकतर स्कीम, सम्बन्धित उपबन्ध की विनिर्दिष्ट भाषा, सिद्धांत और पूर्व निर्णय के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि मकान-मालिक की परिसर की व्यक्तिगत उपयोग और अधिभोग के लिए आवश्यकता पर आधारित वाद हेतुक किराएदार द्वारा किराए के असंदाय पर आधारित वाद हेतुक से सुभिन्न और पृथक् है। अतः प्रारम्भ में उत्पन्न प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया जाता है।

16. यथापूर्वोक्त अभिनिर्धारण कर दिए जाने के बाद श्री डी० वी० सहगल ने अपनी असीम ऋजुता के साथ यह स्वीकार किया है कि यदि वाद हेतुक पृथक् और सुभिन्न है तो "सकता था" और "चाहिए था" के (सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के चतुर्थ स्पष्टीकरण में यथापरिकल्पित) नियम के लागू होने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होगा और परिणामतः हमारे समक्ष कार्यवाहियों के प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्धांत द्वारा वर्जित किए जाने से संबंधित कोई विवाद्यक न्यायनिर्णयन के लिए नहीं है।

17. तथापि, मुझे पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल के प्रति ऋजुता बरतते हुए यह अवेक्षा करनी चाहिए कि उन्होंने अपने इस अनुकल्पी कथन को जोरदार शब्दों में व्यक्त किया है कि अधिनियम की धारा 14 का उपबंध ईस्ट पंजाब रेंट रेस्ट्रिक्शन ऐक्ट, 1949 के अधीन कार्यवाहियों पर व्यापक-सीमा वाले प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्वांत को कठोरतापूर्वक परिसीमित करता है। तथाति, पूर्वोक्त निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न अवधारण के लिए उत्पन्न नहीं होता और इसलिए मैं इसकी बाबत कोई निर्णय नहीं दूंगा।

18. अब पूर्वोक्त विधिक निष्कर्ष के परिप्रेक्ष्य में इस मामले के गुणागुण पर ध्यान देने के बाद आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि विवाद्यक सं० 2 की बाबत अपील न्यायालय के निष्कर्ष उलट दिए जाने चाहिए और यह अभिनिर्धारित करते समय कि आवेदक का दावा किसी भी रूप में प्रलक्षित पूर्वन्याय के सिद्वांत द्वारा वर्जित नहीं था, विचारण न्यायालय के निष्कर्षों की अभिपुष्टि की जानी चाहिए।

19. जैसा कि पहले अवेक्षित किया जा चुका है, अपील न्यायालय ने उसे ध्यान में रखते हुए जो कुछ उसने विवाद्यक सं० 2 के संबंध में अभिनिर्धारित किया था, विवाद्यक सं० 1 के संबंध में कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकाला था। अतः हमने तथाकथित विवाद्यक के संबंध में प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल की सुनवाई की थी। उसके संबंध में विचारण-न्यायालय के निष्कर्ष के प्रति कोई सार्थक आक्षेप नहीं किया गया था। विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित विस्तृत कारणों से हम उसकी अभिपुष्टि पिटीशनर-मकान-मालिक के पक्ष में करते हैं। एक आवश्यक परिणाम के रूप में यह सिविल पुनरीक्षण सफल होता है तथा अपील प्राधिकारी का आदेश अपास्त तथा किराया नियंत्रक का आदेश प्रत्यावर्तित किया जाता है। हम यह देखते हुए कि अंतवलित प्रश्न किंचित नाजुक है यह आदेश देते हैं कि पक्षकार अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करेंगे।

20. इस निर्णय से विलग होने से पूर्व हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम न्यायमित्र की हैसियत से हाजिर होने वाले सर्वश्री एम० एल० सरीन और डी० वी० सहगल द्वारा की गई कौशल और पांडित्यपूर्ण सहायता की भूरि-भूरि प्रशंसा करें।

न्या० प्रेम चन्द जैन :

मैं सहमत हूं।

न्या० एस० पी० गोयल :

मैं भी सहमत हूं।

पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—152

श्रीमती बिमला देवी बनाम पैप्सू रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन पटियाला

(Smt Bimla Devi *Vs.* Pepsu Road Transport Corporation Patiala)

तारीख 2 सितम्बर, 1983

[न्या० एस० एस० सोढी]

अपकृत्य विधि—उपेक्षा—मोटर यान में अंतर्निहित यांत्रिक त्रुटि के कारण दुर्घटना—इसे 'दैवी कृत्य' या 'अनिवार्य दुर्घटना' बताकर प्रत्यर्थी प्रतिकर से उन्मुक्त नहीं हो सकता।

अपकृत्य विधि—उपेक्षा—मोटर यान में यांत्रिक त्रुटि के कारण दुर्घटना—ऐसी त्रुटि के बारे में 'अनिवार्य दुर्घटना' या 'दैवी कृत्य' की प्रतिरक्षा—जब प्रतिरक्षा का ऐसा अभिवाक् किया जाता है तो प्रत्यर्थी को यह सिद्ध करना चाहिए कि उक्त अंतर्निहित यांत्रिक त्रुटि का पता सम्यक् सावधानी और सतर्कता के बावजूद भी नहीं लग सका था।

प्रत्यर्थी कारपोरेशन की बस अचानक नियंत्रण से बाहर हो गई और सड़क से अलग एक वृक्ष से जा टकराई। इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप यात्रा करने वाले कुछ यात्रियों को क्षति पहुंची, जिनमें से एक व्यक्ति सुरेन्द्रनाथ था जो कुछ समय पश्चात् क्षति के कारण मर गया था।

प्रतिकर के लिए दावा, मृतक की विधवा श्रीमती बिमला देवी और उसके बच्चों के द्वारा पेश किया गया। इस दावे को इस आधार पर नकार दिया गया कि बस ड्राइवर पर दुर्घटना का दोष नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह दुर्घटना दाईं तरफ के बस के मुख्य पल्ले के टूटने के कारण हुई थी और ऐसा कहा गया है कि यह एक अंतर्निहित त्रुटि थी।

दावेदारों ने उन कुछ व्यक्तियों को शामिल करते हुए, जिन्होंने यह दावा किया कि वे उस समय बस में यात्रा कर रहे थे जबकि दुर्घटना हुई, कुछ साक्षियों की परीक्षा यह सिद्ध करने के लिए की थी कि बस यात्रियों के विरोध के बावजूद भी बस बड़ी तेज रफ्तार से चलाई जा रही थी और इस प्रकार से दुर्घटना बस चालक द्वारा बेतिहाशा और उपेक्षापूर्ण से बस चलाए जाने के कारण हुई थी। दूसरी ओर, बस के ड्राइवर और संवाहक ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि बस बहुत धीमी रफ्तार से चलाई जा रही थी और यह दुर्घटना बस के मुख्य पल्ले के टूट जाने के कारण हुई थी। उन दोनों ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व बस की जांच लुधियाना वर्कशाप में की

गई थी। अतः प्रत्यर्थी का यह सामान्य पक्षकथन है कि दुर्घटना बस के मुख्य पल्ले के टूट जाने के कारण हुए थी। तथापि, प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या यह बात ड्राइवर को दोष से मुक्त कर देती है ? क्या यांत्रिक त्रुटि को 'दैवी कृत्य' या 'अनिवार्य दुर्घटना' कहा जा सकता है।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

प्रस्तुत दुर्घटना जैसी घटना में जहां कि बस अचानक सड़क के दूसरी ओर जाती है और एक वृक्ष से टकराती है, 'प्रत्यक्ष किम् प्रमाणम्' की उक्ति लागू होती है। (पैरा 6)

इस संबंध में विधि सुस्थापित है कि प्रत्येक ऐसी यांत्रिक त्रुटि अथवा असफलता, जो दुर्घटना करती है या जिसके परिणामस्वरूप दुर्घटना होती है "दैवी कृत्य" नहीं मानी जा सकती अथवा उसे "अनिवार्य दुर्घटना" नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः विधि इसके विपरीत है। जब कभी ऐसी प्रतिरक्षा की जाती है तो तथ्य के रूप में यह सिद्ध करना होता है कि युक्तियुक्त सावधानी के बावजूद भी उस त्रुटि का पता नहीं लगाया जा सका। (पैरा 5)

दुर्घटना को अनिवार्य साबित करने का भार प्रतिवादियों पर है। उन्हें या तो यह देखना चाहिए कि घटना का कारण क्या था जिसके परिणामस्वरूप दुर्घटना अनिवार्य हो गई थी। वे ऐसे सभी संभव कारणों को भी दर्शा सकते हैं जिनमें से एक या दूसरे कारण से दुर्घटना हुई तथा उन्हें इन संभव कारणों में से प्रत्येक के बारे में यह और साबित करना चाहिए कि उस परिणाम से बचा नहीं जा सकता था। (पैरा 8)

ऐसे मामलों, में जहां कि अंतर्निहित त्रुटि का प्रतिरक्षा के रूप में अभिवाक् किया गया हो, यह दर्शित करना आवश्यक था कि ऐसी अंतर्निहित त्रुटि का युक्तियुक्त सावधानी के कारण भी पता नहीं लगाया जा सकता था। (पैरा 10)

जब प्रतिरक्षा के रूप में यांत्रिक असफलता (मकैनिकल फेल्योर) का अभिवाक् किया जाता है तो सबूत का भार चालक पर होता है और स्वामी को न्यायालय का यह समाधान करना होता है कि ऐसी यांत्रिक असफलता उनकी ओर से ऐसी सम्यक् सावधानी और सतर्कता के बावजूद हो गई थी जैसी उन्होंने वाहन को सड़क पर चलने योग्य स्थिति में बनाए रखने के लिए समय-समय पर बरती थी। दूसरे शब्दों में साक्ष्य द्वारा यह साबित किया जाना चाहिए कि उन्होंने वाहन को सड़क पर चलने योग्य बनाए रखने में क्या सावधानी बरती थी, वाहन कितना पुराना था, वाहन कितनी मील चल चुका

था, कितने समय के बाद उसकी जांच की जाती थी और अंतिम किस तारीख को वह वाहन सही और समुचित पाया गया था और किसने उसकी ऐसी जांच की थी। (पैरा 11)

		पैरा
[1960]	1960 पी० एल० आर० 314 : परमेश्वरी दास और अन्य **बनाम** श्रीमती सोमन देवी और एक अन्य (Parmeshwari Das and others *Vs.* Smt. Soman Devi and another);	7
[1975]	ए० आई० आर० मद्रास 157 : लक्ष्मी अम्माल और अन्य **बनाम** तमिलनाडु राज्य (Lakshmiammal and others *Vs.* State of Tamil Nadu)	10

अवलंब लिया गया।

		पैरा
[1982]	ए० सी० जे० 103 : मरयम जूसाब और अन्य **बनाम** हिम्मत लाल रत्ती लाल और अन्य (Mariyam Jusab and others *Vs.* Hematlal Ratilal and and others);	11
[19.9]	1979 पी० एल० आर० 1 : लक्ष्मण सिंह **बनाम** गुरुमीत कौर (Lachhman Singh *Vs.* Gurmit Kaur);	14
[1969]	3 आल इंग्लैण्ड लॉ रिपोर्ट्स 156(154) : हैण्डरसन **बनाम** हेनरी ई० जनकिन्स एण्ड सन्स (Henderson *Vs.* Henry E. Jenkins and Sons)	10

निर्दिष्ट किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1977 **के आदेश सं०** 68 **के विरुद्ध प्रथम अपील।**

वरिष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश तथा मोटर दुर्घटना दावा अधिनियम, कपूरथला के 15 सितम्बर, 1976 के आदेश के विरुद्ध प्रथम अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री एल० एम० सूरी

प्रत्यर्थी की ओर से ... —

न्या० एस० एस० सोढी :

क्या मोटर बस का मुख्य पल्ला (मेन लीफ आफ दि बस) टूट जाना

जिसके कारण बस नियंत्रण से बाहर हो गई थी और एक वृक्ष से जा टकराई थी, ऐसी "अनिवार्य दुर्घटना" अथवा "दैवी कृत्य" है जो चालक तथा बस के स्वामी को बस में यात्रा करने वाले व्यक्तियों को कारित क्षतियों के दायित्व से उन्मुक्त कर देता है ? इस अपील में यह विवाद उठाया गया है ।

2. पैप्सू रोड ट्रांसपोर्ट कारपोरेशन की बस नं० पी० यू० पी०-2956 9 सितम्बर, 1973 को हटवारा से लगभग सात मील दूर ग्राम जगतपुर पहुंची (जब यह बस होशियारपुर जा रही थी) तो अचानक नियंत्रण से बाहर हो गई और सड़क के अलग एक वृक्ष से जा टकराई । इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप यात्रा करने वाले कुछ यात्रियों को क्षति पहुंची, जिनमें से एक व्यक्ति सुरेन्द्रनाथ था जो कुछ समय पश्चात् क्षति के कारण मर गया था ।

3. प्रतिकर के लिए दावा, मृतक सुरेन्द्र नाथ की विधवा श्रीमती बिमला देवी और उसके बच्चों के द्वारा पेश किया गया । इस दावे को इस आधार पर नकार दिया गया कि बस ड्राइवर पर दुर्घटना का दोष नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह दुर्घटना दाईं तरफ के बस के मुख्य पल्ले के टूटने के कारण हुई थी और ऐसा कहा गया है कि यह एक अन्तर्निहित त्रुटि थी ।

4. दावेदारों ने उन कुछ व्यक्तियों को शामिल करते हुए, जिन्होंने यह दावा किया कि वे उस समय बस में यात्रा कर रहे थे जबकि दुर्घटना हुई, कुछ साक्षियों की परीक्षा यह सिद्ध करने के लिए थी कि बस यात्रियों के विरोध के बावजूद भी बस बड़ी तेज रफ्तार से चलाई जा रही थी और इस प्रकार से दुर्घटना बस चालक द्वारा बेतिहासा और उपेक्षापूर्ण से बस चलाए जाने के कारण हुई थी । दूसरी ओर बस के ड्राइवर, प्रत्यर्थी साक्षी सं० 2, श्री हरीसिंह और संवाहक अर्थात् प्रत्यर्थी साक्षी सं० 1, मोहिन्द्र सिंह ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि बस बहुत धीमी रफ्तार से चलाई जा रही थी अर्थात् 30 से 40 किलो मीटर प्रति घंटा की रफ्तार से और यह दुर्घटना बस के मुख्य पल्ले के टूट जाने के कारण हुई थी । उन दोनों ने यह अभिसाक्ष्य दिया कि यात्रा प्रारंभ करने से पूर्व बस की जांच लुधियाना वर्कशाप में की गई थी । पल्ले के टूट जाने का संबंध है, उन अधिकतर साक्षियों ने इस बात को भी स्वीकार कर लिया था, जो दावेदारों की ओर से हाजिर हुए थे । अतः पक्षकार का यह सामान्य पक्षकथन है कि दुर्घटना बस के मुख्य पल्ले के टूट जाने के कारण हुई थी । तथापि, प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या यह बात ड्राइवर को दोष से मुक्त कर देती है ?

5. इस संबंध में विधि सुस्थापित है कि प्रत्येक ऐसी अयांत्रिकी त्रुटि

अथवा असफलता, जो दुर्घटना कारित करती है या जिसके परिणामस्वरूप दुर्घटना होती है "दैवी कृत्य" नहीं मानी जा सकती अथवा उसे "अनिवार्य दुर्घटना" नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: विधि इसके विपरीत है। जब कभी ऐसी प्रतिरक्षा की जाती है तो तथ्य के रूप में यह सिद्ध करना होता है कि युक्तियुक्त सावधानी के बावजूद भी उस त्रुटि का पता नहीं लगाया जा सकता।

6. प्रस्तुत मामले जैसी घटना में जहां कि बस अचानक सड़क के दूसरी ओर जाती है और एक वृक्ष से टकराती है, "प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्" की उक्ति लागू होती है। इस उक्ति से संबंधित विधिक स्थिति 'हेल्सबरी लाज आफ इंग्लैण्ड' (द्वितीय संस्करण जिल्द 23 पृष्ठ 671 और 672) में संक्षेप में निम्नलिखित रूप में दी गई है :—

> "इस सामान्य नियम का कि अभिकथित उपेक्षा से संबंधित सबूत का भार प्रथम दशा में वादी पर होता है, एक अपवाद उस दशा में होता है जहां कि पहले से ही सिद्ध किए गए तथ्य ऐसे हों कि उनसे तुरंत उद्भूत होने वाला उचित और नैसर्गिक निष्कर्ष यह है कि परिवादित क्षति प्रतिवादी की उपेक्षा के कारण कारित हुई थी अथवा जहां उपेक्षा से आरोपित घटना प्रतिवादी की उपेक्षा की "कहानी स्वयं कहती है" तो ऐसी कहानी अपने आप में स्पष्ट और असंदिग्ध होती है। ऐसे मामले को "प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्" का सिद्धांत लागू होता है। जहां यह सिद्धांत लागू होता है वहां प्रतिवादी के विरुद्ध व्यतिक्रम (उपेक्षा) का पूर्वानुमान लगाया जाता है और यदि प्रतिवादी प्रतिरक्षा में सफल होना चाहता है तो इस पूर्वानुमान का खण्डन प्रतिकूल साक्ष्य द्वारा किया जाना होता है, अर्थात् प्रतिवादी पर यह दर्शित करने का भार होता है कि जिस कार्य के बारे में शिकायत की गई है वह कार्य (घटना) प्रतिवादी की उपेक्षा के बिना ही युक्तियुक्त रूप से हो सकता है। अतः जहां प्रतिवादी पर सावधानी बरतने का कर्त्तव्य है और वे परिस्थितियां, जिनमें प्रतिवादित क्षति हुई है, ऐसी हैं कि अपेक्षित सावधानी बरतने के साथ सामान्य क्रम में हुई घटनाओं में कोई जोखिम उत्पन्न नहीं होता तो सर्वप्रथम सबूत का भार प्रतिवादी पर अपने दायित्व को नासाबित करने का होता है। ऐसे मामले में यदि क्षति कारित करने वाली वस्तु और संबंधित परिस्थितियां सब के सब पूर्णतः प्रतिवादी के नियंत्रण में हैं तो अनुमान यह लगाया जाता है कि प्रतिवादी घटना के लिए दायी है और यह

अनुमान उस दशा में और दृढ़ हो जाता है, यदि क्षतिकारक वस्तु निर्जीव है।"

7. अंतर्निहित त्रुटि की प्रतिरक्षा **परमेश्वरी दास और अन्य** बनाम **श्रीमती सोमन देवी और अन्य**[1] में न्या० टेकचन्द के समक्ष पेश किया गया था जिसमें ऐसे मामलों में सुसंगत विधि पर विचार करने का अवसर उद्भूत हुआ था। यह ऐसा मामला था जहां कि स्टेशन वैगन की "टाईरौड" ढीली हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप वह 'स्टेशन वैगन' एक खड्ड में जा गिरी थी। यह मत व्यक्त किया गया था कि : "वाहन के स्वामी पर ऐसे कदम उठाने का कर्त्तव्य अधिरोपित हो जाता है जैसा एक प्रज्ञावान स्वामी अपने वाहन को मरम्मत की सही स्थिति में रखने के लिए उठेगा। यदि वह ऐसी सावधानी रखनें में असफल हो जाता है और अपने वाहन को इतना त्रुटिपूर्ण बनने देता है, जैसा कि मोटर कार का स्टेयरिंग इतना पुराना हो जाता है कि चालक कार को नियंत्रित नहीं कर सकता तो यह साक्ष्य उसकी उपेक्षा का साक्ष्य होगा।"

8. इसके अतिरिक्त, उन्होंने यह और मत व्यक्त किया कि "दुर्घटना को अनिवार्य साबित करने का भार प्रतिवादियों पर है।" उन्हें या तो यह देखना चाहिए कि घटना का कारण क्या था जिसके परिणामस्वरूप दुर्घटना अनिवार्य हो गई थी। वे ऐसे सभी संभव कारणों को भी दर्शा सकते हैं जिनमें से एक या दूसरे कारण से दुर्घटना हुई तथा उन्हें इन संभव कारणों में से प्रत्येक के बारे में यह और साबित करना चाहिए कि उस परिणाम से बचा नहीं जा सकता था।

9. मामले के इस पहलू पर विचार करने पर यह कहा गया था कि प्रतिवादियों को यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता नहीं है कि वह वाहन, जिसमें मृतक यात्रा कर रहा था सभी प्रयोजनों के लिए सभी प्रकार से पूर्ण था और ऐसी सभी त्रुटियों से रहित था जिनसे दुर्घटना हो सकती थी, किन्तु यात्रियों के प्रति वाहन के स्वामी के कर्त्तव्य की कोटि बड़ी ऊंची होती है, तथापि, यदि त्रुटि इस प्रकार की थी कि किसी प्रकार के कौशल, सावधानी या अनुमान से भी उस त्रुटि का पता नहीं लग सकता था तो प्रतिवादी आरोप से मुक्त होंगे।

10. इसके बाद **लक्ष्मी अम्माल और अन्य** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[2] में मद्रास उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ का एक निर्णय उल्लेखनीय है।

---

[1] 1960 पी० एल० आर० 314.

[2] ए० आई० आर० मद्रास 157.

यहां एक बस अपने रास्ते से भटक गई, पैदलपार-पथ के उपर से कूद गई और एक साइकिल चालक को टक्कर मार दी। अगले बाएं पहिए के सिलैण्डर में से तेल निकलने के कारण अचानक ब्रेक खराब हो जाने का इस दुर्घटना का कारण बताया गया था। यह अभिनिर्धारत किया गया था कि ऐसे मामले को "प्रत्यक्षम् किं प्रमाणम्" का सिद्वांत लागू होता है तथा यह और कि अचानक ब्रेक खराब हो जाना स्वयं में यह अभिनिर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि वह दुर्घटना उपेक्षा के कारण नहीं हुई थी। ऐसे मामलों में जहां कि अन्तर्निहित त्रुटि का प्रतिरक्षा के रूप में अभिवाक् किया गया था, यह दर्शित करना आवश्यक था कि ऐसी अन्तर्निहित त्रुटि का युक्तियुक्त सावधानी के कारण भी पता नहीं लगाया जा सकता था। इस बारे में **हैण्डरसन** बनाम **हेनरी ई० जंकिन्स एण्ड सन्स**[1] में लार्ड डानोवेन के मतों को अनुमोदन सहित उद्धृत किया गया था :—

> "प्रत्यर्थियों द्वारा अन्तर्निहित त्रुटि के अभिवाक् को उन्हीं के द्वारा सिद्ध किया जाता था; यह दर्शित करना उन्हीं का कर्त्तव्य था कि उन्होंने सभी युक्तियुक्त सावधानी बरत ली थी; और यह कि इसके बावजूद भी त्रुटि छिपी रह गई थी।"

11. प्रश्न अब यह उठता है कि "अनिवार्य दुर्घटना", "दैवी कृत्य" अथवा अन्तर्निहित त्रुटि की प्रतिरक्षा को, जिनका सबका वस्तुत: एक ही अर्थ है, सिद्ध करने के लिए क्या साबित किया जाना अपेक्षित है। यहां **मरयम जूसाब और अन्य** बनाम **हिम्मत लाल रत्ती लाल और अन्य**[2] के प्रति निर्देश करना आवश्यक होगा, जहां कि इस मामले पर विचार करते हुए यह अधिकथित किया गया था कि जब प्रतिरक्षा के रूप में यांत्रिक असफलता (मकैनिकल फेल्योर) का अभिवाक् किया जाता है तो सबूत का भार चालक पर होता है और स्वामी को न्यायालय का यह समाधान करना होता है कि ऐसी यांत्रिक असफलता उनकी ओर से ऐसी सम्यक् सावधानी और सतर्कता के बावजूद हो गई थी जैसी उन्होंने वाहन को सड़क पर चलने योग्य स्थिति में बनाये रखने के लिए समय-समय पर बरती थी। दूसरे शब्दों में, साक्ष्य द्वारा यह साबित किया जाना चाहिएं कि उन्होंने वाहन को सड़क पर चलने योग्य बनाये रखने में क्या सावधानी बरती थी, वाहन कितना पुराना था, वाहन कितनी मील चल चुका था, कितने समय के बाद उसकी जांच की जाती थी

---

[1] (1969) 3 ग्राल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 756 (764).

[2] 1982 ए० सी० जे० 103.

और अन्तिम किस तारीख को वह वाहन सही और समुचित पाया गया था और किसने उसकी ऐसी जांच की थी। यह और मत व्यक्त किया गया था कि इस प्रकार चालक का मात्र अपुष्ट अभिसाक्ष्य पर्याप्त नहीं हो सकता। यहां यह उल्लेखनीय है कि यह ऐसा मामला था जहां कि दुर्घटना टैंकर की मुख्य स्प्रिंग टूट जाने के कारण हुई थी।

12. अतः चूंकि विधि ऐसी है जैसी कि ऊपर उल्लिखित की गई है, साक्ष्य के अभिलेख के प्रति निदेश किए जाने से इस निष्कर्ष के सिवाय कोई और निष्कर्ष नहीं निकलता कि उक्त साक्ष्य से अन्तर्निहित त्रुटि अथवा अनिवार्य दुर्घटना की ऐसी प्रतिरक्षा सिद्ध नहीं होती जो बस के स्वामियों और चालक को उनके दायित्व से मुक्त कर सके। इस बारे में एकमात्र साक्ष्य संवाहक और बस चालक का यह है कि बस की जांच यात्रा प्रारंभ करने से पूर्व लुधियाना के वर्कशाप में की गई थी। मामले के इस पहलू के बारे में और कोई सूचना या साक्ष्य नहीं है। अभिलेख में इतना भी नहीं है कि बस की जांच किसने की थी, उस व्यक्ति ने किस चीज की जांच की थी, वाहन कितना पुराना है, कितने समय बाद इसकी जांच की जाती रही है और जांच का प्रयोजन क्या था।

13. ऐसी परिस्थितियों में, जो वर्तमान मामले से उद्भूत होती हैं, यह अभिनिर्धारित करने के सिवाय और कोई चारा नहीं कि यह दुर्घटना बस के चालक तथा इसके स्वामी की उपेक्षा के कारण ही हुई थी। परिणामतः अधिकरण का प्रतिकूल निर्णय एतद्द्वारा अपास्त किया जाता है।

14. अगले जिस प्रश्न पर विचार किया जाना है वह दावेदारों को प्रतिकर के रूप में संदेय रकम के बारे में है। इस बारे में यहां यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि मृत सुरेन्द्र नाथ की आयु मृत्यु के समय 59 वर्ष थी। वह हाल ही में चुंगी लिपिक के रूप में सेवा-निवृत्त हुआ था और यह कहा गया है कि वह जनरल मर्चेण्ट की एक दुकान चला रहा था। तथापि, यह बात उल्लेखनीय है कि उसकी विधवा श्रीमती बिमला देवी भी यह नहीं बता सकी कि वह दुकान कहां है। इससे इसका अर्थ यह है कि अगर वह जनरल मर्चेण्ट का कारबार कर रहा था तो वह यह कार्य किसी नियत स्थान से नहीं कर रहा था। तथापि, चाहे बात ऐसी ही क्यों न हो, तथ्य यह है कि मृतक अपने पीछे 46 वर्षीय विधवा श्रीमती बिमला देवी और पांच अविवाहित बच्चे छोड़ गया है जिनका पालन-पोषण स्वयं मृतक ही करता था। इस बारे में कोई सुझाव नहीं है कि मृतक की आजीविका का और कोई साधन था या यह कि केवल एक पुत्र को छोड़कर, जो कि जिला न्यायालय में चौकीदार

के अस्थाई पद पर कार्य कर रहा था, दावेदारों में से कोई भी दावेदार कार्य नहीं कर रहा था। ऐसे साक्ष्य के आधार पर निस्संदेह उस वित्तीय हानि का सूक्ष्मता से अनुमान लगाना कठिन है जो हानि मृतक की मृत्यु के कारण दावेदारों को हुई है। किन्तु परिस्थितियों को देखते हुए यह अनुमान लगाना उचित होगा कि अपने कारबार में मृतक लगभग 300 रुपये प्रति मास अर्जित कर रहा था। **लक्ष्मण सिंह** बनाम **गुरमीत कौर**[1] में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा यथा अधिकथित प्रतिकर की संगणना करने से संबंधित सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए इस मामले में 10 का अंक स्पष्ट रूप से समुचित गुणक होगा। दावेदारों की हानि 200 रुपये प्रतिमास की दर से मानने पर मृतक की मृत्यु के कारण हुई हानि के लिए प्रतिकर के रूप में 24 हजार रुपये की रकम के लिए उन्हें हकदार अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए और तद्नुसार यह राशि उनके लिए मंजूर की जाती है। इसके अतिरिक्त दावेदार इस आवेदन की तारीख से लेकर मंजूर किए गए प्रतिकर की रकम के संदाय की तारीख तक 12 प्रतिशत की दर से ब्याज के लिए भी हकदार होंगे। यह सारी रकम ब्याज सहित स्वयं मृतक की विधवा श्रीमती बिमला देवी को संदेय होगी तथा यह उसके बच्चों के भरण-पोषण और उनकी रक्षा के लिए ही होगी।

15. परिणामतः यह अपील खर्चे सहित स्वीकार की जाती है। न्यायालय फीस 500 रुपये है।

अपील मंजूर की गई।

शर्मा

नि० प० 1984 : पंजाब-हरियाणा—160

प्रीतम सिंह और अन्य बनाम सुरजीत सिंह और अन्य

(Pritam Singh and others *Vs.* Surjit Singh and others)

तारीख 2 नवम्बर, 1983

[न्या० राजेन्द्र नाथ मित्तल]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—आदेश 20, नियम 18 तथा धारा 54—सम्पत्ति के विभाजन के लिए या उनमें के अंश पर पृथक् कब्जे के लिए वाद में डिक्री—ऐसी कृषि भूमि की बाबत, जिस पर भूराजस्व संदेय है,

---

[1] 1979 पी० एल० आर० 1.

नि० प० 1984 : पटना—193

हरवंस सिंह बनाम वसिष्ठ कुमार और अन्य

(Haribans Singh *Vs.* Basist Kumar and others)

तारीख 17 फरवरी, 1984

[न्या० ललित मोहन शर्मा, न्या० एस० शमसुल हसन एवं
न्या० एस० बी० सान्याल]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 धारा 11 सहपठित आदेश 41, नियम 9—सामान्यतया पृथक् हक अपीलों में पारित डिक्रियों के विरुद्ध पृथक् अपीलें ही फाइल की जानी चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एकल द्वितीय अपील चलने योग्य नहीं है—ऐसा मान कर उसे खारिज किया जा सकता है। अपरंच, जहां केवल एक वाद है, पूर्व न्याय का प्रश्न ही उद्‌भूत नहीं होता है। ऐसा इस आधार पर है कि जहां एक ही विचारण, एक ही निष्कर्ष और एक ही विनिश्चय किया गया है, वहां दो अपीलों की आवश्यकता नहीं है, भले ही दो डिक्रियां तैयार की गई हों।

उच्च न्यायलय में फाइल की गई वर्तमान अपील में प्रश्न यह है कि क्या एकल द्वितीय अपील ऐसे सामान्य निर्णय के विरुद्ध चलने योग्य है, जिनके पश्चात् दो डिक्रियां पारित की जा चुकी हैं और जिनके द्वारा वादी का वाद समग्रत: खारिज कर दिया गया है।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

सामान्यतया, पृथक् हक अपीलों में पारित डिक्रियों के विरुद्ध पृथक् अपीलें ही फाइल की जानी चाहिए, किन्तु क्या इसका यह अर्थ हुआ कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए, एकल द्वितीय अपील चलने योग्य न होने के कारण खारिज की जा सकती है या खारिज कर दी जानी चाहिए। चूंकि पृथक्-पृथक् हक अपीलों में निचले अपील न्यायालय द्वारा विचार किए गए दोनों अनुतोषों के लिए एक ही वाद में प्रार्थना की गई थी, जिसके बारे में दोनों न्यायालयों द्वारा समान रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह विविधता के कारण अविधिमान्य नहीं था, अत: वाद के पूर्णत: डिक्रीत किए जाने के लिए वर्तमान द्वितीय अपील में वादियों की प्रार्थना विचारार्थ ग्रहण की जानी चाहिए और द्वितीय अपील समेकित अपील मानी जानी चाहिए। (पैरा 5)

जहां केवल एक वाद है, पूर्व न्याय का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता है। ऐसा इस आधार पर माना गया कि जहां एक ही विचारण, एक ही निष्कर्ष और एक ही विनिश्चय किया गया है, वहां दो अपीलों की आवश्यकता नहीं है, भले ही दो डिक्रियां तैयार की गई हों। (पैरा 6)

यह सिद्धान्त कि यदि अभिकथित अधिक्रमण 5 कड़ी (लिंक) से कम है, तो निश्चिततापूर्वक यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है कि अधिक्रमण किया गया है, सामान्य रूप से लागू किए जाने के लिए कोई अनम्य नियम नहीं है। अतः न्यायालयों का इस आधार पर वाद खारिज करना सही नहीं था। (पैरा 7)

उस स्थिति में दो अपीलों का फाइल किया जाना आवश्यक है, जब अन्य अपील में किए गए निष्कर्ष को उलटे बिना या अपास्त किए बिना, फाइल की गई अपील में मुख्य अनुतोष नहीं दिया जा सकता है, जिसके विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की गई है। (पैरा 12)

यह सच है कि एक ही वाद में दो प्रक्रमों के बीच भी पूर्व न्याय के सिद्धान्त लागू होते हैं। ऐसा केवल इस सीमा तक होता है कि जब न्यायालय, चाहे वह विचारण न्यायालय हो या उच्चतर न्यायालय, पूर्वतर प्रक्रम पर मामले का किसी विशेष रीति में विनिश्चय कर चुका हो, वह (न्यायालय) पक्षकारों को उसी कार्यवाही के पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर पुनः उसी मामले को उठाने के लिए अनुज्ञा नहीं देगा। एक ही वाद के विभिन्न प्रक्रमों को इस सिद्धान्त के लागू किए जाने के लिए, जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 तक ही सीमित नहीं है, अनेक बातों के ध्यान में रखे जाने की आवश्यकता है, जैसे कार्यवाहियों की प्रकृति, उस जांच की परिधि, जिसका निष्कर्ष निकाले जाने के लिए प्रक्रिया-विधि द्वारा उपबंध किया गया है, तथा ऐसे विनिश्चय से संबंधित विषयों पर किया गया विनिर्दिष्ट उपबंध आदि। (पैरा 13)

		पैरा
[1977]	[1977] 2 उम० नि० प० 658 = ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1645 : लोननकुट्टी **बनाम** थोम्मन (Lonankutty *Vs.* Thomman);	6
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 993 : अर्जुन सिंह **बनाम** मोहेन्दु कुमार (Arjun Singh *Vs.* Mohindu Kumar);	13

[1953] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 419 : नरहरि बनाम शंकर (Narhari *Vs.* Shankar) 6

का अवलम्ब लिया गया।

[1978] ए० आई० आर० 1978 पटना 1 : निरंजन मण्डल बनाम बिहार राज्य (Niranjan Mandal *Vs.* The State of Bihar); 7

[1962] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 338 : बद्री नारायण बनाम कामदेव प्रसाद (Badri Narain *Vs.* Kamdeo Prasad) 6

से प्रभेद बताया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1970 की सिविल अपील सं० 383.

सासाराम के अपर अधीनस्थ न्यायाधीश के तारीख 25 अप्रैल, 1970 के निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थियों की ओर से	...	सर्वश्री गोरख नाथ सिंह और शशि भूषण प्रसाद सिन्हा सं० 2
प्रत्यर्थियों की ओर से	...	सर्वश्री जनेश्वर सिंह, यू० एस० सिंह, एस० के० सिंह, ए० के० सिंह, दिलीप कुमार सिन्हा सं० 2 और गुरु शरण शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्या० ललित मोहन शर्मा ने दिया।

न्या० शर्मा :

जिस वाद से यह अपील उद्भूत हुई है, वह वादी-अपीलार्थी द्वारा (क) एस० पी० 347 के भागरूप, वादपत्र से संलग्न स्कैच मैप (नक्शा) में एबीसीडी और एसीईएफ अक्षरों द्वारा चिह्नित भूमि के भाग के कब्जे के वापस लिए जाने; (ख) जीए चआईजे के रूप में दर्शित, सार्वजनिक (लोक) भूमि एस० पी० 354 से अधिक्रमण हटाने; और (ग) स्कैच मैप में दर्शित 'डी' बिन्दु पर प्रतिवादी-प्रत्यर्थी द्वारा खोले गए द्वार (दरवाजे) के बन्द किए जाने के लिए, क्योंकि उससे वादी की गोपनीयता भंग होती थी, और व्यादेश के लिए फाइल किया गया था। प्रतिवादियों ने दावे का प्रत्याख्यान किया और वाद का विरोध किया।

2. विचारण न्यायालय ने वाद को, जहां तक उसका संबंध प्रार्थना (क) और (ख) से था, खारिज कर दिया किन्तु प्रार्थना (ग) मंजूर की।

3. वादी ने प्रार्थना (क) और (ख) में चाहे गए अनुतोष के लिए हक अपील सं० 42/65 फाइल की और प्रतिवादी ने भी एक अन्य अपील—टी० ए० सं० 43/65 फाइल की, जहां तक प्रार्थना (ग) का संबंध था। सासाराम के द्वितीय अपर उपन्यायाधीश द्वारा दोनों अपीलों की एक-साथ सुनवाई की गई, जिसने वादी की अपील सं० 42/65 खारिज कर दी और प्रतिवादी की अपील सं० 43/65 मंजूर की और इस प्रकार वाद सम्पूर्णत: खारिज कर दिया। उसके पश्चात् वादियों ने दोनों हक अपीलों में किए गए विनिश्चय को चुनौती देते हुए और वाद में पूर्ण डिक्री के लिए प्रार्थना करते हुए वर्तमान द्वितीय अपील फाइल की है। उन्होंने सामान्य निर्णय की प्रमाणित प्रति और दोनों अपीलों में दोनों डिक्रियों की प्रमाणित प्रतियां भी संलग्न कीं तथा पूर्ण न्यायालय फीस का संदाय भी किया, जो निचले अपील न्यायालय के दोनों विनिश्चयों के अपास्त किए जाने और सम्पूर्ण वाद के डिक्रीत किए जाने के लिए आवश्यक था। अपील के ज्ञापन के शिकायत वाले भाग में उन्होंने विनिर्दिष्ट रूप से यह वर्णित किया कि दोनों हक अपीलों में पारित की गई डिक्रियों को चुनौती दी जा रही है।

4. एकल द्वितीय अपील के, जिसमें विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश की दोनों डिक्रियों को चुनौती दी गई है, चलने योग्य होने के तथ्य को चुनौती दी गई, जब मामला एकल न्यायाधीश के रूप से मेरे समक्ष सुनवाई के लिए आरम्भ में रखा गया। मैंने यह निदेश किया कि अपील सुनवाई के लिए खण्ड न्यायपीठ के समक्ष रखी जाए। तदनुसार, वह सुनवाई के लिए न्या० एच० एल० अग्रवाल और सी० एस० एस० सिन्हा के समक्ष रखी गई, जिन्होंने यह मत व्यक्त किया कि "अपील के चलने योग्य होने का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण और कुछ जटिल-सा भी है", और इसलिए उसका निपटारा पूर्ण न्यायपीठ द्वारा किया जाना चाहिए। तद्नुसार, अपील सुनवाई के लिए हमारे समक्ष रखी गई। अत: अब प्रश्न यह है कि क्या एकल द्वितीय अपील ऐसे सामान्य निर्णय के विरुद्ध चलने योग्य है, जिसके पश्चात् दो डिक्रियां पारित की जा चुकी हैं और जिसके द्वारा वादी का वाद समग्रत: खारिज कर दिया गया है। प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होते हुए, श्री जनेश्वर सिंह ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि अपील चलने योग्य नहीं है, **बद्री नारायण** बनाम **कामदेव प्रसाद**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का सशक्त अवलम्ब लिया।

---

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 338.

5. सामान्यतया, पृथक् हक अपीलों में पारित डिक्रियों के विरुद्ध पृथक् अपीलें ही फाइल की जानी चाहिए, किन्तु क्या इसका यह अर्थ हुआ कि ऊपर वर्णित तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए, एकल द्वितीय अपील चलने योग्य न होने के कारण खारिज की जा सकती है या खारिज कर दी जानी चाहिए। चूंकि पृथक्-पृथक् हक अपीलों में निचले अपील न्यायालय द्वारा विचार किए गए दोनों अनुतोषों के लिए एक ही वाद में प्रार्थना की गई थी, जिसके बारे में दोनों न्यायालयों द्वारा समान रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया कि वह विविधता के कारण अविधिमान्य नहीं था (और उन्होंने ठीक ही इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था), अत: मेरी यह राय है कि वाद के पूर्णतः डिक्री किए जाने के लिए वर्तमान द्वितीय अपील में वादियों की प्रार्थना विचारार्थ ग्रहण की जानी चाहिए और द्वितीय अपील समेकित अपील मानी जानी चाहिए। श्री सिंह ने अपने कथन के समर्थन में सिविल प्रक्रिया संहिता के किसी उपबंध का दावा नहीं किया। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 के नियम 1 द्वारा यह व्यादेश किया गया है कि अपील के ज्ञापन के साथ डिक्री की प्रति फाइल की जाएगी और जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, दोनों डिक्रियों की प्रतियां वर्तमान मामले में उपाबद्ध की गई हैं और डिक्री की चुनौती देने के लिए तथा वाद के समग्रत: डिक्रीत किए जाने के लिए संदेय पूर्ण न्यायालय फीस का संदाय कर दिया गया है। अत: मैं चलने योग्य न होने के आधार पर अपील को खारिज करने के लिए कोई कारण नहीं देखता।

6. **बद्री नारायण** बनाम **कामदेव प्रसाद**[1] वाले मामले में किया गया विनिश्चय प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होता है। उक्त मामले में, प्रत्यर्थी कामदेव प्रसाद भ्रष्ट आचार के आधार पर और इस आधार पर भी कि अपीलार्थी ने घटवाल होने के नाते लाभ का पद धारित किया था और इसलिए वह निर्वाचन के लिए पात्र नहीं था, निर्वाचन-अर्जी द्वारा बद्री नारायण के विधान सभा के लिए निर्वाचन को चुनौती दी थी। प्रत्यर्थी ने यह प्रार्थना भी की कि उसे द्वितीय आधार पर सम्यक् रूप से निर्वाचित अभ्यर्थी घोषित किया जाए। निर्वाचन अधिकरण के भ्रष्ट आचार के आधार पर निर्वाचन अपास्त कर दिया किन्तु दूसरी प्रार्थना अस्वीकार कर दी और यह अभिनिर्धारित किया कि घटवाल का पद लाभ का पद नहीं था। अपीलार्थी ने भ्रष्ट आचार के आधार पर अपने निर्वाचन के अपास्त किए जाने के विरुद्ध व उच्च न्यायालय में निर्वाचन अपील सं० 7 फाइल की और प्रत्यर्थी ने, इस निष्कर्ष की शुद्धता को चुनौती देते

---

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 338.

हुए कि घटवाल का पद लाभ का पद नहीं था, विधान सभा के लिए उसे निर्वाचित घोषित किए जाने के लिए उसकी प्रार्थना को अस्वीकार किए जाने के विरुद्ध निर्वाचन अपील सं० 8 फाइल की। उच्च न्यायालय ने भ्रष्ट आचार के निष्कर्ष को उलट दिया किन्तु इस बात पर प्रत्यर्थी के साथ सहमति व्यक्त करते हुए कि अपीलार्थी ने घटवाल होने के नाते लाभ का पद धारित किया था, निर्वाचन को अपास्त करते हुए अधिकरण के निर्णय को कायम रखा और अपील सं० 7 खारिज कर दी। न्यायालय ने अपील सं० 7 में अपीलार्थी के विरुद्ध किए गए निष्कर्ष के आधार पर अपील सं० 8 मंजूर की। तत्पश्चात्, अपीलार्थी ने केवल अपील सं० 8 में किए गए विनिश्चय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की। इन परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अपील सं० 7 में किया गया यह विनिश्चय कि अपीलार्थी बिहार राज्य में लाभ का पदधारी था, उसके विरुद्ध अपील न किए जाने के आधार पर अन्तिम हो जाने के कारण, केवल अपील सं० 8 में किए गए विनिश्चय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय के समक्ष फाइल की गई अपील में अपास्त नहीं किया जा सकता था। उच्चतम न्यायालय का निर्णय पूर्व न्याय के सिद्धान्त पर आधारित था। उक्त विनिश्चय स्पष्टत: वर्तमान मामले को बिल्कुल भी लागू नहीं होता है, क्योंकि यहां दोनों हक अपीलों में गई डिक्रियों को अभिव्यक्त रूप से चुनौती दी गई है। इन मामलों को सीधे **नरहरि** बनाम **शंकर**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का आधार लागू होता है, जिसमें वादी-अपीलार्थी ने प्रथम और द्वितीय सेट के प्रतिवादियों के विरुद्ध भूमि के पृथक् क्षेत्रों के कब्जे का दावा किया। वाद डिक्रीत किया गया और प्रतिवादियों के प्रत्येक सेट ने प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की। दोनों ही अपीलें सामान्य निर्णय द्वारा मंजूर की गई। तत्पश्चात् वादी ने उच्च न्यायालय के समक्ष अपील सं० 331 और 332 फाइल की। पश्चात्कथित अपील परिसीमा के आधार पर खारिज कर दी गई और उच्च न्यायालय ने अपील सं० 331 पूर्व न्याय के आधार पर खारिज कर दी। उच्चतम न्यायालय ने इस दृष्टिकोण के आधार पर उक्त विनिश्चय को उलट दिया कि अपील सं० 331 सम्पूर्ण वाद की खारिजी के विरुद्ध फाइल की गई थी। ऊपर उद्धृत **नरहरि वाले मामले**[1] में प्रतिपादित सिद्धान्त की उच्चतम न्यायालय द्वारा **लोननकुट्टी** बनाम **थोम्मन**[2] वाले मामले में पुन: पुष्टि की गई है। उच्चतम न्यायालय ने उक्त मामले की निम्नलिखित मताभिव्यक्ति को सानुमोदन उद्धृत किया :—

---

[1] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 419.

[2] [1977] 2 उम० नि० प० 658=ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1645.

> "जहां केवल एक वाद है, पूर्व न्याय का प्रश्न उद्भूत ही नहीं होता है। ऐसा इस आधार पर माना गया कि जहां एक ही विचारण, एक ही निष्कर्ष और एक ही विनिश्चय किया गया है, वहां दो अपीलों की आवश्यकता नहीं है भले ही दो डिक्रियां तैयार की गई हों।"

बद्री नारायण बनाम **कामदेव प्रसाद**[1] वाले मामले में **नरहरि वाले मामले**[2] को इस आधार पर प्रभेदित किया गया कि वादी ने उच्च न्यायालय के समक्ष अपील सं० 331 में प्रत्यर्थियों के रूप में सभी प्रतिवादियों को पक्षकार बनाया था, सम्पूर्ण वाद की खारिजी के विरुद्ध अपील के लिए आवश्यक पूर्ण न्यायालय-फीस का संदाय किया था और अपील में की गई प्रार्थना के अन्तर्गत निचले अपील न्यायालय के समक्ष दोनों अपीलों की विषय-वस्तु आती थी। ये बातें **नरहरि वाले मामले**[2] और हमारे समक्ष फाइल की गई वर्तमान द्वितीय अपील में भी सामान्य रूप से विद्यमान है। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हू कि, जैसाकि **बद्री नारायण** बनाम **कामदेव प्रसाद**[1] वाले मामले में किए गए निर्णय के पैरा 11 में मत व्यक्त किया गया है, यह अपील दोनों हक अपीलों में डिक्रियों के विरुद्ध वस्तुतः समेकित अपील है, जिसे अभिलेख के प्रयोजन के लिए दो पृथक् द्वितीय अपीलों में विभाजित किया जा सकता था। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो उससे एकल द्वितीय अपील चलने योग्य नहीं रहेगी—ऐसा नहीं होता है। अतः प्रतिवादियों की ओर से उठाई गई प्रारम्भिक आपत्ति अस्वीकार की जाती है।

7. अब हम मामले के गुणागुण पर विचार करेंगे। अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल, श्री गोरख नाथ सिंह ने यह दलील दी कि, यद्यपि निचले न्यायालयों ने वादाधीन भूमि के भाग पर अवैध अधिक्रमण के प्रश्न पर वादियों के पक्ष में मत व्यक्त किया था, उन्होंने इस आधार पर बेदखली के लिए डिक्री पारित करने से अवैध रूप से इनकार किया कि वह क्षेत्र, जिसका अधिक्रमण किया गया था, छोटा था। श्री जनेश्वर सिंह ने यह तर्क देकर न्यायालयों के मत का समर्थन किया कि ऐसे क्षेत्र की बाबत कोई भी डिक्री पारित नहीं की जा सकती है, जो चौड़ाई में 5 कड़ी (लिंक) से कम है। उन्होंने **निरंजन मण्डल** बनाम **बिहार राज्य**[3] वाले मामले का अवलम्ब लिया, जिसमें मैं भी था। उक्त मामले में सुसंगत मताभिव्यक्ति मामले के तथ्यों के प्रति निर्देश से की गई थी

---

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 338.

[2] ए० आई० आर० 1953 एस० सी 419.

[3] ए० आई० आर० 1978 पटना 10.

और उसका सामान्य रूप से लागू किया जाना आशयित नहीं था। जहां ऐसे पैमाने (स्केल) पर तैयार किए गए नक्शे (मैप) के प्रति निर्देश द्वारा अधिक्रमण के मामले को साबित करने का प्रयास किया जाता है, कि अतिक्रमण के संबंध में निश्चिततापूर्वक कोई निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है, वहां बेदखली की प्रार्थना को अस्वीकार किया ही जाना हैं। किन्तु ऐसे मामले हो सकते हैं, जिनमें बड़े पैमाने पर बड़ा नक्शा तैयार किया गया है जिससे कि अधिक्रमण के तथ्य और सीमा का अनुमान लगाना संभव होता है। पुनश्च, नक्शे से अलग दूसरा साक्ष्य भी हो सकता है, जो इस संबंध में विश्वसनीय साक्ष्य प्रदान करता है। उदाहरण के रूप में हम ऐसा मामला ले सकते हैं जिसमें दो भूखण्ड क और ख एक दूसरे से लगे हुए हैं और उनकी सामान्य सीमा है। उनकी चौड़ाई को भी स्वीकार या सिद्ध कर दिया गया है और उक्त भूखण्डों की दूर की सीमाओं को भी ठीक-ठीक अवधारित कर दिया गया है। यदि भूखण्डों में से एक भूखण्ड का स्वामी अपने पड़ौसी की भूमि का अधिक्रमण करता है, तो अधिक्रमण के पश्चात् भूखण्डों की चौड़ाई नापने और स्वीकृत या साबित चौड़ाई से उसका मिलान करके अधिक्रमण का विस्तार वैज्ञानिक रूप से अवधारित किया जा सकता है। मैं 1979 के एस० ए० 510 में तारीख 29 अगस्त, 1983 के अपने निर्णय में प्रोद्धृत विनिश्चय को पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं। अतः मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि यह सिद्धान्त कि यदि अभिकथित अधिग्रहण 5 कड़ी (लिंक) से कम है, तो निश्चिततापूर्वक यह अभिनिर्धारित नहीं किया सकता है कि अधिक्रमण किया गया है, सामान्य रूप से लागू किए जाने के लिए कोई अनम्य नियम नहीं है। अतः, न्यायालयों का इस आधार पर वाद खारिज करना सही नहीं था।

8. मैंने जो कुछ ऊपर कहा है उसे देखते हुए, मैं साक्ष्य पर नए सिरे से विचार किए जाने के लिए मामला निचले अपील न्यायालय को प्रतिप्रेषित करता हूं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तथ्य के एक अन्य निष्कर्ष द्वारा अपीलार्थी के विरुद्ध द्वितीय अपील समाप्त कर दी गई है। प्रतिवादियों के पक्षकथन के अनुसार, उनके पूर्वज रतन कहार ने मौखिक क्रय द्वारा प्रश्नगत क्षेत्र अर्जित किया था और प्रतिवादियों ने, वाद के फाइल किए जाने से 15 या 16 वर्ष पूर्व उस पर अपना मकान बनवा लिया था। अपील न्यायालय ने इस पक्षकथन को स्वीकार किया है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिवादी वादाधीन क्षेत्र पर अतिचारी नहीं है और, आनुकल्पिक रूप से उन्होंने उस पर हक अर्जित कर लिया है। मैं इस निष्कर्ष में कोई अवैधता नहीं पाता हूं।

9. परिणामतः अपील खारिज की जाती है, किन्तु मामले की परिस्थितियों को देखते हुए, खर्चे के संबंध में कोई आदेश नहीं दिया जा रहा है।

न्या० एस० शमशुल हसन :

10. मैं सहमत हूं।

न्या० एस० वी० सान्याल :

11. मुझे विद्वान् बन्धु न्या० एल० एम० शर्मा के निर्णय का अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ था और मैं उनसे पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूं। तथापि मैं कुछ शब्द अपनी ओर से और जोड़ना चाहता हूं।

12. मेरी राय में, उस स्थिति में दो अपीलों का फाइल किया जाना आवश्यक है, जब अन्य अपील में किए गए निष्कर्ष को उलटे बिना या अपास्त किए बिना, फाइल की गई अपील में मुख्य अनुतोष नहीं दिया जा सकता है, जिसके विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की गई है, जैसे कि **बद्री नारायण वाले मामले**[1] में। उक्त मामले में उच्च न्यायालय ने बद्री नारायण की अपील सं० 7 खारिज कर दी थी, जिसमें उनसे निर्वाचन को अपास्त करने वाले आदेश के अभिखण्डित किए जाने की प्रार्थना की थी। बद्री नारायण ने इस डिक्री के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय के समक्ष कोई अपील फाइल नहीं की। उसने केवल प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा फाइल की गई अपील सं० 8 में डिक्री के विरुद्ध उच्च न्यायालय के समक्ष अपील की, जो उच्च न्यायालय द्वारा मंजूर की गई और प्रत्यर्थी सं० 1 को विधान सभा के लिए निर्वाचित घोषित किया गया। उक्त मामले में यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि प्रत्यर्थी सं० 1 के पक्ष में, जिसे निर्वाचित घोषित किया गया था, की गई इस आशय की घोषणा पर, अपीलार्थी के निर्वाचन को अपास्त करने वाले अपील सं० 7 में किए गए विनिश्चय के विरुद्ध किसी अपील के अभाव में विचार किस प्रकार किया जा सकता है, जबकि पश्चात्कथित निर्णय ने पहले ही अन्तिमता प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त उक्त अपील में उच्च न्यायालय द्वारा किए गए किसी निष्कर्ष की शुद्धता पर उच्चतम न्यायालय द्वारा उसके समक्ष फाइल की गई अपील में विचार नहीं किया जा सकता था।

13. यह सच है कि एक ही वाद में दो प्रक्रमों के बीच भी पूर्व न्याय के सिद्धान्त लागू होते हैं। ऐसा केवल इस सीमा तक होता है कि

---

[1] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 338.

न्यायालय, चाहे वह विचारण न्यायालय हो या उच्चतर न्यायालय, पूर्वतर प्रक्रम पर मामले का किसी विशेष रीति में विनिश्चय कर चुका हो, वह (न्यायालय) पक्षकारों को उसी कार्यवाही के पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर पुनः उसी मामले को उठाने के लिए अनुज्ञा नहीं देगा । एक ही वाद के विभिन्न प्रक्रमों को इस सिद्धान्त के लागू किए जाने के लिए, जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 तक ही सीमित नहीं है, अनेक बातों के ध्यान में रखे जाने की आवश्यकता है, जैसे कार्यवाहियों की प्रकृति, उस जांच की परिधि, जिसका निष्कर्ष निकाले जाने के लिए प्रक्रिया विधि द्वारा उपबंध किया गया है, तथा ऐसे विनिश्चय से संबंधित विषयों पर किया गया विनिर्दिष्ट उपबंध आदि (देखें **अर्जुन सिंह बनाम मोहेन्दु कुमार**[1]) । प्रस्तुत मामले में ऐसी स्थिति नहीं है ।

14. मैंने केवल यह उपदर्शित करने के लिए कुछ पंक्तियां जोड़ी हैं कि हम **नरहरि वाले मामले**[2] और **लोननकुट्टी वाले मामले**[3] के प्रति निर्देश करते समय और उनका अवलम्ब लेते समय उक्त विधिक स्थिति से भलीभांति अवगत हैं ।

अपील खारिज की गई ।

न०

नि० प० 1984 : पटना—202

दुखन शाह और अन्य बनाम गजेन्द्र शाह और अन्य

(Dukhan Sah and another *Vs.* Gajendra Sah and others)

तारीख 27 फरवरी, 1984

[न्या० एस० सरवर अली और न्या० बी०पी० झा]

बिहार लैण्ड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग ऐरिया एण्ड एक्वीजीशन आफ सरप्लस लैण्ड) ऐक्ट, 1961 (बिहार भूमि सुधार अधिकतम सीमा क्षेत्र नियतन और अधिशेष भूमि अर्जन) अधिनियम—धारा 16(3) अभिव्यक्ति "क्रय-रकम" के अंतर्गत प्रतिफल की वह कुल रकम आती है जो कि क्रेता द्वारा विक्रेता को या विक्रय-विलेख या करार में विहित निबंधनों और शर्तों के अधीन किसी अन्य

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 993.

[2] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 419.

[3] [1977] 2 उम० नि० प० 658 = ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1645.

व्यक्ति को देय होती है—बंधक-ऋण का संदाय करने के लिए दी जाने वाली रकम भी प्रतिफल-रकम का एक अंश है।

रिट पिटीशनर ने जिला सारन के गांव जहांगीर पुर में प्लाट संख्या 638, खाता संख्या 29 से 19 धूर भूमि खरीदी। अपीलार्थी ने बिहार लैण्ड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग एरिया) अधिकतम सीमा क्षेत्र नियतन और अधिशेष भूमि अर्जन अधिनियम, 1961 की धारा 16(3) के अधीन एक आवेदन किया। इसे भूमि सुधार उप-कलक्टर ने खारिज कर दिया। अपील करने पर इस आदेश की पुष्टि कर दी गई। पुनरीक्षण में राजस्व बोर्ड ने शुफा के लिए दिया गया पुनरीक्षण आवेदन स्वीकार कर लिया। क्रेता ने उपरोक्त आवेदन फाइल किया, जिसे स्वीकार कर लिया गया, इसलिए शुफाधिकारी ने यह लेटर्स पेटेंट अपील की है। विचारार्थ प्रश्न यह है कि बंधक-ऋण का संदाय करने के लिए प्रतिफल की रकम में से रोकी गई रकम भी "क्रय-रकम" का भाग मानी जाएगी या नहीं ?

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

'क्रय रकम' का साधारण अर्थ यह है कि "वह रकम जो किसी वस्तु को खरीदने के लिए है या जिससे कोई वस्तु खरीदी जा सकती है।" (अंग्रेजी का आक्सफोर्ड शब्दकोश) "क्रय" का एक अर्थ 'अर्जित करना' भी है। 'क्रय रकम' वह रकम है जो कि खरीदने और बेचने के लिए दी जाती है। इस तथ्य से कि विक्रेता ने स्वयं पूरी रकम प्राप्त नहीं की है, इसके अर्थ में कोई भी अंतर नहीं पड़ता है। न्यायालय की जांच में प्रयोग किये गये शब्दों को स्वाभाविक अर्थ देने से 'क्रय रकम' से वह सकल रकम अभिप्रेत है जो कि क्रेता द्वारा या तो विक्रेता को संदत्त की जानी है या किसी और व्यक्ति या व्यक्तियों को, जो कि विक्रेता से भिन्न है, ऐसी संपत्ति को अर्जित करने के लिए की जानी है और यह 'क्रय रकम' मानी जाती है। (पैरा 6)

इस प्रकार की स्थिति में, जैसी कि प्रस्तुत मामले में है, कभी-कभी ऐसा होता है कि क्रेता विक्रय विलेख को प्राप्त करने के पश्चात् बंधकदार को रकम का संदाय करता है। इस स्थिति में क्रेता सबसे पहले कुल प्रतिफल का, जैसा कि विलेख में दर्शाया गया है, कुछ भाग विक्रेता को संदत्त करता है और बाद में बाकी की रकम बंधकदार को संदत्त करता है जिससे कि तमाम प्रतिफल की रकम संदत्त हो जाती है। अगर अपीलार्थी द्वारा दिये गये निर्वचन को स्वीकार कर लिया जाता है तो विक्रेता द्वारा प्राप्त की गई वास्तविक रकम ही 'क्रय रकम' होती है तब यद्यपि क्रेता ने बंधक ऋण का संदाय कर दिया है तब भी जमा की गई रकम वहीं तक सीमित रहेगी जो कि विक्रेता ने प्राप्त की है। विधान-मंडल का ऐसा आशय

कदापि नहीं हो सकता है और न ही यह उपधारणा की जा सकती है कि विधि में यह परिकल्पना की जा सकती है कि शुफाधिकारी इस बात की जांच करे कि क्रेता ने क्या किया है जैसाकि प्राख्यान किया गया है क्या उसने बंधकदार को संदाय किया है या नहीं ऐसी जांच करना आसान नहीं है। इसके अतिरिक्त विधान मंडल का ऐसा आशय नहीं हो सकता था कि 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति का अर्थ उस पर निर्भर करे कि बंधक ऋण का संदाय किया गया है या नहीं। (पैरा 7)

उद्धृत उपबंधों से कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें यह परिकल्पना की गई है कि संपत्ति को उन्हीं निबंधनों और शर्तों के अनुसार अंतरित किया जाना है जैसी कि विलेख में उल्लिखित हैं। इसका अर्थ यह होगा कि शुफाधिकारी का यह दायित्व होगा कि वह बंधक ऋण का संदाय करे। अगर कुल रकम जमा कर दी जाती है, जैसा कि जमा की जानी है, जहां पर क्रेता द्वारा बंधक ऋण का संदाय नहीं किया गया है वहां पर कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। परन्तु इससे 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति के सीधे-सादे अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। इसका समाधान यह होगा कि शुफ़ाधिकारी या तो बंधकदार को कलक्टर के माध्यम से, यदि कलक्टर ऐसा करने के लिए सहमत हो जाता है, रकम का संदाय करवाये, या वह कलक्टर को विलेख के निष्पादन के पश्चात् बंधक ऋण को, जो कि अधिनियम की धारा 16(3)(iii) के अनुसार जमा करवाया गया है, निकालने के लिए एक आवेदन दे। (पैरा 8)

मामले का एक और पहलू है जिस पर विचार किया जाना है। बिहार लैण्ड सीलिंग रूल्स, 1963 के नियम 19(6) में यह कथन किया गया है कि "जहां पर दिये गये आवेदन को स्वीकार कर लिया जाता है और अंतरिती धारा 16(3) (iii) के अधीन आवेदक को भूमि हस्तांतरित कर देता है वहां पर अंतरिती को यह आज्ञा दे दी जायेगी कि वह आवेदक द्वारा जमा की गई रकम को निकाल ले।" इसका आश्रय लेते हुए यह दलील दी गई कि क्योंकि अंतरिती को यह तमाम रकम निकालने का अधिकार है जो कि जमा की गई है इसलिए निश्चित रूप से यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति का तात्पर्य केवल वही रकम है जो कि विक्रेता द्वारा प्राप्त की गई है या प्राप्त किये जाने योग्य है और तमाम प्रतिफल की रकम नहीं है। न्यायालय के विचार से नियमों की आड़ लेकर धारा का इस प्रकार से अर्थान्वयन करना उचित नहीं है। नियमों का अर्थान्वयन अधिनियम के स्थायी उपबंधों के अनुसार किया जाना चाहिए, न कि इसके विपरीत। धारा का निर्वचन नियमों के अनुसार करना एक ऊटपटांग काम होगा। इसलिए न्यायालय की यह निश्चित राय है कि नियम 19(6) का तात्पर्य है कि आवेदक द्वारा जमा की गई रकम, जो कि क्रेता को देय है, निकालने

का क्रेता को अधिकार है। अगर इसका निर्वचन इस प्रकार नहीं किया जाता है, तो नियम धारा का अधिकारातीत हो जायेगा। (पैरा 9)

		पैरा
[1971]	ए० आई० आर० 1971 पटना 426 : देवनन्दन मिश्र **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Deo Nandan Mishra *Vs*. The State of Bihar and others)	10

निर्दिष्ट किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1979 की लेटर्स पेटेंट अपील सं 56.

1979 की सी० डब्ल्यू० जे० सी० सं० 642 में न्या० एच० एल० अग्रवाल द्वारा दिनांक 23 नवम्बर, 1979 को दिये गये आवेदन के विरुद्ध लेटर्स पेटेंट अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री अंजनी कुमार सरन और बनवारी शर्मा

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री ए० एन० चटर्जी

न्यायालय का निर्णय न्या० एस० सरवर अली ने दिया।

न्या० सरवर अली :

यह लेटर्स पेटेन्ट अपील विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा 1979 की सी० डब्ल्यू० जे० सी० संख्या 642 में दिये गये आदेश के विरुद्ध की गई है जिसमें उन्होंने रिट पिटीशनर, इस मामले में प्रत्यर्थी सं० 1, के आवेदन को मंजूर कर दिया था।

2. रिट पिटीशनर, गजेन्द्र शाह ने जिला सारन के गांव जहांगीरपुर में प्लाट संख्या 638, खाता संख्या 29 से 19 धूर भूमि खरीदी। अपीलार्थी ने बिहार लैण्ड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग एरिया एण्ड एक्वीजिशन आफ सरप्लस लैण्ड) ऐक्ट, 1961 [बिहार भूमि सुधार (अधिकतम सीमा क्षेत्र नियतन और अधिशेष भूमि अर्जन) अधिनियम], 1961 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 16(3) के अधीन एक आवेदन दिया। इसे भूमि सुधार उप-कलक्टर ने खारिज कर दिया। अपील करने पर इस आदेश की पुष्टि कर दी गई। पुनरीक्षण में राजस्व बोर्ड ने शुफा के लिए दिया गया पुनरीक्षण आवेदन स्वीकार कर लिया। क्रेता गजेन्द्र शाह ने उपरोक्त आवेदन फाइल

किया जिसे स्वीकार कर लिया गया इसलिए शुफाधिकारी ने यह लेटर्स पेटेंट अपील की है।

3. अधिनियम की धारा 16(3) में यह परिकल्पना की गई है कि शुफाधिकारी द्वारा 'क्रय रकम' के साथ उसका 10 प्रतिशत जमा करवाना होता है। जब तक कि ऐसा जमा न किया गया हो शुफा के लिये दिये गये आवेदन पर कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी। इस मामले में एकमात्र विवाद यह है कि क्या शुफाधिकारी द्वारा विधि के अनुसार रकम जमा की गई थी। इस मामले में शुफाधिकारी ने 'क्रय की रकम' के रूप में 350 रु० जमा करवाये थे और उसने प्रतिफल की रकम (500 रु०) के लिए 50 रुपये, जो कि 10 प्रतिशत है, जमा करवाये।

4. प्रश्नगत विक्रय विलेख के सुसंगत कालम में यह अभिकथित किया गया है कि प्रतिफल की रकम 500 रुपये है। कथन के भाग में यह कहा गया है कि कालम संख्या 2 में उल्लिखित संपत्ति को 500 रुपये में बेच दिया गया और प्रतिफल की पूरी रकम प्राप्त कर ली गई है। इस प्रकार 150 रुपये बंधक का मोचन करवाने के लिए छोड़ दिये गये हैं जो कि महेन्द्र शाह को दिये जायेंगे और 35 रुपये की रकम विक्रय करार के समय प्राप्त की गई थी। 350 रुपये विलेख/अभिलेखों के आदान प्रदान के समय प्राप्त किये गये थे। इस प्रकार क्रेता ने स्वयं 350 रुपये प्राप्त किये थे और खरीददार के पास 150 रुपये की रकम बकाया रह गई थी जो कि बंधक का मोचन करवाने के लिए छोड़ दी गई थी। जिस एक मात्र प्रश्न पर विचार किया जाना है और जिसका उत्तर दिया गया है, वह यह है कि क्या क्रय की रकम 350 रुपये है या यह 500 रुपये है।

5. अधिनियम की धारा 16(3) में यह उपबंधित है :—

*"16(3) (1) इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् भूमि का अंतरण किसी सहअंशधारी या पार्श्वस्थ भूमि के रैयत से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति को किया जाता है तो अंतरक का कोई सहअंशधारी या अंतरित भूमि से पार्श्वस्थ भूमि को धारण करने वाला रैयत, अंतरण के

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"16(3)(1) When any transfer of land is made after the commencement of this Act, to any person other than a co-sharer or a raiyat of adjoining land, any co-sharer of the transferor or any raiyat holding land adjoining the

विलेख के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर उक्त विलेख में अंतर्विष्ट निबंधनों और शर्तों पर अपने को भूमि अंतरण करने के लिए कलक्टर के समक्ष विहित रीति में आवेदन करने का हकदार होगा।

परन्तु ऐसा कोई भी आवेदन कलक्टर द्वारा तब तक ग्रहण नहीं किया जायेगा जब तक कि उक्त अवधि में क्रय की रकम सहित उस रकम की 10 प्रतिशत रकम, विहित रीति में, जमा न करा दी गई हो।

(ii) इस प्रकार रकम जमा करने पर इस तथ्य के होते हुए भी कि खण्ड (i) के अधीन दिये गये आवेदन का विनिश्चय नहीं हुआ है, सहअंशधारी या रैयत भूमि का कब्जा प्राप्त करने का हकदार होगा :

परन्तु जहां पर आवेदन नामंजूर कर दिया गया है वहां, जैसी भी स्थिति हो, सहअंशधारी या रैयत को भूमि से बेदखल कर दिया जाएगा और अंतरक को उसका कब्जा वापिस दे दिया जायेगा और अंतरिती खण्ड (i) के अधीन जमा की गई क्रय की रकम के 10 प्रतिशत के बराबर

---

land transferred, shall be entitled, within three months of the date of registration of the document of the transfer, to make an application before the Collector in the prescribed manner for the transfer of the land to him on the terms and conditions contained in the said deed :

Provided that no such application shall be entertained by the Collector unless the purchase money together with a sum equal to ten percent thereof is deposited in the prescribed manner within the said period.

(ii) On such deposit being made the co-sharer or the raiyat shall be entitled to be put in possession of the land irrespective of the fact that the application under clause (i) is pending for decision :

Provided that where the application is rejected, the co-sharer or the raiyat, as the case may be, shall be evicted from land and possession thereof shall be restored to the transferor and the transferee shall be entitled to be paid a a sum equal to ten percent of the purchase-money out of

> रकम प्राप्त करने का हकदार होगा।
>
> (iii) अगर आवेदन स्वीकार कर लिया जाता है तो कलक्टर अतरिती को आदेश द्वारा यह निदेश देगा कि आदेश में विहित अवधि के भीतर हस्तांतरण दस्तावेज को आवेदक के पक्ष में निष्पादित और रजिस्टर कर दे। अगर वह लापरवाही करता है या निदेश के अनुपालन से इनकार करता है तो जहां तक हो सके सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का) के आदेश 21, नियम 34 के अधीन कार्यवाही की जाएगी।"

यह देखा जा सकता है कि मामले में शुफा के लिए दिया गया आवेदन सफल हो जाता है और शुफाधिकारी को उपर्युक्त अभिलेख में उल्लिखित निबंधनों और शर्तों के अधीन भूमि अंतरित की जानी है।

6. 'क्रय रकम' का साधारण अर्थ यह है कि "वह रकम जो किसी वस्तु को खरीदने के लिए है या जिससे कोई वस्तु खरीदी जा सकती है।" (अंग्रेजी का आक्सफोर्ड शब्द कोश) "क्रय" का एक अर्थ 'अर्जित करना' भी है। मेरे विचार से 'क्रय रकम' वह रकम है जो कि खरीदने और बेचने के लिए दी जाती है। इस तथ्य से कि विक्रेता ने स्वय पूरी रकम प्राप्त नहीं की है, इसके अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है। मेरे विचार से प्रयोग किये गये शब्दों को स्वाभाविक अर्थ देने से वह सकल रकम अभिप्रेत है जो कि क्रेता द्वारा या तो विक्रेता को संदत्त की जानी है या किसी और व्यक्ति या व्यक्तियों को, जो कि विक्रेता से भिन्न है, ऐसी सम्पत्ति को अर्जित करने के लिए की जानी है और यह 'क्रय रकम' मानी जाती है।

7. इस प्रकार की स्थिति में, जैसी कि वर्तमान मामले में है, कभी-कभी ऐसा होता है कि क्रेता विक्रय-विलेख को प्राप्त करने के पश्चात् बंधकदार को रकम का संदाय करता है। इस स्थिति में क्रेता सबसे पहले कुल प्रतिफल का, जैसा कि

---

the deposit made under clause (i).

(iii) If the application is allowed, the Collector shall by an order direct the transfree to convey the land in favour of the applicant by executing and registering a document of transfer within a period to be specified in the order and, if he neglects or refuses to comply with the direction, the procedure prescribed in order 21, rule 34 of the Code of civil Procedure, 1908 (V of 1908), shall be, so far as may be, followed."

विलेख में दर्शाया गया है, कुछ भाग विक्रेता को संदत्त करता है और बाद में बाकी की रकम बंधकदार को संदत्त करता है जिससे कि तमाम प्रतिफल की रकम संदत्त हो जाती है। अगर अपीलार्थी द्वारा दिये गये निर्वचन को स्वीकार कर लिया जाता है तो विक्रेता द्वारा प्राप्त की गई वास्तविक रकम ही 'क्रय रकम' होती है तब यद्यपि क्रेता ने बंधक ऋण का संदाय कर दिया है तब भी जमा की गई रकम वहीं तक सीमित रहेगी जो कि विक्रेता ने प्राप्त की है। विधान-मंडल का ऐसा आशय कदापि नहीं हो सकता है और न ही यह उपधारणा की जा सकती है कि विधि में यह परिकल्पना की जा सकती है कि शुफाधिकारी इस बात की जांच करे कि क्रेता ने क्या किया है। जैसा कि प्राख्यान किया गया है क्या उसने बंधकदार को संदाय किया है या नहीं। ऐसा जांच करना आसान नहीं है। इसके अतिरिक्त विधान-मंडल का ऐसा आशय नहीं हो सकता था कि 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति का अर्थ उस पर निर्भर करे कि बंधक ऋण का संदाय किया गया है या नहीं।

8. ऊपर उद्धृत उपबंधों से कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें यह परिकल्पना की गई है कि संपत्ति को उन्हीं निबंधनों और शर्तों के अनुसार अंतरित किया जाना है जैसी कि विलेख में उल्लिखित हैं। इसका अर्थ यह होगा कि शुफाधिकारी का यह दायित्व होगा कि वह बंधक ऋण का संदाय करे। अगर कुल रकम जमा कर दी जाती है, जैसा कि मेरे विचार से जमा की जानी है, जहां पर क्रेता द्वारा बंधक ऋण का संदाय नहीं किया गया है वहां पर कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। परन्तु इससे 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति के सीधे-सादे अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। इसका समाधान यह होगा कि शुफाधिकारी या तो बंधकदार को कलक्टर के माध्यम से रकम का संदाय करवाये, यदि कलक्टर ऐसा करने के लिए सहमत हो जाता है, या वह कलक्टर को विलेख के निष्पादन के पश्चात् बंधक ऋण को, जो कि अधिनियम की धारा 16(3)(iii) के अनुसार जमा करवाया गया है, निकालने के लिए एक आवेदन दे।

9. मामले का एक और पहलू है जिस पर विचार किया जाना है। बिहार लैण्ड सीलिंग रूल्स, 1963 के नियम 19(6) में यह कथन किया गया है कि "जहां पर दिये गये आवेदन को स्वीकार कर लिया जाता है और अंतरिती धारा 16(3)(iii) के अधीन आवेदक को भूमि हस्तांतरित कर देता है वहां पर अंतरिती को यह आज्ञा दे दी जायेगी कि वह आवेदक द्वारा जमा की गई रकम को निकाल ले"। इसका आश्रय लेते हुए यह दलील दी गई कि क्योंकि अंतरिती को वह तमाम रकम निकालने का अधिकार है जो कि जमा की गई है इसलिए यह अवश्य अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति का तात्पर्य केवल वही रकम है जो कि विक्रेता द्वारा प्राप्त की गई है या प्राप्त किये जाने योग्य है और तमाम प्रतिफल

की रकम नहीं है। मेरे विचार से नियमों की आड़ लेकर धारा का इस प्रकार से अर्थान्वयन करना उचित नहीं है। नियमों का अर्थान्वयन अधिनियम के स्थायी उपबंधों के अनुसार किया जाना चाहिए। न कि इसके विपरीत, धारा का निर्वचन नियमों के अनुसार करना एक ऊटपटांग काम होगा। इसलिए मेरा यह निश्चित विचार है कि नियम 19(6) का तात्पर्य यह है कि आवेदक द्वारा जमा की गई रकम, जो कि क्रेता को देय है, उसे निकालने का क्रेता को अधिकार है। अगर इसका निर्वचन इस प्रकार नहीं किया जाता है, तो नियम धारा का अधिकारातीत हो जायेगा।

10. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने इस न्यायालय के **देवनन्दन मिश्र बनाम बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले का अवलंब लिया जिसमें मामले के तथ्यों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अभिलेख में प्रतिफल की जो रकम दर्शित की गई है वह 'क्रय रकम' थी। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने इस मामले में इस आधार पर प्रभेद किया है कि उस मामले में यह उल्लेख नहीं किया गया था कि कोई बंधक भी था और बंधक ऋण की रकम क्रेता द्वारा संदत्त की जायेगी। चाहे जो भी हो उस मामले में जो सिद्धांत स्वीकार किये गये थे वे मेरे द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण में सहायक होते हैं।

11. इसलिए मेरा यह विचार है कि 'क्रय रकम' अभिव्यक्ति के निर्वचन के संबंध में मेरा जो दृष्टिकोण उसके अनुसार विद्वान् एकल न्यायाधीश ने आवेदन को ठीक ही मंजूर किया। परन्तु उनके द्वारा दिए गए तर्कों की दृष्टि से मैं यह अवश्य कहना चाहूंगा कि उन्होंने निर्णय के प्रथम भाग में जो कथन किया है वे उनके द्वारा दिये गये अंतिम निर्णय के अनुसार नहीं है। अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि वे परस्पर विरोधी थे। चूंकि मैं वही दृष्टिकोण अपना रहा हूं जो कि रिट आवेदन में दिये गये अन्तिम निर्णय के अनुरूप है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि निर्णय का विश्लेषण किया जाए और उन तर्कों को उल्लिखित किया जाए जिन पर ये आधारित हैं इसी के अनुसार इस लेटर्स पेटेंट अपील को खारिज किया जाता है परन्तु इन परिस्थितियों में खर्चों का संदाय नहीं किया जायेगा।

न्या० बी० पी० झा :

मैं सहमत हूं।

खन्ना

अपील खारिज की गई।

---

[1] ए० आई० आर० 1971 पटना 426.

नि० प० 1984 : पटना—211

मोती मण्डल और अन्य बनाम बिहार राज्य और अन्य

(Moti Mandal & others *Vs.* State of Bihar & others)

तारीख 3 मार्च, 1984

[न्या० एस० सरवर अली एवं न्या० बी० पी० झा]

बिहार भूमि सुधार (अधिकतम क्षेत्र का नियतन और अधिशेष भूमि का अर्जन) अधिनियम, धारा 16 (3) (1)—अग्र-क्रय के लिए आवेदन अन्तरण के दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया जाना चाहिए और क्रय धन तथा उसके 10% के बराबर राशि के निक्षेप के संबंध में चालान भी तीन मास के भीतर फाइल किया जाना चाहिए। जब अग्र-क्रय के लिए केवल एक ही आवेदन हो, तो क्रय-धन और धृति को विभाजित नहीं किया जा सकता है।

उच्च न्यायालय में फाइल की गई इस अपील में विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या अग्र-क्रय के मामले में क्रय-धन और धृति को विभाजित किया जा सकता है।

अभिनिर्धारित—आवेदन खारिज किया गया।

बिहार भूमि सुधार (अधिकतम क्षेत्र का नियतन और अधिशेष भूमि का अर्जन) अधिनियम की धारा 16 (3) (1) में यह उपबंध किया गया है कि अग्र-क्रय के लिए आवेदन अन्तरण के दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया जाएगा। अधिनियम की धारा 16(3)(1) के परन्तुक में यह उपबंध किया गया है कि कलक्टर द्वारा कोई भी आवेदन तब तक विचारार्थ ग्रहण नहीं किया जाएगा, जब तक कि क्रय धन, उसके 10% के बराबर राशि सहित, उक्त अवधि के भीतर विहित रीति में जमा नहीं करा दिया जाता है। एक मात्र परिसीमा यह है कि अग्र-क्रय के लिए आवेदन रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया जाए और क्रय-धन तथा क्रय धन के 10% के बराबर राशि के निक्षेप के संबंध में चालान तीन मास के भीतर फाइल किया जाए। वर्तमान मामले में दोनों ही अध्यपेक्षाएं पूरी कर दी गई हैं। इस मामले में, अग्र-क्रय के लिए आवेदन रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया गया है और चालान भी आवेदन के साथ फाइल किया गया है, जैसी कि अधिनियम की धारा 16 (3) (1) के परन्तुक में अपेक्षा की गई

है। अतः अधिनियम की धारा 16 (3) (1) के परन्तुक का पालन करने में कोई कमी नहीं हुई है। जहां तक निर्णय के इस भाग का संबंध है, इसे इस न्यायपीठ द्वारा कायम नहीं रखा जा रहा है। (पैरा 4 और 5)

जब धारा 16 (3) के अधीन दो आवेदन परिसीमा की अवधि के भीतर फाइल किए जाते हैं, तो आवेदक विवादग्रस्त भूमि में बराबर अंशों के लिए हकदार है और उनमें से प्रत्येक आधी रकम का संदाय करने के लिए दायी होगा, जैसा कि उक्त धारा द्वारा निदेश किया गया है। (पैरा 6)

यह स्पष्ट है कि समझौते द्वारा क्रय-धन तथा 10% के बराबर राशि को भी विभाजित किया गया था, जो उसके साथ ही जमा कराई गई थी। यदि ऐसी स्थिति है, तो भागिक अग्र-क्रय नहीं हो सकता है, जैसा कि रामछबीला सिंह वाले मामले में खण्ड न्यायपीठ ने अभिनिर्धारित किया है। एकमात्र अपवाद यह है कि यदि विधि के अनुसार अग्र-क्रय के लिए दो आवेदन फाइल किए जाते हैं, तो क्रय-धन और धृति की बाबत भी प्रभाजन का निदेश दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अतः जब अग्र-क्रय के लिए केवल एक ही आवेदन हो, क्रय-धन और धृति को विभाजित नहीं किया जा सकता है। (पैरा 7 और 8)

		पैरा
[1984]	1984 पी० एल० जे० आर० 40 : वासुदेव चौधरी **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Basudeo Choudhary *Vs.* State of Bihar and others) ;	6
[1968]	1968 पी० एल० जे० आर० 279 : रामछबीला सिंह और एक अन्य **बनाम** रामसागर सिंह और अन्य (Ramchabila Singh and another *Vs.* Ramsagar Singh and others)	6

से सहमति व्यक्त की गई।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1980 की लैटर्स पेटेण्ट अपील सं० 23.

लैटर्स पेटेण्ड के खण्ड 10 के अधीन अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... सर्वश्री एस० बी० एन० सिंह और के० के० मण्डल

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री वीरेन्द्र मोहन सिंह

राज्य की ओर से ... सर्वश्री रामेश्वर प्रसाद और उपेन्द्र प्रसाद

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० पी० झा ने दिया।

न्या० झा :

यह अपील 1976 के सी० डब्ल्यू० जे० सी० सं० 1954 में विद्वान् एकल न्यायाधीश के तारीख 10 जनवरी, 1980 के निर्णय से उद्भूत हुई है।

2. यह मामला अग्र-क्रय के मामले से उद्भूत हुआ है। मोती मण्डल और अन्य व्यक्तियों ने तारीख 16 सितम्बर, 1968 को पूर्व-क्रय के लिए आवेदन फाइल किया। महावीर मण्डल ने तारीख 8 अगस्त, 1967 को रामेश्वर सिंह और जगदीश सिंह के पक्ष में आक्षेपित विक्रय-विलेख निष्पादित किया था और वह तारीख 4 जुलाई, 1968 को रजिस्ट्रीकृत किया गया था। अग्र-क्रय के लिए आवेदन रजिस्ट्रीकरण की तारीख से 3 मास के भीतर फाइल किया गया। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि अग्र-क्रय का आवेदन दो आधारों पर अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए, अर्थात् (1) स्वयं अग्र-क्रय आवेदन चलने योग्य नहीं है; और (2) क्रय-धन और धृति को पूर्व-क्रय के मामले में विभाजित नहीं किया जा सकता है।

3. जहां तक मुद्दा सं० 1 का संबंध है, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह राय व्यक्त की कि यह क्रय-धन आवेदन के साथ ही जमा कराया जाना चाहिए था। वर्तमान मामले में इन पिटीशनरों ने क्रय-धन के साथ, उसके 10 % के बराबर राशि सहित, रजिस्ट्रीकरण की तारीख से पूर्व, अग्र-क्रय के लिए आवेदन फाइल किया था। इन पिटीशनरों ने रजिस्ट्रीकरण की तारीख से 3 मास के भीतर एक अन्य आवेदन फाइल किया और पूर्वतर चालान संलग्न किया, जिसके द्वारा क्रय धन, उसके 10 % के बराबर राशि सहित, पहले ही जमा करा दिया गया था। विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि रजिस्ट्रीकरण की तारीख से 3 मास के भीतर, पश्चात्वर्ती आवेदन के साथ नए सिरे से क्रय-धन जमा कराया जाना चाहिए था। मैं इस मुद्दे पर विद्वान् एकल न्यायाधीश की राय से असहमति व्यक्त करता हूं।

4. बिहार भूमि सुधार (अधिकतम क्षेत्र का नियतन और अधिशेष भूमि का अर्जन) अधिनियम [बिहार लैण्ड रिफार्म्स (फिक्सेशन आफ सीलिंग एरिया एण्ड एक्वीजीशन आफ सरप्लस लैण्ड) ऐक्ट] (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 16(3)(1) में यह उपबंध किया गया है कि अग्र-क्रय के लिए आवेदन अन्तरण के दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के

भीतर फाइल किया जाएगा। अधिनियम की धारा 16 (3) (1) के परन्तुक में यह उपबंध किया गया है कि कलक्टर द्वारा कोई भी आवेदन तब तक विचारार्थ ग्रहण नहीं किया जाएगा, जब तक कि क्रय धन, उसके 10% के बराबर राशि सहित, उक्त अवधि के भीतर विहित रीति में जमा नहीं करा दिया जाता है। एकमात्र परिसीमा यह है कि अग्र-क्रय के लिए आवेदन रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया जाए और क्रय-धन तथा क्रय-धन के 10% के बराबर राशि के निक्षेप के संबंध में चालान तीन मास के भीतर फाइल किया जाए।

5. वर्तमान मामले में दोनों ही अध्यपेक्षाएं पूरी कर दी गई हैं। इस मामले में, अग्र क्रय के लिए आवेदन रजिस्ट्रीकरण की तारीख से तीन मास के भीतर फाइल किया गया है और चालान भी आवेदन के साथ फाइल किया गया है, जैसी कि अधिनियम की धारा 16(3)(1) के परन्तुक में अपेक्षा की गई है। मेरी राय में, अधिनियम की धारा 16(3)(1) के परन्तुक का पालन करने में कोई कमी नहीं हुई है। जहां तक निर्णय के इस भाग का संबंध है, इसे इस न्यायपीठ द्वारा कायम नहीं रखा जा रहा है।

6. विचारार्थ दूसरा मुद्दा यह है कि क्या अधिनियम की धारा 16(3)(1) के परन्तुक द्वारा यथा अपेक्षित क्रय-धन और धृति को विभाजित किया जा सकता है या नहीं। इस संबंध में, अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल ने **बासुदेव चौधरी बनाम बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विद्वान् तृतीय एकल न्यायाधीश के विनिश्चय को प्रोद्धृत किया है। 1980 के लैटर्स पेटेण्ट अपील सं० 1 में न्यायाधीशों के बीच मतभेद था और इस प्रकार वह विद्वान् तृतीय न्यायाधीश अर्थात् माननीय न्यायाधीश ललित मोहन शर्मा को निर्देशित की गई। विद्वान् तृतीय न्यायाधीश ने यह राय व्यक्त की कि यह विनिश्चय ऐसे मामले को लागू होगा, जिसमें अग्र-क्रय के लिए दो आवेदन परिसीमा अवधि के भीतर फाइल किए गए हैं। दूसरे शब्दों में, उनके कहने का यह अर्थ है कि उक्त विनिश्चय किसी अन्य मामले को लागू नहीं होगा, सिवाय उस स्थिति के जिसमें अधिनियम की धारा 16(3) के अधीन अग्र-क्रय के दो आवेदन विधि के अनुसार फाइल किए गए हैं। इस स्थल पर माननीय तृतीय न्यायाधीश के विनिश्चय को प्रोद्धृत करना आवश्यक है:—

> "मैं यह अभिनिर्धारित करता हूं कि जब धारा 16(3) के अधीन दो आवेदन परिसीमा की अवधि के भीतर फाइल किए जाते हैं,

---

[1] 1984 पी० एल० जे० आर० 40.

> तो आवेदक विवादग्रस्त भूमि में बराबर अंशों के लिए हकदार हैं और उनमें से प्रत्येक आधी रकम का संदाय करने के लिए दायी होगा, जैसा कि उक्त धारा द्वारा निदेश किया गया है।”

दूसरे शब्दों में, इस विनिश्चय द्वारा **रामछबीला सिंह और एक अन्य बनाम रामसागर सिंह और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय को उलटा नहीं गया है। इस मामले में खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है :—

> “····‘क्रय-धन’ भी एक एकक (यूनिट) होने के लिए आशयित है···। अब यह सुस्थापित है कि विक्रय-विलेख में प्रतिफ़ल धन की रकम दस्तावेज का एक निबन्धन है···इस प्रकार, विधानमण्डल ने कलक्टर को सम्पूर्ण प्रतिफल धन का विभाजन करने और अन्तरित भूमि के कुछ भाग की बाबत उसके अंश के संदाय पर आवेदक को अग्र-क्रय का अधिकार अनुज्ञात करने के लिए अधिकृत नहीं किया था···”

7. प्रस्तुत मामले में मोती मण्डल (पिटीशनर) और जगदीश सिंह (क्रेता) ने समझौता किया। मुझे प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह सूचना भी दी गई है कि समझौते के अनुसरण में एक विक्रय-विलेख भी निष्पादित किया गया है। समझौते की शर्त (निबन्धन) यह थी कि पहले से ही निक्षिप्त क्रय-धन का आधा भाग जगदीश सिंह को मिलेगा और 10% का आधा भाग भी मोती मण्डल को मिलेगा। अतः यह स्पष्ट है कि समझौते द्वारा क्रय-धन तथा 10% के बराबर राशि को भी विभाजित किया गया था, जो उसके साथ ही जमा कराई गई थी। यदि ऐसी स्थिति है, तो भागिक अग्र-क्रय नहीं हो सकता है, जैसा कि **रामछबीला सिंह वाले मामले**[1] में खण्ड न्यायपीठ ने अभिनिर्धारित किया है। एकमात्र अपवाद यह है कि यदि विधि के अनुसार अग्र-क्रय के लिए दो आवेदन फाइल किए जाते हैं, तो क्रय-धन और धृति की बाबत भी प्रभाजन का निदेश दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

8. मामले को इस दृष्टि से देखते हुए, विद्वान् एकल न्यायाधीश का विनिश्चय इस सीमा तक कायम रखा जाता है कि, जब अग्र-क्रय के लिए केवल एक ही आवेदन हो, क्रय-धन की धृति को विभाजित नहीं किया जा सकता है।

9. परिणामतः आवेदन खारिज किया जाता है किन्तु खर्चे के बारे में कोई

---

[1] 1968 पी० एल० जे० आर० 279

आदेश नहीं किया जा रहा है।

न्या० सरवर अली :

मैं सहमत हूं।

आवेदन खारिज किया गया।

न०

नि० प० 1984 : पटना—216

राजेन्द्र शर्मा बनाम बिहार राज्य और अन्य

(Rajendra Sharma *Vs.* The State of Bihar & others)

तारीख 3 मार्च, 1984

[न्या० एस० सरवर अली एवं न्या० एस० एच० एस० आबिदी]

संविधान, 1950 अनुच्छेद 226—जब तक रिट आवेदन में सरकार के उस विनिर्दिष्ट आदेश को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती नहीं दी जाती है, जिसके परिणामस्वरूप पिटीशनर ने स्वयं को वंचित महसूस किया है, तब तक पिटीशनर किसी निष्पादित करार के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता है। रिट आवेदन में संशोधन द्वारा सरकार की कार्यवाही को विनिर्दिष्ट रूप से चुनौती दिया जाना आवश्यक है।

इस रिट आवेदन में पिटीशनर ने यह प्रार्थना की है कि प्रत्यर्थियों को मध्यम आय के वर्ग के मकान सं० 114 के पिटीशनर के कब्जे में विघ्न न डालने का निदेश किया जाए। पिटीशनर ने यह दावा किया है कि उसने बिहार राज्य आवासन बोर्ड के सम्पदा अधिकारी के कार्यालय से बोर्ड के कार्यपालक इंजीनियर के नाम भेजे गए पत्र के अनुसरण में इस मकान का कब्जा लिया है, जिसके द्वारा उसे (कार्यपालक इंजीनियर को) पिटीशनर को मकान के कब्जे का परिदान करने का निदेश किया गया था।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

किसी मंत्री या मुख्य मंत्री का पत्रक (बफशीट) मात्र, इस आशय का सरकारी विनिश्चय नहीं माना जा सकता है कि सरकारी कोटे से आवंटन किया जाए। उस संबंध में किसी सरकारी विनिश्चय को अन्तर्विष्ट करने वाला, किसी

प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा लिखा गया कोई पत्र अभिलेख में नहीं लाया गया है। (पैरा 6)

इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि सरकार ने बिहार आवासन बोर्ड अध्यादेश की धारा 23 के अधीन शक्ति के प्रयोग में एक अधिसूचना जारी की, जिसके द्वारा तारीख 24 अक्तूबर, 1981 को किए गए सभी आवंटन रद्द कर दिए गए। इस रिट आवेदन में राज्य सरकार के उक्त आदेश को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती नहीं दी गई है। यदि पिटीशनर सरकार की अधिसूचना को चुनौती देना चाहता था, तो उसे अपने पिटीशन में संशोधन करना चाहिए था और उसमें समुचित प्रार्थना करनी चाहिए थी और उसके पश्चात् ही बोर्ड और राज्य सरकार से की गई कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने के लिए कहा जाता। (पैरा 7)

रिट आवेदन को संशोधन द्वारा, सरकार की कार्यवाही को विनिर्दिष्ट रूप से चुनौती दी जानी होती है। उसके अभाव में यह नहीं कहा जा सकता है कि इस रिट आवेदन में सरकारी आदेश को चुनौती दी गई है। यह स्पष्ट है कि जब तक इस न्यायालय द्वारा सरकार की पूर्वोक्त अधिसूचना को अभिखण्डित नहीं किया जाता है, पिटीशनर आवंटन (यदि कोई हो) और तारीख 17 नवम्बर, 1981 को निष्पादित करार के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता है। (पैरा 8)

तारीख 15 जुलाई, 1981 को की गई बोर्ड की बैठक में बोर्ड ने यह संकल्प किया था कि उप-समिति की रिपोर्ट के आधार पर ही, जो सभी सदस्यों द्वारा सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित की गई थी, आवंटन किया जा सकता था। वस्तुतः उप-समिति की रिपोर्ट पर सभी सदस्यों के हस्ताक्षर नहीं थे। अतः बोर्ड के अधिकारियों को उप-समिति की रिपोर्ट के आधार पर, जो केवल कुछ सदस्यों द्वारा ही हस्ताक्षरित की गई थी, आबंटन करने का कोई प्राधिकार या विधिक अधिकार प्राप्त नहीं था। अवक्रय करार का निष्पादन, इन परिस्थितियों को देखते हुए, बोर्ड के अधिकारियों का अविधिमान्य कार्य था। बोर्ड अपने अधिकारियों की ऐसी अवैध कार्यवाही द्वारा आबद्ध नहीं हो सकता है। अतः अवक्रय करार के आधार पर पिटीशनर को कोई अधिकार प्रोद्भूत नहीं हो सकता है। (पैरा 9)

आरम्भिक सिविल रिट अधिकारिता : 1982 का सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 4096.

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री शिवनन्दन राय और अरुण कुमार सिंह (सं० II)

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री राम बालक महतो, प्रद्युम्न नारायण सिंह, (श्रीमती) इन्दु प्रभा सिंह, मणि लाल, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, शांति प्रताप, अरविन्द कुमार और एम० एस० मधुप।

न्यायालय का निर्णय न्या० सरवर अली ने दिया।

न्या० अली :

इस रिट आवेदन में पिटीशनर ने यह प्रार्थना की है कि प्रत्यर्थियों को पटना नगर के लोहियानगर में स्थित, मध्यम आय वर्ग के मकान सं० 114 के पिटीशनर के कब्जे में विघ्न न डालने का निदेश किया जाए। पिटीशनर ने यह दावा किया है कि उसने बिहार राज्य आवासन बोर्ड (जिसे "बोर्ड" कहा गया है) के सम्पदा अधिकारी के कार्यालय से पटना प्रभाग के बोर्ड के कार्यपालक इंजीनियर के नाम भेजे गए पत्र के अनुसरण में इस मकान का कब्जा लिया है, जिसके द्वारा उसे (कार्यपालक इंजीनियर को) पिटीशनर को मकान के कब्जे का परिदान करने का निदेश किया गया था।

2. पिटीशनर का यह पक्षकथन है कि वह एक सामाजिक कार्यकर्ता है। तत्कालीन मुख्य मंत्री डा० जगन्नाथ मिश्र ने यह सिफारिश की थी कि पिटीशनर के पक्ष में आवंटन किया जाए। बोर्ड ने सरकार की विशेष सिफ़ारिश पर आवंटित किए जाने वाले मकानों की कुल संख्या के 3% भाग को आरक्षित करने का पहले ही विनिश्चय कर लिया था। अतः बोर्ड पिटीशनर को लोहियानगर स्थित मध्यम आय वर्ग के मकान सं० 114 का आवंटन करने के लिए सहमत हो गया। तारीख 17 नवम्बर, 1981 को पिटीशनर और बोर्ड के सम्पदा अधिकारी के बीच अवक्रय का करार (उपाबंध 2) किया गया। तत्पश्चात् तारीख 19 नवम्बर, 1981 को एक पत्र (उपाबंध 3) भेजा गया, जिसके द्वारा पिटीशनर को प्रश्नगत मकान के कब्जे का परिदान करने के लिए निदेश किया गया। पिटीशनर द्वारा कब्जे का वास्तविक परिदान लेने के संबंध में कुछ विवाद था। किन्तु अन्ततः पिटीशनर ने तारीख 29 सितम्बर, 1982 के मकान के खाली किए जाने के पश्चात् उक्त मकान में रहना आरम्भ कर दिया। तारीख 2 अक्तूबर, 1982 को सहायक उप-पुलिस निरीक्षक के नेतृत्व में पुलिस बल पिटीशनर के पास आया और उससे मकान खाली करने के लिए कहा। पिटीशनर ने सहायक उप-पुलिस निरीक्षक को यह बताया कि वह मकान का विधिपूर्ण स्वामी है। इस प्रकार उसके द्वारा परिसर खाली किए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सहायक उप-पुलिस निरीक्षक ने

पिटीशनर को यह सूचित किया कि उसे प्रशासन और आवासन बोर्ड द्वारा यह सुनिश्चित करने का निदेश दिया गया था कि कोई भी व्यक्ति उक्त मकान को अपने कब्जे में नहीं ले। अतः कानून का पालन करने वाले नागरिक के रूप में पिटीशनर ने मकान में ताला लगा दिया और वह उसे छोड़ दिया तथा उसने मकान की चाबियां अपने पास ही रखीं। चूंकि उक्त मकान के आवंटन के लिए अनेक व्यक्ति बोर्ड के पास आ रहे हैं, अतः पूर्वोक्त प्रयोजन के लिए रिट आवेदन का फाइल किया जाना आवश्यक हो गया है।

3. रिट पिटीशन के विचारार्थ ग्रहण किए जाने के समय सरदार मोहन सिंह नामक एक व्यक्ति ने मध्यक्षेप किया। उसे प्रत्यर्थी सं० 7 के रूप में पक्षकार बनाया गया है। बोर्ड तथा नए प्रत्यर्थी की ओर से भी प्रतिशपथपत्र फाइल किए गए हैं। स्वयं प्रत्यर्थी सं० 7 ने एक पृथक् रिट आवेदन फाइल किया है, जिसमें उसने प्रश्नगत मकान के उसे आबंटित किए जाने के लिए परमादेश की प्रार्थना की है। चूंकि उस मामले पर मेरा पृथक् रूप से विचार करने का इरादा है, अतः उसके प्रतिशपथ पत्र के प्रति निर्देश करना आवश्यक नहीं है, विशेष रूप से इस मामले में मेरे द्वारा अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण को देखते हुए राज्य की ओर से भी प्रतिशपथपत्र फाइल किए गए हैं।

4. प्रथम प्रतिशपथपत्र में यह कथन किया गया है कि बोर्ड का कार्यकाल तारीख 23 अक्तूबर, 1981 को समाप्त हो गया था। यद्यपि बोर्ड के कार्यकाल को तारीख 31 दिसम्बर, 1982 तक बढ़ा दिया गया था, फिर भी बोर्ड को उक्त अवधि के दौरान भूमि या मकान आबंटित करने की शक्तियां प्राप्त नहीं थीं। इसके अतिरिक्त, राज्य सरकार ने बिहार आवासन बोर्ड अध्यादेश, 1981 की धारा 23 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए, तारीख 24 अक्तूबर, 1981 को या उससे पूर्व भूखण्डों और मकानों की बाबत बोर्ड द्वारा किए गए सभी आबंटनों को रद्द और अपास्त कर दिया है। ऐसा कहा गया है कि यह रद्दकरण बोर्ड द्वारा की गई अवैधताओं और अनियमितताओं के कारण किया गया है। शपथपत्र में यह कहा गया है कि इन अवैधताओं और अनियमितताओं को 1983 के सी० डब्ल्यू० जे० सी० सं० 3272 में फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में यह स्पष्ट किया गया है, जिसके प्रति सुनवाई के समय निर्देश किया जाएगा और जिसकी एक प्रति पिटीशनर के काउन्सेल पर तामील कर दी गई है और प्रतिशपथपत्र से संलग्न की गई है। 1983 के सी० डब्ल्यू० जे० सी० सं० 3272 के उक्त प्रतिशपथपत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि बोर्ड द्वारा निकाले गए विज्ञापन के अनुसरण में उसे अनेक आवेदन प्राप्त हुए थे। पिटीशनर भी उन आवेदकों में से एक था। तारीख 16 मई, 1981 को बोर्ड की बैठक हुई। कार्य

सूची की मदों में से एक मद बहादुरपुर स्थित 354 भूखण्डों का आबंटन थी। बैठक में यह संकल्प किया गया कि आवेदकों की सूची की तीन सदस्यों अर्थात् श्री नन्द किशोर प्रसाद (अशासकीय सदस्य), श्री एम० पी० सिन्हा, विशेष सचिव, वित्त विभाग और श्री निरंजन राय, मुख्य इंजीनियर, की उप-समिति द्वारा जांच की जाए। तारीख 15 जुलाई, 1981 को की गई बोर्ड की बैठक के लिए कार्य सूची की मदों में से एक मद उप-समिति की रिपोर्ट पर विचार, थी। उक्त तारीख को बोर्ड ने यह संकल्प किया कि उप-समिति की रिपोर्ट कार्य-सूची के साथ अभिलेख में नहीं रखी गई थी, "अतः उप-समिति के सभी सदस्यों द्वारा सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित उप-समिति की रिपोर्ट एक दिन के भीतर प्राप्त की जाए और उसके पश्चात् आबंटन उप-समिति की सिफारिश के अनुसार आबंटन किया जाए और आबंटन आदेश जारी किए जाएं।" यद्यपि सभी सदस्यों द्वारा सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित उप-समिति की कोई रिपोर्ट नहीं थी, फिर भी बोर्ड के संकल्प के विपरीत, पिटीशनर को आबंटन आदेश जारी किए गए। यह भी कहा गया है कि आबंटन वाली मूल फाइल गुम है। कार्यालय में उपलब्ध अभिलेख से केवल यह दर्शित होता है कि संबंधित तारीखों को आबंटन किए गए थे, जैसा कि प्रतिशपथपत्र से उपदर्शित होता है। इस प्रकार, संक्षेप में यह कहा गया है कि विधि के अनुसार और बोर्ड के द्वारा किए गए विनिश्चय के अनुसरण में आबंटन नहीं किया गया था। द्वितीय प्रतिशपथपत्र में भी इस तथ्य पर जोर दिया गया था कि तारीख 24 अक्तूबर, 1981 के पश्चात् किए गए आबंटन रद्द कर दिए गए हैं, अतः पिटीशनर यह दावा नहीं कर सकता है कि वह प्रश्नगत मकान के कब्जे के लिए हकदार है। यह भी कहा गया है कि आवास बोर्ड ने राज्य सरकार की अधिसूचना के अनुसरण में, समाचारपत्र में रद्दकरण को प्रकाशित करके ऐसे आबंटन के रद्दकरण को अधिसूचित किया था, जिसकी फोटोस्टेट प्रति उपाबंध-ए के रूप में उपाबद्ध की गई है।

5. उक्त प्रतिशपथपत्र में यह भी कहा गया है कि तारीख 24 अक्तूबर, 1981 को या उसके पश्चात् बोर्ड द्वारा किए गए आबंटन, अधिनियम की धारा 23 के अधीन प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में रद्द कर दिए गए हैं और इस प्रकार पूर्वोक्त तारीख को या उसके पश्चात् किए गए आबंटन के आधार पर कोई भी अधिकार प्रोद्भूत नहीं हो सकते हैं।

6. पिटीशनर की यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि उसके पक्ष में आबंटन राज्य सरकार की विशेष सिफारिश पर आबंटन के लिए आरक्षित कोटा में से किया गया था। उपाबंध 1 का अवलम्ब लिया गया। यह दस्तावेज तारीख 24 जुलाई, 1981 का पत्रक (बफशीट) है, जो बोर्ड के अध्यक्ष

के नाम है और जिसमें यह कहा गया है कि सरकारी कोटे से आबंटन के लिए पिटीशनर के मामले पर विचार किया जाए। किसी मंत्री या मुख्य मंत्री का पत्रक (वफशीट) मात्र इस आशय का सरकारी विनिश्चय नहीं माना जा सकता है कि सरकारी कोटे से आवंटन किया जाए। उस सम्बन्ध में किसी सरकारी विनिश्चय को अन्तर्विष्ट करने वाला, किसी प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा लिखा गया कोई पत्र अभिलेख में नहीं लाया गया है। अतः प्रथम दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है।

7. इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि सरकार ने बिहार आवासन बोर्ड अध्यादेश की धारा 23 के अधीन शक्ति के प्रयोग में एक अधिसूचना जारी की, जिसके द्वारा तारीख 24 अक्तूबर, 1981 को किए गए सभी आबंटन रद्द कर दिए गए। इस रिट आवेदन में राज्य सरकार के उक्त आदेश को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती नहीं दी गई है। यदि पिटीशनर सरकार की अधिसूचना को चुनौती देना चाहता था, तो उसे अपने पिटीशन में संशोधन करना चाहिए था और उसमें समुचित प्रार्थना करनी चाहिए थी और उसके पश्चात् ही बोर्ड और राज्य सरकार से की गई कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने के लिए कहा जाता।

8. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने अध्यक्षेपक द्वारा फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र के उत्तर के प्रति निर्देश किया, जिसके पैरा 7 में यह कहा गया है कि यदि राज्य सरकार या बोर्ड द्वारा आदेश या निदेश किए भी गए हों, वे अवैध हैं और अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं। किन्तु, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, रिट आवेदन के संशोधन द्वारा, सरकार की कार्यवाही को विनिर्दिष्ट रूप से चुनौती दी जानी होती है। उसके अभाव में यह नहीं कहा जा सकता है कि इस रिट आवेदन में सरकारी आदेश को चुनौती दी गई है। यह स्पष्ट है कि जब तक इस न्यायालय द्वारा सरकार की पूर्वोक्त अधिसूचना को अभिखण्डित नहीं किया जाता है, पिटीशनर आबंटन (यदि कोई हो) और तारीख 17 नवम्बर, 1981 को निष्पादित करार के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता है।

9. किन्तु इसके अतिरिक्त भी, बोर्ड के प्रथम प्रतिशपथपत्र के उपाबंध में किए गए प्रकथनों से यह स्पष्ट होता है कि तारीख 15 जुलाई, 1981 को की गई बोर्ड की बैठक में बोर्ड ने यह संकल्प किया था कि उप-समिति की रिपोर्ट के आधार पर ही, जो सभी सदस्यों द्वारा सम्यक्‌रूप से हस्ताक्षरित की गई थी, आबंटन किया जा सकता था। वस्तुतः उप-समिति की रिपोर्ट पर सभी सदस्यों के हस्ताक्षर नहीं थे। अतः बोर्ड के अधिकारियों को उप-समिति की रिपोर्ट के आधार

सूची की मदों में से एक मद बहादुरपुर स्थित 354 भूखण्डों का आवंटन थी। बैठक में यह संकल्प किया गया कि आवेदकों की सूची की तीन सदस्यों अर्थात् श्री नन्द किशोर प्रसाद (अशासकीय सदस्य), श्री एम० पी० सिन्हा, विशेष सचिव, वित्त विभाग और श्री निरंजन राय, मुख्य इंजीनियर, की उप-समिति द्वारा जांच की जाए। तारीख 15 जुलाई, 1981 को की गई बोर्ड की बैठक के लिए कार्य सूची की मदों में से एक मद उप-समिति की रिपोर्ट पर विचार, थी। उक्त तारीख को बोर्ड ने यह संकल्प किया कि उप-समिति की रिपोर्ट कार्य-सूची के साथ अभिलेख में नहीं रखी गई थी, "अतः उप-समिति के सभी सदस्यों द्वारा सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित उप-समिति की रिपोर्ट एक दिन के भीतर प्राप्त की जाए और उसके पश्चात् आबंटन उप-समिति की सिफारिश के अनुसार आबंटन किया जाए और आबंटन आदेश ज़ारी किए जाएं।" यद्यपि सभी सदस्यों द्वारा सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित उप-समिति की कोई रिपोर्ट नहीं थी, फिर भी बोर्ड के संकल्प के विपरीत, पिटीशनर को आबंटन आदेश जारी किए गए। यह भी कहा गया है कि आबंटन वाली मूल फाइल गुम है। कार्यालय में उपलब्ध अभिलेख से केवल यह दर्शित होता है कि संबंधित तारीखों को आवंटन किए गए थे, जैसा कि प्रतिशपथपत्र से उपदर्शित होता है। इस प्रकार, संक्षेप में यह कहा गया है कि विधि के अनुसार और बोर्ड के द्वारा किए गए विनिश्चय के अनुसरण में आबंटन नहीं किया गया था। द्वितीय प्रतिशपथपत्र में भी इस तथ्य पर जोर दिया गया था कि तारीख 24 अक्तूबर, 1981 के पश्चात् किए गए आबंटन रद्द कर दिए गए हैं, अतः पिटीशनर यह दावा नहीं कर सकता है कि वह प्रश्नगत मकान के कब्जे के लिए हकदार है। यह भी कहा गया है कि आवास बोर्ड ने राज्य सरकार की अधिसूचना के अनुसरण में, समाचारपत्र में रद्दकरण को प्रकाशित करके ऐसे आबंटन के रद्दकरण को अधिसूचित किया था, जिसकी फोटोस्टेट प्रति उपाबंध-ए के रूप में उपाबद्ध की गई है।

5. उक्त प्रतिशपथपत्र में यह भी कहा गया है कि तारीख 24 अक्तूबर, 1981 को या उसके पश्चात् बोर्ड द्वारा किए गए आवंटन, अधिनियम की धारा 23 के अधीन प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में रद्द कर दिए गए हैं और इस प्रकार पूर्वोक्त तारीख को या उसके पश्चात् किए गए आवंटन के आधार पर कोई भी अधिकार प्रोद्भूत नहीं हो सकते हैं।

6. पिटीशनर की यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है कि उसके पक्ष में आबंटन राज्य सरकार की विशेष सिफारिश पर आबंटन के लिए आरक्षित कोटा में से किया गया था। उपाबंध 1 का अवलम्ब लिया गया। यह दस्तावेज तारीख 24 जुलाई, 1981 का पत्रक (बफशीट) है, जो बोर्ड के अध्यक्ष

के नाम है और जिसमें यह कहा गया है कि सरकारी कोटे से आबंटन के लिए पिटीशनर के मामले पर विचार किया जाए। किसी मंत्री या मुख्य मंत्री का पत्रक (वकशीट) मात्र इस आशय का सरकारी विनिश्चय नहीं माना जा सकता है कि सरकारी कोटे से आवंटन किया जाए । उस सम्बन्ध में किसी सरकारी विनिश्चय को अन्तर्विष्ट करने वाला, किसी प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा लिखा गया कोई पत्र अभिलेख में नहीं लाया गया है। अतः प्रथम दलील स्वीकार नहीं की जा सकती है।

7. इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि सरकार ने बिहार आवासन बोर्ड अध्यादेश की धारा 23 के अधीन शक्ति के प्रयोग में एक अधिसूचना जारी की, जिसके द्वारा तारीख 24 अक्तूबर, 1981 को किए गए सभी आबंटन रद्द कर दिए गए। इस रिट आवेदन में राज्य सरकार के उक्त आदेश को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती नहीं दी गई है। यदि पिटीशनर सरकार की अधिसूचना को चुनौती देना चाहता था, तो उसे अपने पिटीशन में संशोधन करना चाहिए था और उसमें समुचित प्रार्थना करनी चाहिए थी और उसके पश्चात् ही बोर्ड और राज्य सरकार से की गई कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने के लिए कहा जाता।

8. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने अध्यक्षेपक द्वारा फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र के उत्तर के प्रति निर्देश किया, जिसके पैरा 7 में यह कहा गया है कि यदि राज्य सरकार या बोर्ड द्वारा आदेश या निदेश किए भी गए हों, वे अवैध हैं और अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं। किन्तु, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, रिट आवेदन के संशोधन द्वारा, सरकार की कार्यवाही को विनिर्दिष्ट रूप से चुनौती दी जानी होती है। उसके अभाव में यह नहीं कहा जा सकता है कि इस रिट आवेदन में सरकारी आदेश को चुनौती दी गई है। यह स्पष्ट है कि जब तक इस न्यायालय द्वारा सरकार की पूर्वोक्त अधिसूचना को अभिखण्डित नहीं किया जाता है, पिटीशनर आबंटन (यदि कोई हो) और तारीख 17 नवम्बर, 1981 को निष्पादित करार के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकता है।

9. किन्तु इसके अतिरिक्त भी, बोर्ड के प्रथम प्रतिशपथपत्र के उपाबंध में किए गए प्रकथनों से यह स्पष्ट होता है कि तारीख 15 जुलाई, 1981 को की गई बोर्ड की बैठक में बोर्ड ने यह संकल्प किया था कि उप-समिति की रिपोर्ट के आधार पर ही, जो सभी सदस्यों द्वारा सम्यक्‌रूप से हस्ताक्षरित की गई थी, आवंटन किया जा सकता था। वस्तुतः उप-समिति की रिपोर्ट पर सभी सदस्यों के हस्ताक्षर नहीं थे। अतः बोर्ड के अधिकारियों को उप-समिति की रिपोर्ट के आधार

पर, जो केवल कुछ सदस्यों द्वारा ही हस्ताक्षरित की गई थी, आबंटन करने का कोई प्राधिकार या विधिक अधिकार प्राप्त नहीं था। अवक्रय करार का निष्पादन, इन परिस्थितियों को देखते हुए, बोर्ड के अधिकारियों का अविधिमान्य कार्य था। बोर्ड अपने अधिकारियों की ऐसी अवैध कार्यवाही द्वारा आबद्ध नहीं हो सकता है। अतः अवक्रय करार के आधार पर पिटीशनर को कोई अधिकार प्रोद्भूत नहीं हो सकता है।

10. पूर्वोक्त कारणों से मेरा यह मत है कि पिटीशनर उन अनुतोषों के लिए हकदार नहीं है, जिनका इस रिट आवेदन में दावा किया गया है। तदनुसार वह खारिज किया जाता है किन्तु खर्चे के संबंध में कोई आदेश नहीं किए जा रहे हैं।

न्या० एस० एच० एस० आबिदी :

मैं सहमत हूं।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

न०

नि० प० 1984 : पटना —222

जीवन पाण्डेय और एक अन्य बनाम महेन्द्र राय

(Jiawan Pandey and another *Vs*. Mahendra Rai)

तारीख 5 मार्च, 1984

[न्या० एस० के० चौधरी एवं न्या० यदुनाथ सरन सिंह]

बिहार कंसोलिडेशन आफ होल्डिंग्स एण्ड प्रीवेंशन आफ फ्रैगमेंटेशन ऐक्ट, 1956 —धारा 4(ग)—यदि प्रथमदृष्ट्या यह पाया जाता है कि विक्रय-विलेख सम्यक् रूप से निष्पादित और समुचित रूप से रजिस्ट्रीकृत किए गए हैं, तो अनिवार्यतः यह विधिक निष्कर्ष निकलता है कि हक अन्तरक से अन्तरिती को सक्रान्त हो गया और इसलिए उससे संलग्न विधिक परिणामों से पीछा छुड़ाने के लिए उनका अनिवार्यतः रद्द किया जाना आवश्यक है। अपरंच, संयुक्त प्रकृति के वाद में यदि कोई अनुतोष मांगा जाता है या मांगे जाते हैं, जो भूमि के हक की घोषणा और अवधारण से असम्बद्ध है या हैं, तो वह (वाद) पूर्वोक्त स्वतंत्र अनुतोष

या अनुतोषों के संबंध में अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन उपशमित नहीं होगा।

वादी के प्रतिवादी (पिटीशनर) के साथ घनिष्ट संबंध हो गए थे और उस पर उसका पूरा विश्वास था। पूर्वोक्त स्थिति का फ़ायदा उठाते हुए, वादी, जो दमे का मरीज था, प्रतिवादियों की सलाह से दवा लिया करता था, जिन्होंने उसके उपचार में उसकी सहायता की। जब वादी प्रतिवादियों की सलाह से कुछ दवाएं लिया करता था, तब उसे कुछ सीमा तक दमे के दर्द से राहत मिल जाया करती थी और उसे नशा-सा हो जाया करता था। नशे की उस स्थिति में वह अपना होश-हवास खो बैठता था और जब वह ऐसी स्थिति में था, तो प्रतिवादियों ने उससे एक दान-विलेख निष्पादित करा लिया। सारतः, इन्हीं अभिकथनों के अधीन वादी ने इस घोषणा के लिए प्रार्थना की कि तारीख 6 अप्रैल, 1977 का दान-विलेख, जो तात्पर्यतः वादी द्वारा निष्पादित किया गया था, अवैध, अकृत, शून्य, कपटपूर्ण, गढ़ा हुआ और दुस्संधिपूर्ण दस्तावेज था और वह बिना किसी प्रतिफल के था और इसलिए वादी उससे प्रभावित नहीं होता था। वाद के लम्बित रहने के दौरान प्रतिवादी-पिटीशनरों ने अधिनियम की धारा 4(ख) और 4(ग) के अधीन निचले न्यायालय में एक आवेदन फाइल किया, जिसमें यह अभिनिर्धारित किए जाने की प्रार्थना की गई कि वाद उपशमित हो गया है। अतिरिक्त मुंसिफ द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि बिहार कंसो लिडेशन आफ होल्डिंग्स एण्ड प्रीवेंशन आफ फ्रैगमैंटेशन ऐक्ट, 1956 की धारा 4(ग) के अधीन वाद उपशमित नहीं हुआ है। प्रतिवादियों ने उक्त निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में प्रस्तुत पुनरीक्षण फाइल किया है।

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण आवेदन खारिज किया गया।

यदि प्रथमदृष्ट्या यह पाया जाता है कि विक्रय विलेख सम्यक् रूप से निष्पादित और समुचित रूप से रजिस्ट्रीकृत किए गए हैं, तो अनिवार्यतः यह विधिक निष्कर्ष निकलता है कि हक अन्तरक से अन्तरिती को संक्रान्त हो गया और इसलिए उससे संलग्न विधिक परिणामों से पीछा छुड़ाने के लिए उनका अनिवार्यतः रद्द किया जाना आवश्यक है, और यद्यपि रद्दकरण के लिए अनुतोष स्पष्ट रूप से नहीं मांगा गया था, फिर भी वह अनुतोष में सन्निहित था। अतः वादी के अभिकथनों के आधार पर ऐसा दस्तावेज शून्यकरणीय होगा, न कि शून्य और इसीलिए वादी को कोई भी अनुतोष दिए जा सकने से पूर्व उसका रद्द किया जाना आवश्यक है। अपरंच, संयुक्त प्रकृति के वाद में यदि कोई अनुतोष मांगा जाता है या मांगे जाते हैं, जो भूमि के हक की घोषणा और अवधारण से असम्बद्ध है या हैं, तो वह (वाद)

पूर्वोक्त स्वतंत्र अनुतोष या अनुतोषों के संबंध में अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन उपशमित नहीं होगा। (पैरा 7 और 8)

पैरा

[1973] [1973] 3 उम० नि० प० 832=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2451 : गोरखनाथ दुबे **बनाम** हरि नारायण सिंह (Gorekh Nath Dubey *Vs.* Hari Narain Singh) 6

का अवलम्ब लिया गया।

[1983] 1983 बी० बी० सी० जे० 124 : छोटे गोप **बनाम** काली गोप (Chote Gope *Vs.* Kali Gope); 5

[1981] 1981 बी० बी० सी० जे० 411 : सूरजमणि **बनाम** शान्ति देवी (Surajmani *Vs.* Shanti Devi); 5

[1979] 1979 बिहार बार काउन्सिल जर्नल 259 : रामकीरत सिंह **बनाम** बिहार राज्य और अन्य (Ramkrit Singh *Vs.* The State of Bihar and others.); 8

[1944] ए० आई० आर० 1944 पटना 17 (पू० न्या०) : मुसम्मात रूपिया **बनाम** भातू महतो (Mt. Rupia *Vs.* Bhatu Mahton) 7

से सहमति व्यक्त की गई।

[1979] 1979 बिहार ला जर्नल 669 : पारस सिंह **बनाम** बैकुण्ठ सिंह (Paras Singh *Vs.* Baikunth Singh) 5

से प्रभेद बताया गया।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1981 का सिविल पुनरीक्षण सं० 50.

आरा के अतिरिक्त मुंसिफ द्वारा तारीख 7 जनवरी, 1981 को पारित आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन।

पिटशनरों की ओर से … श्री विनोद कुमार राय

विरोधी पक्षकार की ओर से … श्री डी० एन० पाण्डेय

न्यायालय का निर्णय न्या० एस० के० चौधरी ने दिया।

न्या० चौधरी :

प्रतिवादियों द्वारा यह पुनरीक्षण आवेदन 1979 के वाद सं० 159 में आरा के अतिरिक्त मुंसिफ द्वारा तारीख 7 जनवरी, 1981 को पारित आदेश के विरुद्ध किया गया है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि बिहार कंसोलिडेशन आफ होल्डिंग्स एण्ड प्रीवेंशन आफ फ्रैगमैंटेशन ऐक्ट, 1956 (1956 का बिहार अधिनियम सं० 12), (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 4 (ग) के अधीन वाद उपशमित नहीं हुआ है। यह पुनरीक्षण आवेदन विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई के लिए रखा गया था, किन्तु तारीख 20 नवम्बर, 1982 के आदेश द्वारा उन्होंने मामला खण्ड न्यायपीठ को निर्देशित कर दिया और इस प्रकार यह मामला सुनवाई के लिए हमारे समक्ष रखा गया है।

2. पूर्वोक्त वाद इस घोषणा के लिए फाइल किया गया था कि तारीख 6 अप्रैल, 1977 का दान-विलेख, जो तात्पर्यतः वादी द्वारा निष्पादित किया गया था, अवैध, अकृत, शून्य, कपटपूर्ण, गढ़ा हुआ और दुस्संधिपूर्ण दस्तावेज था और वह बिना किसी प्रतिफल के था और इसलिए वादी उससे प्रभावित नहीं होता था।

3. संक्षेप में वादी का पक्षकथन यह है कि वादी के प्रतिवादी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध हो गए थे और उस पर उसका पूरा विश्वास था। यह प्रकथन किया गया है कि पूर्वोक्त स्थिति का फायदा उठाते हुए, वादी, जो दमे का मरीज था, प्रतिवादियों की सलाह से दवा लिया करता था, जिन्होंने उसके उपचार में उसकी सहायता की। यह भी कहा गया है कि, जब वादी प्रतिवादियों की सलाह से कुछ दवाएं लिया करता था, उसे कुछ सीमा तक दमे के दर्द से राहत मिल जाया करती थी और उसे नशा-सा हो जाया करता था। यह भी कहा गया है कि नशे की उस स्थिति में वह अपना होश-हवाश खो बैठता था और जब वह ऐसी स्थिति में था, तो प्रतिवादियों ने तारीख 6 अप्रैल, 1977 को उससे एक दान-विलेख निष्पादित करा लिया। सारतः, इन्हीं अभिकथनों के अधीन वादी ने पूर्वोक्त घोषणा के लिए प्रार्थना की है। इस प्रकार वादी, स्वयं जिसने उक्त दस्तावेज निष्पादित किया है, पूर्वोक्त अभिकथनों के आधार पर उससे बचना चाहता है।

4. वाद के लम्बित रहने के दौरान प्रतिवादी-पिटीशनरों ने अधिनियम की धारा 4 (ख) और 4 (ग) के अधीन निचले न्यायालय में एक आवेदन फाइल किया, जिसमें यह अधिनिर्धारित किये जाने की प्रार्थना की गई कि वाद उपशमित

हो गया है। क्योंकि ग्राम सुन्दरपुर, बरजा में चकबन्दी कार्यवाही चल रही है, जिसमें दान-विलेख के अन्तर्गत आने वाली भूमियां स्थित हैं। वादी-विरोधी पक्षकार द्वारा उक्त आवेदन का प्रत्युत्तर फाइल किया गया। निचले न्यायालय ने मामले की सुनवाई की और सुनवाई के पश्चात् उसने आक्षेपित आदेश पारित किया, जिसके द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वाद उपशमित नहीं हुआ है।

5. इस आवेदन के समर्थन में हाजिर होते हुए विद्वान् काउन्सेल श्री विनोद कुमार राय ने यह दलील दी कि निचले न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते समय अपनी अधिकारिता के प्रयोग में अवैध रूप से और तात्त्विक अनियमितता से कार्य किया है कि अधिनियम की धारा 4 (ग) के अधीन वाद उपशमित नहीं हुआ है। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, प्रस्तुत मामला **पारस सिंह बनाम बैकुण्ठ सिंह**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के एकल न्यायाधीश के विनिश्चय के अंतर्गत आता है। विद्वान् काउन्सेल का यह कहना है कि उसके द्वारा प्रस्तुत विधि की प्रतिपादना का इस विनिश्चय से पूर्ण समर्थन होता है।

दूसरी ओर, विरोधी पक्षकार की ओर से हाजिर होते हुए, विद्वान् काउन्सेल श्री डी० एन० पाण्डेय ने आक्षेपित आदेश का समर्थन किया और **सूरज मणि बनाम शान्ति देवी**[2] तथा **छोटे गोप बनाम काली गोप**[3] वाले मामलों में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चयों का अवलंब लिया।

अतः अब एकमात्र विवाद यह है कि क्या प्रश्नगत दान-विलेख, जिसे वादी-विरोधी पक्षकार द्वारा वाद में चुनौती दी गई है, शून्य दस्तावेज है या शून्यकरणीय दस्तावेज है। न्यायालय में इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं उठाया गया है कि यदि यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि प्रश्नगत दस्तावेज शून्यकरणीय दस्तावेज है, तो वह न्यायालय के न्याय-निर्णयन की अपेक्षा करता है और वर्तमान वाद उपशमित नहीं हुआ है। किन्तु यदि, दूसरी ओर, यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि दस्तावेज शून्य दस्तावेज है, तो निस्संदेह वाद अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन उपशमित हो गया है। सम्बन्धित पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों ने अपने-अपने तर्क के समर्थन में पूर्वोक्त विनिश्चय प्रो [illegible] किये।

---

[1] 1979 विहार लॉ जर्नल 669.

[2] 1981 बी० बी० सी० जे० 411.

[3] 1983 बी० बी० सी० जे० 124.

6. सर्वप्रथम, विरोधी पक्षकार की ओर से प्रोद्धृत दोनों मामलों पर विचार करना उचित होगा। **सूरजमणि** बनाम **शान्ति देवी**[1] वाले मामले में पुनरीक्षण आवेदन निचले न्यायालय के इस आदेश के विरुद्ध किया गया था कि अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन वाद और अपील दोनों ही उपशमित हो गये हैं। उक्त वाद इस घोषणा के लिए था कि प्रतिवादी सं० 1 के पक्ष में वादी-पिटीशनर और प्रतिवादी सं० 2 द्वारा संयुक्त रूप से तारीख 30 नवम्बर, 1973 को निष्पादित रजिस्ट्रीकृत दान-विलेख अवैध, शून्य, कपटपूर्ण और अविधिमान्य था। उक्त वाद दस्तावेज के रद्दकरण और रद्दकरण के पश्चात् हक की घोषणा के लिए भी था। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल का यह निवेदन कि चकबंदी प्राधिकारी को कपट के आधार पर दान-विलेख रद्द करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं थी, स्वीकार कर लिया गया। **गोरखनाथ दुबे** बनाम **हरि नारायण सिंह**[2] वाले मामले के प्रति निर्देश देते करते हुए, विद्वान् न्यायाधीश ने उस अंतर की ओर संकेत किया है, जो उच्चतम न्यायालय विनिश्चयों में ऐसे मामलों के जिनमें कोई दस्तावेज पूर्णतः या भागतः अविधिमान्य है, जिससे किसी न्यायालय या प्राधिकारी द्वारा उसकी उपेक्षा की जा सकती है, तथा ऐसे मामलों के बीच किया गया है जिनमें उसके विधिक प्रभाव के समाप्त हो सकने के पूर्व वस्तुतः उसे अपास्त किया जाना होता है। मामलों का पश्चात् कथित वर्ग वाद के उपशमन से संबंधित उपवंध की परिधि से बाहर रखा गया है। विचाराधीन मामले में विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रश्नगत मामला पश्चात् कथित वर्ग के अंतर्गत आता है और इस प्रकार दस्तावेज पक्षकारों के लिए तब तक आवद्धकर है, जब तक उसे न्यायालय द्वारा अपास्त नहीं कर दिया जाता है। विद्वान् न्यायाधीश के अनुसार, ऐसा दस्तावेज आदितः शून्य नहीं था बल्कि शून्यकरणीय दस्तावेज था। तदनुसार पुनरीक्षण मंजूर किया गया और उपशमन का आदेश अपास्त कर दिया गया।

विरोधी पक्षकार की ओर से प्रोद्धृत अन्य मामला है **छोटे गोप** बनाम **काली गोप**[3]। यह इस न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश का विनिश्चय है, जिसमें ऊपर निर्दिष्ट **गोरखनाथ वाले मामले**[2] में उच्चतम न्यायालय द्वारा किये गये विनिश्चय का अनुसरण किया गया है। इस मामले में भी, तारीख 16 जनवरी, 1980 के दान-विलेख के अविधिमान्य, अप्रवर्तनशील और

---

[1] 1981 बी० बी० सी० जे० 411.

[2] [1973] 3 उम० नि० प० 832=ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 2451.

[3] 1983 बी० बी० सी० जे० 124.

अकार्यान्वित घोषित किए जाने की प्रार्थना की गई। निचले न्यायालय का यह आदेश कायम रखा गया कि अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन वाद उपशमित नहीं हुआ है।

7. हमारी जानकारी में **मुसम्मात रूपिया** बनाम **भातू महतो**[1] वाले मामले में इस न्यायालय का पूर्ण न्यायपीठ विनिश्चय लिया गया। निस्संदेह उक्त मामला न्यायालय फीस अधिनियम के अधीन था। उक्त मामले के तथ्य इस प्रकार थे :— मुसम्मात रूपिया ने इस घोषणा के लिए वाद संस्थित किया कि उसके द्वारा निष्पादित कतिपय विक्रय-विलेख गढ़े हुए और कपटपूर्ण थे और वे उसके साथ कपट करके और दस्तावेजों की विषय-वस्तु की जानकारी प्राप्त कराए बिना उससे निष्पादित करा लिए गए थे। उसका यह पक्षकथन था कि प्रतिवादी सं० 1, 3 और 5 कुछ बहाना करके उसे पटना ले आये और उन्होंने दो दस्तावेजों पर उससे कपटपूर्वक अंगूठे के निशान लगवा लिए और उनकी विषय-वस्तु की उसे जानकारी कराये बिना उन दस्तावेजों का निष्पादन स्वीकार करवा लिया और यह कि प्रतिफल के संक्रात होने और कतिपय आवश्यकताओं के अस्तित्व तथा उसके पति और प्रतिवादी सं० 7 से 10 के बीच सम्बन्ध के संबंध में दस्तावेजों में किया गया वर्णन पूर्णतः मिथ्या था। उक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रथमदृष्ट्या, विक्रय-विलेख सम्यक् रूप से निष्पादित और समुचित रूप से रजिस्ट्रीकृत किये गये थे, जिससे यह आवश्यक विधिक निष्कर्ष (परिणाम) निकलता है कि हक अंतरित से अंतरिती को संक्रान्त हो गया और इसलिए उससे संलग्न विधिक परिणामों से पीछा छुड़ाने के लिए उनका अनिवार्यतः रद्द किया जाना आवश्यक है, और यद्यपि रद्दकरण के लिए अनुतोष स्पष्ट-रूप से नहीं मांगा गया था, फिर भी वह अनुतोष में सन्निहित था। अतः वादी के अभिकथनों के आधार पर ऐसा दस्तावेज शून्यकरणीय होगा, न कि शून्य और इसीलिए वादी को कोई भी अनुतोष दिये जा सकने से पूर्व उसका रद्द किया जाना आवश्यक था। इन परिस्थितियों में, यह अभिनिर्धारित किया गया कि मूल्यानुसार न्यायालय फीस संदेय थी और न्यायालय फीस अधिनियम की धारा 7(iv)(ग) लागू होगी। मेरी राय में, पूर्ण न्यायपीठ वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत उसी प्रकार वर्तमान मामले को भी लागू होगा।

8. अब पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा अपनी दलील के समर्थन में **पारस सिंह** बनाम **बैकुण्ठ सिंह और अन्य**[2] वाले मामले में प्रोद्धृत एकल

---

[1] ए० आई० आर० 1944 पटना 17 (पू० न्या०).

[2] 1979 बिहार लॉ जर्नल 669.

न्यायाधीश विनिश्चय पर विचार करना आवश्यक है। उक्त मामले के तथ्यों से यह प्रकट होता है कि वादी ने तारीख 2 फरवरी, 1973 को दान-विलेख को चुनौती देते हुए एक वाद फाइल किया था, जो तात्पर्यंतः बलिराम सिंह नामक एक व्यक्ति द्वारा प्रतिवादियों के पक्ष में निष्पादित किया गया था, जिसकी, वादी के अनुसार, तारीख 10 फरवरी, 1970 को मृत्यु हो गई थी। वादी ने उक्त बलिराम सिंह के निकटतम वारिस से रजिस्ट्रीकृत दान-विलेख के अधीन वादाधीन संपत्ति के लिए हक का दावा किया। यह अभिकथन किया गया कि उक्त दस्तावेज, जिसके अधीन प्रतिवादियों ने दावा किया है, इस आधार पर शून्य और अप्रवर्तनशील था कि बलिराम सिंह ने तारीख 2 फरवरी, 1973 वाला दान-विलेख कभी भी निष्पादित नहीं किया था और यह कि निष्पादन के समय बलिराम सिंह के शरीर और मन की दशा स्वस्थ नहीं थी और वह काफी लंबे समय से बीमार चला आ रहा था और वह सोचने-समझने की शक्ति खो बैठा था। एक आधार यह भी लिया गया था कि बलिराम सिंह उस समय, जब विलेख तात्पर्यंतः निष्पादित किया गया था, पूर्णतः प्रतिवादियों के प्रभाव और दबाव में था और यह कि उक्त दस्तावेज विधिपूर्ण रूप से रजिस्ट्रीकरण करने वाले अधिकारी के समक्ष उपस्थापित नहीं किया गया था, क्योंकि उक्त अधिकारी भी प्रतिवादियों के प्रभाव में था।

यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि दावाकृत मुख्य अनुतोष, जैसा कि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने अपने विनिश्चय में उपदर्शित किया है इस घोषणा के आधार पर वादाधीन भूमि के आत्यंतिक (पूर्ण) स्वामी के रूप में उसके हक की घोषणा के लिए था कि प्रतिवादियों के पक्ष में उक्त बलिराम सिंह द्वारा तात्पर्यंतः तारीख 2 फरवरी, 1973 को निष्पादित दान-विलेख अवैध, शून्य और अप्रवर्तनशील है और वादी के लिए आबद्धकर नहीं है। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यह अनुतोष स्पष्टतः अधिनियम की धारा 4(ग) के अंतर्गत आता है और इसलिए वाद ठीक ही उपशमित हो गया। इस संबंध में विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा **रामकीरत सिंह** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया और उन्होंने यह बताया कि संयुक्त प्रकृति के वाद में यदि कोई अनुतोष मांगा जाता है या मांगे जाते हैं, जो भूमि के हक की घोषणा और अवधारण से असंबद्ध है या हैं, तो वह पूर्वोक्त स्वतंत्र अनुतोष या अनुतोषों के संबंध में अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन उपशमित नहीं होगा। इस सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए ही, माननीय एकल

---

[1] 1979 बिहार बार काउन्सिल जर्नल 259.

न्यायाधीश ने यह अधिनिर्धारित किया कि "इस घोषणा के आधार पर कि उक्त दान-विलेख अवैध, शून्य और अप्रर्तनशील था, भूमि के लिए हक की घोषणा" शब्दों के प्रयोग से स्पष्टतः यह उपदर्शित होता है कि और आगे घोषणा में यह प्रार्थना की गई थी कि "तारीख 2 फरवरी, 1973 का उक्त दान-विलेख शून्य और अप्रवर्तनशील है और वह वादी के लिए आबद्धकर नहीं है"—यह इस प्रकार का निष्कर्ष है, जिसे मांगे गये अनुतोष के मंजूर किये जाने से अर्थात् विलेख के लिए हक की घोषणा किये जाने से पूर्व ही अभिलिखित किया जाना होता है। इस सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि इस घोषणा के लिए अनुतोष कि तारीख 2 फरवरी, 1973 का दान-विलेख अवैध, शून्य और अप्रवर्तनशील था और वह वादी के लिए आबद्धकर नहीं था, मुख्य अनुतोष, अर्थात् वादाधीन भूमि के पूर्ण स्वामी के रूप में वादी के हक की घोषणा से स्वतंत्र और असंबद्ध नहीं था और इसलिए उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वाद अधिनियम की धारा 4(ग) के अधीन उपशमित हो गया था।

9. तथापि, विद्वान् एकल न्यायाधीश इस धारण के आधार पर विधि के संबंध में चर्चा करने के लिए अग्रसर हुए कि वाद में दावाकृत दोनों अनुतोष स्वतंत्र और पृथक् थे और उक्त प्रश्न का विनिश्चय करते समय, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि अनुचित प्रभाव और दबाव का अभिकथन दान-विलेख को शून्यकरणीय दस्तावेज बना सकता है किन्तु इस अभिकथन से कि बलिराम सिंह द्वारा विलेख का निष्पादन किये जाने के समय, वह बेहोश था और सोचने-समझने की संपूर्ण शक्ति खो चुका था (यदि यह अभिकथन सिद्ध कर दिया जाता है।) विलेख शून्य हो जायेगा। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, यह निष्कर्ष इस धारणा पर आधारित था कि वह वाद में दावाकृत प्रधान अनुतोष से स्वतंत्र अनुतोष था। तथापि, ऐसी धारणा और मताभिव्यक्ति के बावजूद कि यदि यह साबित कर दिया जाता है कि बलिराम सिंह बेहोश था और सोचने-समझने की संपूर्ण शक्ति खो चुका था, तो दान-वेलेख शून्य दस्तालेज था, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने फिर भी विचारण न्यायालय के विनिश्चय को कायम रखा जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वाद समग्रतः उपशमित हो गया है। उनकी राय में, भले ही वह पृथक् अनुतोष हो, फिर भी यह अनुतोष के लिए वाद अधिनियम की धारा 4 (ग) के अंतर्गत आयेगा। अतः मैं यह समझने में असमर्थ हूं कि इस विनिश्चय से पिटीशनरों को किस प्रकार सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा दस्तावेज की प्रकृति के संबंध में की गई पूर्वोक्त मताभिव्यक्ति इतरोक्ति है। जैसा कि उपर उपदर्शित किया जा चुका है, प्रस्तुत

मामला पूर्णतः ऊपर निर्दिष्ट **मुसस्मात रूपिया वाले मामले**[1] में किये गये पूर्ण न्यायपीठ विनिश्चय के अंतर्गत आता है और इसलिए यह अभिनिर्धारित किया ही जाना चाहिए कि विचाराधीन दस्तावेज, अर्थात् वादी द्वारा निष्पादित दान-विलेख शून्यकरणीय दस्तावेज है।

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए, मेरा यह मत है कि विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि वाद अधिनियम की धारा 4(ग) में उपशमित नहीं हुआ है।

10. परिणामतः, इस पुनरीक्षण आवेदन में कोई वल नहीं है और वह तदनुसार, खर्चे के विना, खारिज किया जाता है।

न्या० यदुनाथ शरण सिंह :

मैं सहमत हूं।

पुनरीक्षण आवेदन खारिज किया गया।

न०

नि० प० 1984 : पटना—231

विश्वनाथ सिंह बनाम भारत संघ और अन्य

(Vishwnath Singh *Vs*. The Union of India and others)

तारीख 6 मार्च, 1984

[न्या० उदय सिन्हा एवं न्या० सत्य व्रत सान्याल]

केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल अधिनियम, 1949, धारा 9, 10, 11 और केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल नियमावली, 1955 नियम 27—आंतरिक जांच के, चाहे वह सरकारी सेवक के संबंध में हो या औद्योगिक कर्मकार/कार्यकर्ता के संबंध में, साक्ष्य अधिनियम के अधीन साक्ष्य के कठोर और शुद्ध नियम लागू नहीं किए जा सकते हैं। ऐसी सम्पूर्ण सामग्री, जो किसी भी प्रज्ञावान व्यक्ति के लिए तार्किक रूप से प्रमाणक है, अनुज्ञेय है। अनुश्रुति साक्ष्य के लिए कोई निषेध नहीं है, बशर्ते कि उसका तथ्यों से युक्तियुक्त संबंध हो और उसमें विश्वसनीयता हो।

---

[1] ए० आई० आर० 1944 पटना 17 (पू० न्या०).

पिटीशनर केन्द्रीय पुलिस बल का कांस्टेबल है। उसे समादेष्टा के आदेश द्वारा प्रदच्युत कर दिया गया। उसकी अपील खारिज कर दी गई। पदच्युति के आदेश से पहले आरोप-पत्र दिया गया और आन्तरिक जांच की गई। पिटीशनर ने जांच में भाग लिया था। जांच अधिकारी ने आरोप को साबित पाया। पदच्युति का आदेश पारित करने से पूर्व, पिटीशनर को प्रस्तावित दण्ड के विरुद्ध हेतुक दर्शित करने के लिए कहा गया। ऐसा केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल नियमावली, 1955 के नियम 27(7) के अधीन अपेक्षित है। पिटीशनर उच्च न्यायालय से जांच रिपोर्ट, पदच्युति आदेश और उसकी अपील को खारिज करने वाले आदेश को अभिखण्डित कराना चाहता है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

यह सुस्थापित विधि है कि आन्तरिक जांच में, चाहे वह सरकारी सेवक के संबंध में हो या औद्योगिक कर्मकार/कार्यकर्त्ता के संबंध में, साक्ष्य अधिनियम के अधीन साक्ष्य के कठोर और शुद्ध नियम लागू नहीं हो सकते हैं। ऐसी सम्पूर्ण सामग्री, जो किसी भी प्रज्ञावान् व्यक्ति के लिए तार्किक रूप से प्रमाणक है, अनुज्ञेय है। अनुश्रुति साक्ष्य के लिए कोई निषेध नहीं है बशर्ते कि उसका तथ्यों से युक्तियुक्त संबध हो और उसमें विश्वसनीयता हो। विधि में यह अपेक्षा की गई है कि ऐसे निकायों को जांच के संचालन में नैसर्गिक-न्याय के नियमों का पालन करना चाहिए और यदि वे ऐसा करते हैं तो उनके विनिश्चय को इस आधार पर अधिक्षेपित नहीं किया जा सकता है कि वह प्रक्रिया, जिसका अनुसरण किया गया था, उस प्रक्रिया के अनुसार नहीं थी, जिसका न्यायालय में पालन किया जाता है। ऐसा केवल इस कारण है कि कार्यवाहियां, (विभागीय और दाण्डिक) प्रकृति में बिल्कुल ही भिन्न होती हैं और वे विभिन्न क्षेत्रों में प्रवर्तित होती हैं तथा उनके उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि दोनों कार्यवाहियों में सामग्री या साक्ष्य एक जैसा हो या एक जैसा न हो और कुछ मामलों में ऐसी सामग्री या साक्ष्य, जो विभागीय जांचों में साक्ष्य होगा, दाण्डिक कार्यवाहियों में निषिद्ध माना जाएगा। दोनों में साक्ष्य के विवेचन से संबंधित नियम भिन्न-भिन्न हैं। दोनों जांचों की परिधि भी भिन्न है। दाण्डिक मामले में, अभियुक्त द्वारा किया गया अपराध में फंसाने वाला कथन कतिपय परिस्थितियों में या कतिपय व्यक्तियों के समक्ष पूर्णत: अग्राह्य है। विभागीय जांच में अधिकारी ऐसे तकनीकी नियम द्वारा आवद्ध नहीं होता है। सबूत का परिणाम भी भिन्न होता है। उच्च नज़ीरों द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि उस स्थिति में विधि के किसी भी सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं होता है, जब विभागीय जांच दोषमुक्ति के आदेश के पश्चात् की जाती है। दण्ड न्यायालयों का अपचारी व्यक्ति के आचरण और

अनुशासन से कोई प्रयोजन नहीं होता है । यह परखने की कसौटी कि नियोजक ने सावधानीपूर्ण जांच की है या नहीं, नियोजक से यह दर्शित करने की अपेक्षा करती है कि उसने सुसंगत परिस्थितियों का युक्तियुक्त रूप से तत्परतापूर्वक अन्वेषण किया था । यह कसौटी युक्तियुक्त तत्परता की कसौटी है । (पैरा 8)

क्या यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत विभागीय कार्यवाही में अपनाई गई प्रक्रिया "युक्तियुक्त नियोजक" द्वारा नहीं अपनाई गई होती । मामला महिला की नैतिकता से सम्बद्ध था । उसकी सभी पहलुओं पर पूर्णतः प्रतिपरीक्षा की गई । प्रतिपरीक्षा के परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि वह इस कारण पेश नहीं की गई कि उसे भविष्य में होने वाले दुर्व्यवहार से बचाया जा सके । पिटीशनर प्रतिपरीक्षा को ही दोहराता । उसका साक्ष्य पिटीशनर की उपस्थिति में जांच करने वाले अधिकारी द्वारा लिया गया था । उक्त जांच अधिकारी के विरुद्ध दुर्भाव का कोई अभिकथन नहीं किया गया है । अतः नियमों और ऋजु व्यवहार का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है । (पैरा 9)

		पैरा
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1512 : हरियाणा राज्य **बनाम** रतन सिंह (State of Haryana *Vs.* Rattan Singh);	8
[1973]	1973 इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स लॉ रिपोर्ट्स 363 : वोक्स लि० **बनाम** बीयर (Vokes Ltd. *Vs.* Bear);	10
[1957]	ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 882 : भारत संघ **बनाम** जे० आर० वर्मा (Union of India *Vs.* J. R. Verma)	8

का **अवलम्ब** लिया गया ।

[1971]	1971 पी० एल० जे० आर० 103 : मुदीदीह कोलियरी से सम्बद्ध कर्मचारी **बनाम** पीठासीन अधिकारी (Employees in relation to Mudidih Colliery *Vs.* Presiding Officer);	8
[1968]	1968 (1) एल० एल० जे० 703 : नन्द किशोर प्रसाद **बनाम** बिहार राज्य (Nand Kishore Prasad *Vs.* State of Bihar);	8

[1966] 1966 (1) एल० एल० जे० 55 : मोती सिंह छागा सिंह **बनाम** एस० डी० मेहता (Moti Singh Chagga Singh *Vs*. S. D. Matha); 8

[1965] 1965 (1) एल० एल० जे० 153 : जे० के० काटन स्पिनिंग एण्ड वीविंग कं० लि० **बनाम** उसके कर्मकार (J. K. Cotton Spinning & Weaving Company Ltd. *Vs*. Its Workman); 8

से **सहमति** व्यक्त की गई।

आरम्भिक सिविल रिट अधिकारिता : 1978 का सिविल रिट अधिकारिता मामला सं० 9.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री जे० एन० पी० सिन्हा, जयप्रकाश झा, सुनील कुमार, कामेश्वर प्रसाद और सुबोध प्रसाद

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री कमल कांत प्रसाद

न्यायालय का निर्णय न्या० सत्य व्रत सान्याल ने दिया।

न्या० सान्याल :

पिटीशनर केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल का कांस्टेबल है। उक्त बल केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल अधिनियम, 1949 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) के अधीन गठित किया गया था। वर्ष 1970 में उसकी नियुक्ति की गई। वर्ष 1976 में उसे मोकामेहघाट में तैनात किया गया।

2. उसे तारीख 25 अक्तूबर, 1976 को समादेष्टा के आदेश (उपाबंध-6) द्वारा पदच्युत कर दिया गया है। उसकी अपील (उपाबंध-7) खारिज कर दी गई। पदच्युति के आदेश से पहले आरोप-पत्र दिया गया और आन्तरिक जांच की गई। पिटीशनर ने जांच में भाग लिया था। जांच अधिकारी ने आरोप (उपाबंध-4) को साबित पाया। पदच्युति का आदेश पारित करने से पूर्व, पिटीशनर को प्रस्तावित दण्ड के विरुद्ध हेतुक दर्शित करने के लिए कहा गया। ऐसा केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल नियमावली, 1955 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'नियमावली' कहा गया है) के नियम 27 (7) के अधीन अपेक्षित है। पिटीशनर इस न्यायालय से जांच रिपोर्ट (उपाबंध-4), पदच्युति आदेश (उपाबंध-6) और उसकी अपील को खारिज करने वाले आदेश (उपाबध-1) को अभिखण्डित कराना चाहता है।

3. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने अनेक मुद्दे उठाए। अधिकतर मुद्दे आन्तरिक जांच के विधि की दृष्टि से दूषित होने के सम्बन्ध में हैं; लगाए गए आरोप अस्पष्ट हैं और वे अवचार गठित नहीं करते हैं। जांच अधिकारी द्वारा परिवादी कांस्टेबल की पत्नी के पूर्विक साक्ष्य का अवलम्ब लिया जाना एक बाह्य विचारणा है, यद्यपि समादेष्टा से लगाए गए आरोपों पर स्वयं अपने निष्कर्ष अभिलिखित करने की नियमों के अधीन अपेक्षा की जाती है, फिर भी उसने ऐसा नहीं किया।

4. विद्वान् स्थायी काउन्सेल, श्री कमला कांत प्रसाद ने उठाए गए मुद्दों का खण्डन किया। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, कांस्टेबल का, रात्रि में अपने साथी के क्वार्टर से अनुपस्थित रहने के दौरान उसकी पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करना घोर अनुशासनहीनता है। आरोप में इन तथ्यों का उल्लेख किया गया है और वे इसलिए अस्पष्ट नहीं हैं। घटना की शिकार महिला का साक्ष्य पूर्वतन जांच अधिकारी द्वारा अभिलिखित किया गया था और उसकी पिटीशनर द्वारा विस्तार से प्रतिपरीक्षा की गई (उपाबंध-क)। उक्त जांच केवल तकनीकी आधार पर ही रद्द की गई, क्योंकि पति के परिवाद पिटीशन को पिटीशनर पर तामील नहीं की गई। चूंकि उसका साक्ष्य अभिलेख में उपलब्ध था, अतः वह बाह्य विचारणा नहीं था। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, समादेष्टा ने यंत्रवत् कार्य नहीं किया है, जो उसके अन्तिम आदेश (उपाबंध-6) से स्पष्ट है।

5. पिटीशनर के विरुद्ध लगाया गया आरोप उपाबंध-1 है। उसमें यह कहा गया है कि पिटीशनर ने अनैतिक कार्य करने के आशय से, अपने साथी के काम पर जाने के कारण उसकी घर पर अनुपस्थिति के दौरान, जबकि पत्नी अकेली थी, उसके घर जाकर अपराध कारित किया था। ऐसा कहा जाता है कि यह बात कांस्टेबल महेश कुमार ने देखी थी। तारीख 15 मई, 1974 के कैम्प स्थायी आदेश के अधीन, ऐसे किसी व्यक्ति का, जो वहां नहीं रह रहा है, फैमिली लाइन जाना निषिद्ध है। यह कहा गया है कि यह कार्य अधिनियम की धारा 11 (1) के अधीन अवचार है।

अधिनियम या नियमावली के अधीन अवचार को उपवर्णित नहीं किया गया है। अधिनियम की धारा 9 में अधिक जघन्य अपराधों की सूची दी गई है तथा अधिनियम की धारा 10 में कम जघन्य अपराधों की सूची दी गई है। धारा 10 (ढ) इस प्रकार है :—

> "10. **कम जघन्य अपराध**—
>
> बल का प्रत्येक ऐसा सदस्य जो—
>
> × × ×

(ढ) ऐसा कार्य या लोप का दोषी है जो, इस अधिनियम में विनिर्दिष्ट न होते हुए भी, सुव्यवस्था और अनुशासन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला है; अथवा

× × ×"

ऐसे व्यक्तियों के लिए, जो अधिक जघन्य अपराध कारित करते हैं, जिनकी धारा 10 में सूची दी गई हैं, अधिरोपणीय दण्ड 7 वर्ष या 14 वर्ष का, जुर्माने सहित, कारावास है, जो (जुर्माना) 3 मास तक का हो सकता है। कम जघन्य अपराधों के लिए व्यक्ति को ऐसी अवधि के लिए वन्दी वनाया जा सकता है जो एक वर्ष तक का हो सकता है। या उसे ऐसे जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है जो तीन मास के वेतन तक हो सकता है। धारा 11 (1) इस प्रकार है :—

11. छोटा दण्ड—

(1) कमाण्डेण्ट (समादेष्टा) या अन्य कोई प्राधिकारी या आफिसर, जो विहित किया जाए, इस अधिनियम के अधीन बनाए गए किन्हीं नियमों के अधीन रहते हुए, बल्कि किसी सदस्य को जिसे वह अवज्ञा, कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा या किसी कर्त्तव्य के निर्वहन में असावधानी या वल के सदस्य के रूप में अपनी हैसियत में किसी प्रकार के अन्य अवचार का दोषी समझता है, निलम्बन या पदच्युति के वदले में या उस अतिरिक्त निम्नलिखित जांचों में से कोई एक या अधिक दण्ड दे सकेगा अर्थात्—

× × ×"

6. "पदच्युति" पद का उल्लेख अधिनियम की धारा 11 में किया गया है। उक्त धारा में यह परिकल्पित किया गया है कि समादेष्टा को निलम्बन और पदच्युति के वदले या उसके अतिरिक्त छोटा दण्ड अधिरोपित करने का विवेकाधिकार प्रदत्त किया गया है। नियम 27, अध्याय 6—अनुशासन के अन्तर्गत आता है। वह दण्ड दिए जाने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में है। तालिका में प्रगणित दण्ड पदच्युति, सेवा से हटाया जाना आदि हैं तथा उनमें उन प्राधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है, जिन्हें दण्ड अधिरोपित करने के लिए सशक्त किया गया है।

अधिनियम की धारा 9, 10, 11 और नियमावली के नियम 27 को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि उक्त धाराओं में प्रगणित

अपराधों के लिए किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध ठहराया जा सकता है और कारावास के लिए दण्डादिष्ट किया जा सकता है। संबंधित व्यक्ति के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही भी की जा सकती है। तथापि, प्रगणित अपराधों की सूची निश्शेषकारी नहीं है। बल की सुव्यवस्था और अनुशासन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला कोई कार्य या लोप भी अपराध है और इसी प्रकार उसके कारण भी किसी व्यक्ति के विरुद्ध कारावास के लिए और/या अनुशासनिक कार्यवाही की जा सकती है। अधिनियम की धारा 11 में सूचीवद्ध छोटा दण्ड कम जघन्य अपराधों के लिए आशयित एकमात्र दण्ड नहीं है, जैसी कि पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने दलील दी है। वे निलम्बन और पदच्युति की शक्ति के बदले या उसके अतिरिक्त हैं। किसी विशेष मामले में दण्ड के आरोपित किए जाने के विषय में यह अनुशासनिक प्राधिकारी को विवेकाधिकार का प्रदान मात्र है। अत: उसकी यह राय है कि पिटीशनर के विरुद्ध लगाया गया आरोप अधिनियम की धारा 10 (ढ) के अन्तर्गत आता है, जिसके लिए पदच्युति का दण्ड विधि की दृष्टि से अनुज्ञेय है। आरोप अस्पष्ट नहीं है, क्योंकि उसमें वे सभी तथ्य और परिस्थितियां उपवर्णित की गई हैं, जिनका पिटीशनर से विभागीय जांच में सामना करने (उत्तर देने) की अपेक्षा की गई थी।

7. मैं पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल के इस तर्क में कोई बल नहीं पाता कि विभागीय जांच इस कारण विधि की दृष्टि से दूषित है कि घटना की शिकार महिला की वर्तमान कार्यवाही में परीक्षा नहीं की गई, यद्यपि उसके पूर्वतन साक्ष्य का उपयोग किया गया और अवलम्ब लिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वतर विभागीय कार्यवाही में पिटीशनर द्वारा उसकी विस्तार से परीक्षा और प्रतिपरीक्षा की गई थी। वह इस परीक्षा में सही उतरी। तथापि, प्राधिकारियों ने पूर्वतन जांच रद्द कर दी, क्योंकि पिटीशनर को घटना की शिकार महिला के पति द्वारा किए गए परिवाद के पिटीशन की प्रति नहीं दी गई थी। अब प्रश्न यह है कि क्या इस साक्ष्य पर उसके पूर्वतन कथन के रूप में विचार किया जा सकता है और क्या ऐसा करने से नियम 27(2) (ii) और (iii) या नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। नियम 27(2) (ii) और (iii) इस प्रकार हैं :—

> *"27(2) जांच के प्रारम्भ पर, अभियुक्त के दोषी होने या दोषी न होने का अभिवचन करने के लिए कहा जाएगा, जिसके पश्चात् आरोप

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "27 (2). At the commencement of the enquiry the accused shall be asked to enter a plea of "Guilty" or

को सिद्ध करने के लिए साक्ष्य लिया जाएगा। साक्ष्य आरोप के लिए तात्विक होगा और वह मौखिक या दस्तावेजी हो सकता है, यदि मौखिक हो, तो—

(i) वह प्रत्यक्ष होगा ;

(ii) वह अभियुक्त की उपस्थिति में स्वयं जांच करने वाले अधिकारी द्वारा अभिलिखित किया जाएगा ;

(iii) अभियुक्त को साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा।"

8. यह सुस्थापित विधि है कि आंतरिक जांच में, चाहे वह सरकारी सेवक के संबंध में हो या औद्योगिक कर्मकार/कार्यकर्ता के संबंध में, साक्ष्य अधिनियम के अधीन साक्ष्य के कठोर और शुद्ध नियम लागू नहीं हो सकते हैं। ऐसी सम्पूर्ण सामग्री, जो किसी भी प्रज्ञावान व्यक्ति के लिए तार्किक रूप से प्रमाणक है, अनुज्ञेय है। अनुश्रुति साक्ष्य के लिए कोई निषेध नहीं है बशर्ते कि उसका तथ्यों से युक्तियुक्त संबंध हो और उसमें विश्वसनीयता हो। विधि में यह अपेक्षा की गई है कि ऐसे निकायों को जांच के संचालन में नैसर्गिक-न्याय के नियमों का पालन करना चाहिए और यदि वे ऐसा करते हैं तो उनके विनिश्चय को इस आधार पर अधिक्षेपित नहीं किया जा सकता है कि वह प्रक्रिया, जिसका अनुशरण किया गया था, उस प्रक्रिया के अनुसार नहीं थी, जिसका न्यायालय में पालन किया जाता है। ऐसा केवल इस कारण है कि कार्यवाहियां, (विभागीय और दाण्डिक) प्रकृति में बिल्कुल ही भिन्न होती हैं और वे विभिन्न क्षेत्रों में प्रवर्तित होती हैं तथा उनके उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि दोनों कार्यवाहियों

"Not Guilty" after which evidence necessary to establish the charge shall be let in. The evidence shall be material to the charge and may either be oral or documentary, if oral,

(i) it shall be direct;

(ii) it shall be recorded by the Officer conducting the enquiry himself in the presence of the accused;

(iii) the accused shall be allowed to cross-examine the witnesses."

में सामग्री या साक्ष्य एक जैसा हो या एक जैसा न हो और कुछ मामलों में ऐसी सामग्री या साक्ष्य, जो विभागीय जांचों में साक्ष्य होगा, दाण्डिक कार्यवाहियों में निषिद्ध माना जाएगा। दोनों में साक्ष्य के विवेचन से संबंधित नियम भिन्न-भिन्न हैं। दोनों जांचों की परिधि भी भिन्न है। दाण्डिक मामले में, अभियुक्त द्वारा किया गया अपराध में फंसाने वाला कथन कतिपय परिस्थितियों में या कतिपय व्यक्तियों के समक्ष पूर्णतः अनुग्राह्य है। विभागीय जांच में अधिकारी ऐसे तकनीकी नियम द्वारा आबद्ध नहीं होता है। सबूत का परिमाण भी भिन्न होता है। उच्च नज़ीरों द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि उस स्थिति में विधि के किसी भी सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं होता है, जब विभागीय जांच दोषमुक्ति के आदेश के पश्चात् की जाती है (देखें **जे० के० काटन स्पीनिंग एण्ड वीविंग कं० लि० वनाम उसके कर्मकार**[1], **भारत संघ** वनाम **जे० आर० वर्मा**[2], **हरियाणा राज्य** वनाम **रतन सिंह**[3], **मोती सिंह छग्गा सिंह** वनाम **एस० डी० मेहता**[4], **नन्द किशोर प्रसाद** वनाम **बिहार राज्य**[5])। दण्ड न्यायालयों का अपचारी व्यवित के आचरण और अनुशासन से कोई प्रयोजन नहीं होता है (देखें **मुदीदीह कोलियरी से सम्बद्ध कर्मचारी** वनाम **पीठासीन अधिकारी**[6])। यह परखने की कसौटी कि नियोजक ने सावधानीपूर्ण जांच की है या नहीं, नियोजक से यह दर्शित करने की अपेक्षा करती है कि उसने सुसंगत परिस्थितियों का युक्तियुक्त रूप से तत्परतापूर्वक अन्वेषण किया था : यह कसौटी युक्तियुक्त तत्परता की कसौटी है (देखें **स्टीवन डी० एण्डरमैन**, दि० ला० आफ अनफेयर डिसमिस्सल, 78 ईडीएन.)।

9. क्या यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत विभागीय कार्यवाही में अपनाई गई प्रक्रिया "युक्तियुक्त नियोजक" द्वारा नहीं अपनाई गई होती। मामला महिला की नैतिकता से सम्बद्ध था। उसकी सभी पहलुओं पर पूर्णतः प्रतिपरीक्षा की गई। प्रतिपरीक्षा (उपाबंध-क) के परिशीलन से, मेरी राय में, यह स्पष्ट होता है कि वह इस कारण पेश नहीं की गई कि उसे भविष्य में होने वाले दुर्व्यवहार से बचाया जा सके। पिटीशनर प्रतिपरीक्षा को ही दोहराता। उसका साक्ष्य पिटीशनर की उपस्थिति में जांच करने वाले अधिकारी द्वारा लिया गया था। उक्त जांच

---

[1] 1965 (1) एल० एल० जे० 153.

[2] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 882.

[3] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 1512.

[4] 1966 (1) ए० एल० जे० 55.

[5] 1968 (1) एल० एल० जे० 703.

[6] 1971 पी० एल० जे० आर० 103.

अधिकारी के विरुद्ध दुर्भाव का कोई अभिकथन नहीं किया गया है। अतः नियमों और ऋजु व्यवहार का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है।

10. इस तर्क में भी कोई सार नहीं है कि नियम 27(6) का उल्लंघन हुआ है क्योंकि समादेष्टा ने पदच्युति का आदेश पारित करते समय अपने निष्कर्ष को अभिलिखित नहीं किया। ऐसा नहीं है। उपाबंध-6 के पैरा 4 और 5 के पढ़ने मात्र से ही यह तर्क झूठा सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार, अपील न्यायालय ने सम्पूर्ण साक्ष्य पर विचार करने तथा मामले पर पूर्णतः विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि आरोप गढ़ा हुआ नहीं है। इस संबंध में उसने यह मत भी व्यक्त किया:—

> "अपीलार्थी का अपने साथी की अनुपस्थिति के दौरान उसके क्वार्टर में चला जाना, निस्सहाय महिला के एकाकीपन का अनुचित लाभ उठा कर घृणित कार्य करना और इस सब के अतिरिक्त उसका अपने साथी के साथ विश्वासघात करना, ऐसी बातें हैं जिन्हें अपीलार्थी के विरुद्ध महत्त्व दिया ही जाना है।"

मेरी राय में, अपील न्यायालय के शब्दों में, सभी बातें ऋजुतापूर्वक स्पष्ट कर दी गई हैं और उन सभी सुसंगत मामलों पर, जो अच्छे नियोजक के सम्वन्ध में आवश्यक हैं, विचार कर लिया गया है। (देखें **वोक्स लि० वनाम वोयर**[1])

11. परिणामतः रिट पिटीशन खर्चे सहित खारिज किया जाता है। सुनवाई की फीस 250 रुपये नियत की जाती है।

न्या० उदय सिंह :

मैं सहमत हूं।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

न०

---

[1] 1973 इण्डस्ट्रीयल रिलेशन्स ला रिपोर्ट्स 263.

युक्तियुक्त प्रतीत होता है । अतः वादी वादपत्र में दावा की गई 18% के विरुद्ध 15% के साधारण ब्याज के लिए हकदार होगा ।

8. परिणाम में अपील ऊपर उल्लिखित सीमा तक भागतः मंजूर की जाती है और वादी के हक में 5 जुलाई, 1965 से 20 अक्तूबर, 1976 तक के 15% वार्षिक पर ब्याज सहित आनुपातिक खर्चे के साथ 34,595 रुपये की रकम के लिए यह प्रारम्भिक डिक्री होगी ।

9. यह अपील, एक कार्यालय टिप्पण पर, चर्चा करने के लिए आज के लिए नियत की गई है । न्यायालय ने निम्नलिखित निर्णय दिया :—

(1) यह अपील आज आदेश सुनाने के लिए नियत थी ।

(2) दोनों पक्षों को सुनने के बाद इस न्यायालय द्वारा तारीख 20 अप्रैल, 1983 को दिए गए निर्णय के अन्तिम पैरा को निम्न रूप में उपान्तरित किया गया है :—

(3) परिणाम में अपील ऊपर उल्लिखित सीमा तक भागतः मंजूर की जाती है और वादी के हक में यह 5 जुलाई, 1965 से डिक्री की तारीख तक 15% वार्षिक दर ब्याज और उसके बाद संदाय की तारीख तक 6 प्रतिशत वार्षिक पर पाश्चिक ब्याज के साथ और आनुपातिक खर्चे सहित प्रारम्भिक डिक्री होगी । संदाय के लिए समय दो महीने है ।

अपील भागतः मंजूर की गई ।

रा०

नि० प० 1984 : मद्रास 49

आय-कर आयुक्त, तमिलनाडु I मद्रास-34 बनाम मैसर्स नेल्लई मुरासू (प्रा०) लि०, मद्रास

[The Commissioner of Income-tax, Tamil Nadu-I Madras-34 *Vs.* M/s. Nellai Murasu (P) Ltd., Madras]

तारीख 14 दिसम्बर, 1983

[न्या० रामानुजम् एवं न्या० रत्नम्]

आय-कर अधिनियम, 1961 धारा 45 और 3(1) (क),3(1)(ख)

तथा 3(3)—पूंजी अभिलाभों के रूप में प्रभार्य आय उस पूर्वतन वर्ष की आय मानी जाएगी, जिसमें अन्तरण हुआ है। सामान्यतया पूर्वतन वर्ष का अवधारण धारा 3(3) द्वारा यथा अनुध्यात आय के उसी स्रोत की बाबत निर्धारिती के प्रति निर्देश से किया जाता है—किन्तु जब एक बार पूजी अभिलाभों के लिए निर्धारिती के प्रति निर्देश से पूर्वतन वर्ष का अवधारण कर लिया जाता है, तो वह निर्धारण-वर्ष विक्रय के सभी संव्यवहारों के लिए लागू किया जाना होता है, जो उस पूर्वतन वर्ष के दौरान किया गया था।

निर्धारिती एक कम्पनी है, जो एक तमिल दैनिक प्रकाशित करती है। निर्धारिती ने तारीख 1 जुलाई, 1969 को आय-कर विवरणी फाइल की जिसमें पूर्वतन वर्ष तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त दर्शित किया गया था। समायोजन विवरण (कथन) में निर्धारिती ने 51,307 रुपये का लाभ इस आधार पर अपवर्जित कर दिया कि वह कृषि भूमि के विक्रय से होने वाला लाभ था, अतः उस पर पूंजी अभिलाभ के रूप में कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता था। आय-कर अधिकारी ने निर्धारिती की यह दलील स्वीकार नहीं की और उक्त लाभ को कर से निर्धारणीय माना। इस विनिश्चय से व्यथित होकर निर्धारिती ने सहायक अपील आयुक्त के समक्ष अपील फाइल की। उसने भी आय-कर अधिकारी के विनिश्चय से सहमति व्यक्त की। उसके पश्चात् निर्धारिती आय-कर अपील अधिकरण के समक्ष गया। अधिकरण ने सहायक अपील आयुक्त के निश्चय को उलट दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि निर्धारिती की उक्त आय-कर से निर्धारणीय नहीं थी। अधिकरण के उक्त निर्णय से व्यथित होकर, राजस्व विभाग ने उच्च न्यायालय को प्रस्तुत निर्देश किया है।

अभिनिर्धारित—निर्देशित प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर दिया गया।

निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने अधिकरण द्वारा व्यक्त किए गए मत का सशक्त रूप से अवलम्ब लिया और यह दलील दी कि निर्धारण वर्ष का अवधारण अन्तरण की तारीख के प्रति निर्देश से किया जाना है। इस दलील के परिणामस्वरूप, यदि उसे स्वीकार कर लिया जाता है, एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जिसमें निर्धारिती को उतने ही पूर्वतन वर्ष प्राप्त होंगे, जितने अन्तरण किए गए हैं, जबकि अधिनियम की धारा 45 द्वारा ऐसी स्थिति अनुध्यात नहीं की गई है। यद्यपि अधिनियम की धारा 3(3) में आय के विभिन्न स्रोतों के लिए विभिन्न पूर्वतन वर्ष अनुध्यात किए गए हैं, फिर भी उसमें यह नहीं कहा गया है कि निर्धारिती के प्रत्येक विक्रय संव्यवहार के प्रति

निर्देश से, विभिन्न पूर्वतन वर्ष होंगे। ऐसा करने का अर्थ धारा 3(3) की परिधि को उस सीमा तक विस्तारित करना होगा, जो कानून द्वारा अनुध्यात नहीं की गई है। सामान्यतया पूर्वतन वर्ष का अवधारण धारा 3(3) द्वारा यथा अनुध्यात आय के उसी स्रोत की बाबत निर्धारिती के प्रति निर्देश से किया जाता है। किन्तु जब एक बार पूंजी अभिलाभों के लिए निर्धारिती के प्रति निर्देश से पूर्वतन वर्ष का अवधारण कर लिया जाता है, तो वह निर्धारण-वर्ष विक्रय के सभी संव्यवहारों के लिए लागू किया जाना होता है, जो उस पूर्वतन वर्ष के दौरान किया गया था और कानून में विक्रय के प्रत्येक संव्यवहार के प्रति निर्देश से विभिन्न पूर्वतन वर्ष अनुध्यात नहीं किए गए हैं। (पैरा 12)

वस्तुतः, आय-कर अधिकारी के समक्ष तथा सहायक अपील आयुक्त के समक्ष भी केवल यह दलील देने के कि पूंजी अभिलाभ के रूप में दर्शित आय कृषि भूमि के विक्रय से लाभ निरूपित करती थी और इस प्रकार उस पर पूंजी अभिलाभ के रूप में कर प्रभारित नहीं किया जा सकता है, और यह दलील न देने के कि यदि भूमि के विक्रय से उद्भूत होने वाले लाभ पूंजी अभिलाभों के रूप में कराधेय हों भी, तब भी उक्त निर्धारण-वर्ष में उन पर कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता है, निर्धारिती के पश्चात्वर्ती आचरण से यह उपदर्शित होता है कि निर्धारिती ने स्वेच्छया और जानबूझकर इस आधार पर कार्यवाही की थी कि पूंजी अभिलाभ केवल तारीख 1 जुलाई, 1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक की अवधि के लिए ही प्रभार्य है। (पैरा 13)

		पैरा
[1955]	27 आई० टी० आर० 376 : विवेश्वर सिंह **बनाम** आय-कर आयुक्त, बिहार और उड़ीसा (Bisheswar Singh *Vs.* Commissioner of Income-tax, Bihar & Orissa);	14
[1962]	44 आई० टी० आर० 249 : बिनोदी राम बालचन्द **बनाम** आय-कर आयुक्त, नागपुर और भण्डारा (Binodi Ram Balchand *Vs.* Commissioner of Income-tax, Nagpur and Bhandara);	14
[ ]	128 आई० टी० आर० 606 : आय-कर आयुक्त **बनाम** लक्ष्मणदास वीरभानदास (Commissioner of Income-tax *Vs.* Lachmandas Veerabhandas) से **प्रभेद** बताया गया।	14

सिविल निर्देश अधिकारिता : 1979 का निर्देश सं० 84.

आय-कर अपील आयुक्त द्वारा भारतीय आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(2) के अधीन निर्देश ।

आवेदक की ओर से ··· सर्वश्री जे० जयरामन् और नलिनी चिदम्बरम्

प्रत्यर्थी की ओर से ··· श्री वी० षण्मुखम्

न्यायालय का निर्णय न्या० रामानुजम् ने दिया ।

न्या० रामानुजम् :

राजस्व विभाग की प्रेरणा पर अधिकरण द्वारा हमारी राय के लिए निम्नलिखित दो प्रश्न इस न्यायालय को निर्देशित किए गए हैं :—

> 1. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए, अपील अधिकरण का यह अभिनिर्धारित करना सही था कि मैसर्स एजूकेशनल ट्रस्ट कंपनी प्रा० लि० के पक्ष में तारीख 19 जुलाई, 1967 को भूमियों के अन्तरण पर निर्धारिती द्वारा प्राप्त किया गया पूंजी अभिलाभ निर्धारण वर्ष 1969-70 के लिए निर्धारिती के पास (हाथ में) निर्धारणीय (निर्धारण-योग्य) नहीं था ?
>
> 2. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए, अपील अधिकरण का यह अभिनिर्धारित करना सही था कि एकमात्र पूर्वतन वर्ष, जिसमें भूमियों के अन्तरण से, जो तारीख 19 जुलाई, 1967 को किया गया था, अधिशेष को गणना में लिया जाना होगा, निर्धारण वर्ष 1968-69 से संगत वित्तीय वर्ष—1 अप्रैल, 1967 से 31 मार्च, 1968—होगा ?

2. इस मामले में निर्धारिती एक कम्पनी है, जो "नेल्लई मुरासू" नामक तमिल दैनिक समाचार-पत्र प्रकाशित करती है। निर्धारण वर्ष 1969-70 के लिए, निर्धारिती ने तारीख 1 जुलाई, 1969 को आय-कर विवरणी फाइल की, जिसमें पूर्वतन वर्ष तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त दर्शित किया गया था । विवरणी के साथ संलग्न लाभ और हानि के लेखा-विवरण (खाते) में, निर्धारिती ने तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए न केवल समाचार-पत्र कारबार से होने वाली आय ही दर्शित की बल्कि 51,307 रुपये का भूमि के विक्रय से होने वाला लाभ भी दर्शित किया । विवरणी के साथ संलग्न तुलन-पत्र में भी स्थिर आस्ति का मूल्य 2,68,443 रुपये दर्शित किया

गया। स्थिर आस्तियों की अनुसूची से यह दर्शित होता था कि, जैसी कि स्थिति तारीख 1 जुलाई, 1967 को थी, 45,192 रुपये 98 पैसे के मूल्य की भूमि थी और 36,192 रुपये 98 पैसे की रकम वर्ष के दौरान बेची गई भूमि के मूल्य के रूप में दर्शित की गई। अतिशेष भूमि का मूल्य, तारीख 30 जून, 1968 को, तुलनपत्र में 9,000 रुपये दर्शित किया गया। उक्त भूमि, जिसकी कीमत 36,192 रुपये 98 पैसे थी, तारीख 19 जुलाई, 1967 को 87,500 रुपये में बेची गई। 87,500 रुपये की विक्रय कीमत से 36,192 रुपये 98 पैसे के खर्च की कटौती करने के पश्चात्, 51,307 रुपये का अतिशेष भूमि के विक्रय से लाभ के रूप में दर्शित किया गया। तथापि, इस समायोजन विवरण (कथन) में, निर्धारिती ने 51,307 रुपये का लाभ इस आधार पर अपवर्जित कर दिया कि वह कृषि भूमि के विक्रय से होने वाला लाभ था और इसलिए उस पर पूंजी अभिलाभ के रूप में कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता था।

3. किन्तु आय-कर अधिकारी ने यह अभिनिर्धारित किया कि बेची गई भूमियां तिरुनेलवेली नगर की नगरपालिक सीमाओं के भीतर स्थित थीं, अतः बेची गई भूमियां कृषि भूमियां नहीं हो सकती थीं जिससे कि निर्धारिती को पूंजी अभिलाभ से छूट का दावा करने के लिए समर्थ बनाया जा सके। आय-कर अधिकारी के इस विनिश्चय से कि बेची गई भूमियां कृषि भूमियां नहीं हैं, व्यथित होकर, निर्धारिती ने यह दलील देते हुए सहायक अपील आयुक्त के समक्ष अपील फाइल की कि बेची गई भूमियां कृषि भूमियां थीं और इसलिए ऐसी भूमि के विक्रय से उद्भूत होने वाले लाभ को पूंजी अभिलाभ के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता है। सहायक अपील आयुक्त ने आय-कर अधिकारी के मत से सहमति व्यक्त की और यह अभिनिर्धारित किया कि निर्धारिती द्वारा बेची गई भूमियां कृषि भूमियां नहीं थीं।

4. उसके पश्चात् निर्धारिती अधिकरण के समक्ष गया और उसने यह दलील दी कि बेची गई भूमि केवल कृषि भूमि ही है। निर्धारिती ने इस प्रक्रम पर यह नया अभिवाक् भी किया कि भूमि का विक्रय तारीख 19 जुलाई, 1967 को किया गया था, अतः पूंजी अभिलाभ को, यदि कोई हो, केवल निर्धारण वर्ष 1968-69 से संगत, तारीख 31 मार्च, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष में ही निर्धारण के लिए गणना में लिया जा सकता था, और इसलिए यदि भूमि के विक्रय से उद्भूत होने वाले लाभ को पूंजी अभिलाभ माना भी जा सकता था, फिर भी उसका निर्धारण केवल निर्धारण वर्ष 1968-69 में ही किया जा सकता था, न कि निर्धारण वर्ष 1969-70 में, जो अधिकरण के समक्ष विचार का विषय था। अधिकरण ने निर्धारिती को इस आधार पर उक्त नया

मुद्दा उठाने को अनुज्ञा दे दी कि उसका संबंध निर्धारण के मूल से था और यह कि उसमें किन्हीं नए तथ्यों का अभिनिश्चित किया जाना अन्तर्वलित नहीं था। उसके पश्चात् अधिकरण ने निर्धारिती द्वारा उठाए गए इस नए मुद्दे पर विचार किया कि यदि भूमि के विक्रय से उद्भूत होने वाले लाभ कराधेय माने भी जाते हैं फिर भी उनका निर्धारण तारीख 31 मार्च, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष में ही किया जा सकता था, न कि निर्धारण वर्ष 1969-70 के दौरान। अधिकरण ने निर्धारिती की दलील से सहमति व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि वह सुसंगत पूर्वतन वर्ष, जिसमें पूंजी आस्ति का अन्तरण किया गया था, तारीख 31 मार्च, 1968 को समाप्त होने वाला पूर्वतन वर्ष है और यह कि निर्धारिती ने आय-कर अधिनियम, 1961 (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) की धारा 3(1)(ख) के अधीन अपने विकल्प का प्रयोग नहीं किया था, अतः पूंजी अभिलाभों का, यदि कोई हों, निर्धारण वर्ष 1969-70 के दौरान निर्धारण नहीं किया जा सकता है। मामले को उस दृष्टि से देखते हुए, उसने इस प्रश्न पर विचार किए बिना कि बेची गई भूमियां कृषि भूमियां थीं या नहीं, 51,307 रुपये के पूंजी अभिलाभों पर निर्धारण अपास्त कर दिया। अधिकरण द्वारा व्यक्त किए गए इस मत से व्यथित होकर कि 51,307 रुपये के पूंजी अभिलाभों का निर्धारण वर्ष 1969-70 के दौरान निर्धारण नहीं किया जा सकता है, राजस्व विभाग ने ऊपर उपवर्णित दोनों प्रश्नों पर निर्देश के लिए अनुरोध किया है।

5. अब हमारे समक्ष विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह उद्भूत होता है कि वह पूर्वतन वर्ष कौन-सा है, जिसमें पूंजी आस्ति का अन्तरण किया गया था, जैसाकि अधिनियम की धारा 45 द्वारा अनुध्यात है। यह पाया गया है कि अधिकरण ने वित्तीय वर्ष अन्तरण की तारीख अर्थात् 19 जुलाई, 1967 के प्रति निर्देश से नियत किया है और इस आधार पर कार्यवाही करते हुए कि निर्धारिती ने अपने विकल्प का प्रयोग किया है, यह अभिनिर्धारित किया है कि वह पूर्वतन वर्ष, जिसके दौरान अन्तरण किया गया था, वित्तीय वर्ष—1 अप्रैल, 1967 से 31 मार्च, 1968—है और चूंकि अन्तरण की तारीख अर्थात् 19 जुलाई, 1967 निर्धारण वर्ष—1 अप्रैल, 1968 से 31 मार्च, 1969—से बाहर है, अतः प्रस्तुत मामले में उसका उक्त निर्धारण वर्ष के दौरान निर्धारण नहीं किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि क्या अधिकरण द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण सही है।

6. राजस्व विभाग के अनुसार, यद्यपि निर्धारिती आय के विभिन्न स्रोतों की बाबत विभिन्न पूर्वतन वर्ष मानने के लिए हकदार है, जैसा कि

अधिनियम की धारा 3(3) में उपबंध किया गया है, फिर भी इस मामले में निर्धारिती ने अपने अन्य कारबार के लिए और अपने पूंजी अभिलाभों के लिए एक ही पूर्वतन वर्ष रखने के विकल्प का प्रयोग किया है और इसलिए यह माना जाना चाहिए कि निर्धारिती ने तारीख एक जुलाई, 1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक चलने वाला पूर्वतन वर्ष रखने के विकल्प का प्रयोग किया है। यह भी उपदर्शित किया गया है कि, जहां तक निर्धारिती के अन्य कारबार का संबंध है, निर्धारण वर्ष 1969-70 के लिए सुसंगत पूर्वतन वर्ष तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाला पूर्वतन वर्ष है और यह कि निर्धारिती द्वारा अपने पूंजी अभिलाभों के लिए वही पूर्वतन वर्ष अपनाया गया है और उसने केवल उस आधार पर ही विवरणी प्रस्तुत की थी। लाभ और हानि के खाते (लेखा विवरण) से भी यह दर्शित होता है कि निर्धारिती ने तारीख 30 जून, 1968 तक अपने अन्य कारबार तथा पूंजी अभिलाभों के संबंध में लेखे तैयार किए हैं। यह कहा गया है कि निर्धारिती ने पूंजी अभिलाभ तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष में लाकर अपने विकल्प का प्रयोग किया है, अतः यह माना जाना चाहिए कि उसने पूर्वतन वर्ष के रूप में तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष को रखने (मानने) के विकल्प का प्रयोग किया है।

7. दूसरी ओर, निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि अधिनियम की धारा 45 के अनुसार, पूर्वतन वर्ष का अवधारण अन्तरण की तारीख—19 जुलाई, 1967 को आधार मानते हुए किया जाना है और ऐसे आधार पर सुसंगत वर्ष निर्धारण वर्ष—1 अप्रैल, 1967 से 31 मार्च, 1968—होगा और इसलिए पूंजी अभिलाभों का निर्धारण वर्ष 1969-70 में निर्धारण नहीं किया जा सकता है, जैसा कि इस समय आय-कर अधिकारी द्वारा किया गया है। दोनों पक्षों की इन दलीलों को ध्यान में रखते हुए, हमें यह अवधारित करना है कि वह पूर्वतन वर्ष कौन-सा है, जिसमें इस मामले में भूमि का अंतरण किया गया है और क्या भूमि के अन्तरण से उद्‌भूत होने वाले पूंजी अभिलाभों का निर्धारण वर्ष 1969-70 में निर्धारण किया जा सकता था।

8. पक्षकारों के बीच इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है कि निर्धारिती अपनी आय के विभिन्न स्रोतों के प्रति निर्देश से विभिन्न पूर्वतन वर्ष रखने के लिए हकदार होगा, जैसाकि अधिनियम की धारा 3(3) में उपबन्ध किया गया है। इस मामले में निर्धारिती अपने कारबार के लिए प्रति वर्ष 30 जून को समाप्त होने वाले वर्ष को पूर्वतन वर्ष के रूप में अपनाता रहा है। निर्धारण वर्ष

1969-70 के लिए, जो हमारे समक्ष विचार का विषय है, पूर्वतन वर्ष तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाला वर्ष है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, यद्यपि निर्धारिती, आय का भिन्न स्रोत मानते हुए, पूंजी अभिलाभों की बाबत भिन्न पूर्वतन वर्ष रखने के लिए हकदार है, फिर भी उसने तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाली, 12 मास की अवधि के लिए प्रस्तुत विवरणी में ही पूंजी अभिलाभों के रूप में आय की विवरणी दी थी, जिसका अर्थ यह हुआ कि निर्धारिती ने पूंजी अभिलाभों और अपने कारबार की आय, दोनों ही, के लिए एक ही पूर्वतन वर्ष माना है।

9. पूंजी अभिलाभों पर अधिनियम की धारा 45 के अधीन कराधान किया जाता है और उक्त धारा इस प्रकार है :—

> धारा 45 (1). "किसी पूंजी आस्ति के पूर्व वर्ष में किए गए अन्तरण से उद्भूत लाभ या पूंजी अभिलाभ। अभिलाभ धारा 53, 54, 54-ख, 54-घ और 54-ङ में अन्यथा उपबन्धित के सिवाय, 'पूंजी लाभ' शीर्ष के अधीन आय-कर से प्रभार्य होंगे और उस पूर्व वर्ष की आय समझे जाएंगे जिसमें अन्तरण हुआ।"

उक्त धारा में यह उपबन्ध किया गया है कि पूंजी अभिलाभों के रूप में प्रभार्य आय उस पूर्वतन वर्ष की आय मानी जाएगी, जिसमें अन्तरण हुआ था। अतः, धारा 45 के अधीन पूंजी अभिलाभों पर कर प्रभारित करने के प्रयोजन के लिए, उस पूर्वतन वर्ष को अवधारित करना होता है, जिसमें वह अन्तरण हुआ था, जिससे पूंजी अभिलाभ उद्भूत हुए हैं। "पूर्वतन वर्ष" पद को, विभिन्न स्थितियों (परिस्थितियों) के प्रति निर्देश से अधिनियम की धारा 3(1) में विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है। किन्तु इस मामले में हमारा सम्बन्ध केवल धारा 3(1)(क) और 3(1) (ख) में दी गई परिभाषा से ही है और हमारे विचार-विमर्श के प्रयोजन के लिए अन्य खण्ड तात्त्विक नहीं हैं। धारा 3(1)(क) में 'पूर्वतन वर्ष' को निर्धारण वर्ष से ठीक पहले वाले द्वितीय वर्ष के रूप में परिभाषित किया गया है और धारा 3(1)(ख) में यह कहा गया है कि यदि निर्धारिती के लेखे उक्त वित्तीय वर्ष के भीतर किसी तारीख तक तैयार किए गए हों तो निर्धारिती के विकल्प पर, ऐसी तारीख को समाप्त होने वाले 12 मास पूर्वतन वर्ष होंगे।

10. इस मामले में इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि वह निर्धारण वर्ष, जिसके लिए कारबार की आय और पूंजी अभिलाभों के रूप में होने वाली आय, दोनों ही, की बावत निर्धारण किए गए हैं, 1969-70 है।

उक्त निर्धारण-वर्ष के प्रति निर्देश से, निर्धारण वर्ष से ठीक पहले वाला, अधिनियम की धारा 3(1)(क) के अधीन वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल, 1968 से 31 मार्च, 1969 वाला वित्तीय वर्ष होगा। यदि निर्धारिती के लेखे वित्तीय वर्ष—1 अप्रैल, 1968 से 31 मार्च, 1969 के भीतर किसी तारीख तक तैयार किए गए हैं, तो निर्धारिती के विकल्प पर, पूर्वतन वर्ष उस तारीख को समाप्त होने वाले 12 मास का होगा। इस मामले में इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि निर्धारिती के लेखे तारीख 30 जून, 1968 तक तैयार किए गए हैं, जो तारीख वर्ष 1 अप्रैल, 1968 से 31 मार्च, 1969 के भीतर है, और धारा 3(1)(ख) के अनुसार यही पूर्वतन वर्ष है। निर्धारिती ने न केवल तारीख 30 जून, 1968 तक अपने लेखे तैयार किए, जो वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल 1968 से 31 मार्च, 1969 के अन्तर्गत आने वाली तारीख है, बल्कि विवरणी भी प्रस्तुत की थी, जिसमें स्वेच्छया निर्धारण वर्ष 1969-70 में पूंजी अभिलाभों के रूप में आय दर्शित की गई थी और इस प्रकार, जहां तक पूंजी अभिलाभों का सम्बन्ध है, अपना पूर्वतन वर्ष तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाला वर्ष माना था। स्वीकृततः, 19 जुलाई, 1967, जो अन्तरण की तारीख है, तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष के भीतर आती है, जो निर्धारिती द्वारा, अपनी विवरणी प्रस्तुत करते समय, पूंजी अभिलाभों के रूप में आय के प्रयोजन के लिए भी अपनाया गया है। वस्तुतः, अधिकरण के आदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्धारिती ने तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष के लिए कारबार आय और पूंजी अभिलाभों से होने वाली आय, दोनों ही, के लिए विवरणी प्रस्तुत की थी। यदि वस्तुतः निर्धारिती तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले वर्ष के अतिरिक्त, पूंजी अभिलाभों के रूप में होने वाली आय के लिए भिन्न पूर्वतन वर्ष रखना चाहता था, तो वह निर्धारण वर्ष 1969-70 के लिए विवरणी में पूंजी अभिलाभों के रूप में आय प्रकट नहीं करता, जो तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले लेखा-वर्ष का तत्सम्बन्धी है। निर्धारिती ने विवरणी के साथ फाइल किए गए, तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए लाभ और हानि खाते (लेखा-विवरण) में पूंजी अभिलाभों के रूप में आय भी दर्शित की है, जिसमें भूमि के विक्रय से उद्भूत होने वाला लाभ भी प्रकट किया गया है। प्रकट किया गया विक्रय अभिकथित रूप से तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले वर्ष के दौरान किया गया था। भूमि के अतिशेष का मूल्य भी, तारीख 30 जून, 1968 को, तुलनपत्र में 9,000 रुपये दर्शित किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि निर्धारिती ने तारीख 30 जून, 1968 के समाप्त होने को वाले पूर्वतन वर्ष ऐसा पूर्वतन वर्ष माना है, जिसके दौरान विक्रय का संव्यवहार

किया गया है। निर्धारिती के तारीख 30 जून, 1968 तक लेखे तैयार करने और विक्रय के सम्बन्ध में यह प्रकट करने के कार्य से कि वह उक्त वर्ष के दौरान किया गया था और पूंजी अभिलाभों के रूप में आय उक्त वर्ष के दौरान ही प्रोद्भूत हुई थी, युक्तियुक्त रूप से यह कहा जा सकता है कि निर्धारिती ने अधिनियम की धारा 3(1)(ख) के अधीन उसे उपलब्ध विकल्प का प्रयोग किया है और तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले पूर्वतन वर्ष को पूंजी अभिलाभों के रूप में होने वाली आय के लिए भी पूर्वतन वर्ष के रूप में नियत किया है।

11. किन्तु अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अधिनियम की धारा 3(1)(ख) के अधीन विकल्प का प्रयोग निर्धारिती को उपलब्ध नहीं है क्योंकि निर्धारिती ने तारीख 19 जुलाई, 1967 और तारीख 31 मार्च, 1968 के बीच किसी तारीख तक अपने लेखे तैयार नहीं किए हैं। हम नहीं समझते कि अधिकरण यह किस प्रकार कह सकता है कि लेखे तारीख 19 जुलाई, 1967 और तारीख 31 मार्च, 1968 के बीच की किसी तारीख तक तैयार किए जाने चाहिए और चूंकि निर्धारिती ने ऐसा नहीं किया है, धारा 3(1)(ख) के अधीन विकल्प उसे उपलब्ध नहीं है। हम यह पाते हैं कि अधिकरण ने अन्तरण की तारीख अर्थात् 19 जुलाई, 1967 को ऐसे आधारभूत बिन्दु के रूप में माना है, जिससे पूर्वतन वर्ष अवधारित करने के लिए कार्यवाही की जानी होती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अधिनियम की धारा 45 के अधीन उस पूर्वतन वर्ष का पता लगाया जाना है जिसमें अन्तरण किया गया था और उसमें यह नहीं कहा गया है कि अन्तरण की तारीख पूंजी अभिलाभों के लिए निर्धारिती के पूर्वतन वर्ष की समाप्ति के लिए आरम्भ बिन्दु के रूप में होगी।

12. निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने अधिकरण द्वारा व्यक्त किए गए मत का सशक्त रूप से अवलम्ब लिया और यह दलील दी कि निर्धारण वर्ष का अवधारण अन्तरण की तारीख के प्रति निर्देश से किया जाना है। इस दलील के परिणामस्वरूप, यदि उसे स्वीकार कर लिया जाता है, एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जिसमें निर्धारिती को उतने ही पूर्वतन वर्ष प्राप्त होंगे, जितने अन्तरण किए गए हैं, जब कि अधिनियम की धारा 45 द्वारा ऐसी स्थिति अनुध्यात नहीं की गई है।

यद्यपि अधिनियम की धारा 3(3) में आय के विभिन्न स्रोतों के लिए विभिन्न पूर्वतन वर्ष अनुध्यात किए गए हैं, फिर भी उसमें यह नहीं कहा गया

है कि निर्धारिती के प्रत्येक विक्रय संव्यवहार के प्रति निर्देश से, विभिन्न पूर्वतन वर्ष होंगे। ऐसा करने का अर्थ धारा 3(3) की परिधि को उस सीमा तक विस्तारित करना होगा जो कानून द्वारा अनुध्यात नहीं की गई है। सामान्यतया पूर्वतन वर्ष का अवधारण धारा 3(3) द्वारा यथा अनुध्यात आय के उसी स्रोत की बाबत निर्धारिती के प्रति निर्देश से किया जाता है। किन्तु जब एक बार पूंजी अभिलाभों के लिए निर्धारिती के प्रति निर्देश से पूर्वतन वर्ष का अवधारण कर लिया जाता है, तो यह निर्धारण-वर्ष विक्रय के सभी संव्यवहारों के लिए लागू किया जाना होता है, जो उस पूर्वतन वर्ष के दौरान किया गया था और कानून में विक्रय के प्रत्येक संव्यवहार के प्रति निर्देश से विभिन्न पूर्वतन वर्ष अनुध्यात नहीं किए गए हैं। अधिकरण के अनुसार, चूंकि अन्तरण की तारीख अर्थात् 19 जुलाई, 1967, वित्तीय वर्ष—1 अप्रैल, 1967 से 31 मार्च, 1968—के अन्तर्गत आती थी, अतः उक्त विक्रय से उद्भूत होने वाले पूंजी अभिलाभों का निर्धारण पूर्वतन वर्ष—1 जुलाई, 1967 से 30 से जून, 1968—में नहीं किया जा सकता था। हमारी यह राय है कि इस आधार पर भी कि उक्त संव्यवहार वित्तीय वर्ष—1 अप्रैल, 1967 से 31 मार्च, 1968—के अंतर्गत आता था, धारा 3(1)(क) के अनुसार वह निर्धारिती के लिए पूर्वतन वर्ष है, अतः अन्तरण की तारीख उस पूर्वतन वर्ष के अन्तर्गत आती है। जैसा कि हम पहले ही अभिनिर्धारित कर चुके हैं, इस मामले में निर्धारिती ने तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए विवरणी में पूंजी अभिलाभों के रूप में आय प्रकट की थी, अतः यह माना जाना चाहिए कि उसने पूंजी अभिलाभों के लिए भी पूर्वतन वर्ष के रूप में तारीख 30 जून, 1968 को समाप्त होने वाला पूर्वतन वर्ष अपनाने के विकल्प का प्रयोग किया था।

13. निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि यद्यपि निर्धारिती ने तारीख 1 जुलाई, 1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक की अवधि के लिए फाइल की गई विवरणी में पूंजी अभिलाभों के रूप में आय प्रकट की है, फिर भी चूंकि निर्धारिती ने उक्त आय पर छूट का दावा किया है अतः यह माना जाना चाहिए कि उसने तारीख 1 जुलाई, 1967 से 30 जून, 1968 वाले वर्ष के दौरान निर्धारण के लिए आय की प्रस्थापना नहीं की है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, तारीख 1 जुलाई, 1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक की अवधि के लिए विवरणी में पूंजी अभिलाभों के रूप में आय प्रकट की गई है और केवल इस आधार पर छूट चाही गई है कि लाभ कृषि भूमि के विक्रय से उद्भूत हुआ है और इसलिए उसका पूंजी अभिलाभ के रूप में निर्धारण नहीं किया जा सकता है। निर्धारिती ने तारीख 1 जुलाई,

1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक की अवधि के लिए प्रकट की गई आय को इस आधार पर अपवर्जित नहीं किया कि वह उक्त अवधि के दौरान सम्मिलित किए जाने योग्य नहीं है। अतः हम निर्धारिती की यह दलील स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि निर्धारिती द्वारा ईप्सित, विवरणी से आय के अपवर्जन की इस प्रश्न से कोई संगति होगी कि क्या निर्धारिती ने विकल्प का प्रयोग किया था या नहीं। वस्तुतः, आय-कर अधिकारी के समक्ष तथा सहायक अपील आयुक्त के समक्ष भी केवल यह दलील देने कि पूंजी अभिलाभ के रूप में दर्शित आय कृषि भूमि के विक्रय से लाभ निरूपित करती थी और इस प्रकार उस पर पूंजी अभिलाभ के रूप में कर प्रभारित नहीं किया जा सकता है, और यह दलील न देने के कि यदि भूमि के विक्रय से उद्भूत होने वाले लाभ पूंजी अभिलाभों के रूप में कराधेय हों भी, तब भी उक्त निर्धारण वर्ष में उन पर कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता है, निर्धारिती के पश्चात्वर्ती आचरण से यह उपदर्शित होता है कि निर्धारिती ने स्वेच्छया और जान-बूझ कर इस आधार पर कार्यवाही की थी कि पूंजी अभिलाभ केवल तारीख 1 जुलाई, 1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक की अवधि के लिए ही प्रभार्य है।

14. निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने अपनी इस दलील के समर्थन में कतिपय विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया है कि यह नहीं माना जा सकता है कि निर्धारिती ने इस मामले के तथ्यों को देखते हुए, अधिनियम की धारा 3(1)(ख) के अधीन उसे प्राप्त विकल्प का प्रयोग किया है। ये मामले हैं : **विश्वेश्वर सिंह बनाम आय-कर आयुक्त, बिहार और उड़ीसा**[1], **विनोदीराम बालचन्द बनाम आय-कर आयुक्त नागपुर और भण्डारा**[2] और **आय-कर आयुक्त बनाम लक्ष्मणदास वीरभानदास**[3]। इन सभी मामलों में यह उपदर्शित करने के लिए निर्धारिती की ओर से कोई प्रकट कार्य नहीं किया गया है कि निर्धारिती ने विवादग्रस्त आय के स्रोत के लिए कोई विशेष पूर्वतन वर्ष चुना है। अतः न्यायालयों ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि जब तक निर्धारिती की ओर से ऐसा कोई जान बूझकर (प्रकट) कार्य नहीं किया जाता है जिससे आय के किसी विशिष्ट स्रोत के लिए पूर्वतन वर्ष के रूप में किसी विशिष्ट वर्ष को मानने के लिए विकल्प के प्रयोग का अनुमान किया जा सके, यह नहीं माना जा

---

[1] 27 आई० टी० आर० 376.

[2] 44 आई० टी० आर० 249.

[3] 128 आई० टी० आर० 606.

सकता है कि निर्धारिती ने धारा 3(1)(ख) के अधीन विकल्प का प्रयोग किया है। किन्तु इस मामले में निर्धारिती द्वारा उठाए गए विभिन्न कदमों से यह उपदर्शित होता है कि पूंजी अभिलाभों के रूप में आय तारीख 1 जुलाई, 1967 से तारीख 30 जून, 1968 तक के लेखा-वर्ष के दौरान उद्भूत हुई थी और इसीलिए उपर्युक्त विनिश्चयों से निर्धारिती को कोई सहायता नहीं मिलती है। चूंकि हम यह अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि अन्तरण की तारीख 19 जुलाई, 1967 पूर्वतन वर्ष—1 जुलाई, 1967 से 30 जून, 1868—के अन्तर्गत आती है, जो निर्धारिती द्वारा निर्धारण वर्ष 1969-70 के लिए विवरणी प्रस्तुत करते समय विनिर्दिष्ट रूप से अपनाया गया था, अत हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अधिकरण का यह अभिनिर्धारित करना गलत था कि पूंजी अभिलाभों का वर्ष 1969-70 के दौरान निर्धारण नहीं किया जा सकता ,है। अतः हम उठाए गए प्रश्नों का नकारात्मक और राजस्व विभाग के पक्ष में उत्तर देते हैं।

निर्धारिती राजस्व विभाग के खर्चे का संदाय करेगा। काउन्सेल की फीस 500 रुपये नियत की जाती है।

15. इस मामले में अधिकरण ने, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है कि क्या बेची गई भूमियां कृषि भूमियां हैं, जैसी कि निर्धारिती द्वारा दलील दी गई थी, या क्या वे गैर कृषि भूमियां हैं, जैसा कि राजस्व विभाग द्वारा दलील दी गई थी। अतः उक्त प्रश्न पर विनिश्चय करने के लिए मामला अधिकरण को प्रतिप्रेषित किया जाएगा।

निर्देशित प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर दिया गया।

न०

नि० प० 1984 : मद्रास—61

ए० सेलवाराज बनाम राज्य

(A. Selvaraj *Vs.* State)

तारीख 20 जनवरी, 1984

[न्या० एस० नटराजन]

मोटर यान अधिनियम, 1939—धारा 130 सपठित धारा 112 और 113—मामलों का संक्षिप्त विचारण—धारा 112 और धारा 113 के अधीन

दण्डनीय अपराधों का संक्षिप्त विचारण होगा—केवल जुर्माने से दण्डनीय अपराधों के विचारण में धारा 130 में उपबन्धित प्रक्रिया लागू होगी—धारा 130 में उपबन्धित प्रक्रिया का पालन करने में असफल रहने पर धारा 112 और 113 के अधीन दण्डनीय अपराधों के लिए की गई कार्यवाहियां दूषित हैं और अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं।

पिटीशनर तिरुवल्लुवर ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन (परिवहन निगम) में परिचालक के रूप में एक कर्मचारी है। पिटीशनर सलेम से कल्लाकुरिची और थिरकोयलूर होकर मद्रास जाने वाले रूट पर चलने वाली एक बस में परिचालक के रूप में गया था। जब बस कल्लाकुरिची पहुंची, तब उस बस में 44 यात्री और एक बच्चा यात्रा कर रहा था जबकि बस में कुल 46 यात्रियों की क्षमता थी। इस प्रकार कल्लाकुरिची पर बस में चढ़ने वाले यात्रियों के लिए सिर्फ एक स्थान खाली था। पिटीशनर के अनुसार कल्लाकुरिची पर टाइम कीपर ने पहले से ही तीन यात्रियों को टोकन जारी कर दिए थे जो मद्रास को जाने वाले थे। टाइम-कीपर ने पिटीशनर को बताया कि एक यात्री और है, अर्थात् एक अधिकारी जो कल्लाकुरिची से थिरूकोयलूर जाना चाहता है, पिटीशनर का यह कहना है कि वह सभी चार यात्रियों को सीट उपलब्ध नहीं करा सकता था. किन्तु टाइम-कीपर ने पिटीशनर पर अधिकारी यात्री को भी ले जाने के लिए जोर डाला। जब पिटीशनर बस में गया तो वे तीन यात्री जिनको टोकन जारी किए गए थे, बस में पहले ही चढ़ चुके थे। अधिकारी यात्री बाद में चढ़ा और पिटीशनर ने उसे बताया कि वह उसके लिए सीट उपलब्ध कराने में असमर्थ है। जब बस रुकने के नियत स्थान पर पहुंची तो यात्री ने पिटीशनर को यह बताया कि यह स्थानीय न्यायिक द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट है और उसने पिटीशनर को गाली देना आरम्भ कर दिया और ट्रिप-शीट और बस के रजिस्ट्रेशन प्रमाण-पत्र को प्रस्तुत करने के लिए मांग की। अधिकारी ने उससे कहा कि वह उसे शीघ्र ही एक सबक सिखाएगा। तब अकस्मात, पिटीशनर को न्यायिक द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट, थिरुकोयलूर के यहां से एक समन प्राप्त हुआ जिसके द्वारा उसे अदालत में हाजिर होने के लिए और मोटरयान अधिनियम, 1939 की धारा 112 और धारा 113 के साथ पठित मोटर यान नियमावली के नियम 49-एस (ए), 49-टीटी 49-एक्स एक्स (iii), 49-वाईवाई (i) और 276 (iii) के अधीन आरोपों का उत्तर देने के लिए निदेशित किया गया था। इस कार्यवाही के विरुद्ध पिटीशनर ने उसके विरुद्ध कार्यवाहियों को अभिखण्डित करने के लिए यह पिटीशन फाइल किया है।

पिटीशनर ने यह दलील दी है कि उसके विरुद्ध परिवाद निम्नलिखित आधारों के कारण दूषित है :—(1) परिवाद असद्भावपूर्वक दाखिल किया गया है क्योंकि पिटीशनर मजिस्ट्रेट को बस में -सीट उपलब्ध कराने में असफल रहा था। (2) बस की अतिभराई के अपराध में वह स्वयं एक सहअपराधी है और इसलिए वह परिवाद को फाइल करने में सक्षम नहीं है। (3) मजिस्ट्रेट मामले का संज्ञान अपने स्वयं के वादपत्र पर नहीं कर सकता क्योंकि यह दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 479 के अतिक्रमण में है। (4) चूंकि परिवादी ने बस में केवल एक यात्री के रूप में यात्रा की थी इसलिए वह प्राधिकारी की भूमिका अदा नहीं कर सकता और पिटीशनर द्वारा मोटर यान अधिनियम के अधीन किए गए अपराध का संज्ञान नहीं कर सकता। (5) परिवादित अपराध यदि सत्य भी हैं, तो सिर्फ छोटे अपराध हैं और इसलिए मजिस्ट्रेट को मोटर यान अधिनियम की धारा 130 के अधीन समन जारी करना चाहिए और पिटीशनर को वैयक्तिक रूप से हाजिर हुए बिना दोषी होने का अभिवाक् करने का और परिवादित प्रत्येक अपराध के लिए अवधारित जुर्माने की रकमको जमा करने का अवसरदेना चाहिए। (6)अपराध तुच्छ प्रकृति के हैं और इसलिए अभियोजन किए जाने का समर्थन नहीं करते। मजिस्ट्रेट ने पिटीशनर के मामले के चलने योग्य होने के बारे में प्रकथनों से भी इनकार किया है और यह दलील दी है कि उसके द्वारा फाइल किया गया परिवाद विधि की दृष्टि में पूरी तरह चलने योग्य है। उसने कथन किया है कि पिटीशनर के मतानुसार भी बस में अतिभराई थी। उसने यह भी कथन किया है कि परिवादित अपराधों में से किसी के भी किए जाने में वह सहअपराधी नहीं था। पिटीशनर द्वारा जुर्माने की रकम का संदाय किए जाने को विहित करने वाले समन को जारी न करने के बारे में मजिस्ट्रेट ने यह कथन किया है कि मुख्य अपराध मोटरयान अधिनियम की धारा 112 के साथ पठित मोटर यान नियमावली के नियम 49-वाईवाई के अधीन आता है। इसलिए मोटर यान अधिनियम की धारा 130 के अधीन विहित प्रक्रिया को लागू नहीं किया जा सकता। उसने आगे यह कथन किया है कि मामला भारतीय दण्ड संहिता के अधीन नहीं आएगा और वह अपराध का संज्ञान करने में और परिवाद को फाइल करने में, भी पूर्ण रूप से न्यायोचित था। यद्यपि पिटीशनर ने उसके विरुद्ध कार्यवाहियों को अनेकों आधारों पर अभिखण्डित करने की मांग की है किन्तु यह प्रतीत होता है कि उनमें से कुछ मामले के गुणागुण से सम्बन्धित हैं और इसलिए उन मामलों में विचारण किए बिना और साक्ष्य को अभिलिखित किए बिना कोई भी निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता। इस पिटीशन में विचार

के लिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या परिवाद विधिक आधारों पर चलने योग्य नहीं है ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

मोटर यान अधिनियम, 1939 की धारा 130 की उपधारा(1) से यह देखा जा सकता है कि यदि अपराध कारावास से दण्डनीय नहीं है तो न्यायालय का यह दायित्व है कि वह यह कथन करते हुए समन जारी करे कि अभियुक्त वैयक्तिक रूप से उपस्थित न होकर अधिवक्ता के द्वारा हाजिर हो सकता है और वह विनिर्दिष्ट तारीख से पहले आरोप का रजिस्ट्रीकृत पत्र द्वारा अभिवचन कर सकता है और समन में विनिर्दिष्ट जुर्माने की रकम को न्यायालय को भेज सकता है। मोटरयान नियमावली के नियम 49-एस(ए) (परिचालक के बैज का संप्रदर्शन) 49-टीटी (मांगने पर लाइसेन्स प्रस्तुत करना), 49-एक्सएक्स (iii) (यात्रियों के साथ सद्व्यवहार करना), 40-वाईवाई (i) (सीटों की क्षमता से अधिक किसी व्यक्ति को यात्रा करने के लिए अनुज्ञात करना) और 276(iii) (किसी पुलिस अधिकारी, मजिस्ट्रेट आदि द्वारा ट्रिप-शीट का निरीक्षण) के अधीन अपराध मोटरयान अधिनियम की धारा 112 और 113 के अधीन दण्डनीय है। इन धाराओं में सिर्फ जुर्माने के दण्डादेश के लिए उपबन्ध किया गया है और कारावास के किसी दण्डादेश के लिए उपबन्ध नहीं किया गया है। इसलिए परिवादित सभी अपराध अधिनियम की धारा 130 की परिधि में आते हैं और परिणामस्वरूप, न्यायालय का यह कानूनी कर्त्तव्य है कि वह समन को उसमें यह वर्णित करते हुए जारी करे कि अभियुक्त वैयक्तिक रूप से उपस्थित न होकर अधिवक्ता द्वारा हाजिर हो सकता है और वह रजिस्ट्रीकृत पत्र द्वारा दोषी होने का अभिवचन कर सकता है तथा समन में दिए गए विभिन्न अपराधों के लिए विहित जुर्माने की राशि को भेज सकता है। यदि यह प्रक्रिया नहीं अपनाई गई है तो परिचालक परिवाद को अभिखण्डित कराने की मांग करने का हकदार है। (पैरा 6 और 9)

मजिस्ट्रेट द्वारा मोटर यान अधिनियम की धारा 130 के अधीन दी गई प्रक्रिया का पालन करने में असफल रहना विधि की दृष्टि में एक सारवान् गलती है। इसलिए उस आधार पर परिचालक के विरुद्ध की गई कार्यवाहियों को अभिखण्डित किया जा सकता है।(पैरा 13)

		पैरा
[1983]	1983 क्रिमिनल ला जर्नल 1271 : थिप्पेस्वामी **बनाम** कर्नाटक राज्य (Thippeswamy *Vs.* State of Karnataka);	12

गया। यह आवेदन नामंजूर कर दिया गया था। इसके बाद निर्धारिती ने इस न्यायालय के समक्ष अधिनियम की धारा 256(2) के अधीन आवेदन फाइल किया और 1976 के प्रकीर्ण सिविल मामले सं० 112 में 18 नवम्बर, 1980 को पारित आदेश के द्वारा अधिकरण को मामले का विवरण तैयार करने और विधि के पूर्वोक्त प्रश्न को निर्दिष्ट करने का निदेश अधिकरण को दिया गया था।

3. अधिनियम की धारा 217(1-क) इस प्रकार है :—

> "जहां नियमित निर्धारण करने पर आयकर अधिकारी को पता चलता है कि ऐसे किसी व्यक्ति ने जिसे धारा 212 की उपधारा (3-क) में निर्दिष्ट किया गया है, उसमें निर्दिष्ट प्राक्कलन नहीं भेजा है वहां उस वित्तीय वर्ष के निकट आगामी अप्रैल के प्रथम दिन से जिसमें उक्त धारा के अनुसार अग्रिम कर उक्त उपधारा के अनुसार संदेय था, नियमित निर्धारण की तारीख तक 12 प्रतिशत वार्षिक दर से साधारण ब्याज निर्धारिती द्वारा उतनी रकम पर संदेय होगा जितने से उसके द्वारा संदत्त अग्रिम कर धारा 215 की उपधारा (5) में यथा परिभाषित निर्धारित कर से कम पड़ता है।"

इस उपबंध के अधीन निर्धारिती से उस वित्तीय वर्ष में निकट अगले अप्रैल के प्रथम दिन से, जिस वित्तीय वर्ष में अग्रिम कर संदेय था, नियमित निर्धारण की तारीख तक 12 प्रतिशत वार्षिक की दर से उस रकम पर साधारण ब्याज संदेय करने की अपेक्षा की गई है जितनी रकम से उसके द्वारा संदेय अग्रिम कर निर्धारित कर से कम पड़ता है। यदि बात ऐसी है तो धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज की मांग की जाती है और आयकर अधिकारी को इस मामले में कोई विवेकाधिकार नहीं है। यदि निर्धारित कर कम कर दिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप ब्याज की मात्रा भी स्वतः ही कम हो जायेगी। इस उपबंध के अधीन ब्याज की मांग निर्धारण आदेश का एक तार्किक परिणाम है और इसलिए अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज उद्ग्रहण किये जाने के बारे में अपील करने के अधिकार का कोई प्रश्न नहीं है। ऐसी कोई अपील नहीं की जा सकती है जिसमें अपील अधिकारी को कोई अनुतोष देने की भी शक्ति नहीं है।

4. तथापि, निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि अधिनियम की धारा 246(ग) के अधीन ब्याज उद्ग्रहण करने के विरुद्ध अपील की जा सकती है। यह धारा इस प्रकार है :—

"246 आयकर अधिकारी के निम्नलिखित आदेशों में से किसी

आदेश से व्यथित कोई निर्धारिती सहायक अपील आयुक्त को ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील कर सकेगा—

× × ×

(ग) निर्धारिती के विरुद्ध कोई आदेश जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किये जाने के अपने दायित्व से इनकार करता है या धारा 143 की उपधारा (3) या धारा 144 के अधीन निर्धारण का कोई आदेश जहां निर्धारिती निर्धारित आय की रकम के प्रति या अवधारित कर की रकम के प्रति, या संगणित हानि की रकम के प्रति या ऐसी प्रास्थिति के प्रति, जिसके अधीन उसका निर्धारण किया गया हो, आक्षेप करता है।"

× × ×

काउन्सेल के अनुसार अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन ब्याज के उद्ग्रहण के विरुद्ध अपील धारा 246 के खण्ड (ग) में "जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किये जाने के अपने दायित्व से इनकार करता है" अभिव्यक्ति के अधीन की जा सकती है। इस खण्ड के दो भाग हैं: (i) जहां निर्धारिती इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किये जाने के अपने दायित्व से इन्कार करता है, अथवा (ii) धारा 143 की उपधारा (3) या धारा 144 के अधीन, निर्धारण के किसी आदेश के अधीन, जहां निर्धारिती निर्धारित आय की रकम के प्रति, अथवा अवनिर्धारित कर की रकम के प्रति, संगणित हानि की रकम के प्रति अथवा उस प्रास्थिति के प्रति जिसके अधीन उसका निर्धारण किया गया है, आक्षेप करता है।

5. "जहां निर्धारिती, इस अधिनियम के अधीन निर्धारित किए जाने के अपने दायित्व से इन्कार करता है" अभिव्यक्ति के निर्वचन के बारे में विभिन्न उच्च न्यायालयों में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। बहुमत का दृष्टिकोण यह है कि यह खण्ड इस अधिनियम के किसी विशेष उपबंध के विरुद्ध अपील करने का उपबंध नहीं करता। यह केवल वहां लागू होता है जहां अधिनियम के लागू होने के बारे में इनकार किया जाता है क्योंकि इसी खण्ड के उत्तरवर्ती भाग में ऐसी बातों के लिए पहले ही उपबंध किया गया है: स्पष्टतः समग्र भाव में अभिव्यक्ति के प्रयोग से करदाता पर दायित्व अधिरोपित करने और इसे विनिश्चित करने से संबंधित संपूर्ण प्रक्रिया के अधीन होना अभिप्रेत है: और दायित्व अधिनियम के अधीन है, अधिनियम के

किसी विशेष उपबंध या किसी एक धारा के अधीन नहीं अर्थात् निर्धारिती यह दलील देता है कि वह इस अधिनियम के किसी भी उपबंध के अधीन निर्धारण किए जाने के लिए दायी नहीं है अथवा, दूसरे शब्दों में, वह कर दायित्व अधिरोपित करने के बारे में अधिनियम में अधिकथित प्रक्रिया के किसी भी भाग के अधीन लाये जाने के लिए दायी नहीं है। इनकार करने से संबंधित इस खण्ड के अंतर्गत वह इनकार नहीं आता जो निर्धारण प्रक्रिया के किसी भाग अथवा अधिनियम के किसी उपबंध विशेष के अधीन निर्धारण के बारे में है : देखिए : **आयकर आयुक्त** बनाम **गीताराम कालीराम** [1]। ऐसा ही मत **बोद्दू सीतारामस्वामी** बनाम **आयकर आयुक्त**[2], **आयकर आयुक्त** बनाम **शर्मा कंस्ट्रक्शन कम्पनी**[3], **के० बी० स्टोर्स** बनाम **आयकर आयुक्त**[4], **आयकर आयुक्त** बनाम पी० **एस० जेन मोटर (प्रा०)** लि०[5] और **आयकर आयुक्त** बनाम शांतिलाल **जे० मेहता**[6] में अपनाया गया है। इलाहाबाद पूर्ण न्यायपीठ के मामले ने **आयकर आयुक्त** बनाम **कानपुर कोल सिंडिकेट**[7] के मामले में उच्चतम न्यायालय के इन मतों का अवलंब लिया है कि 'दायित्व से इनकार' अभिव्यक्ति इतनी व्यापक है कि इसके अंतर्गत न केवल पूर्ण दयित्व से किया गया इन्कार ही नहीं आता अपितु विशेष परिस्थितियों के अधीन कर के दायित्व से किया गया इन्कार भी आता है। दोनों ही दशाओं में यह इन्कार अधिनियम के उपबंधों के अधीन निर्धारण करवाये जाने के दायित्व से इन्कार है। एक मामले में निर्धारिती यह कहता है कि अधिनियम के अधीन कर निर्धारण के लिए वह दायी ही नहीं है; और दूसरे मामले में निर्धारिती अधिनियम के उपबंधों के अधीन कर के अपने दायित्व से इनकार करता है यदि अधिनियम के उपबंधों के अधीन समुचित अधिकारी को दिये गये विकल्प का न्यायिकतः प्रयोग किया जाता है। पूर्ण न्यायपीठ ने **नेशनल प्रोडक्ट** बनाम **आयकर आयुक्त**[8] और **भीखू भाई एम० शाह** बनाम **आयकर आयुक्त**[9] के

---

[1] 121 आई० टी० आर० 708 इलाहाबाद (पूर्ण न्यायपीठ).

[2] 26 आई० टी० आर० 156 (आन्ध्र प्रदेश).

[3] 100 आई० टी० आर० 603 (गुजरात).

[4] 103 आई० टी० आर० 505.

[5] 130 आई० टी० आर० 842 (पंजाब-हरियाणा)

[6] 132 आई० टी० आर० 453 (मुम्बई)

[7] 53 आई० टी० आर० 225.

[8] 108 आई० टी० आर० 935 (कर्नाटक)

[9] 144 आई० टी० आर० 197 (गुजरात)

मामलों में इन दो मामलों में प्रतिकूल निर्णय देकर विभेद किया है। कर्नाटक के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 139 अथवा अधिनियम की धारा 215 के अधीन शास्तिक ब्याज का उद्ग्रहण एक नियमित निर्धारण आदेश में किया जाता है और इन दो धाराओं में आयकर अधिकारी को शास्तिक ब्याज को माफ करने या कम करने का विवेकाधिकार दिया गया है। किंतु जहां तक अधिनियम की धारा 217(1-क) के अधीन शास्तिक ब्याज के उद्ग्रहण का संबंध है, स्थिति ऐसी नहीं है। यहां वह उस ब्याज का उद्ग्रहण करने लिए कोई विवेकाधिकार नहीं दिया गया है जो ब्याज एक विशेष दर पर प्रभारित किया जाता है। ब्याज की दर को माफ करने या कम करने की कोई शक्ति नहीं है।

6. अतः इस निर्देश का उत्तर नकारात्मक रूप में विभाग के पक्ष में और निर्धारिती के विरुद्ध दिया जाता है। मामले की परिस्थितियों को देखते हुए खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।

निर्देश का उत्तर नकारात्मक दिया गया।

शर्मा

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—196

जे० ए० त्रिवेदी ब्रदर्स बनाम आय-कर आयुक्त

(J. A. Trivedi Brothers *Vs.* Commissioner of Inoom-tax)

तारीख 1 मार्च, 1984

[का० मु० न्या० जी० एल० ओझा एवं न्या० सी० पी० सेन]

1. आय-कर अधिनियम, 1961 धारा 41(2) और 32(i)(iii)—कराधान हेतु लाभ या हानि का प्राक्कलन जिला न्यायालय द्वारा अवधारित प्रतिकर पर आधारित होता है, इसका प्राक्कलन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि जिला न्यायालय द्वारा अधिनिर्णय न दे दिया गया हो।

2. कोल माइन्स नेशनलाइजेशन ऐक्ट, 1973 (कोयला खान राष्ट्रीयकरण अधिनियम, 1973) धारा 26(2) और 37 सपठित आय-कर अधिनियम, 1961 धारा 41(2) और 32(i)(iii)—दावा-आयुक्त द्वारा अवधारित प्रतिकर का कोयला खान के स्वामी और कोयला खान में पड़ी हुई

मशीनरी के स्वामी के बीच प्रभाजन जिला न्यायालय के निर्देश के पश्चात् ही किया जा सकता है ।

निर्धारिती की तीन कोयला खानों को, जो बरकुई ईस्ट, बरकुई वैस्ट तथा घोरावरी और हिरदेगढ़ में स्थित थीं, सरकार ने कोयला खान राष्ट्रीयकरण अधिनियम, 1973 के अधीन ग्रहण कर लिया था । दावा आयुक्त ने प्रतिकर की धनराशि 5,67,000 रुपए निश्चित की । निर्धारिती की कुछ आस्तियों के अतिरिक्त निर्धारिती द्वारा नियोजित ठेकेदार की आस्तियां खानों में पड़ी हुई थीं । आय-कर अधिकारी ने आयकर अधिनियम की धारा 41(2) के अधीन लाभों का अवधारण किया और उसने 36,228 रुपए इस प्रकार निश्चित किए मानों कि 5,67,000 रुपये की सम्पूर्ण रकम निर्धारिती द्वारा प्राप्य हो । आय-कर आयुक्त (अपील) ने आय-कर अधिकारी के इस अवधारण को मूल रूप से गलत बताया और यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि ठेकेदार की मशीनरी, जो कोयला खानों में पड़ी हुई थी, के प्रति दायित्व एक निश्चित दायित्व है और चूंकि निर्धारिती ने युक्तियुक्त और वैज्ञानिक आधार पर इस प्रकार के दायित्व की मात्रा के प्रति संकेत कर दिया था, अतः यदि इस स्थिति को स्वीकार कर लिया जाता है तो निर्धारिती को हानि भोगनी पड़ेगी और उसे कोई लाभ नहीं होगा । अतः उसने आय-कर अधिकारी द्वारा अतिरिक्त 36,228 रुपये की रकम को प्रभावोन्मुक्त कर दिया और 2,65,772 रुपये की हानि अनुज्ञात की । आय-कर आयुक्त (अपील) के इस आदेश के विरुद्ध अपील करने पर अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि दावा आयुक्त को जिला न्यायालय को निर्देश करना होगा और चूंकि न्यायालय ने अभी तक निर्धारिती और ठेकेदार के बीच प्रतिकर के विभाजन का न्यायनिर्णयन नहीं किया है, अतः हानि और लाभ की बाबत स्थिति जिला न्यायालय द्वारा निर्धारिती और ठेकेदार के बीच प्रतिकर के विभाजन के विषय में न्यायनिर्णयन करने के पश्चात् ही स्पष्ट होगी । अतः अधिकरण ने अपील आयुक्त और आय-कर अधिकारी के आदेश को अपास्त कर दिया और मामले को आय-कर अधिकारी के पास प्रतिकर के विभाजन के प्रश्न पर जिला न्यायालय का न्यायनिर्णयन प्राप्त करने के पश्चात् आदेश पारित करने के लिए वापस भेज दिया । निर्धारिती ने यह दलील दी कि आय-कर आयुक्त (अपील) इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि चूंकि प्रभाजन का प्रश्न एक निश्चित क्रियाकलाप है और चूंकि निर्धारिती ने कोयला खानों में पड़ी हुई ठेकेदार की सम्पत्ति का मूल्य अदा कर दिया है, अतः उसने प्रभाजन का प्राक्कलन किया । उसने यह दलील भी दी कि चूंकि ठेकेदार द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति का प्राक्कलन और मूल्य

अभिनिश्चित किए जा सकते हैं, अतः अधिकरण आय-कर आयुक्त (अपील) के आदेश को अपास्त करने में और मामले को जिला न्यायालय के न्यायनिर्णयन के पश्चात् निपटाने के लिए वापस भेजने में सही नहीं है। राजस्व की ओर से यह दलील दी गई कि अधिकरण का आदेश मामले को किसी भी प्रकार अन्तिम रूप से निश्चित नहीं करता और यह कहा गया कि चूंकि प्रतिकर के प्रभाजन की अधिकारिता जिला न्यायालय को प्रदत्त की गई है और जिला न्यायालय के अधिनिर्णय के पश्चात् ही इस बात को अन्तिम रूप से निश्चित किया जा सकता है कि निर्धारिती को प्रतिकर की कितनी रकम उपलब्ध है।

अभिनिर्धारित—निर्देश का तदनुसार उत्तर दिया गया।

इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता कि दावा आयुक्त को विभिन्न दावों का निश्चय करना है और इन दावों का फायदा देने के पश्चात् उस प्रतिकर के अधिशेष को निकाला जाना है जो कि देय है और स्वामी तथा ठेकेदार के बीच प्रतिकर के विभाजन की बाबत आयुक्त को जिला न्यायालय में निर्देश करना है तथा कोयला खान राष्ट्रीयकरण अधिनियम की धारा 26(5) के अधीन जिला न्यायालय का अधिनिर्णय इस बात को अन्तिम रूप से तय करेगा कि स्वामी और ठेकेदार के लिए क्या-क्या उपलब्ध हैं। धारा 26(2) की भाषा के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकरण ने यह अनुभव किया कि इस मामले को प्रतिकर का विभाजन करते हुए जिला न्यायालय द्वारा आदेश पारित किए जाने तक खुले रखना चाहिए क्योंकि यह एक ऐसा अन्तिम आदेश होगा जो इस बात का निश्चय करेगा कि निर्धारिती को देय प्रतिकर की रकम क्या होगी। अतः अधिकरण ने यह अनुभव किया कि इसके पश्चात् ही यह इस बात का निष्कर्ष निकाल सकेगा कि क्या धारा 41(2) के अधीन कराधान के लिए लाभ उपलब्ध है या आय-कर अधिनियम की धारा 32(1)(iii) के अधीन नुकसानी पर विचार किया जाएगा। अतः यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें कि आय-कर अधिकारी का निर्धारण अन्तिम माना जाए जब तक कि जिला न्यायालय अपना अधिनिर्णय नहीं दे देता और मामले को इस दृष्टिकोण से देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकरण ने इस मामले पर पुनः विचार किया है और आय-कर अधिकारी को जिला न्यायालय के अधिनिर्णय के पश्चात् इसका विनिश्चय करने के लिए वापस भेजा है। चूंकि अधिकरण ने मामले का अन्तिम रूप से निपटारा नहीं किया है बल्कि प्रतिकर के प्रभाजन के बारे में जिला न्यायालय द्वारा अन्तिम रूप से मामले का निश्चय करने के पश्चात् इसे विनिश्चय हेतु प्रतिप्रेषित किया है। अतः हमारी राय में विधि का ऐसा कोई

भी प्रश्न उद्भूत नहीं होता जिसके कारण कि निर्देश करने की आवश्यकता हो। निर्दिष्ट किए गए प्रश्न की बावत इस न्यायालय का उत्तर यह कहते हुए सकारात्मक है कि विधि के अनुसार अधिकरण मामले को आय-कर अधिकारी के पास वापस भेजने में न्यायोचित है। (पैरा 6)

	पैरा
37 आई० टी० आर० 1 : कलकत्ता कम्पनी लि० **बनाम** आय-कर आयुक्त (Calcutta Co. Ltd. *Vs.* Commissioner of Income-tax);	4
28 आई० टी० आर० 462 : महारानी कनक कुमार साहिबा **बनाम** आय-कर आयुक्त (Maharani Kanak Kumari Sahiba *Vs.* Commissioner of Income-tax);	4
137 आई० टी० आर० 434 : यूनाइटेड कमर्शियल बैंक **बनाम** आय-कर आयुक्त (United Commercial Bank *Vs.* C.I.T.)	4

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल (निर्देश) अधिकारिता : 1984 का प्रकीर्ण मामला सं० 147.

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256 के अधीन किया गया निर्देश।

आवेदकों की ओर से ... श्री सी० जे० ठाकर

विरोधी पक्षकार की ओर से ... श्री वी० के० रावत

न्यायालय का निर्णय कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति जी० एल० ओझा ने दिया।

कार्यकारी मुख्य न्या० ओझा :

आय-कर अपील अधिकरण ने यह निर्देश निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किया है :—

> "क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर अधिकरण मामले को आय-कर अधिकारी को वापस भेजने में विधि की दृष्टि से न्यायोचित है ?"

2. इस निर्देश में यथाकथित तथ्य ये हैं कि निर्धारिती की बरकुई ईस्ट, बरकुई वैस्ट तथा घोरावरी और हिरदेगढ़ स्थित तीन कोयला खानों को सरकार ने कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 के अधीन ग्रहण कर लिया था। उक्त अधिनियम की धारा 17 के अधीन नियुक्त दावा-आयुक्त द्वारा देय प्रतिकर की धनराशि 5,67,000 रुपये निश्चित की गई। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्धारिती की कुछ आस्तियों के अतिरिक्त कोयला खानों का विदोहन करने के लिए निर्धारिती द्वारा नियोजित ठेकेदार की आस्तियां खानों में पड़ी हुई थीं। कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 26 की उपधारा (5) के अधीन जहां कोयला खान की कोई मशीनरी या संयंत्र या अन्य संपत्ति केन्द्र सरकार में या अधिनियम के अधीन सरकारी कम्पनी में निहित हो गई है किन्तु ऐसी मशीनरी या संयंत्र या अन्य संपत्ति ऐसी कोयला खान के स्वामी की नहीं है, वहां प्रतिकर की रकम दावा-आयुक्त द्वारा इसे किये गये निर्देश के आधार पर जिला न्यायालय द्वारा ऐसी कोयला खान के स्वामी तथा ऐसी मशीनरी या संयंत्र या अन्य संपत्ति के स्वामी के बीच ग्रहण किए जाने की तारीख को मूल्य का सम्यक् रूप से ध्यान रखते हुए प्रभाजित की जायेगी।

3. किन्तु आय-कर अधिकारी आय-कर अधिनियम की धारा 41(2) के अधीन लाभों का अवधारण करने के लिए अग्रसर हुआ और उसने छत्तीस हजार, दो सौ अट्ठाइस रुपये ऐसे निश्चित किए मानों कि पांच लाख, सड़सठ हजार रुपये की सम्पूर्ण रकम निर्धारिती द्वारा, जो कि खानों का स्वामी है, प्राप्य हो। आय-कर आयुक्त (अपील) ने यह अभिनिर्धारित किया कि आय-कर अधिकारी ने इस बात की उपधारणा करने में मूल रूप से गलती की है कि संपूर्ण प्रतिकर स्वयं निर्धारिती द्वारा प्राप्य है। **कलकत्ता कम्पनी लि॰** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय का अवलंब लेते हुए आय-कर आयुक्त (अपील) ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि ठेकेदार, जिसकी मशीनरी कोयला खानों में पड़ी हुई थी, के प्रति दायित्व निश्चित दायित्व है और चूंकि निर्धारिती ने युक्तियुक्त और वैज्ञानिक आधार पर इस प्रकार के दायित्व की मात्रा के प्रति संकेत कर दिया था और यदि इस स्थिति को स्वीकार कर लिया जाता है तो निर्धारिती को आय-कर अधिनियम की धारा 32(1)(iii) के अधीन हानि भोगनी पड़ेगी और धारा 41(2) के अधीन कोई लाभ उपार्जित नहीं करेगा जैसा कि आय-कर अधिकारी ने निश्चित किया है। अतः उसने धारा 41(2) के अधीन आय-कर अधिकारी द्वारा अतिरिक्त 36,228 रुपये की रकम को प्रभावोन्मुक्त कर दिया और धारा

---

[1] 37 आई॰ टी॰ आर॰ 1.

32(1)(iii) के अधीन 2,65,772 रुपये की हानि अनुज्ञात की। आय-कर आयुक्त (अपील) के इस आदेश के विरुद्ध अपील करने पर अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि दावा-आयुक्त को कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 26(5) के अधीन जिला न्यायालय को निर्देश करना होगा और चूंकि न्यायालय ने अभी तक निर्धारिती और ठेकेदार के बीच प्रतिकर के प्रभाजन का न्यायनिर्णयन नहीं किया है, अतः यह तथ्य कि क्या निर्धारिती धारा 32(1)(iii) के अधीन सीमा हानि (टर्मिनल लॉस) के लिए या धारा 41(2) के अधीन लाभ के लिए निर्धार्य है या नहीं, यह वात केवल जिला न्यायालय के निर्धारिती और ठेकेदार के बीच प्रतिकर के प्रभाजन के विषय में न्यायनिर्णयन करने के पश्चात् ही स्पष्ट होगी। अतः अधिकरण ने अपील आयुक्त और आय-कर अधिकारी के आदेश को अपास्त कर दिया और मामले को आय-कर अधिकारी के पास प्रतिकर के प्रभाजन' के प्रश्न पर जिला न्यायालय का न्यायनिर्णयन प्राप्त करने के पश्चात् आदेश पारित करने के लिए वापस भेज दिया। निर्धारिती के निवेदन करने पर अधिकरण ने उपरोक्त उद्धृत प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह निर्देश किया है।

4. निर्धारिती की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि आय-कर आयुक्त (अपील) ने **कलकत्ता कम्पनी लि० बनाम आयकर आयुक्त**[1] वाले मामले का अनुसरण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि चूंकि प्रभाजन का प्रश्न एक निश्चित क्रियाकलाप है और चूंकि निर्धारिती ने कोयला खानों में पड़ी हुई ठेकेदार की संपत्ति का मूल्य अदा कर दिया है अतः उसने प्रभाजन का प्राक्कलन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि आय-कर अधिकारी धारा 41(2) के अधीन 36,228 रुपये की रकम को लाभ के रूप में जोड़ने में सही नहीं है अतः उसने आय-कर अधिनियम की धारा 32(1)(iii) के अधीन 2,65,772 रुपये हानि के रूप में अनुज्ञात किए। विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि चूंकि ठेकेदार द्वारा छोड़ी गई सम्पति का प्राक्कलन और मूल्य, जिनका निर्धारिती ने वैज्ञानिक रीति से कथन किया है, अभिनिश्चित किए जा सकते हैं, अतः अव ऐसी कोई वात नहीं रह गई है जिससे कोई सन्देह रह जाता हो। इसलिए अधिकरण आय-कर आयुक्त (अपील) के आदेश को अपास्त करने में और मामले को जिला न्यायालय के न्यायनिर्णयन के पश्चात् निपटाने के लिए वापस भेजने में सही नहीं है। यह दलील दी गई कि धारा 153 के अधीन परिसीमा विषयक प्रश्न उद्भूत होगा और प्रतिकर के

---

[1] 37 आई० टी० आर० 1

प्रभाजन को निपटाने में और अधिनिर्णय देने में जिला न्यायालय काफी समय ले लेगा। अतः यह निर्धारण धारा 153 के अधीन यथाअनुध्यात समय के भीतर विनिश्चित नहीं किया जा सकता। कलकत्ता कम्पनी लि० बनाम आय-कर आयुक्त वाले ऊपर निर्दिष्ट मामले में दिए गए विनिश्चय के बावजूद भी विद्वान् काउन्सेल ने **महारानी कनक कुमारी साहिबा** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] और **यूनाइटेड कार्माशयल** बनाम **बैंक आय-कर आयुक्त**[2] वाले मामलों का अवलंब लिया। दूसरी ओर राजस्व की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि अधिकरण का आदेश मामले को किसी भी प्रकार अन्तिम रूप से निश्चत नहीं करता। यह दलील दी गई कि कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1973 की धारा 26(5) के अधीन प्रतिकर के प्रभाजन की अधिकारिता जिला न्यायालय को प्रदत्त की गई है तथा जिला न्यायालय के अधिनिर्णय के पश्चात् ही इस बात को अंतिम रूप से निश्चित किया जा सकता है कि निर्धारिती को प्रतिकर की कितनी रकम उपलब्ध है, अतः इस आधार पर इस बात को आंका जा सकता है कि क्या आय-कर अधिनियम की धारा 41(2) के अधीन करादेय लाभ हुआ है या इसकी धारा 32(1)(iii) के अधीन हानि हुई है। यह दलील दी गई है कि कोयला खान (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम 1973 की धारा 26(5) की भाषा के आधार पर इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता कि मामला तभी अंतिम माना जाएगा जबकि जिला न्यायालय निर्देश का निपटारा कर देगा और अपना अधिनिर्णय दे देगा। यह दलील दी गई कि अधिनिर्णय निर्धारिती के लिए अधिक फायदेमन्द हो सकता है क्योंकि निर्धारिती को उपलब्ध प्रतिकर की मात्रा में कमी की जा सकती है। निर्धारिती के विद्वान् काउन्सेल ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि अन्ततोगत्वा अधिनिर्णय निर्धारिती के लिए अधिक फायदेमंद हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता, लेकिन उसने यह दलील दी कि तथ्य अभिनिश्चित किए जा सकते हैं या निश्चित हैं तब मामले को लम्बित रखना आवश्यक नहीं है। जहां तक परिसीमा विषयक प्रश्न का संबंध है राजस्व की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि यह प्रश्न अधिकरण के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था और न ही इसे उठाया गया था। अतः यह प्रश्न इस न्यायालय को निर्दिष्ट किए गए प्रश्न का भाग रूप नहीं है, अतः इस पर विचार किया जाना आवश्यक नहीं है किन्तु निर्धारिती की ओर

---

[1] 128 आई० टी० आर० 462.

[2] 137 आई० टी० आर० 434.

से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल के अनुसार जब मामले को जिला न्यायालय के अधिनिर्णय के प्राप्त किए जाने के पश्चात् निर्धारण का विचारण करने के लिए आय-कर अधिकारी को वापस भेज दिया जाता है तब यह अंतर्वलित है कि धारा 153 के अधीन परिसीमा विषयक प्रश्न उठ सकता है।

5. इस बात पर विवाद नहीं किया गया है कि इस कोयला खान के लिए नियत किया गया प्रतिकर कोयला खान के स्वामी की संपत्ति और आस्तियों के अतिरिक्त कोयला खान में ठेकेदार की पड़ी हुई संपत्ति और आस्तियों के आधार पर विभाजित की जायेगी और यह भी निर्विवाद है कि इस प्रभाजन से पूर्व ही यदि कोई अन्य दावे होंगे तो उनका दावा आयुक्त अवधारित करेगा तथा अन्य सभी दावों का संदाय करने के पश्चात् ही जो कुछ शेष रह जायेगा उसका कोयला खानों में ठेकेदार की संपत्ति और आस्तियों के समाप्त होने के आधार पर स्वामी और ठेकेदार के बीच प्रभाजित की जायेगी। इसमें मात्र मतभेद यह है कि निर्धारिती की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल के अनुसार ये ऐसे विषय हैं जिनका अभिनिश्चय कोयला खानों में पड़ी हुई वस्तुओं की कीमत द्वारा तथा इनके निर्धारण के लिए वैज्ञानिक आधार को लागू करते हुए किया जा सकता है। यह दलील दी गई है कि नुकसानी के लिए ठेकेदार के दावे को अधिकरण द्वारा स्वीकार किया गया था क्योंकि यह एक अन्य अधिकरण के समक्ष था जबकि निर्धारिती, कोयला खान का स्वामी का प्राक्कलन जो उसी आधार पर आधारित था, उस अधिकरण द्वारा स्वीकार नहीं किया गया जहां कि मामले की सुनवाई की गई थी।

6. **कलकत्ता कम्पनी लि० बनाम आय-कर आयुक्त**[1] में जिसका कि विद्वान् आयुक्त (अपील) द्वारा अवलंब लिया गया है, यह अधिकथित किया गया है कि उसकी प्राक्कलन की कठिनाई उद्भूत हुए दायित्व में सशर्त दायित्व के रूप में संपरिवर्तित नहीं की गई क्योंकि संबद्ध आय-कर अधिकारी मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए एक उचित प्राक्कलन पर पहुंचने के लिए स्वतंत्र होता है। इस मामले में जो कुछ अभिनिर्धारित किया गया था वह यह है कि जहां तथ्यों का अभिनिश्चय किया जा सकता हो वहां उनका अभिनिश्चय किया जा सकता है और यह दलील दी गई कि निर्धारिती ने वैज्ञानिक आधार पर प्राक्कलित संपत्ति की कीमत के आधार पर प्राक्कलन दिया था। यह स्पष्ट है कि ऊपर निर्दिष्ट कलकत्ता कम्पनी वाला मामला ऐसा मामला नहीं है जिसमें कि प्रतिकर की मात्रा के प्रभाजन का प्रश्न सक्षम

---

[1] 37 आई० टी० आर० 1.

न्यायालय की अधिकारिता के अधीन हो। प्रस्तुत मामले में इस बात पर विवाद नहीं किया जा सकता कि दावा आयुक्त को विभिन्न दावों का विनिश्चय करना है और इन दावों का फायदा देने के पश्चात् उस प्रतिकर के अधिशेष को निकाला जाना है जो कि देय है और स्वामी तथा ठेकेदार के बीच प्रतिकर के विभाजन की बावत आयुक्त को जिला न्यायालय में निर्देश करना है तथा कोयला खान राष्ट्रीयकरण अधिनियिम की धारा 26(5) के अधीन जिला न्यायालय का अधिनिर्णय इस बात को अंतिम रूप से तय करेगा कि स्वामी और ठेकेदार के लिए क्या-क्या उपलब्ध है। धारा 26(5) की भाषा के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकरण ने यह अनुभव किया कि इस मामले को प्रतिकर का विभाजन करते हुए जिला न्यायालय द्वारा आदेश पारित किये जाने तक खुले रखना चाहिए क्योंकि यह एक ऐसा अंतिम आदेश होगा जो इस बात का निश्चय करेगा कि निर्धारिती को देय प्रतिकर की रकम क्या होगी, अतः अधिकरण ने यह अनुभव किया कि इसके पश्चात् ही यह इस बात का निष्कर्ष निकाल सकेगा कि क्या धारा 41(2) के अधीन कराधान के लिए लाभ उपलब्ध है या आय-कर अधिनियम की धारा 32(1)(iii) के अधीन नुकसानी पर विचार किया जायेगा। अतः यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें कि आय-कर अधिकारी का निर्धारण अंतिम माना जाय जब तक कि जिला न्यायालय अपना अधिनिर्णय नहीं दे देता और मामले को इस दृष्टिकोण से देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकरण ने इस मामले पर पुनः विचार किया है और आय-कर अधिकारी को जिला न्यायालय के अधिनिर्णय के पश्चात् इसका विनिश्चय करने के लिए वापस भेजा है। निस्संदेह ही यह सत्य है कि क्या परिसीमा विषयक प्रश्न कोई अड़चन उत्पन्न करेगा या नहीं किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इस प्रश्न को इस निर्देश में उठाया गया है और न ही यह प्रश्न हमें निर्दिष्ट किया गया है। अतः मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर हमारे लिए उस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। क्योंकि अधिकरण ने मामले का अंतिम रूप से निपटारा नहीं किया है बल्कि प्रतिकर के प्रभाजन के बारे में जिला न्यायालय द्वारा अंतिम रूप से मामले का निश्चय करने के पश्चात् इसे विनिश्चय हेतु प्रतिप्रेषित किया है। अतः हमारी राय में विधि का ऐसा कोई भी प्रश्न उद्भूत नहीं होता जिसके कारण कि निर्देश करने की आवश्यकता हो। मामले को इस दृष्टिकोण से देखने पर हमें निर्दिष्ट किये गये प्रश्न की बाबत हमारा उत्तर यह कहते हुए सकारात्मक है कि विधि के अनुसार अधिकरण मामले को आय-कर अधिकारी के पास वापस भेजने में न्यायोचित है।

7. इस निर्देश का तद्नुसार उत्तर दिया गया। मामले की इन परिस्थितियों में पक्षकारों को यह निदेश दिया जाता है कि वे अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करें।

निर्देश का तदनुसार उत्तर दिया गया।

वंसल

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—205

मोहम्मद शबीर बनाम आय-कर आयुक्त, मध्य प्रदेश

(Mohammad Shabbir *Vs.* Commissioner of Income-tax, Madhya pradesh)

[का० मु० न्या० जी० एल० ओझा और न्या० सी० पी० सेन]

तारीख 31 मार्च, 1984

आय-कर अधिनियम, 1961 धारा 256(2) और 271(1) (ग)—स्पष्टीकरण—उक्त अधिनियम की धारा 271(1) (ग) के स्पष्टीकरण के लागू होने के बारे में निकाला गया निष्कर्ष तथ्य-विषयक निष्कर्ष होता है, अतः इससे विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता—यदि निर्धारिती ने उक्त धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण के अधीन आवश्यक सबूत दे दिया है और विभाग बिना किसी आधार के उसके सबूत से संतुष्ट नहीं है तो मात्र सही न होने की सम्भावना के आधार पर निर्धारिती के बारे में यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाएगा कि उसने विवरणी देने में कोई कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर ऐसी उपेक्षा की है जिसके आधार पर उसे दाण्डिक उपबंध लागू नहीं होते।

निर्धारिती ने 1971-72 लेखा वर्ष, जिसका अन्त दिवाली 1970 हो गया था, को विवरणी प्रस्तुत की। यह निर्धारिती के कारबार का प्रथम वर्ष था। निर्धारिती ने अपने लेखाबहियों में 20,000 रुपये की और 2,070 रुपये की प्रविष्टि की। आय-कर अधिकारी ने निर्धारिती से इन प्रविष्टियों की प्रकृति को साबित करने की अपेक्षा की। निर्धारिती ने इन बचतों को कृषि आय बताया। आयकर अधिकारी ने उसके इस स्पष्टीकरण को अस्वीकार करते हुए उस पर 22,070 रुपये आय के रूप में अप्रकट साधन से प्राप्त रकम के रूप में जोड़

दिए। इसके विरुद्ध निर्धारिती ने सहायक आयुक्त (अपील) और अन्त में अपील अधिकरण को अपील की । किन्तु अपील अधिकरण ने कृषि आय से अधिकतम संभव मोक देते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि निर्धारिती 10,000 रुपये तक की बचत को स्पष्ट नहीं कर सका है । आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 271(1)(ग) के अधीन शास्तिक कार्यवाहियां प्रारम्भ कीं । आय-कर अधिकारी के अनुसार चूंकि निर्धारिती ने निर्धारित आय से 80%कम आय की विवरणी दी है, अतः उसने ऐसा करने में कपट, घोर उपेक्षा और जानबूझकर उपेक्षा की है और उसके बारे में यह समझा जाना चाहिए कि उसने अपनी आय की विशिष्टियों को छुपाया है । सहायक आयुक्त (अपील) ने उसके इस निष्कर्ष की पुष्टि कर दी । आगे अपील करने पर अपील अधिकरण ने इस आदेश को कायम रखा । निर्धारिती द्वारा दिए गए इस स्पष्टीकरण को कि उसकी यह आय उसके कृषि साधनों से प्राप्त हुई है अस्वीकार कर दिया गया और यह कहा गया कि यह स्पष्टीकरण सही नहीं हैं किन्तु यह माना गया कि 12,000 रुपये तक की उसकी आय को उसने स्पष्ट कर दिया है । इसके अतिरिक्त निर्धारिती ने और कोई स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न नहीं किया । प्रस्तुत मामले में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या आवेदक द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को मात्र स्वीकार न करने के कारण यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि आवेदक की ओर से जानबूझ कर उपेक्षा की गई है या कपट किया गया है ।

अभिनिर्धारित—आवेदन खारिज किया गया ।

जब अपील अधिकरण का आदेश तथ्य विषयक निष्कर्ष पर आधारित हो तब उच्च न्यायालय को कोई निर्देश नहीं किया जा सकता । अधिकरण के इस प्रकार के आदेश से कोई विधि-विषयक प्रश्न उद्भूत नहीं होता क्योंकि धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण द्वारा की गई उपधारणा का खण्डन किया गया है या नहीं, यह आवश्यक रूप से तथ्य-विषयक प्रश्न होता है । (पैरा 4)

चूंकि इस स्पष्टीकरण के अधीन आवश्यक सबूत ऐसा नहीं है जैसा कि दाण्डिक मामले में अपेक्षित है, अतः यदि निर्धारिती ने इस प्रकार के स्पष्टीकरण का सबूत दे दिया है और दिए गए इस स्पष्टीकरण से विभाग संतुष्ट नहीं हुआ तो मात्र इस संभावना के आधार पर कि विभाग भिन्न मत रखता है, यह निष्कर्ष कि आय का छुपाया जाना साबित हो गया है, आवश्यक नहीं है । (पैरा 4)

	पैरा
115 आई० टी० आर० 118 : अपर आय-कर आयुक्त **बनाम** चन्द्रविलास होटल (Addl. C. I. T. *Vs.* Chandravilas Hotel) से **प्रभेद** बताया गया।	4
134 आई० टी० आर० 785 : आय-कर आयुक्त **बनाम** प्रदीप शांताराम पदगांवकर (C. I. T. *Vs.* Pradeep Shantaram Padgaonkar);	4
124 आई० टी० आर० 111 : अपर आय-कर आयुक्त **बनाम** तहरयामल बालचन्द (Addl. C. I. T. *Vs.* Thahrayamal Balchand);	4
125 आई० टी० आर० 700 : आय-कर आयुक्त **बनाम** गोस्वामी चन्द्रलता बहूजी (C. I. T. *Vs.* Goswami Chandralata Bahuji);	4
128 आई० टी० आर० 399 : आय-कर आयुक्त **बनाम** आर० डालमिया (C. I. T. *Vs.* R. Dalmia);	4
140 आई० टी० आर० 418 : आय-कर आयुक्त **बनाम** वसन्त कुमार अग्रवाल (C. I. T. *Vs.* Basanta Kumar Agrawalla);	4
आई० टी० आर० 434 : आय-कर आयुक्त **बनाम** दिवान सिंह गुरवचन सिंह (C. I. T. *Vs.* Dewan Singh Gurbachan Singh);	4
143 आई० टी० आर० 929 : आय-कर आयुक्त **बनाम** रतन मिश्रीलाल (C. I. T. *Vs.* Ratanlal Mishrilal) वाले मामले **निर्दिष्ट** किए गए।	4

सिविल निर्देश अधिकारिता : 1980 का एम० सी० सी० सं० 34.

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256 के अधीन निर्देश हेतु किया गया आवेदन।

आवेदक की ओर से ... श्री बी० एल० नेमा
विरोधी पक्षकार की ओर से ... श्री बी० के० रावत

न्यायालय का निर्णय न्या० सी० पी० सेन ने दिया।

न्या० सेन :

निर्धारिती ने यह आवेदन आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(2) के अधीन आय-कर अधिकरण (अपील) को मामले को तय करने और विधि के निम्नलिखित प्रश्नों को निर्देशित करने का निदेश देने के लिए किया है :—

(1) क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए विधि की दृष्टि से यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित है कि आवेदक ने आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 271(1)(ग) के प्रयोजनों के लिए अपनी आय की विशिष्टियां छिपाई हैं या ऐसी आय की अशुद्ध विशिष्टियां प्रस्तुत की हैं ?

(2) क्या यह अभिनिर्धारित करने के लिए अभिलेख पर कोई सामग्री है कि आवेदक की ओर से कोई कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर ऐसी उपेक्षा की गई है जिससे कि उसे आय-कर अधिनियम की धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण की परिधि के अन्तर्गत लाया जा सके ?

(3) क्या आवेदक द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को मात्र स्वीकार न करने के कारण यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि आवेदक की ओर से जानबूझकर उपेक्षा की गई है या कपट किया गया है ?

(4) क्या अभिलेख पर की सामग्री के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि इस मामले में शास्तिक उपबंध लागू होते हैं ?

(5) क्या अधिरोपित की गई शास्ति विधिक शास्ति है ?

निर्धारिती की ओर से उपस्थित होने वाने विद्वान् काउन्सेल ने इस बात में सहमति व्यक्त की कि सभी प्रश्न संबंधित प्रश्न हैं किन्तु वास्तव में जो प्रश्न उठाया गया है वह यह है कि क्या इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में विधि की दृष्टि से यह अभिनिर्धारित करना न्यायोचित है कि निर्धारिती ने आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 271(1) (ग) के प्रयोजनों के लिए अपनी आय की विशिष्टियां छिपाई हैं या उसने ऐसी आय की अशुद्ध विशिष्टियां प्रस्तुत की हैं।

2. इस मामले का निर्धारण वर्ष 1971-72 है और लेखा वर्ष दिवाली को समाप्त होने वाला वर्ष 1970 है। यह निर्धारिती के कारबार का प्रथम

वर्ष है। 1 अक्तूबर, 1970 को निर्धारिती ने अपनी लेखा बहियों में 20,000 रुपये और 4 अक्तूबर, 1970 को 2,070 रुपये को प्रविष्टियां कीं। आय-कर अधिकारी ने निर्धारिती से इन निक्षेपों की प्रकृति और साधन साबित करने की अपेक्षा की। निर्धारिती ने यह स्पष्टीकरण दिया कि यह रकम उसकी कृषि आय की पिछली बचत से संबंधित है। आय-कर अधिकारी ने इस स्पष्टीकरण को अस्वीकार कर दिया और 22,070 रुपये की धनराशि निर्धारिती की आय में अप्रकट साधनों के रूप में जोड़ दी। इस आदेश के विरुद्ध निर्धारिती ने सहायक आयुक्त (अपील) को और अन्त में अपील अधिकरण को अपील की। अपील अधिकरण ने कृषि आय की बचत के लिए अधिकतम संभव मोक देने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि निर्धारिती 10,000 रुपये तक के निक्षेप को स्पष्ट करने में असमर्थ रहा है। अन्त में अतिरिक्त 10,000 रुपये की रकम को कायम रखा गया। आय-कर अधिकारी ने अधिनियम की धारा 271(1) (ग) के अधीन शास्तिक कार्यवाहियां प्रारम्भ कीं। निर्धारिती ने 4,760 रुपये की आय अपनी विवरणी में दर्शित की थी जबकि अपील अधिकरण द्वारा अनुज्ञात अनुतोष के पश्चात् निर्धारिती की अन्तिम रूप से आय 16,160 रुपये थी। आय-कर अधिकारी के अनुसार आय की विवरणी निर्धारित आय से 80 प्रतिशत कम थी, अतः धारा 271(1) के स्पष्टीकरण के उपबंध लागू होते हैं। इसके अतिरिक्त आय-कर अधिकारी ने यह मत भी व्यक्त किया कि निर्धारिती द्वारा सही आय की विवरणी देने में असफल होने के कारण यह कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर की गई उपेक्षा है और निर्धारिती के बारे में यह समझा जाएगा कि उसने अपनी आय की विशिष्टियां छिपाई हैं या ऐसी आय की अशुद्ध विशिष्टियां प्रस्तुत की हैं। सहायक आयुक्त (अपील) ने इस निष्कर्ष की और आय-कर अधिकारी द्वारा अधिरोपित शास्ति की मात्रा की पुष्टि की।

3. आगे अपील करने पर अपील अधिकरण ने आदेश को कायम रखा। यह मत व्यक्त किया गया कि निर्धारिती ने आय की ऐसी विवरणी दी है जो अन्ततोगत्वा निर्धारित आय से 80 प्रतिशत कम है, अतः अधिनियम की धारा 271(1)(ग) लागू होगी तथा आय-कर अधिकारी ने विनिर्दिष्ट रूप से निर्धारिती पर शास्ति उद्गृहीत करने के लिए इस धारा के स्पष्टीकरण का आश्रय लिया है। निर्धारण कार्यवाहियों में निर्धारिती ने यह अभिवचन किया कि प्रश्नगत निक्षेप उसकी कृषि आय के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु इस स्पष्टीकरण को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया और अन्त में अपील

अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि निर्धारिती द्वारा धारित भूमि की प्रकृति और उसके विस्तार को देखते हुए अधिक-से-अधिक यह माना जा सकता है कि 12,000 रुपये तक के नकद निक्षेपों के बारे में स्पष्टीकरण दे दिया गया है। जब शास्तिक कार्यवाहियां प्रारम्भ की गई तब निर्धारिती को यह कहा गया कि वह उपलब्ध निधियों को साबित करने के लिए नई सामग्री या साक्ष्य प्रस्तुत करे। किन्तु उसकी ओर से इस सम्बन्ध में कोई प्रयत्न नहीं किया गया तथा कोई भी नई सामग्री प्रस्तुत नहीं की गई। अधिनियम की धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण द्वारा उठाई गई उपधारणा को निर्धारिती ने यह दर्शित करते हुए विस्थापित नहीं किया कि उसकी ओर से कोई कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर उपेक्षा नहीं की गई है। इन परिस्थितियों में निचले प्राधिकारियों के पास सिवाय यह अभिनिर्धारित करने के और कोई विकल्प नहीं था कि स्पष्टीकरण के अधीन निर्धारिती के बारे में यह समझा जाए कि उसने अपनी आय की विशिष्टियां छिपाई हैं या इस उपधारा के खण्ड (ग) के प्रयोजनों के लिए ऐसी आय की अशुद्ध विशिष्टियां प्रस्तुत की हैं। इसके पश्चात् निर्धारिती ने अधिनियम की धारा 256(1) के अधीन अधिकरण के समक्ष आवेदन फाइल किया जिसे यह अभिनिर्धारित करते हुए अस्वीकार कर दिया गया कि अधिकरण का विनिश्चय तथ्यों पर आधारित है और इसमें विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ है।

4. पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि अपील अधिकरण के निष्कर्ष तथ्यों पर आधारित हैं और विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ है। हम **आय-कर आयुक्त** बनाम **प्रदीप शांताराम पदगांवकर**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय में व्यक्त किए गए अपने मत से सहमत हैं। इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अधिकरण के ये निष्कर्ष कि चूंकि यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं दी गई है कि निर्धारिती आय की विवरणी देने में कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर उपेक्षा का दोषी है, अतः उसने अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री के आधार पर इसके द्वारा अभिलिखित किए गए तथ्यों के निष्कर्षों के आधार पर अधिरोपित की गई शास्ति संबंधी आदेश को अपास्त कर दिया क्योंकि इसमें निर्देश के लिए विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ था। इसी प्रकार अन्य उच्च न्यायालयों द्वारा यह मत अपनाया गया है कि अधिकरण के आदेश से विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ है क्योंकि

---

[1] 134 आई० टी० आर० 785.

धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण द्वारा की गई उपधारणा का खण्डन कर दिया गया था अथवा यह आवश्यक रूप से तथ्य-विषयक प्रश्न नहीं था। **अपर आयकर आयुक्त** बनाम **तहरयामल बालचन्द**[1], **आय-कर आयुक्त** बनाम **गोस्वामी चन्द्रलता बहूजी**[2], **आय-कर आयुक्त** बनाम **आर० डालमिया**[3], **आय-कर आयुक्त** बनाम **बसन्त कुमार अग्रवाल**[4] और **आय-कर आयुक्त** बनाम **दिवान सिंह गुरबचन सिंह**[5] वाले मामले देखिए। किन्तु निर्धारिती की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने **अपर आय-कर आयुक्त** बनाम **चन्द्रविलास होटल**[6] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय का अवलम्ब लिया किन्तु वह मामला इस मामले में लागू नहीं होता क्योंकि उस मामले में जो प्रश्न उठा था वह यह था कि क्या आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 271(1)(ग) के उपबंधों तथा उसके स्पष्टीकरण के आधार पर अपील अधिकरण निर्धारिती पर अधिरोपित शास्ति को रद्द करने में सही था और क्या अधिकरण द्वारा निकाला गया यह निष्कर्ष कि निर्धारिती निर्धारित आय के 80 प्रतिशत से कम आय की विवरणी देने में कपट या घोर उपेक्षा या जानबूझकर उपेक्षा करने का दोषी है, अभिलेख पर की समस्त सामग्री पर विचार किए बिना निष्कर्ष निकाला गया था। **आय-कर आयुक्त** बनाम **रतनलाल मिश्रीलाल**[7] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दिए गए विनिश्चय का भी अवलम्ब लिया गया। इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रस्तुत मामले में निर्धारिती ने धारा 271(1)(ग) के स्पष्टीकरण द्वारा उस पर डाले गए भार का अनुमोदन कर दिया है। उसने यह स्पष्टीकरण दिया कि राशि उसके पिता से उधार ली गई रकम थी और जब तक कि आय-कर प्राधिकारियों के पास प्रश्नगत रकम की बचत करने की पिता की सामर्थ्य का प्राक्कलन करने से अधिक और कोई बात न हो तब तक छिपाए जाने के दोष के बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि यह साबित हो गया है कि इस मामले की परिस्थितियों के आधार पर कोई शास्ति उद्गृहीत नहीं की जा सकती। यह मत भी व्यक्त किया गया कि इस स्पष्टीकरण के अधीन

---

[1] 124 आई० टी० आर० 111.

[2] 125 आई० टी० आर० 700.

[3] 128 आई० टी० आर० 399.

[4] 140 आई० टी० आर० 418.

[5] आई० टी० आर० 434

[6] 115 आई० टी० आर० 118.

[7] 143 आई० टी० आर० 929.

आवश्यक सबूत ऐसा नहीं है जैसा कि दाण्डिक मामले में अपेक्षित है। यदि निर्धारिती ने इस प्रकार के स्पष्टीकरण का सबूत दे दिया है और दिए गए इस स्पष्टीकरण से विभाग संतुष्ट नहीं हुआ है तो मात्र इस संभावना के आधार पर कि विभाग भिन्न मत रखता है, यह निष्कर्ष कि आय का छिपाया जाना साबित हो गया है आवश्यक नहीं है।

5. तदनुसार हम इस आवेदन को यह कहते हुए खारिज करते हैं कि इसमें विधि-विषयक कोई प्रश्न उद्भूत नहीं हुआ है। पक्षकार अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे।

आवेदन खारिज किया गया।

बंसल

नि० प० 1984 : मध्य प्रदेश—212

प्रकाश मेहता (श्रीमती) बनाम मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य

[Prakash Mehta (Smt.) *Vs.* State of M. P. and another]

तारीख 24 सितम्बर, 1983

[न्या० यू० एन० बछावत और आर० सी० श्रीवास्तव]

संविधान, 1950, अनुच्छेद 14—विधि के समक्ष समता—सरकार का कोई भी कार्यपालक या विधायी कृत्य यदि शक्ति का खुले तौर पर मनमाने ढंग से प्रयोग करके किया जाता है और उसमें अन्तर्निहित रूप से असमानता के बीज अन्तर्विष्ट होते हैं तो वह अनुच्छेद 14 के विरुद्ध होगा।

2. भारतीय मानक संस्था (प्रमाणन चिह्न) अधिनियम, 1952, धारा 3, 6 तथा 10—उद्देश्यों और कारणों का कथन—अधिनियम में क्वालिटी के नियंत्रण के मामले में अधिनियम के अधीन स्थापित संस्था से अन्य संस्था या अभिकरण स्थापित करने के लिए उपबंध किया गया है—केन्द्र सरकार अधिनियम के प्रयोजनों के लिए किसी बाह्य प्राधिकरण को भी नियुक्त कर सकती है क्योंकि क्वालिटी की अभिवृद्धि करना अधिनियम का प्रयोजन है।

पिटीशनर एक विनिर्माण समुत्थान का स्वत्वधारी है। यह एक लघु उद्योग एकक है। पिटीशनर के पास भारतीय मानक संस्था (प्रमाणन चिह्न)

अधिनियम, 1952 के अधीन भारतीय मानक संस्था से हैन्ड पम्प विनिर्मित करने की अनुज्ञप्ति प्राप्त है । पिटीशनर को अपने द्वारा विनिर्मित माल पर आई० एस० आई० और आई० एस० एस० चिह्न का प्रयोग करने का हक है । लोक स्वास्थ्य इन्जीनियरी विभाग के प्रधान-इन्जीनियर ने निविदाएं आमंत्रित कीं जिसमें आक्षेपित शर्त इस प्रकार है : उक्त निविदाएं यूनीसेफ द्वारा अनुमोदित विनिर्माताओं से गहरे कुएं के हैन्ड पम्पों (इण्डिया मार्क 2 फर्म) के प्रदाय के लिए थी जो सुसंगत आई० एस० एस० के अनुरूप थी । प्रदत्त किया गया प्रत्येक हैन्ड पम्प उस अभिकरण द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए जिसे इस प्रयोजन के लिए यूनीसेफ ने नियुक्त किया है । पिटीशनर ने प्रस्तुत पिटीशन फाइल करते हुए निविदा की शर्त की विधिमान्यता पर मुख्यत: निम्नलिखित आधारों पर आक्षेप किया है—(1) पिटीशनर के उद्योग पर आक्षेपित शर्त अधिरोपित नहीं की जा सकती क्योंकि यह एक लघु उद्योग है और 1952 के अधिनियम सं० 36 के अधीन अनुज्ञप्ति प्राप्त है । (2) आक्षेपित शर्त को अधिरोपित करने से 1952 के अधिनियम संख्या 36 के उपबन्धों का अतिलंघन होता है क्योंकि व्यापार चिह्न आई० एस० आई० या आई० एस० एस० अनन्य गारंटी है और पिटीशनर द्वारा विनिर्मित माल की क्वालिटी के स्टैंडर्ड के बारे में प्रमाणन है । प्रत्यर्थी राज्य की ओर से पिटीशनर की दलीलों और दावों का प्रतिरोध किया गया और यह कहा गया कि सुसंगत समय पर अर्थात् निविदा के खोले जाने के लिए नियत तारीख तक पिटीशनर के पास 1952 के अधिनियम संख्या 36 के अधीन अनुज्ञप्ति नहीं थी और यह कि यह अधिनियम किसी भी प्रकार से राज्य सरकार की शक्ति पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाता और राज्य सरकार के किसी भी विभाग पर उपयोग के लिए पदार्थों को खरीदने से पहले किसी विशेषज्ञ अधिकरण द्वारा और जांच पड़ताल किए जाने की अपेक्षा नहीं है । आक्षेपित शर्त लोक हित के सम्बन्ध में काफी विचार-विमर्श करने के पश्चात् अधिरोपित की गई है । यह भी दलील दी गई कि आक्षेपित शर्त एक साधारण शर्त है जो सभी निवासियों पर लागू होती है और उससे यह अभिप्रेत नहीं है कि वह विशेष रूप से पिटीशनर को भी लागू हो । इस शर्त को अधिरोपित करने के पीछे उद्देश्य और प्रयोजन माल की क्वालिटी अच्छे स्तर की रखना है जिससे देहाती जल प्रदाय कार्यक्रम की अपेक्षाएं पूरी हो सकें और इस प्रकार यह लोक हित में है । यह कार्य न तो मनमाना है और न सनक के आधार पर किया गया है । संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन प्रस्तुत पिटीशन में पिटीशनर नीचे लिखे अनुसार कोई रिट, निदेश या आदेश जारी किए जाने की प्रार्थना करता है तथा गैर-पिटीशनर को यह निदेश जारी

किया जाए कि वह इस शर्त को हटा दे कि क्राउन के एजेंट के द्वारा जांच किए जाने के पश्चात् हैंड पम्प क्रय किए जाएं और इस प्रकार पिटीशनर को इस बात की मंजूरी दे दें जिससे वह इस कारबार को करने वाले अन्य व्यापारियों के समान प्रदाय कर सके और गैर-पिटीशनर को यह निदेश दिया जाए कि वह किसी अयुक्तियुक्त शर्त के बिना गहरे कुएं के लिए हैण्ड पम्प क्रय करे। इस प्रकार प्रस्तुत पिटीशन में विचारार्थ मुख्य मुद्दा यह है कि क्या आक्षेपित शर्त से संविधान के अनुच्छेद 14 और 1952 के अधिनियम संख्या 36 के उपबन्धों का अतिक्रमण होता है।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

सरकार का कोई भी कार्यपालक या विधायी कृत्य जो शक्ति का खुले तौर पर मनमाने ढंग से प्रयोग करके किया जाता है, उसमें अंतर्निहित रूप से असमानता के बीज अर्तविष्ट होते हैं और इस प्रकार वह संविधान के अनुच्छेद 14 के विरुद्ध होगा। अतः किसी विशिष्ट कार्य या अनुयोजन को विधिमान्य अभिनिर्धारित करने के लिए अनुच्छेद 14 का सहारा लेते समय दो अत्यावश्यक शर्तों की ओर ध्यान देना होगा; अर्थात् (1) क्या उसके द्वारा कोई असली और सारभूत विभेद होने की सम्भावना प्रतीत होती है; और (2) क्या इससे संविधान द्वारा गारंटी किए गए मूल अधिकार का अतिक्रमण होता है। इन शर्तों की कसौटी पर ही प्रश्नगत कार्य या अनुयोजन की विधिमान्यता अधिनिर्णीत की जानी चाहिए। (पैरा 7)

यह अभिनिर्धारित करना तर्क की दृष्टि से ठीक प्रतीत नहीं होता है कि राज्य सरकार का निविदा सूचना में आक्षेपित शर्त अधिरोपित करने के लिए किया गया विनिश्चय अऋजु, सनक पर आधारित या मनमाना और संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन समता के मूल अधिकार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने वाला है। आक्षेपित शर्त कई बातों पर विचार करने के पश्चात् अधिरोपित की गई है जिससे साधारण जनता की आवश्यकता की पूर्ति हो और उन्हें इससे फायदा हो तथा ग्रामीण जल-प्रदाय स्कीम की सफलता के लिए उन्हें गहरे कुएं योग्य हैन्ड पम्प प्राप्त हों। (पैरा 11-क)

उदार रूप से दान मंजूर करने की दशा में सरकार का विवेकाधिकार असीमित नहीं है। सरकार अपने विवेकाधिकार का मनमाने ढंग से प्रयोग करके या अपनी इच्छा के अनुसार ही उदार दान नहीं दे सकती और न ऐसे दान को विधारित कर सकती है। सरकार की कार्यवाही मानदण्डों पर आधारित होनी चाहिए और वे मानदण्ड मनमाने या अप्राधिकृत न हों और

साथ ही वह ऐसी कोई स्कीम प्रारम्भ नहीं कर सकती है जिससे कतिपय व्यापारियों के व्यापार में कोई एकाधिकार सृष्ट हों और विभेदकारी व्यवहार करके किसी एक व्यापारी को अलग कर दिया जाए। (पैरा 11-क)

सरकार ने लोकहित में आक्षेपित शर्त अधिरोपित की है। सरकार को समय और स्थिति की मांग के अनुसार अपनी नीति में समय-समय परपरिवर्तन करने का अधिकार है। (पैरा 11-क)

स्थापित संस्था द्वारा अधिकथित मानदण्ड को बनाए रखने का उपबन्ध किया गया है जिससे कि अधिनियम के अधीन उपबन्धित व्यापार चिह्न धारण करने वाले माल को क्रय करने वाला क्रेता इस सम्बन्ध में आश्वस्त अनुभव कर सके कि खरीदा गया माल कतिपय मानक क्वालिटी का माल है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकार किसी मामूली इच्छुक क्रेता के समान अपना समाधान करने के लिए इस सम्बन्ध में और जांच नहीं कर सकती कि क्या ये माल उस क्वालिटी के हैं जिससे सरकार का वह प्रयोजन पूरा हो जाएगा जिसके लिए ऐसा माल खरीदा जा रहा हैं। यह एक साधारण नियम है कि क्रय करने के लिए पहले क्रेता माल की क्वालिटी के सम्बन्ध में अपना समाधान करेगा और जब तक इसके विपरीत कोई विनिर्दिष्ट विधि, नियम या विनियम नहीं है, सरकार के मामले से इस साधारण नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता। 1952 के अधिनियम सं० 36 में भी क्वालिटी के नियन्त्रण के मामले में अधिनियम के अधीन स्थापित संस्था से अन्य संस्था या अभिकरण के लिए उपबन्ध किया गया है। (पैरा 16)

यह दलील स्वीकार नहीं की जा सकती कि आक्षेपित शर्त से 1952 के अधिनियम सं० 36 के उपबन्धों का उल्लंघन होता है या वह शर्त उसका अल्पीकरण करने वाली है या उक्त अधिनियम के उपबन्धों में से किसी उपबंध को विफल करती है। (पैरा 17)

		पैरा
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1234 : उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य बनाम विजय बहादुर सिंह और अन्य (State of U. P. and others *Vs.* Vijay Bahadur Singh and others) का अनुसरण किया गया।	11-क
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1230 : केरल राज्य बनाम के० यू० गोपालकृष्णन (State of Kerala *Vs.* K. U. Gopalkrishnan);	11-क

[1979] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1628 : रामन दयाराम शेट्टी **बनाम** अन्तर्राष्ट्रीय एयरपोर्ट अथारिटी आफ इण्डिया (Ramana Dayaram Shetty *Vs.* The Internaional Airport Authority of India) 11-क

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का प्रकीर्ण पिटीशन सं० 51.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री आर० डी० जैन

राज्य की ओर से ... श्री एम० ए० शाह, सरकारी उप-अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० यू० एन० बछावत ने दिया।

न्या० बछावत :

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन में पिटीशनर नीचे लिखे अनुसार कोई रिट, निदेश या आदेश जारी किए जाने की प्रार्थना करता है :—

(i) गैर-पिटीशनर को यह निदेश जारी किया जाए कि वह इस शर्त को हटा दे कि क्राउन के एजेंट के द्वारा जांच किए जाने के पश्चात् हैंड पम्प क्रय किए जाएं और इस प्रकार पिटीशनर को इस बात की मंजूरी दे दें जिससे वह इस कारबार को करने वाले अन्य व्यापारियों के समान प्रदाय कर सके।

(ii) गैर-पिटीशनर को यह निदेश दिया जाए कि वह किसी अयुक्तियुक्त शर्त के बिना गहरे कुएं के लिए हैन्ड पम्प क्रय करे।

2. पिटीशनर एक विनिर्माण समुत्थान का स्वत्वधारी है। समुत्थान का नाम मैसर्स कपिल उद्योग, ग्वालियर है। यह एक लघु उद्योग एकक है जिसके द्वारा हैन्ड पम्पों का विनिर्माण किया जाता है और यह समुत्थान जिला उद्योग केन्द्र, मध्य प्रदेश सरकार, के कार्यालय में इसी नाम से रजिस्ट्रीकृत है। देखिए, रजिस्ट्रेशन प्रमाणपत्र सं० 6617 तारीख 26 नवम्बर, 1981 (पिटीशन का उपा० पी० 1)। उसके पास भारतीय मानक संस्था (प्रमाणन चिह्न) अधिनियम, 1952 (1952 का अधिनियम सं० 36) (जिसे संक्षेप में इसमें आगे 1952 के अधिनियम सं० 36 के तौर पर निर्दिष्ट किया गया है) के

अधीन भारतीय मानक संस्था से हैंड पम्प विनिर्मित करने की अनुज्ञप्ति प्राप्त है। अनुज्ञप्ति का क्रमांक सी० एम०/एल/1013317 है जो 16 दिसम्बर, 1981 से (देखिए, उपा० पी० 4 तारीख 3 फरवरी, 1981) प्रवृत है और इस कारण, वह अपने द्वारा विनिर्मित माल पर आई० एस० आई० और आई० एस० एस० चिह्न का प्रयोग करने का हकदार है।

3. लोक स्वास्थ्य इंजीनियरी विभाग मध्य प्रदेश, भोपाल के इंजीनियर-इन-चीफ (प्रधान-इंजीनियर) ने निविदाएं आमन्त्रित कीं। (देखिए, निविदा सूचना तारीख 22 सितम्बर, 1981) उक्त सूचना गहरे कुए के हैण्ड पम्पों के प्रदाय के लिए थी (इंडिया मार्क 2 टाइप)। यह निविदा सूचना तारीख 17 अक्तूबर, 1981 के दैनिक भास्कर में भी अधिसूचित की गई थी। निविदा सूचना के सुसंगत निबन्धन (जिसे इसमें आगे "आक्षेपित शर्त" के तौर पर निर्दिष्ट किया गया है) नीचे इस प्रकार उद्धृत किए जाते हैं :—

> "फार्म 1 में मुद्राबन्द निविदाएं अधोहस्ताक्षरकर्ता ने आमंत्रित की थीं। उक्त निविदाएं यूनीसेफ द्वारा अनुमोदित विनिर्माताओं से गहरे कुएं के हैन्ड पम्पों (इंडिया मार्क 2 टाइप) के प्रदाय के लिए थी जो सुसंगत आई० एस० एस० के अनुरूप थी।
>
> × × ×"

प्रदत्त किया गया प्रत्येक हैन्ड पम्प उस अभिकरण द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए जिसे इस प्रयोजन के लिए यूनीसेफ ने नियुक्त किया है। वर्तमान समय में मैसर्स क्राउन ऐजेन्ट्स यूनीसेफ के प्राधिकृत अभिकर्ता हैं जो यूनीसेफ की ओर से और यूनीसेफ द्वारा अनुदेशों के अनुसार यह कार्य करते हैं।

वे विनिर्माता जो यूनीसेफ द्वारा अनुमोदित विनिर्माताओं से अपने हैन्ड पम्प विनिर्मित कराने की प्रक्रिया में हैं, निविदा प्रस्तुत कर सकते हैं किन्तु उनकी निविदा पर केवल तब ही विचार किया जाएगा यदि उनकी फैक्टरी का अनुमोदन कर दिया जाता है और यह प्रमाणित कर दिया जाता है कि वह यूनीसेफ के क्वालिटी कंट्रोल के अनुरूप निविदा के खोले जाने की तारीख से पहले माल विनिर्मित करने में समर्थ हैं। (तथापि निविदा सूचना की प्रति से प्रोद्धृत एक प्रति पिटीशनर को देते हुए बहस के दौरान प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से फाइल की गई थी) निविदा खोलने की अंतिम तारीख 18 नवम्बर, 1981 को 3 बजे अपराह्न में थी।

4. पिटीशनर ने प्रस्तुत पिटीशन फाइल किया है और इस आदेश के

ऊपर उद्धृत पैरा में वर्णित शर्त की विधिमान्यता पर निम्नलिखित आधारों पर आक्षेप किया है :—

(i) पिटीशनर के उद्योग के प्रति निर्देश करते हुए आक्षेपित शर्त अधिरोपित नहीं की जा सकती क्योंकि यह एक लघु उद्योग है जो मध्य प्रदेश लघु उद्योग निगम द्वारा अनुमोदित और रजिस्ट्रीकृत है और 1952 के अधिनियम सं० 36 के अधीन अनुज्ञप्ति-प्राप्त है।

(ii) आक्षेपित शर्त को अधिरोपित करने से 1952 के अधिनियम सं० 36 के उपबन्धों का अतिलंघन होता है क्योंकि व्यापार चिह्न आई० एस० आई० या आई० एस० एस० अनन्य गारंटी है और पिटीशनर द्वारा विनिर्मित माल की क्वालिटी के स्टैन्डर्ड के बारे में प्रमाणन है।

(iii) आक्षेपित शर्त से वास्तव में पिटीशनर की व्यापारिक गतिविधि पर निर्बन्धन लगता है और क्राउन ऐजेंट्स के पक्ष में एकाधिकार सृष्ट होता है जो एकाधिकार और निर्बन्धित व्यापार पद्धति अधिनियम, 1969 (संक्षेप में जिसे इसमें आगे "एकाधिकार-विरोधी अधिनियम" कहा गया है) की धारा 33(1)(बी) का उल्लंघन करने वाली है। परिणामस्वरूप पिटीशनर के लघु उद्योग के नष्ट होने की सम्भावना है जबकि सरकार की नीति यह है कि वह लघु पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन दे और इस प्रयोजन के लिए मध्य प्रदेश फाइनेन्शल कोड जिल्द 1, नियमों के नियम 14 के अधीन लोक सेवा (स्टोर रूल्स) के लिए वस्तुओं के प्रदाय करने के लिए और अधिकारियों के मार्ग-दर्शन के लिए अनुदेश ऐसे अधिकारियों के लिए जारी किए गए हैं जिनसे स्टोर के लिए क्रय किए जाने की अपेक्षा की गई है (संक्षेप में जिसे इसमें आगे "स्टोर नियम" के तौर पर निर्दिष्ट किया गया है)।

5. प्रत्यर्थी राज्य ने पिटीशनर की दलीलों और दावे का प्रतिरोध किया है। पिटीशन में अंतर्विष्ट तात्त्विक अभिकथनों का खण्डन करते हुए अन्य बातों के साथ-साथ प्रत्यर्थी ने यह दलील दी है कि सुसंगत समय पर अर्थात् निविदा के खोले जाने के लिए नियत तारीख तक पिटीशनर के पास 1952 के अधिनियम सं० 36 के अधीन अनुज्ञप्ति नहीं थी और यह कि यह अधिनियम किसी भी प्रकार से राज्य सरकार की शक्ति पर कोई निर्बन्धन नहीं लगाता है और राज्य सरकार के किसी भी विभाग पर उपयोग के लिए पदार्थों को खरीदने से

पहले किसी विशेषज्ञ अधिकरण द्वारा और जांच-पड़ताल किए जाने की अपेक्षा नहीं है। आक्षेपित शर्त लोकहित के सम्बन्ध में काफी विचार-विमर्श करने के पश्चात् अधिरोपित की गई है। उक्त शर्त देहाती क्षेत्रों में पानी के प्रदाय के कार्यक्रम के प्रयोजन के लिए गहरे कुएं वाले हैन्ड पम्पों के क्रय किए जाने के सम्बन्ध में भूतकाल के अनुभव को ध्यान से रखते हुए क्वालिटी कंट्रोल के प्रयोजन के लिए है। क्राउन अभिकरण की सेवाओं को क्वालिटी के समाधान के लिए क्रय किए जाने वाले हैन्ड पम्पों की जांच के प्रयोजन के लिए उपयोग में लाया जाना है चूंकि वह एक ऐसा अभिकरण है जिसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था—यूनीसेफ ने नामनिर्दिष्ट किया है। यह भी दलील दी है कि आक्षेपित शर्त एक साधारण शर्त है जो सभी निवासियों पर लागू होती है और उससे यह अभिप्रेत नहीं है कि वह विशेष रूप से पिटीशनर को ही लागू हो। इस शर्त को अधिरोपित करने के पीछे उद्देश्य और प्रयोजन माल की क्वालिटी अच्छे स्तर की रखना है जिससे देहाती जल प्रदाय कार्यक्रम की अपेक्षाएं पूरी हो सकें और इस प्रकार यह लोक हित में है। यह कार्य न तो मनमाना है और न सनक के आधार पर किया गया है।

6. पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई परस्पर विरोधी दलीलों को ध्यान में रखते हुए जो आपस में एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं, एक प्रश्न के अन्तर्गत ही उन पर विचार किया जा सकता है अर्थात् क्या आक्षेपित शर्त से संविधान के अनुच्छेद 14, 1952 के अधिनियम सं० 36 के उपबन्ध और एकाधिकार-विरोधी अधिनियम की धारा 33(बी) के उपबन्धों का अतिक्रमण होता है।

7. संविधान के अनुच्छेद 14 में विधि के समक्ष समता के बारे में एक साधारण नियम अधिनियमित किया गया है जो हमारे संविधान में जोड़े गए और अन्तर्निहित विधि-शासन की सर्वोच्च विचारधारा के समान है। इस अर्थ में सरकार का कोई भी कार्यपालक या विधायी कृत्य जो शक्ति का खुले तौर पर मनमाने ढंग से प्रयोग करके किया जाता है, उसमें अन्तर्निहित रूप से असमानता के बीज अन्तर्विष्ट होते हैं और इस प्रकार वह इस अनुच्छेद के विरुद्ध होगा। अतः किसी विशिष्ट कार्य या अनुयोजन को अविधिमान्य अभिनिर्धारित करने के लिए अनुच्छेद 14 का सहारा लेते समय दो अत्यावश्यक शर्तों की ओर ध्यान देना होगा, अर्थात् (1) क्या उसके द्वारा कोई असली और सारभूत विभेद होने की सम्भावना प्रतीत होती है, और (2) क्या इससे संविधान द्वारा गारन्टी किए गए मूल अधिकार का अतिक्रमण होता है। इन शर्तों की

कसौटी पर ही प्रश्नगत कार्य या अनुयोजन की विधिमान्यता अधिनिर्णीत की जानी चाहिए ।

8. अब हम सम्बन्धित प्रश्न पर और आगे विचार करते हैं। यह दर्शित करना उचित होगा कि यह एक निर्विवाद स्थिति है कि आक्षेपित शर्तें सभी निविदाकर्ताओं पर समान रूप से लागू होती है और यह बात नहीं है कि वह केवल पिटीशनर तक ही निर्बन्धित है । इस निर्विवाद ताथ्यिक स्थिति के परिणामस्वरूप खण्डन किए जाने के किसी भय के बिना यह कहा जा सकता है कि आक्षेपित शर्त के बारे में यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उसमें विभेद का दोष है ।

9. अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि क्या आक्षेपित शर्त मनमानी या सनकपूर्ण है । इस प्रश्न को अच्छी तरह से समझने के लिए हम राज्य की ओर से फाइल की गई विवरणी से सुसंगत उद्धरण नीचे प्रस्तुत करना उचित समझते हैं जिसमें आक्षेपित शर्त अधिरोपित करने की परिस्थितियां और उद्देश्य उपदर्शित किए गए हैं :—

× × ×

"जुलाई, 1979 में मदुरई में एक राष्ट्रीय सम्मेलन किया गया था। यह सम्मेलन केन्द्र सरकार/यूनीसेफ द्वारा गहरे कुएं के हैन्ड पम्पों के बारे में आयोजित किया गया था और पाताल कुआं कार्यक्रम (ट्यूबवैल प्रोग्राम) की सफलता के लिए हैन्ड पम्पों की क्वालिटी का नियंत्रण करने पर जोर डाला गया था ।"

× × ×

प्रत्यर्थी ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली और दृष्टिकोण अच्छी क्वालिटी के पम्प उपाप्त करने की दशा में कार्य करना है । इस कार्य के लिए प्रदायक के कार्यों के स्थलों की प्रदाय के पहले जांच किए जाने पर प्रत्यर्थी द्वारा जोर दिया गया है ।"

× × ×

"मैसर्स क्रांउन एजेंट्स अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त निरीक्षण अभिकर्ता हैं जो यूनीसेफ द्वारा नियुक्त किए गए हैं जिससे कि हैन्ड पम्पों की क्वालिटी का कड़ाई से नियंत्रण किया जाए जिससे कि वे कठोरता से आई० एस० एस० के अनुरूप हों ।"

1979 के पहले मामूली हैन्ड पम्पों का उपयोग किया जा रहा

था जिनकी अक्सर मरम्मत करवाने की आवश्यकता पड़ती थी जिससे देहाती क्षेत्रों में पानी प्रदाय के कार्यक्रम पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था।

भारत सरकार और यूनीसेफ ने अपने संयुक्त प्रयत्नों से इण्डिया मार्क 2 हैन्ड पम्प विकसित किया है जो अपने आप में बेहतर और कठोर डिजाइन का है। 1979 में मदुरई में हुए क्षेत्रीय सम्मेलन में भारत सरकार/यूनीसेफ और राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और इस बात पर जोर दिया कि चूंकि ट्यूबवैल कार्यक्रम की सफलता मुख्य रूप से हैन्ड पम्पों की क्वालिटी पर निर्भर करती है, अतः उन्हें समुचित निरीक्षण प्राधिकारी द्वारा पहले ही निरीक्षण करने के पश्चात् अनुमोदित विनिर्माताओं से क्रय किया जाना चाहिए। यह सिफारिश की गई कि राज्य क्राउन एजेंट्स के निरीक्षण विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ उठा सकते हैं। निरीक्षण से सम्बन्धित उनके व्यय का भार यूनीसेफ उठाएगा। यूनीसेफ के अनुदेश पर क्राउन एजेंट कार्य करते हैं। यूनीसेफ ने बर्मा मशीन हैन्ड पम्प्स (भारत में बनाए गए) मुफ्त में लगाकर राष्ट्रीय देहाती क्षेत्रों में जल प्रदाय के कार्यक्रम को बहुत अधिक सहायता पहुंचाई है।

× × ×

"विभाग का केवल इस बात को देखने में हित है कि आई० एस० एस० के अनुरूप सर्वोत्तम क्वालिटी के पम्प प्राप्त किए जाएं और यदि मैसर्स कपिल उद्योग के पम्प वास्तव में अपेक्षित क्वालिटी के हैं, तो वे क्राउन एजेंट्स द्वारा किए गए क्वालिटी कंट्रोल परीक्षणों में भी अपेक्षित क्वालिटी के पाए जाएंगे। क्वालिटी के सम्बन्ध में निविदा आमंत्रित करते समय विज्ञापन और सूचना में उपबन्ध किया गया था।"

"आगे यह वर्णित किया गया है कि यूनीसेफ और क्राउन एजेंट्स तुलनात्मक रूप से क्वालिटी कंट्रोल बहुत लम्बे समय से करते आ रहे हैं और उन्होंने देश में करीब 20 प्रदायकों को अनुमोदित कर दिया है जिनमें सभी रियायत प्राप्त विनिर्माता हैं जैसे रिचर्डसन और क्रूडाज (ए० जी० ओ० 1 उपक्रम) आदि।

आई० एस० आई० ने हाल ही में केवल तीन विनिर्माताओं का अनुमोदन किया है जिनकी सामर्थ्य कम है। इससे यह उपदर्शित होता है कि क्राउन के ऐजेंट हैंड पम्पों की क्वालिटी के नियंत्रण के क्षेत्र में बहुत समय से रहे हैं और उन्हें सम्यक् मान्यता प्राप्त हुई है और इस

सम्बन्ध में कोई आक्षेप नहीं किया जाना चाहिए यदि प्रदाय करने के पहले क्राउन एजेंटों से जांच करने के लिए कहा जाए। इस बात पर क्रेता द्वारा जोर दिया गया है।

"प्रत्यर्थी सं० 1 अच्छी क्वालिटी के हैंड पम्प चाहता है और उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रदाय के लिए उचित निरीक्षण अत्यावश्यक है। किसी भी प्रकार के एकाधिकार का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि पूरे भारतवर्ष में फैली हुई विभिन्न इकाइयां जिसमें मध्य प्रदेश से एस० एस० आई० इकाइयां सम्मिलित हैं, अच्छे किस्म के हैन्ड पम्प विनिर्मित कर रही हैं और इससे किसी भी प्रकार की विधि या नियम या संविधान का अतिलंघन नहीं हो रहा है क्योंकि देहाती क्षेत्रों और अन्य क्षेत्रों की जनता का अच्छी स्कीमों को निष्पादित किए जाने का अधिकार, जिसमें अच्छी किस्म के हैंड पम्प भी सम्मिलित हैं, पिटीशनर के उस अधिकार से अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसमें पिटीशनर का एकमात्र उद्देश्य अपने फायदे और अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अपने माल को चलाना है।

× × ×

"क्राउन एजेंट से रजिस्ट्रीकरण या एकाधिकार सृष्ट करने या व्यापार का निर्बन्धन करने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है। क्राउन एजेंट केवल निरीक्षण करने वाले एजेंट हैं। क्रेता को यह अधिकार है कि वह अपनी पसन्द के अभिकरण द्वारा सामग्रियों की जांच करवा सके। चूंकि अन्य फर्मों ने अपनी फैक्टरी और सामग्री की जांच क्राउन एजेंट के माध्यम से करवाई है, यहां तक कि मध्य प्रदेश में भी यह फर्म (मैसर्स कपिल उद्योग) ऐसा ही कर सकती हैं।

× × ×

गैर-पिटीशनरों ने देहाती क्षेत्रों की जनता के व्यापक हित में वादी के ऊपर निरीक्षण की शर्त अधिरोपित की थी और वे केवल पिटीशनर के हित को ध्यान में रखने के लिए आबद्ध नहीं हैं।"

क्राउन एजेंट्स से रजिस्ट्रेशन का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि वह केवल निरीक्षण करने वाला एक अभिकरण मात्र है।

कोई निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किया गया है किन्तु क्वालिटी पम्प उपाप्त करने के लिए निरीक्षण की एक शर्त रखी गई है जो क्रय

नियमों के अनुसार है। इससे अन्य व्यक्तियों को कोई असम्यक् फायदा प्राप्त नहीं होगा किन्तु जो कोई भी अच्छी कोटि के पम्प दे सकेगा, वह ऐसा कर सकता है। एस० एस० आई० के अन्य यूनिट जैसे ऐड्राइट इन्डस्ट्रीज, मध्य प्रदेश, जबलपुर को पहले ही निकासी प्रमाणपत्र मिल चुका है और मैसर्स कपिल उद्योग भी ऐसा ही कर सकता है।"

10. हम नीचे जुलाई, 1979 में मदुरई में हुए राष्ट्रीय हैंड पम्प सम्मेलन की कार्यवाहियों और सिफारिश को नीचे उद्धृत करना उचित समझते हैं। यह सम्मेलन हैंड पम्पों के निरीक्षण और उनकी क्वालिटी पर नियंत्रण रखने के सम्बन्ध में बुलाया गया था। यह बात विवरणी के उपा० 1 में देखी जा सकती है जिससे विवरणी में किए गए प्रकथनों का समर्थन होता है :—

× × ×

तृतीय सत्र, बुधवार, जुलाई, 1979

× × ×

"क्रमवर्ती राज्य सरकारों द्वारा स्टेट्स पेपर्स प्रस्तुत करने के पश्चात् हैन्ड पम्पों के रख-रखाव के अनुभव पर विशेष लेखा कुडूकोटई त्रिचुरापल्लई और मदुरई जिले में प्रस्तुत किए गए थे (दोनों रिपोर्टों का सारांश परिशिष्ट 5 में है)। पेश किए गए इन लेखों के द्वारा ऐसे क्षेत्रों का अध्ययन किया गया है जो नियंत्रण और निरीक्षण के अधीन थे। इण्डिया मार्क 2 पम्पों की संरचना को बनाए रखना, उस पर व्यय, मरम्मत का साधारण स्वरूप, दोष या टूटन से सम्बन्धित विशेष क्षेत्रों को पहचानना और उनकी जांच-पड़ताल करना तथा विद्यमान पम्प के डिजाइन में उपान्तरण करने और सुधार करने के बारे में सुझाव।

हैंड पम्प और क्वालिटी नियंत्रण

राष्ट्रीय कान्फ्रेंस के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य हैन्ड पम्प कार्यक्रम को सफलतापूर्वक चलाते रहने के लिए क्वालिटी के नियंत्रण की आवश्यकता पर एक पूर्वापेक्षित तथ्य के तौर पर जोर दिया जाना था। श्री जी० आर० हाले, प्रादेशिक इंजीनियर, क्राउन एजेंट, बंगलौर, ने "हैंड पम्प और क्वालिटी नियंत्रण" विषय पर सम्मेलन को सम्बोधित किया और साथ ही इण्डिया मार्क 2 हैंड पम्प (पूरे पाठ के लिए परिशिष्ट 6 देखिए) क्राउन एजेंट के निष्कर्षों और अनुभव से यह ज्ञात होता है कि

फिलहाल उपलम्य हैंड पम्प में इण्डिया मार्क 2 सबसे अच्छी क्वालिटी का हैंड पम्प है और इन पम्पों के उत्पादन में क्वालिटी के नियंत्रण में किसी प्रकार की छूट देना गलत होगा। यद्यपि इन पम्पों के विनिर्माताओं द्वारा बहुत अधिक जोर डाला गया है कि ये पम्प आई० एस० आई० मानक के अनुसार बनाए जाएं। इन मानकों से केवल यह ज्ञात होता है कि सामग्रियों की विनिर्दिष्ट आवश्यकता क्या है। आई० एस० आई० द्वारा प्रमाणित उत्पादों को बनाने में उनकी क्वालिटी के बारे में निरीक्षकों का नियंत्रण आवश्य होना चाहिए और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए क्राउन एजेंट राज्य के पी० एच० ई० इंजीनियरों को प्रशिक्षण देने और राज्य की निरीक्षण टोलियों को इकट्ठा करने के लिए सहायता देने के लिए तैयार है।

× × ×

11. ऊपर वर्णित उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि ऊपर वर्णित आक्षेपित शर्त अधिरोपित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अच्छी क्वालिटी के गहरे कुएं वाले हैंड पम्पों को प्राप्त करना था जिससे देहाती जल प्रदाय कार्यक्रम के सफलतापूर्वक प्रवर्तन के लिए अच्छी क्वालिटी के पम्प प्राप्त हों। यहां यह वर्णित करना प्रासंगिक है कि विवरणी में किए गए प्रकथनों का शपथ-पत्र द्वारा समर्थन किया गया है और उन प्रयोजनों का अभिखण्डन प्रति-शपथपत्र में नहीं किया गया है। अतः उन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। ऊपर उद्धृत किए गए प्रकथन से जो विवरणी से लिए गए हैं, यह ज्ञात होता है कि आक्षेपित शर्त का अधिरोपण क्वालिटी के नियंत्रण के प्रयोजन के लिए पिछले अनुभवों के प्रकाश में बहुत सोच-विचार करके किया गया है और निरीक्षण करने और क्वालिटी प्रमाणित करने के लिए अभिकरण नियोजित किया गया है जो एक विशेषज्ञ अभिकरण है जिसे अंतर्राष्ट्रीय संस्था यूनीसेफ ने नामजद किया है। ऐसी बात नहीं है कि किसी प्राइवेट नागरिक को सरकारी प्राधिकारी ने अपनी सनक और इच्छा के अनुसार चुन लिया है। दूसरे शब्दों में इस सम्बन्ध में बहुत अच्छे कारण हैं जिनका राज्य सरकार पर उस समय असर पड़ा जब अच्छी क्वालिटी के माल सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए आक्षेपित शर्त अधिरोपित की गई थी। यह धुंधली दृष्टि से किया गया कार्य नहीं है किन्तु बहुत सोच-विचार कर किया गया कार्य है जिसका उद्देश्य लोक हित में अच्छी क्वालिटी के माल प्राप्त करता है।

11-क. ऊपर वर्णित चर्चा का परिणाम यह है कि यह अभिनिर्धारित

करना तर्क की दृष्टि से ठीक प्रतीत नहीं होता है कि राज्य सरकार का निविदा सूचना में आक्षेपित शर्त अधिरोपित करने के लिए किया गया विनिश्चय अऋजु, सनक पर आधारित या मनमाना और संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन समता के मूल अधिकार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने वाला है। हमारा यह समाधान हो गया है कि आक्षेपित शर्त कई बातों पर विचार करने के पश्चात् अधिरोपित की गई है जिससे साधारण जनता की आवश्यकता की पूर्ति हो और उन्हें इससे फायदा हो तथा ग्रामीण जल प्रदाय स्कीम की सफलता के लिए उन्हें गहरे कुएं योग्य हैन्ड पम्प प्राप्त हों। यहां इस बात का उल्लेख करना सुसंगत होगा कि अपनी दलीलों के दौरान जहां तक वह संविधान के किसी उपबन्ध से सम्बन्धित है, पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने अपनी दलीलों को केवल इस दलील तक ही सीमित रखा है कि आक्षेपित शर्त संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा प्रभावित होती है और उसने यह निवेदन नहीं किया है कि उससे संविधान के किसी अन्य अनुच्छेद का उल्लंघन होता है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने अपनी दलील के समर्थन में **रामन दयाराम शैट्टी** बनाम **अंतर्राष्ट्रीय एयरपोर्ट अथारिटी आफ इण्डिया**[1] और **केरल राज्य** बनाम **के० यू० गोपालकृष्णन**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों के आधार पर बहस की है। इन विनिश्चयों में जो सिद्धांत मीठे केप्सूल के समान हैं, उनसे इस सम्बन्ध में कोई वाद विवाद नहीं किया जा सकता कि उदार रूप से दान मंजूर करने की दशा में सरकार का विवेकाधिकार असीमित नहीं है। सरकार अपने विवेकाधिकार का मनमाने ढंग से प्रयोग करके या अपनी इच्छा के अनुसार ही उदार दान नहीं दे सकती और न ऐसे दान को विधारित कर सकती है। सरकार की कार्यवाही मानदण्डों पर आधारित होनी चाहिए और वे मानदण्ड मनमाने या अप्राधिकृत न हों और साथ ही वह ऐसी कोई स्कीम प्रारम्भ नहीं कर सकती है जिससे कतिपय व्यापारियों के व्यापार में कोई एकाधिकार सृष्ट हो और विभेदकारी व्यवहार करके किसी एक व्यापारी को अलग कर दिया जाए। इन नजीरों से विद्वान् काउन्सेल की दलील को बल नहीं मिलता है क्योंकि हम यह पहले ही अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि आक्षेपित शर्त का अधिरोपण न तो मनमाना है न स्वेच्छाचारितापूर्ण है और न ही सनक के आधार पर किया गया कार्य है। उसने लोक हित में यह आक्षेपित शर्त अधिरोपित की है। सरकार को समय और स्थिति की मांग के अनुसार अपनी नीति में समय-समय पर परिवर्तन करने का अधिकार है। इस

---

[1] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1628.

[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1230.

सम्बध में हम उच्चतम न्यायालय के माननीय विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत को फायदाप्रद रूप से उद्धृत करते हैं। माननीय विद्वान् न्यायाधीश ने **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य** बनाम **विजय बहादुर सिंह और अन्य**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था :—

× × ×

> "इस सम्बन्ध में विवाद नहीं किया जा सकता कि सरकार समय और परिस्थिति की मांग के अनुसार तथा लोक हित में समय-समय पर अपनी नीति में परिवर्तन कर सकती है।"

12. स्पष्टता की दृष्टि और किसी प्रकार के संदेह को दूर करने के लिए यहां हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि ऊपर वर्णित आक्षेपित शर्त की असांविधानिकता के प्रश्न पर विचार करते समय हमने 1972 के अधिनियम सं० 36 तथा एकाधिकार विरोधी अधिनियम के उपबन्धों पर विचार नहीं किया है। अब हम आगे इस सम्बन्ध में विचार करेंगे।

13. अब हम 1952 के अधिनियम सं० 36 पर विचार करते हैं। इस अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों के कथन में जो नीचे वर्णित किया जा रहा है, यह कहा गया है कि इस अधिनियम को अधिनियमित करने का उद्देश्य भारतीय माल की क्वालिटी में अभिवृद्धि करने और उस प्रयोजन के लिए इस अधिनियम के अधीन वस्तु चिह्न का प्रयोग किया जाना विनिर्माताओं के लिए प्राधिकृत किया गया है जिन्हें इस अधिनियम के अधीन अनुज्ञप्ति दी गई है। इस रिट से क्रेता को मामूली से अधिक आश्वासन इस बात का मिल जाएगा कि उन व्यापार चिह्नों वाले माल के विनिर्माण में क्वालिटी का कतिपय मानदण्ड पूरा किया गया है :—.

उद्देश्यों और कारणों का कथन

> मजबूत व्यापार स्थपित करने की पूर्व अपेक्षा के तौर पर क्वालिटी के सम्बन्ध में आंतरिक और बाह्य उत्पादों का मानकीकरण जो विदेशी उत्पादों की जानी-मानी किस्म की तुलना में अच्छा होना चाहिए, अत्यावश्यक है और इस सम्बन्ध में अधिक जोर देने की जरूरत नहीं है। इम उद्देश्य को सामने रखते हुए भारत सरकार के उद्योग और प्रदाय विभाग ने अपने संकल्प सं० 1 एस० टी० डी (4/42 तारीख 3 सितम्बर, 1946) के द्वारा भारतीय मानक संस्था स्थापित की जिसके अन्य कृत्यों के अलावा निम्नलिखित कृत्य हैं :—
>
> (क) राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आधार पर मानकों को

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1234.

साधारण रूप से अपनाना जिससे कि उनके अच्छे स्तर को बनाया जा सके और उसमें अभिवृद्धि की जा सके;

(ख) उद्योग में मानकीकरण क्वालिटी नियंत्रण और सरलीकरण की अभिवृद्धि करना,

(ग) मालों, वस्तुओं, आदि को लागू होने वाले मानकीकरण चिह्नों के रजिस्ट्रीकरण के लिए उपबन्ध करना;

(घ) मालों आदि की परीक्षा और जांच करने के लिए उपबन्ध करना या सहूलियतों की व्यवस्था करना;

भारतीय मानकीकरण संस्था ने अधिकांश वस्तुओं और उत्पादित चीजों के लिए जो विदेशों में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं, और साथ ही देशी बाजारों के लिए भी, अब भारतीय मानक विनिर्दिष्टियों का रेखांकन किया है या उन्हें अंतिम रूप दे दिया है।"

2. प्रमाणन चिह्न वस्तुओं के मानकीकरण को सुनिश्चित करने के लिए एक सुविधाजनक अध्युपाय है और इसका बहुत से विकासशील देशों में उपयोग किया जा रहा है जैसे कि युनाइटेड किंग्डम और फ्रांस आदि। जैसा कि व्यापार चिह्न अधिनियम में परिभाषित है इस चिह्न से अभिप्रेत है ऐसा चिह्न जो उद्गम सामग्री विनिर्माण के ढंग, क्वालिटी, शुद्धता या अन्य लक्षणों के बारे में किसी व्यक्ति द्वारा प्रमाणित माल का उस माल से जो इस प्रकार प्रमाणित नहीं है, व्यापार के अनुक्रम में विभाजित करने के लिए किसी माल के सम्बन्ध में अनुकूलित किया गया है, अंतर्निहित विचार यह है कि क्रेता को यह आश्वासन सुनिश्चित कर दिया जाए कि किसी सक्षम अधिकरण द्वारा इस प्रकार माल या सेवाएं प्रमाणित हैं और यह कि उन्हें केवल इस आश्वासन से ही खरीदा जा सकता है कि क्वालिटी के मापदण्ड पूरे कर दिए गए हैं।" (जोर देने के लिए रेखांकन किया है)

1952 का यह अधिनियम सं० 36 संसद् द्वारा अधिनियमित किया गया है। संसद् ने संविधान की अनुसूची 7 की सूची 1 की मद सं० 49 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए इस अधिनियम को अधिनियमित किया है। यह मद इस प्रकार है :—

"सूची 1 — संघ सूची

× × ×

49 पेटेंट, आविष्कार और डिजाइन; प्रतिलिप्यधिकार व्यापार चिह्न और पण्य वस्तु चिह्न।"

14. ऊपर पैरा 13 में उद्धृत कारणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 1952 के अधिनियम सं० 36 का राज्य सरकार या संघ सरकार की व्यापारिक गतिविधि से कोई सम्बन्ध नहीं है या सरकार द्वारा वस्तुओं के क्रय किए जाने के मामले में नीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि इस अधिनियम में विनिर्मित वस्तुओं के निरीक्षण के लिए प्रक्रिया अधिकथित की गई है तथा इस अधिनियम के अधीन अनुज्ञप्ति प्राप्त विनिर्माता द्वारा इस अधिनियम के अधीन अभिज्ञात व्यापार चिह्न के उपयोग के लिए प्रमाणीकरण की प्रक्रिया अधिकथित की गई है। यह सरकार की उस शक्ति पर प्रतिषेध लगाने की कोटि का है कि वह इस अधिनियम के अधीन अनुज्ञप्ति प्राप्त विनिर्माता द्वारा विनिर्मित माल की क्वालिटी की जांच करने के प्रयोजन के लिए इस अधिनियम के बाहर के किसी अभिकरण को नियोजित नहीं करेगी। इस सम्बन्ध में विद्वान् काउन्सेल ने 1952 के अधिनियम सं० 36 की धारा 3 और 6 के प्रति विनिर्दिष्ट निर्देश किया है और यह दलील दी कि उन दोनों धाराओं के उपबन्धों को एक साथ पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अधिनियम के अधीन सरकार द्वारा अनुज्ञप्ति-प्राप्त विनिर्माता द्वारा विनिर्मित वस्तुओं की क्वालिटी के नियंत्रण के लिए इस अधिनियम में उपबन्ध किया गया है और इसलिए इस बात का अवश्य ही अनुमान लगाया जाएगा कि अनकहे रूप से अधिनियम में यह उपबंधित है कि क्वालिटी के नियंत्रण के लिए अधिनियम के अधीन उपबंधित ढंग से कोई अन्य ढंग का उपयोग सरकार को नहीं करना चाहिए।

15. 1952 के अधिनियम सं० XXXVI की धारा 3 और 6 इस प्रकार हैं :—

> "3. संस्था की शक्तियां और कर्त्तव्य—संस्था ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे कर्त्तव्यों का पालन कर सकती है जो उसे इस अधिनियम द्वारा या उसके अधीन सौंपे जाएं, और विशिष्टतया ऐसी शक्तियों के अंतर्गत निम्नलिखित के निमित्त शक्तियां भी हैं :—
>
> (क) किसी वस्तु या प्रसंस्करण के सम्बन्ध में ऐसी रीति

से, जो विहित की जाएं, भारतीय मानक स्थापित और प्रकाशित करना;

(कक) भारत में या अन्यत्र किसी अन्य संस्था द्वारा स्थापित किसी मानक को, किसी वस्तु या प्रसंस्करण के सम्बन्ध में, ऐसी रीति से, जो विहित की जाए, भारतीय मानक के रूप में मान्यता देना;

(ख) किसी विशिष्ट भारतीय मानक का द्योतन करने के लिए एक मानक चिह्न, जिसका नाम भारतीय मानक संस्था प्रमाणन चिह्न होगा, विनिर्दिष्ट करना और यह चिह्न ऐसे डिजाइन का होगा और उसमें ऐसे विवरण होंगे जो विहित किए जाएं।"

"6. कोई व्यक्ति, ऐसे मामलों के और ऐसी शर्तों के सिवाय, जो विहित की जाएं, संस्था की पूर्व अनुज्ञा के बिना—

(क) ऐसे किसी नाम का, जो भारतीय मानक संस्था के नाम से इतना अधिक मिलता-जुलता हो कि जनता को धोखा हो जाए या उसे धोखा हो जाना संभाव्य हो, या जिसमें "भारतीय मानक शब्द" या उसके कोई संक्षेपाक्षर हों, प्रयोग नहीं करेगा; अथवा

(ख) किसी वस्तु या प्रसंस्करण के सम्बन्ध में, किसी ऐसे चिह्न या व्यापार चिह्न का, जिसमें "भारतीय मानक" शब्द या "भारतीय मानक विनिर्देश" या ऐसे शब्द के कोई संक्षेपाक्षर हों, प्रयोग नहीं करेगा।"

16. ऊपर वर्णित आधारों से प्रतिषेध के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालना मुश्किल है जैसा कि पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने सुझाव दिया है। किन्तु सरकार की पसन्द के किसी विशेषज्ञ अधिकरण का सरकार द्वारा खरीदे जाने के लिए आशयित माल की कालावधि का निरीक्षण करने की शक्ति के बारे में दलील स्वीकार करना सम्भव नहीं है। यद्यपि इन उपबंधों और 1952 के अधिनियम सं० 36 के अन्य उपबन्धों के अधीन स्थापित संस्था द्वारा अधिकथित मानदण्ड को बनाए रखने का उपबन्ध किया गया है जिससे कि अधिनियम के अधीन उपबन्धित व्यापार चिह्न धारण करने वाले माल को क्रय करने वाला क्रेता इस सम्बन्ध में आश्वस्त अनुभव कर सके कि खरीदा गया माल कतिपय

मानक क्वालिटी का माल है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकार किसी मामूली इच्छुक क्रेता के समान अपना समाधान करने के लिए इस सम्बन्ध में और जांच नहीं कर सकती कि क्या ये माल उस क्वालिटी के हैं जिससे सरकार का वह प्रयोजन पूरा हो जाएगा जिसके लिए ऐसा माल खरीदा जा रहा है। यह एक साधारण नियम है कि क्रय करने के लिए पहले क्रेता माल की क्वालिटी के सम्बन्ध में अपना समाधान करेगा और जब तक इसके विपरीत कोई विनिर्दिष्ट विधि, नियम या विनियम नहीं है, सरकार के मामले में इस साधारण नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता। इस प्रक्रम पर यह बतलाना सुसंगत होगा कि 1952 के अधिनियम सं० 36 की धारा 10 जो जहां तक सुसंगत है, नीचे वर्णित की जा रही है और उसमें उपबंधित है कि केन्द्रीय सरकार किसी बाहरी प्राधिकारी को भी अधिनियम के प्रयोजनों के लिए उसमें उपबंधित तरीके से नियुक्त करने के लिए सक्षम है और इस बात का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता कि क्वालिटी की वृद्धि करना अधिनियम का प्रयोजन है। हम यह बात स्पष्ट करना चाहते हैं कि हमने धारा 10 के प्रति निर्देश इस अभिप्राय से नहीं किया है कि "क्राउन एजेंट" एक प्राधिकारी है जो इस धारा के अधीन नियुक्त किया गया है। इस धारा के प्रति निर्देश के पीछे हमारा प्रयोजन और विचार यह दर्शित करना है कि 1952 के अधिनियम सं० 36 में भी क्वालिटी के नियंत्रण के मामले में अधिनियम के अधीन स्थापित संस्था से अन्य संस्था या अभिकरण के लिए उपबन्ध किया गया है :—

> "10. सक्षम प्राधिकारी को प्राधिकृत करने की शक्ति—
>
> 1. केन्द्रीय सरकार, संस्था से परामर्श करके, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा यह निदेश दे सकेगी कि इस अधिनियम के अधीन संस्था द्वारा प्रयोग की जा सकने वाली कोई शक्ति, ऐसे मामलों के सम्बन्ध में और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो निदेश में विनिर्दिष्ट की जाएं, उस प्राधिकारी या उस संगठन द्वारा भी (जिसे इसमें इसके पश्चात् "सक्षम प्राधिकारी" कहा गया है) प्रयोग की जा सकेगी जो अधिसूचना में विनिर्दिष्ट किया जाए।
>
> 2. शंकाओं को दूर करने के लिए इसके द्वारा यह घोषित किया जाता है कि केन्द्रीय सरकार, उपधारा(1) के अधीन किसी सक्षम प्राधिकारी को प्रत्यायोजित शक्तियों को, वैसी ही अधिसूचना द्वारा, वापस ले सकती है।"

17. ऊपर की गई चर्चा के परिणामस्वरूप, हम यह अभिनिर्धारित

करते हैं कि हम पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई दलीलों को स्वीकार करने में असमर्थ हैं और यह कि आक्षेपित शर्त से 1952 के अधिनियम सं० 36 के उपबन्धों का उल्लंघन होता है या वह शर्त उसका अल्पीकरण करने वाली है या उक्त अधिनियम के उपबन्धों में से किसी उपबन्ध को विफल करती है।

18. अब हम एकाधिकार-विरोधी अधिनियम की धारा 33(1)(ख) के उपबन्धों पर विचार करते हैं जिनका पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने अवलम्ब लिया है। उक्त उपबन्ध इस प्रकार है :—

> "33. निर्बन्धनात्मक व्यापार पद्धति के सम्बन्ध में रजिस्ट्री योग्य करार—(1) निर्बन्धनात्मक व्यापार पद्धति के सम्बन्ध में कोई करार जो नीचे वर्णित प्रवर्गों में से एक या अधिक के अन्तर्गत आता है, इस अध्याय के उपबन्धों के अनुसार रजिस्ट्रीकरण के अधीन होगा अर्थात् :—
>
> (क) × × ×
>
> (ख) माल के क्रेता से ऐसे क्रय की एक शर्त के तौर पर यह अपेक्षा करते हुए कोई करार करना कि क्रेता कुछ अन्य माल क्रय करे।
>
> × × ×"

ऊपर वर्णित धारा को पढ़ने से ही दलील का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। उसमें यह उपबन्धित है कि धारा 33(1) के खण्ड (ख) के अधीन आने वाले करार को अध्याय 5 के उपबन्धों के अनुसार रजिस्ट्रीकृत करना अपेक्षित है। यहां यह बात नहीं है कि आक्षेपित शर्त अधिरोपित किया जाना एकाधिकार-विरोधी अधिनियम की धारा 2(ए) में यथापरिभाषित करार के अधीन है और यह कि वह करार यद्यपि रजिस्ट्रीकृत किया जाना अपेक्षित है किन्तु वह रजिस्ट्रीकृत नहीं किया गया है, अतः वह प्रवर्तनीय नहीं है और इसलिए आक्षेपित शर्त अविधिमान्य है। इसके अलावा आक्षेपित शर्त में यह नहीं कहा गया है कि राज्य सरकार पिटीशनर द्वारा विनियमित माल क्रय नहीं कर सकती है जिससे कि किसी अन्य व्यापारी के पक्ष में एकाधिकार सृष्ट हो जाए या पिटीशनर की व्यापारिक गतिविधि को उसके द्वारा विनियमित माल के प्रदाय के मामले में निर्बन्धित नहीं कर सकती है। राज्य सरकार ने सभी से निविदाएं आमन्त्रित की थीं। आक्षेपित शर्त सभी इच्छुक निविदाकर्ताओं को लागू की गई थी और जैसा हम पहले ही अभिनिर्धारित कर चुके हैं, सरकार ने वह शर्त अपना यह

समाधान करने के लिए अधिरोपित की थी जिससे कि माल की क्वालिटी वैसी हो जिस प्रयोजन के लिए सरकार उस माल को चाहती है। इन तथ्यों को देखते हुए यह कहना मुश्किल है कि आक्षेपित शर्त से किसी भी प्रकार से पिटीशनर की व्यापारिक गतिविधि इस प्रकार निर्बन्धित होती है जिससे कि एकाधिकार विरोधी अधिनियम के उपबन्ध लागू किए जा सकें। अतः पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल द्वारा की गई बहस को अस्वीकार करना होगा और वह तदनुसार अस्वीकृत की जाती है।

19. अब हम स्टोर रूल्स (भण्डार नियम) के नियम 14 पर विचार करते हैं। उक्त नियम 14 इस प्रकार है :—

> "14. नियम 14 और उसके टिप्पण के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाए :—नियम 14 उपा० 'बी' में सम्मिलित वस्तुएं जिनका समय-समय पर पुनरीक्षण किया जाता है और जो मध्य प्रदेश के लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित या विनिर्मित की जाती हैं तथा जो ऐसी वस्तुओं के लिए उद्योग निदेशक के कार्यालय में इस प्रकार रजिस्ट्रीकृत हैं, वे केवल मध्य प्रदेश लघु उद्योग निगम लिमिटेड के माध्यम से ही निगम द्वारा नियत दर पर क्रय की जाएंगी। ऐसी वस्तुओं को क्रय करने के लिए सक्षम प्राधिकारी द्वारा अलग से निविदाएं नहीं मंगाई जाएंगी।"

पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल यह बतलाने में असमर्थ थे कि ऊपर वर्णित नियम का उल्लंघन विचाराधीन निविदा सूचना के जारी किए जाने से किस प्रकार हुआ। विद्वान् काउन्सेल ने बे मन से यह दलील दी कि इस नियम के द्वारा लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देने का उपबन्ध किया गया है और आक्षेपित शर्त का प्रभाव उस उद्देश्य को विफल करना है। विद्वान् काउन्सेल द्वारा दी गई इस दलील को हम केवल रद्द करने के लिए ही वर्णित कर रहे हैं क्योंकि हमें निविदा सूचना में ऐसी कोई बात ज्ञात नहीं होती है जिससे इस नियम के उद्देश्य और प्रयोजन को आघात पहुंचता हो। इस आदेश के पैरा 9 में हमने विवरणी से सुसंगत उद्धरण प्रोद्धृत किए हैं जिनसे यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि राज्य सरकार पिटीशनर द्वारा विनिर्मित माल को क्रय करने के लिए तैयार है। किन्तु उपबन्ध केवल यह है कि वह माल निविदा शर्तों की अपेक्षाओं के अनुरूप हो। जैसा हम पहले ऊपर वर्णित कर चुके हैं, ये शर्तें सभी लघु उद्योगों को लागू होती हैं और ये लोक हित में हैं।

20. ऊपर की गई चर्चा को ध्यान में रखते हुए हमारा यह पक्का मत

है कि यह पिटीशन मंजूर किए जाने योग्य नहीं है और यह तदनुसार खारिज किया जाता है। तथापि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में हम यह निदेश देते हैं कि पक्षकारों ने जो व्यय उपगत किए हैं, वे उसे बर्दाश्त करेंगे। काउन्सेल की फीस 200 रुपये। प्रतिभूति निक्षेप की रकम पिटीशनर को प्रतिदत्त कर दी जाए।

पिटीशन खारिज किया गया।

मि०

नि० प० 1984 : मध्य देश—233

आयकर आयुक्त बनाम गोदावरी कारपोरेशन लिमिटेड ग्वालियर

(Commissioner of Income-tax *Vs.* Godavari Corp. Ltd. Gwalior)

तारीख 5 दिसम्बर, 1983

[न्या० यू० एन० बछावत और आर० सी० श्रीवास्तव]

आयकर अधिनियम, 1961, धारा 256(1)—अधिकरण द्वारा निकाले गए तथ्य के निष्कर्षों की अन्तिमता—यदि अधिकरण के निष्कर्ष किसी विसंगत साक्ष्य पर या ऐसी सामग्री पर आधारित होते हैं जो भागत: अटकल, अनुमान और संदेह पर आधारित होती है तो ऐसी परिस्थिति में विधि का विवाद्यक उद्‌भूत होगा—उच्च न्यायालय धारा 256(1) के अधीन निर्देश में अधिकरण के निष्कर्ष में हस्तक्षेप कर सकता है।

2. आयकर अधिनियम—विनिधान और व्यापारिक गतिविधि में अन्तर—यह बात प्रत्येक मामले के सम्पूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है—यदि शेयरों की कीमत में उत्तरोत्तर घटत ज्ञात होती है तो शेयरों को सम्परिवर्तित करने का संव्यवहार व्यापारिक गतिविधि माना जाएगा।

3. पद्धति और प्रक्रिया सपठित आयकर अधिनियम, 1961 धारा 256(1)—पूर्व-न्याय और अभिलेख द्वारा विबन्ध का सिद्धान्त—आयकर अधिकरण को उक्त सिद्धान्त लागू नहीं होते हैं किन्तु मुकदमेबाजी में अन्तिमता और निश्चितता के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए अपील अधिकरण को आयकर अधिनियम के अधीन उद्‌भूत मुकदमों सहित सभी मुकदमों में अधिकरण के निष्कर्षों में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए।

निर्धारिती एक रजिस्ट्रीकृत कम्पनी है। यह शेयरों में विनिधानकर्त्ता और शेयरों में व्यापारी भी थी। सुसंगत निर्धारण वर्ष 1962-63 और 1963-64 हैं। इन वर्षों में निर्धारिती कम्पनी के स्रोतों का मुख्य रूप से उपयोग विनिधानों के तौर पर शेयरों को धारण करने में किया गया था और व्यापार-स्टाक के तौर पर नहीं किया गया था। कम्पनी ने हिन्दुस्तान मोटर लिमिटेड और सैंचुरी स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी लिमिटेड के शेयर खरीदे। निर्धारिती कम्पनी ने कतिपय शेयरों को बेचा और यह दृष्टिकोण अपनाया कि उसके द्वारा धारित शेयरों के सव्यवहार विनिधान लेखे मे हैं। वे व्यापारिक संव्यवहार नहीं थे और यह कि तत्सबंधी लाभ कारबार शीर्षक के अधीन कराधेय नहीं थे। आयकर अधिकारी ने इस पक्षकथन को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया और कुछ संव्यवहारों को व्यापारिक सव्यवहार माना और तत्सबंधी लाभों को कारबार लाभ के तौर पर निर्धारित किया। सहायक आय-कर आयुक्त (अपील) ने निर्धारिती के पक्षकथन को केवल भागतः स्वीकार किया। निर्धारिती कम्पनी ने अधिकरण के समक्ष दो अपीलें फाइल कीं और हिन्दुस्तान मोटर्स लिमिटेड के शेयरों और सैंचुरी शेयरों के संव्यवहारों के सम्बन्ध में निकाले गए निष्कर्षों पर आक्षेप किया। अधिकरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि हिन्दुस्तान मोटर्स लिमिटेड के शेयरों में संव्यवहार व्यापारिक संव्यवहार के स्वरूप के थे और सैंचुरी शेयरों से सम्बन्धित संव्यवहार व्यापारिक संव्यवहार नहीं थे। अधिकरण के निष्कर्ष के विरुद्ध विभाग द्वारा एवं निर्धारिती कम्पनी द्वारा आवेदन किए जाने पर आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 256(1) के अधीन यह निर्देश किया गया है। आय-कर अपील अधिकरण ने निम्नलिखित दो प्रश्न उच्च न्यायालय द्वारा विनिश्चित किए जाने के लिए निर्देशित किए हैं :—

1. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में हिन्दुस्तान मोटर लिमिटेड के शेयरों में संव्यवहार से निर्धारिती को हुए लाभ उसके निर्धारण वर्ष 1962-63 और 1963-64 के लिए कारबार शीर्षक के अधीन सम्मिलित किए जाने योग्य हैं।

2. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में सैंचुरी स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी लि० के शेयरों में संव्यवहार से निर्धारिती के लाभ निर्धारण वर्ष 1962-63 और 1963-64 के लिए निर्धारणों में "कारबार" शीर्षक के अधीन सम्मिलित किए जाने योग्य हैं।

अभिनिर्धारित—निर्देश का उत्तर दिया गया।

इस बात का अवधारण करने के लिए तथ्यों को पूरे विस्तार के तौर पर कड़ाई से वर्णित नहीं किया जा सकता कि क्या कोई संव्यवहार निर्धारिती की व्यापारिक गतिविधि है या वह विनिधान के तौर पर है। यह बात प्रत्येक मामले के सम्पूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। कोई भी एक बात महत्त्व के तथ्य के तौर पर नहीं हो सकती जो किसी विशेष मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में इस निष्कर्ष के लिए आधार बन सके कि उक्त संव्यवहार "कारबार" शीर्षक के अधीन आता है और किसी दूसरे मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के सन्दर्भ में वह तथ्य ही इस निष्कर्ष पर पहुंचने का आधार हो सकता है कि संव्यवहार विनिधान के तौर पर था। दो प्रवर्गों के मामलों को लागू करने के लिए रेखा खींचना मुश्किल है और प्रत्येक पर उसके तथ्यों के अनुसार ही विचार किया जाना चाहिए। (पैरा 10)

अधिनियम की धारा 256 के अधीन निर्देश में उच्च न्यायालय अधिकरण के आदेश के विरुद्ध अपील न्यायालय के तौर पर गठित नहीं किया जाता है। उच्च न्यायालय की अधिकारिता केवल सलाह देने की अधिकारिता होती है। अधिकरण द्वारा तथ्य सम्बन्धी निकाले गए निष्कर्ष अन्तिम हैं। तथापि अधिनियम की धारा 256 के अधीन निर्देश में उच्च न्यायालय इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि क्या तथ्य के प्रश्न पर अधिकरण का निष्कर्ष सुसंगत साक्ष्य पर आधारित था और यदि वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अधिकरण के तथ्य सम्बन्धी निष्कर्ष का समर्थन करने के लिए ऐसा कोई साक्ष्य नहीं था तो वह परिस्थिति विधि-प्रश्न के उद्भूत होने का कारण बनेगी और निर्देश में उस पर आक्षेप किया जा सकता है। यह बात भी सुस्थापित है कि जब कोई अधिकरण ऐसी सामग्री पर कार्य करता है जो जांच के लिए विसंगत है या ऐसी सामग्री पर विचार करता है जो भागतः विसंगत है या अपना विनिश्चय भागतः अनुमान, अटकल और सन्देह पर आधारित करता है और भागतः साक्ष्य पर आधारित है, तब ऐसी स्थिति में विधि का विवाद्यक उद्भूत होता है और अधिकरण के निष्कर्ष में हस्तक्षेप किया जा सकता है। (पैरा 11)

यह एक जानी-मानी बात है कि यदि किसी व्यापारी को यह ज्ञात होता है कि कीमतों में उतार-चढ़ाव हो रहा है और बाजार के सामान्य झुकाव से यह ज्ञात होता है कि कीमतों में उत्तरोत्तर कमी हो रही है और निकट भविष्य में कीमतों के बढ़ने की कोई प्रत्याशा नहीं है तो वह अपनी धृतियों को इस दृष्टि से बेचना चाहेगा जिससे कि वह उपलब्ध फायदा प्राप्त कर सके और

बाजार कीमत में उत्तरोत्तर कमी होने के कारण ज्यादा समय तक इन्तजार करके अधिक हानि उठाने से बच सके । प्रस्तुत मामले में सम्परिवर्तन के समय मामूली शेयर की कीमत 23 रु० 64 पैसे प्रति शेयर थी और इसके पश्चात् उसमें उत्तरोत्तर घटत (कमी) ज्ञात हुई । मामले की इन परिस्थितियों में अधिकरण द्वारा तथ्य के अनुमान के तौर पर इस बात का अनुमान लगाना न्यायसंगत था कि संव्यवहार निर्धारिती कम्पनी की व्यापारिक गतिविधि के थे । (पैरा 20.02)

अधिकरण ने निष्कर्ष निकालने में जिन तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखा है, वह तथ्य का निष्कर्ष है जो अभिलेख पर की सामग्री पर विचार करने के पश्चात् निकाला गया है । उक्त निष्कर्ष में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता क्योंकि विधि का कोई प्रश्न उद्‌भूत नहीं होता है । (पैरा 21.03)

उसी प्रश्न से सम्बन्धित किसी पूर्ववर्ती विनिश्चय पर फिर से विचार नहीं किया जा सकता है यदि वह विनिश्चय मनमाना या विधिविरुद्ध नहीं है यदि उक्त विनिश्चय सम्यक् जांच करने के पश्चात् किया गया है, और यदि पश्चात्‌वर्ती विनिश्चय देने वाले अधिकरण ने सभी तात्त्विक साक्ष्य पर विचार कर लिया है । अधिकरण को किसी पूर्ववर्ती अधिकरण द्वारा निकाले गए निष्कर्षों से विचलन करने में बहुत अधिक धीमी गति से कार्य करना चाहिए भले ही पूर्व-न्याय का सिद्धान्त लागू न हो, भले ही अभिलेख द्वारा विबन्ध भी न हो, फिर भी यह बहुत वांछनीय बात है कि सभी मुकदमेबाजी में, जिसमें आय-कर अधिनियम से उद्‌भूत मुकदमेबाजी भी सम्मिलित है, अन्तिमता और निश्चितता होनी चाहिए । (पैरा 21.05)

		पैरा
[1982]	(1982) 28 आई० टी० आर० 610 पृ० 613-614 : आय-कर आयुक्त उड़ीसा **बनाम** बेलपहाड़ रिफ्रेक्टरीज लि० (Commissioner of Income-tax Orissa *Vs.* Belpahar Refractories Ltd.);	21.5
[1973]	(1973) 87 आई० टी० आर० 370 पृ० 382-83 : सतलज काटन मिल्स सप्लाई एजेंसी वाला मामला (Sutlej Cotton Mills Supply Agency's Case);	20
[1971]	(1971) 82 आई० टी० आर० 586 : आय-कर आयुक्त (केन्द्रीय) कलकत्ता **बनाम** एसोसिऐटिड इंडस्ट्रियल डेवलपमेंट कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड	21.09

	[Income-tax, (Central), Calcutta *Vs.* Associated Industrial Development Co. (P) Ltd.];	
[1968]	(1968) 68 आई० टी० आर० 484 और 585 एस० सी० : डलहौजी इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट कम्पनी लिमिटेड **बनाम** आयकर आयुक्त कलकत्ता (Dalhousie Investment Trust Co. Ltd. *Vs.* C.I.T. Calcutta);	20
[1967]	(1967) 6 आई० टी० आर० 216 मुम्बई : अन्नामलाई रेड्डियार **बनाम** आयकर आयुक्त (Annamalai Reddiar *Vs.* C.I.T.);	21.06
[1965]	(1965) 57 आई० टी० आर० 21 : जानकी राम बहादुर राम **बनाम** आयकर आयुक्त कलकत्ता (Jankiram Bahadur Ram *Vs.* Commissioner of Income-tax Calcutta);	20.04
[1964]	(1964) 53 आई० टी० आर० 601 (केरल) : जीवन लाल प्रताप सिंह **बनाम** आयकर आयुक्त (Jivan Lal Purtap Singh *Vs.* C.I.T.);	21.06
[1961]	(1961) 41 आई० टी० आर० 685 : राज बहादुर विशेश्वर सिंह **बनाम** आयकर आयुक्त, उड़ीसा (Raja Bahadur Visheshwara Singh *Vs.* Commissioner of Income-tax, Orissa);	21.09
[1956]	(1956) 30 आई० टी० आर 618-625 मुम्बई : एच० ए० शाह एण्ड कम्पनी **बनाम** आय-कर आयुक्त (H. A. Shah and Co. *Vs.* C.I.T.);	21.05
	73 आई० टी० आर० 652 : आयकर आयुक्त **बनाम** मदन गोपाल राधेलाल (Commisioner of Income-tax *Vs.* Madangopal Radelal)	21.01

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल निर्देश अधिकारिता : 1979 का एम० एम० सी० सं० 68.

आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 256(1) के अधीन निर्देश ।

आवेदक की ओर से ... श्री एच० एल० शर्मा

विरोधी पक्षकार की ओर से ... श्री ए० के० चितले

न्यायालय का निर्णय न्या० यू० एन० बछावत ने दिया।

न्या० बछावत :

यह निर्देश आयकर अधिनियम, 1961 (जिसे संक्षेप में अधिनियम कहा गया है) की धारा 256(1) के अधीन विभाग द्वारा एवं निर्धारिती कम्पनी द्वारा आवेदन करने पर किया गया है। आयकर अपील अधिकरण मुम्बई न्यायपीठ 'ए' (जिसे संक्षेप में 'अधिकरण' के तौर पर निर्दिष्ट किया गया है) ने निम्नलिखित दो प्रश्न इस न्यायालय द्वारा विनिश्चय किये जाने के लिए निर्देशित किये हैं :—

> (1) क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में हिन्दुस्तान मोटर लि० के शेयरों में संव्यवहार से निर्धारिती को हुए लाभ उसके निर्धारण वर्ष 1962-63 और 1963-64 के लिए "कारबार" शीर्षक के अधीन सम्मिलित किये जाने योग्य हैं।
>
> (2) क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में सैंचुरी स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी लि० के शेयरों में संव्यवहार से निर्धारिती के लाभ निर्धारण वर्ष 1962-63 और 1963-64 के लिए निर्धारणों में "कारबार" शीर्षक के अधीन सम्मिलित किये जाने योग्य हैं।

2. निर्धारिती एक कम्पनी है जिसका रजिस्ट्रीकृत कार्यालय ग्वालियर (मध्य प्रदेश) में है और वह ग्वालियर में अपना कारबार करती है। निर्धारिती कम्पनी के एसोसिएशन के ज्ञापन और एसोसिएशन के अनुच्छेदों के अनुसार उसे विनिधान के तौर पर एवं व्यापार स्टाक के तौर पर शेयर धारण करने के लिए प्राधिकृत किया गया था अर्थात् वह शेयरों में विनिधानकर्ता थी और शेयरों में व्यापारी भी थी।

3. सुसंगत निर्धारण वर्ष 1962-63 और 1963-64 जिसके तत्समान लेखा वर्ष 31 मार्च, 1962 और 31 मार्च, 1963 हैं, विचाराधीन दो वर्षों में निर्धारिती कम्पनी के स्रोतों का मुख्य रूप से उपयोग विनिधानों के तौर पर शेयरों को धारण करने में किया गया था बजाय इसके कि जैसे नीचे उपलब्ध आंकड़ों से उसके अधिशेष-पत्र से ज्ञात होता है, स्टाक व्यापार के तौर पर।

अधिशेष पत्र की तारीख	शेयर : व्यापार स्टाक	शेयरों का विनिधान	कुल विनिधान
31 मार्च, 1962	8,63,240	34,36,873	43,54,300
31 मार्च, 1963	5,01,451	30,43,121	45,38,081

शेयरों में निर्धारिती कम्पनी की धृतियों में वे शेयर भी सम्मिलित थे जो मुम्बई और कलकत्ता स्थित स्टाक एक्सचेंजों में उद्धृत थे और साथ ही किसी भी स्टाक एक्सचेंज को उद्धृत नहीं किए गए थे। इन धृतियों में हिन्दुस्तान मोटर लि० और सैंचुरी स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी लि० (जिसे इसमें आगे संक्षेप में 'सैंचुरी कम्पनी' के तौर पर और उसके शेयरों को 'सैंचुरी शेयर' के तौर पर निर्दिष्ट किया गया है) के शेयर सम्मिलित थे।

4. हिन्दुस्तान मोटर लि० ने 6 लाख 6 प्रतिशत पर आयकर मुक्त संचयी रूप से संपरिवर्तनीय व मोचनीय अधिमानी शेयरों जिनमें प्रत्येक 100 रुपये का था, जून, 1956 में जारी किये। निर्धारिती कम्पनी के प्रोस्पेक्टस में यह स्पष्ट वर्णित था कि शेयर धारकों को अधिमानी शेयरों को 1-7-1961 और 30 जून, 1966 के बीच साधारण शेयरों में संपरिवर्तित करने के लिए अधिकार प्राप्त होगा।

4.1. निर्धारिती कम्पनी के 25-5-1956 को साधारण शेयरों के धारक ऐसे संपरिवर्तनीय अधिमानी शेयर के लिए उनके द्वारा धारित 10 साधारण शेयरों के लिए प्राप्त करने के हकदार थे। अधिमानी शेयरों के जारी किए जाने के समय साधारण शेयर प्रीमियम पर उद्धृत किये गये अर्थात् 10 रुपये मूल्य के शेयर 23 रुपये 64 पैसे के हिसाब से।

4.2. निर्धारिती कम्पनी ने 11-4-1960 को और 6-5-1960 को क्रमशः एक हजार और सात हजार अधिमानी शेयर कुल 11,72,000 रुपये की कीमत पर क्रय किए।

4.3. निर्धारिती कम्पनी ने आठ हजार अधिमानी शेयरों को 21 अगस्त, 1961 को 80 हजार मामूली शेयरों में संपरिवर्तित कर लिया। इन 80 हजार मामूली शेयरों में से उसने 21 हजार 6 सौ मामूली शेयर चार भागों में 5-12-1961 और 16-12-1961 के बीच बेच दिए जिसके लिए कुल प्रतिफल 4,39,820 रुपये था और इससे उसने 1,23,380 रुपये का लाभ अर्जित किया। शेष बचे 58,400 साधारण शेयर तीन भागों में दिसम्बर, 1962 और जनवरी, 1963 में बेचे गये जिसके लिए

कुल प्रतिफल 9,78,100 रुपये था और इस प्रकार उसे इस संव्यवहार में 1,22,540 रुपये का फायदा हुआ।

4.4. निर्धारिती कम्पनी के अंतिम लेखों के अनुसार ऊपर वर्णित संव्यवहार शेयर विनिधान लेखे में दर्शाय गये थे।

5. निर्धारिती कम्पनी ने अप्रैल, 1964 के पहले अपने व्यापार स्टाक के तौर पर कतिपय सैंचुरी शेयर धारण किये थे। सैंचुरी कम्पनी ने अपने शेयरों के धारकों को राइट शेयर जारी किये थे। निर्धारिती कम्पनी ने अप्रैल, 1980 में 1,340 राइट शेयरों के लिए आवेदन किया जिसमें से उसने 631 राइट शेयरों को विनिधान खाते डाला था जिसका मूल्य 75,720 रुपये था।

5.1. इंदौर प्रोडक्ट्स कम्पनी लि० ने उसे अक्तूबर, 1960 में समामेलन के क्रम पर 260 राइट शेयर प्राप्त हुए जिनका मूल्य 13,560 रुपये था और इस प्रकार उसके पास 31-3-1961 को 744 राइट शेयर थे जिनका कुल मूल्य 89,280 रुपये था। 30 सितम्बर, 1961 को उसे 744 राइट शेयरों को धारण करने के आधार पर 186 बोनस शेयर और प्राप्त हुए जिनका तत्स्थानीय मूल्य 18,600 रुपये था। इस प्रकार सितम्बर, 1961 के अंत तक निर्धारिती कम्पनी 930 शेयर धारण किये हुए थी जिसका कुल मूल्य 1,07,880 रुपये था।

5.2. ऊपर वर्णित इन सैंचुरी शेयरों में से निर्धारिती कम्पनी ने 10-12-1962 को 197 शेयर 1,19,185 रुपये में बेच दिए और इससे 1962-63 के निर्धारण में अवधारित किया जाने वाला तत्समान अभिलाभ 95,545 रुपये थे।

5.3. 733 शेयरों के अतिशेष में से निर्धारिती ने 7 शेयर 12-2-1963 को 3,675 रुपये में बेच दिए और होने वाले तत्समान लाभ की 2,871 रुपये की राशि निर्धारण वर्ष 1963-64 में व्यापार संव्यवहारों से संबंधित लाभ के तौर पर सम्मिलित की गई।

5.4. इसके बाद निर्धारिती कम्पनी के पास 31-3-63 को 726 शेयरों का अतिशेष बचा और इन धृतियों को वह 31 मार्च, 1971 तक धारण किये रही।

5.5. इसके पश्चात् 31 मार्च, 1972 को समाप्त हुए वर्ष में निर्धारिती कम्पनी ने 287 शेयर और बेचे और उससे 1,91,538 रुपये का तत्समान अभिलाभ हुआ। इसका निर्धारण 1972-73 के लिए पूंजी अभिलाभ

सक्षम प्राधिकारी के समक्ष, पिटीशनरों ने यह दलील दी कि पवार नामक व्यक्ति द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति सहदायिकी सम्पत्ति थी और यह कि उसके द्वारा छोड़े गए सात वारिस सहदायिकी माने जाने चाहिएं और अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों के प्रयोजन के लिए, प्रश्नगत सम्पूर्ण भूमि में 1/7 अंश गणना में लिया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त, यह दलील दी गई कि पिटीशनरों ने नगर निगम को अभिन्यास प्रस्तुत किया था और यह अभिनिश्चित करने के लिए उस अभिन्यास पर विचार किया जाना आवश्यक था कि कोई खाली भूमि है या नहीं । यह दलील भी दी गई कि पिटीशनरों ने एक वाणिज्यिक भवन का निर्माण किया है और वह अधिनियम की धारा 20 के अधीन उपबंधित छूट के मार्गदर्शक सिद्धान्तों के फायदे के लिए हकदार थे । सक्षम प्राधिकारी ने सभी आक्षेप अस्वीकार कर दिए और 50,70.07 वर्ग मीटर क्षेत्र अतिरिक्त खाली भूमि के रूप में घोषित किया, जिसे सरकार द्वारा अर्जित किया जाना था । अपील में कलक्टर ने यह मत व्यक्त किया कि उन वारिसों में से, जिन्होंने पवार की सम्पत्ति वसीयत में प्राप्त की थी, प्रत्येक वारिस को अपने 1/7 अंश का अनन्य स्वामी माना जाना चाहिए । उसने अन्य आक्षेपों को अस्वीकार कर दिया किन्तु सातों सदस्यों में से प्रत्येक के अंश को अभिनिश्चित करने के पश्चात् अवधारण के लिए और अधिशेष क्षेत्र की नए सिरे से संगणना करने के लिए मामला सक्षम प्राधिकारी को प्रतिप्रेषित कर दिया । सम्पत्ति के स्वामियों ने छह पृथक् पिटीशनों में इस आदेश को चुनौती दी है ।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किए गए ।

नगर भूमि (अधिकतम सीमा और विनियमन) अधिनियम की धारा 2(थ) के उपखंड (i) से (iii) में जो सामान्य सूत्र विद्यमान है वह यह है कि ऐसी भूमि, जिस पर भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं हैं या ऐसी भूमि, जिस पर भवन का नियत दिन से पूर्व ही निर्माण किया जा चुका है या नियत दिन को निर्माण किया जा रहा है और अनुलग्न भूमि, सुसंगत भवन विनियमों को (यदि कोई हों) देखते हुए, रिक्त भूमि के रूप में सम्मिलित नहीं की जानी है। खण्ड (i) से (iii) में ऐसी भूमि के प्रति निर्देश किया गया है, जिस पर भवन विनियमों के अधीन भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है और ऐसी भूमि के प्रति भी, जो वस्तुतः भवन द्वारा अधिभुक्त है और जिसका निर्माण समुचित प्रधिकारी के अनुमोदन से नियत दिन से पूर्व पहले ही किया जा चुका है या नियत दिन को किया जा रहा है । उपखण्ड (ii) और (iii) दोनों ही में यह अनुध्यात किया गया है कि ऐसी भूमि को, जिस पर भवन स्थित है या जिस पर निर्माण किया जा रहा है, अनुलग्न भूमि सहित, 'रिक्त भूमि' की संकल्पना से अपवर्जित किया जाना है ।

उक्त दोनों खण्डों में विशेष बात यह है कि खण्ड (ii) में ऐसे क्षेत्र के प्रति निर्देश किया गया है जहां भवन विनियम हैं और खण्ड (iii) में ऐसे क्षेत्र के प्रति निर्देश किया गया है जहां भवन विनियम नहीं हैं। जहां भवन विनियम प्रवृत्त हैं, समुचित प्राधिकारी का अनुमोदन अनिवार्यतः लिया जाना है, यदि भवन का निर्माण किया जाना है। ऐसे क्षेत्र में, जहां भवन विनियम नहीं हैं, समुचित प्राधिकारी के अनुमोदन से भवन के निर्माण का प्रश्न उद्‌भूत ही नहीं होता है, और इसीलिए उपखण्ड (iii) में केवल ऐसे भवन के प्रति निर्देश किया गया है जिसका नियत दिन से पूर्व निर्माण किया जा चुका है या नियत दिन को निर्माण किया जा रहा है। (पैरा 10)

रिक्त भूमि का अवधारण अधिनियम के आरम्भ की तारीख के प्रति निर्देश से किया जाना है और सुसंगत तारीख 17 फरवरी, 1976 है। जहां तक उपखण्ड (i) का संबंध है, इस प्रश्न का कि भवन का निर्माण भवन विनियमों के अनुसार अनुज्ञेय है या नहीं, अवधारण तारीख 17 फरवरी, 1976 के प्रति निर्देश से किया जाना है। (पैरा 11)

खण्ड न्यायपीठ द्वारा प्रतिपादित इस व्यापक प्रतिपादना को स्वीकार करना कठिन है कि इस बात पर ध्यान दिए बिना कि आरम्भ की तारीख को भवन का निर्माण प्रस्थापित या नहीं, रिक्त भूमि के सभी मामलों में, उपखण्ड (i) का अधिनियम की परिधि से ऐसी भूमि को अपवर्जित करने का प्रभाव है, जिस पर भवन का निर्माण साधारणतः अनुज्ञेय नहीं है, जो कुल भूखण्ड के क्षेत्र का दो-तिहाई भाग है। (पैरा 11)

धारा 2(थ) के उपखण्ड (i) की परिधि का खण्ड न्यायपीठ द्वारा किए गए अर्थान्वयन से अधिनियम के प्रयोजन के स्पष्टतः समाप्त हो जाने की संभावना है और इसलिए ऐसे अर्थान्वयन से बचा जाना चाहिए। जहां तक अधिनियम की धारा 2(थ) के उपखण्ड (i) का संबंध है, यह अभिनिर्धारित करना ही चाहिए कि ऊपर निर्दिष्ट बिलिमोरिया वाले मामले में खण्ड न्यायपीठ के इस विनिश्चय के उलट दिए जाने की आवश्यकता है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि भूमि के किसी भूखण्ड के विशेष क्षेत्र में भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, तो वह क्षेत्र अनिवार्यतः, अधिनियम की को धारा 2(थ)(i) में यथा वर्णित, "रिक्त भूमि" की परिभाषा से अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। (पैरा 11)

जब रिक्त भूमि का विस्तार अवधारित किया जाना हो, तो यह स्पष्ट है कि शीर्षों में से प्रत्येक शीर्ष के अधीन जिस भूमि के अपवर्जित किए

जाने की ईप्सा की जाती है, उसका सक्षम प्रधिकारी द्वारा पृथक् रूप से अवधारण करना चाहिए। भूमि का स्वामी प्रत्येक उपखण्ड और परन्तुक के फायदे के लिए हकदार होगा, यदि वे किसी विशेष मामले के तथ्यों के आधार पर सुसंगत है। ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें वह भूमि, जिसके उपखण्ड (*ii*) द्वारा अपवर्जित किए जाने की ईप्सा की जाती है, ऐसी भूमि में सम्मिलित की जा सकती है, जिसके उपखण्ड (i) द्वारा अपवर्जित किए जाने की ईप्सा की गई है, चूंकि रिक्त भूमि का अवधारण, अधिनियम की धारा 2(1) द्वारा यथा अनुध्यात्, स्वामी के स्वामित्वाधीन या उससे कब्जे वाली भूमि की समग्रता के आधार पर किया जाना है, अतः सक्षम प्राधिकारी को उस भूमि का पृथक् रूप से अवधारण करना होगा, जो अधिनियम की धारा 2(थ) के उपखण्ड (i), (ii), (iii) और परन्तुक के अन्तर्गत आती है और ऐसा खण्ड (ii) के अन्तर्गत आने वाली किसी भूमि के खण्ड (i) के अन्तर्गत आने के तथ्य के अधीन होगा। (पैरा 12)

यदि भवन विनियमों द्वारा ऐसे व्यक्ति को, जो भूमि को धारित किए हुए था, निर्माण कार्य अनुज्ञात नहीं किया जाता है, बल्कि लोक निकायों या राज्य सरकार को अनुज्ञात किया जाता है, तो निश्चय ही भवन का निर्माण अनुज्ञेय था, और जब एक बार यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि किसी व्यक्ति या लोक प्राधिकारी द्वारा भी भवन का निर्माण अनुज्ञात है, तो निश्चय ही वह "रिक्त भूमि" है और उसे परिभाषा से बाहर नहीं रखा जा सकता है। दत्तात्रेय **बनाम** महाराष्ट्र राज्य में किए गए विनिश्चय से पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील का समर्थन नहीं होता है कि भले ही कोई भवन निर्माण अनुज्ञात नहीं किया गया हो और किसी प्रकार के रेखांक को मंजूरी नहीं दी गई हो, केवल इस कारण कि कुछ ऐसे भवन विनियम हैं, जिनके द्वारा साधारणतया भूखण्ड के सम्पूर्ण क्षेत्र के दो-तिहाई भाग पर निर्माण कार्य प्रतिषिद्ध किया गया है, उक्त भूखण्ड के दो-तिहाई भाग वाला वह क्षेत्र रिक्त भूमि के प्रयोजन के लिए अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। (पैरा 13)

जहां तक अधिनियम की धारा 2(थ)(i) का संबंध है, विकास योजना या महायोजना द्वारा निर्माण कार्य के लिए या तो पूर्ण प्रतिषेध होना चाहिए या पहले से ही मंजूरी प्राप्त रेखांक होना चाहिए या अधिनियम के आरम्भ की तारीख को रेखांक अनुमोदन हेतु प्रस्तुत कर दिया गया होना चाहिए, जिसके आधार पर वह भूमि, जिस पर धारा 2(थ)(i) के अधीन किसी भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता है, निश्चित रूप से अभिनिश्चित की जा

सके। खुली भूमि के मामले में, जो धारा 2(थ) के खण्ड (i) के अन्तर्गत आती है, उपर्युक्त शर्तों में से किसी शर्त के अभाव में, धारा 4 में विनिर्दिष्ट अधिकतम सीमा से अधिक सम्पूर्ण भूमि सरकार द्वारा ले ली जाएगी। (पैरा 13)

उक्त अधिनियम की धारा 9 के पढ़ने मात्र से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि रिक्त भूमि का अवधारण प्रस्तुत मामले जैसे मामले में प्रत्येक व्यक्ति के प्रति निर्देश से किया जाना है और इसलिए सातों व्यक्तियों में से प्रत्येक व्यक्ति की बाबत सक्षम प्राधिकारी को यह अवधारित करना होगा कि कौन-सी भूमि अधिकतम सीमा से अधिक है और वह अन्तिम कथन करेगा, जैसा कि अधिनियम की धारा 9 द्वारा अनुध्यात किया गया है। (पैरा 14)

		पैरा
[1983]	1979 का रिट पिटीशन सं० 1771 जिसका विनिश्चय तारीख 31 जनवरी, 1983 को किया गया : बी० ई० बिलिमोरिया और एक अन्य **बनाम** महाराष्ट्र राज्य और अन्य (B. E. Billimoria and another *Vs.* State of Maharashtra and others) को **उलट** दिया गया।	4
[1983]	1979 का रिट पिटीशन सं० 1650 जिसका विनिश्चय 31 जनवरी, 1983 को किया गया : डी० पी० दानी और अन्य **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (D. P. Dani and others *Vs.* State of Maharashtra);	13
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 234, पृ० 259, पैरा 60 : भीम सिंहजी **बनाम** भारत संघ (Bhim Singhji *Vs.* Union of India);	7
[1981]	1981 महाराष्ट्र लॉ जर्नल 764 : दत्तात्रेय **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (Dattatraya *Vs.* State of Maharashtra);	13
[1980]	ए० आई० आर० 1980 दिल्ली 106 : शांति देवी **बनाम** सक्षम प्राधिकारी (Shanti Devi *Vs.* Comeptent Authority);	13

[1979] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1415 : भारत संघ बनाम वेल्लूरी बासवैया चौधरी और अन्य (Union of India *Vs.* Velluri Basavaiah Choudhary and others) 13

निर्दिष्ट किए गए।

आरंभिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1979 का रिट पिटीशन सं० 3008.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से	...	सर्वश्री दिलीप जी० कार्णिक और एम० एम० महामने
प्रत्यर्थियों की ओर से	...	सर्वश्री ए० वी० सावंत, महाधिवक्ता और आर० डी० राणे, सहायक सरकारी प्लीडर

न्यायालय का निर्णय **कार्यकारी मु० न्या० एम० एन० चन्दूरकर** ने दिया।

का० मु० न्या० चन्दूरकर :

यह पिटीशन नगर भूमि (अधिकतम सीमा और विनियमन) अधिनियम, 1976 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) के अधीन अधिशेष रिक्त (खाली) भूमि की घोषणा के लिए कार्यवाहियों से उद्भूत हुआ है। स्वीकृततः, सी० टी० एस० सं० 977/बी० और 1257 मूलतः नरहर पवार नामक व्यक्ति से संबद्ध थे, जिसकी वर्ष 1960 में किसी समय मृत्यु हो गई। उसके कुटुम्ब में उसकी विधवा, दो वयस्क पुत्र, एक विधवा पुत्र-वधू, दो विवाहित पुत्रियां और एक अविवाहित पुत्री थी।

2. सक्षम प्राधिकारी के समक्ष, पिटीशनरों ने यह दलील दी कि पवार द्वारा छोड़ी गई संपत्ति सहदायिकी संपत्ति थी और यह कि उसके द्वारा छोड़े गए सात वारिस सहदायिक माने जाने चाहिए और अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों के प्रयोजन के लिए, प्रश्नगत संपूर्ण भूमि में 1/7 अंश गणना में लिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह दलील दी गई कि पिटीशनरों ने तारीख 2 जुलाई, 1975 को पुणे नगर निगम को अभिन्यास प्रस्तुत किया था और यह अभिनिश्चित करने के लिए उस अभिन्यास पर विचार किया जाना

आवश्यक था कि कोई रिक्त (खाली) भूमि है या नहीं। यह दलील भी दी गई कि पिटीशनरों ने एक वाणिज्यिक भवन का निर्माण किया है और वह अधिनियम की धारा 20 के अधीन उपबंधित छूट के मार्गदर्शक सिद्धांतों के फायदे के लिए हकदार थे। सक्षम प्राधिकारी ने सभी आक्षेप अस्वीकार कर दिए और उसने 50,70.07 वर्ग मीटर क्षेत्र अतिरिक्त रिक्त (खाली) भूमि के रूप में घोषित किया, जिसे सरकार द्वारा अर्जित किया जाना था।

3. अपील में कलक्टर ने, जो अपील प्राधिकारी, पुणे नगर बस्ती, पुणे था, यह मत व्यक्त किया कि उन वारिसों में से, जिन्होंने पवार की संपत्ति वसीयत में प्राप्त की थी, प्रत्येक वारिस को अपने 1/7 अंश का अनन्य स्वामी माना जाना चाहिए। उसने अन्य आक्षेपों को अस्वीकार कर दिया किंतु सातों सदस्यों में से प्रत्येक के अंश को अभिनिश्चित करने के पश्चात् अवधारण के लिए और अधिशेष क्षेत्र की नए सिरे से संगणना करने के लिए मामला सक्षम प्राधिकारी को प्रतिप्रेषित कर दिया। संपत्ति के स्वामियों ने छह पृथक् पिटीशनों में इस आदेश को चुनौती दी है, जिनका इस सामान्य निर्णय द्वारा निपटारा किया जा रहा है।

4. जब इस मामले की इससे पूर्व तारीख 5 अगस्त, 1983 को सुनवाई की गई, तो पिटीशनरों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि अधिनियम की धारा 2(थ)(i) के उपबंधों को देखते हुए, प्रश्नगत भूखंडों का 2/3 क्षेत्र ऐसा था कि उस पर किसी प्रकार का सन्निर्माण संभव नहीं था और इसलिए उक्त क्षेत्र रिक्त (खाली) भूमि नहीं माना जा सकता था। विद्वान् काउंसेल के अनुसार, यदि संपत्ति के प्रत्येक स्वामी के अंश पर पृथक् रूप से विचार किया जाता है और धारा 2(थ)(i) में के उपबंध का फायदा पिटीशनरों में से प्रत्येक को दिया जाता है, तो ऐसी कोई भी अधिशेष भूमि नहीं है, जो अधिनियम के अधीन इस रूप में घोषित की जा सकती हो। इस दलील के समर्थन में **बी० ई० बिलिमोरिया और एक अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य और अन्य**[1] में इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय का अवलंब लिया गया कि पिटीशनर अतिरिक्त रिक्त (खाली) भूमि की संगणना करने के प्रयोजन के लिए प्रश्नगत भूखंडों के 2/3 क्षेत्र के अपवर्जन के लिए साधिकार हकदार हैं। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय पर, जिसका पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने अवलंब

---

[1] 1979 का रिट पिटीशन सं० 1771, जिसका विनिश्चय तारीख 31 जनवरी, 1983 को किया गया।

लिया, पुनः विचार किए जाने की आवश्यकता थी। अतः यह पिटीशन पूर्ण न्यायपीठ को निर्देशित कर दिया गया और इस प्रकार इस पिटीशन और संबद्ध पिटीशनों की इस पूर्ण न्यायपीठ द्वारा अब सुनवाई की जा रही है।

5. चूंकि अधिनियम की धारा 2(थ)(i) की प्रकृति और परिधि के संबंध में हमारे समक्ष शुद्धतः विधि का प्रश्न उठाया गया है, अतः सर्वप्रथम **बिलिमोरिया वाले मामले**[1] में किए गए विनिश्चय के प्रति निर्देश करना आवश्यक है, जिसका पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेलों ने अवलंब लिया था तथा जिसकी शुद्धता को राज्य की ओर से चुनौती दी गई है। **बिलिमोरिया वाले मामले**[1] में प्रश्नगत भूमि पृथक् रूप से दोनों पिटीशनरों की थी। पिटीशनर सं० 1 की भूमि 3308.61 वर्ग मीटर थी और पिटीशनर सं० 2 की भूमि 3172.05 वर्ग-मीटर थी। 1,000 वर्ग मीटर भूमि की छूट देते हुए, जो अधिनियम के अधीन प्रतिधारित किए जाने के लिए अनुज्ञेय थी, 2308.61 वर्ग मीटर और 2172.05 वर्ग मीटर का क्षेत्र, जो क्रमशः पिटीशनर सं० 1 और 2 का था, अधिशेष घोषित किया गया। भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन पिटीशन में भू-स्वामियों ने इन आदेशों को चुनौती दी। उस मामले में खण्ड न्यायपीठ के समक्ष पिटीशनरों की ओर से यह दलील दी गई कि पुणे में प्रवृत्त भवन विनियमों के अनुसार, प्रत्येक स्वामी द्वारा धारित भूमि का 1/3 भाग निर्माण के लिए उपयोग में लाया जा सकता था, जिसका अनिवार्यतः यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक पिटीशनर द्वारा धारित भूमि के शेष 2/3 भाग पर किसी प्रकार का निर्माण अनुज्ञेय नहीं था। इसका खंडन नहीं किया गया और खण्ड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि धारा 2(थ)(i) के उपबंधों को देखते हुए, यदि भूमि के वृहत् खंड के किसी विशेष क्षेत्र पर भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, तो वह क्षेत्र, जिस पर ऐसे भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, अनिवार्यतः अधिनियम की धारा 2(थ)(i) में प्रयुक्त 'रिक्त (खाली) भूमि' की परिभाषा से अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। खंड न्यायपीठ की सुसंगति मताभिव्यक्ति इस प्रकार है :—

> "……जब कोई व्यक्ति धारा 2 के खंड (थ) के उपखंड (i) का निर्वचन कर रहा हो, तो वह भूमि को संपूर्ण भूमि नहीं मान सकता है और उसके पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता है कि यह

---

[1] 1979 का रिट पिटीशन सं० 1771, जिसका विनिश्चय तारीख 31 जनवरी, 1983 को किया गया।

भूमि, जिसके छोटे क्षेत्र पर भवन का निर्माण अनुज्ञेय है, रिक्त (खाली) भूमि मानी जानी चाहिए। यदि भूमि के बृहत् खण्ड के विशेष क्षेत्र पर भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, तो वह क्षेत्र, जिस पर ऐसे भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, धारा 2(थ)(i) में यथावर्णित 'रिक्त (खाली) भूमि' की परिभाषा से अनिवार्यत: अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। यह बात अत्यधिक बनावटी सिद्ध होगी और उसके बड़े विचित्र परिणाम होंगे, यदि कोई व्यक्ति ऐसी भूमि को संपूर्ण भूमि मानता है और यह कहता है कि यदि भूमि के किसी भाग में भवन का निर्माण अनुज्ञेय है, तो भूमि के किसी भी भाग को "रिक्त (खाली) भूमि" की परिभाषा से अपवर्जित किया जा सकता है। अर्थान्वयन का कोई भी नियम ऐसे अर्थ को अनुज्ञात नहीं कर सकता है, जो धारा 2(थ)(i) में प्रयुक्त शब्दों को देने का प्रयास किया गया है।"

6. धारा 2(थ)(i) के उपबंध का इस प्रकार अर्थान्वयन करने के पश्चात्, खण्ड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि पिटीशनरों में से प्रत्येक पिटीशनर के स्वामित्वाधीन 2714.05 वर्ग मीटर भूमि का 2/3 भाग रिक्त (खाली) भूमि की विचारणा से अपवर्जित किया जाना है और चूंकि सहकारी सोसाइटी के स्वामित्वाधीन भवन में फ्लैटों का क्षेत्र अधिनियम के प्रयोजन के लिए गणना में नहीं लिया जा सकता, अत: खण्ड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि दोनों में से किसी भी पिटीशनर के पास पुणे बस्ती में अधिकतम सीमा से अधिक भूमि नहीं थी।

7. पिटीशनर की ओर से हाजिर होते हुए, श्री कार्णिक ने आरंभ में ही यह बात स्पष्ट कर दी है कि वह निर्णय के पैरा 6 में खण्ड न्यायपीठ द्वारा अधिकथित इस अति व्यापक प्रतिपादना का समर्थन करने की स्थिति में नहीं थे कि सभी दशाओं में भूखंड के 2/3 भाग को, जिस पर भवन विनियमों के अनुसार भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता है, अधिनियम की धारा 2(थ)(i) में प्रयुक्त 'रिक्त (खाली) भूमि' की परिभाषा से अनिवार्यत: अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। तथापि, विद्वान् काउंसेल के अनुसार, वह खंड न्यायपीठ के विनिश्चय के आधार को ऐसी भूमियों तक सीमित रखना चाहेंगे, जिन पर भवन का कभी भी निर्माण नहीं किया जा सकता था, जैसे कि विद्वान् काउंसेल के अनुसार, पुणे नगर निगम के भवन नियमों और उपविधियों के विनियम 18 और 19 में विनिर्दिष्ट भवन। विनियम 18 में यह उपबंध किया गया है :—

*"किसी भवन और आगे तथा पीछे के भाग से भिन्न सभी भागों में भूखंड की सीमा के बीच कम-से-कम 10 फुट का खुला स्थान छोड़ा जाएगा परन्तु यह विनियम भंबुर्दा गौथान, कुलाची वाड़ी, दागड़ी फूल वाड़ी और गौथान क्षेत्र को लागू नहीं होगा, जो मूथा नदी की पुणे नगर की दिशा में है।"

विनियम 19 में यह उपबंध किया गया है :—

**"प्रत्येक मुख्य भवन के, चाहे वह निवासीय हो या अनिवासीय, पृष्ठ भाग में खुला स्थान होगा, जो अनन्यत: उससे ही संबद्ध होगा तथा कूप, हौद, वियुक्त शौचालय या स्नानागार, कपड़ा धोने के आच्छादित स्थानों आदि को छोड़ कर किसी भी प्रकार की संरचना से मुक्त होगा। ऐसा खुला स्थान ऐसे भवन की पूरी चौड़ाई में होगा और ऐसे भवन की भूखंड की पिछली सीमा तक किसी भी बिन्दु पर दूरी 20 फुट से कम नहीं होगी।"

विद्वान् काउंसेल के अनुसार, विनियम 18 के अधीन, भूखंड की सीमा और दो ओर, आगे और पीछे के भाग को छोड़ कर, भवन के बीच 10 फीट क्षेत्र के अंदर किसी भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं था। इसके अतिरिक्त, विद्वान् काउंसेल के अनुसार, विनियम 19 के अधीन भूखंड की पिछली सीमा और मुख्य भवन के बीच 20 फीट क्षेत्र का इस बात पर ध्यान दिए बिना कानूनी

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"Between any building and the boundary of the plot at its sides other than the front and reer thereof and open space of not less than 10 feet shall be left provided however that this regulation shall not apply to Bhamburda Gaothan, Pulachi Wadi, Dagdi, Pool Wadi and the Gaothan area on the Pune city side of the river, Mutha."

**"19. Every main building whether residentail or otherwise shall have at the rear thereof an open space exclusively belonging thereto and free from any erection except a well, houd, detached privy or bath room, covered washing places, etc. Such open space shall extend to the full width of such building and the distance of such building at any point to the rear boundary of the plot shall not be less than 20 feet."

तौर पर रखा जाना अपेक्षित है कि उस पर भवन का निर्माण आशयित है या नहीं और सक्षम प्राधिकारी को, खाली भूमि का अवधारण करते समय, ऊपर उपदर्शित भूमि के क्षेत्र की सीमा अवधारित करने के लिए कार्यवाही करनी चाहिए, जिस पर उक्त विनियमों के अधीन किसी भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यह दलील दी गई है कि ऐसी भूमि, जो 10 फीट की चौड़ाई सहित, भवन के दोनों ओर पट्टियों और पिछले भाग में 20 फीट की पट्टी से घिरी (आवृत्त) हो, धारा 2(थ)(i) के अधीन रिक्त (खाली) भूमि कभी भी नहीं मानी जा सकती थी और पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल के अनुसार, प्रस्तुत मामले में, यद्यपि स्वीकृतत: किसी भी भवन की मंजूरी नहीं दी गई है और न कोई भवन अनुध्यात ही था, सक्षम प्राधिकारी द्वारा पुणे नगर निगम के भवन नियमों और उप-विधियों पर विचार किया जाना चाहिए था, जिन्हें यह अभिनिश्चित करना चाहिए था कि ऐसे क्षेत्र की सीमा क्या है, जिस पर किसी भी भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता था और वह क्षेत्र 'रिक्त (खाली) भूमि' की संगणना के प्रयोजन के लिए अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए था। राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् महाधिवक्ता के अनुसार, अधिनियम की धारा 2(थ)(i) की परिभाषा का खंड न्यायपीठ द्वारा किया गया अर्थान्वयन अधिनियम के प्रयोजन को ही निरर्थक कर देता है और वह प्रयोजन यह है कि अधिनियम निम्नलिखित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए आशयित है :—

(i) कुछ व्यक्तियों के हाथों में नगर भूमियों का संकेन्द्रण और उनमें सट्टेबाजी और मुनाफाखोरी रोकना;

(ii) सामान्य हित की पूर्ति के लिए नगर बस्ती में रिक्त भूमि का समाजीकरण करना, जिससे कि उसका साम्यापूर्ण वितरण सुनिश्चित किया जा सके;

(iii) अत्यधिक खर्चीले मकानों के निर्माण को निरुत्साहित करना, जिसमें स्पष्टत: दुर्लभ निर्माण-सामग्री का अपव्यय होता है; और

(iv) व्यवस्थित नगरीकरण सुनिश्चित करना।

भीम सिंह जी बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय से हमारे समक्ष इन उद्देश्यों के प्रति निर्देश किया गया। विद्वान्

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 234, पृष्ठ 259, पैरा 60.

महाधिवक्ता के अनुसार, खंड न्यायपीठ द्वारा किए गए अर्थान्वयन का प्रभाव रिक्त भूमि के क्षेत्र के बृहत् भाग के गैर-रिक्त भूमि के रूप में अपवर्जन को अनुज्ञात करना है, जबकि स्वामी का निर्माण के लिए उसे उपयोग में लाने का कभी भी आशय नहीं था, जिसका परिणाम यह होगा कि अधिनियम का प्रयोजन ही निरर्थक हो जाएगा।

8. हमारे समक्ष दी गई दलीलों का विवेचन करने के लिए अधिनियम के कुछ उपबंधों के प्रति निर्देश करना आवश्यक है। अधिनियम की धारा 3 के अधीन यह उपबंध किया गया है कि अधिनियम में अन्यथा उपबंधित के सिवाय, अधिनियम के आरंभ पर और से, कोई भी व्यक्ति ऐसे राज्य-क्षेत्रों में, जिन्हें धारा 1 की उपधारा (2) के अधीन यह अधिनियम लागू होता है, अधिकतम सीमा से अधिक रिक्त भूमि धारित के लिए हकदार नहीं होगा। अधिनियम के आरंभ की तारीख 17 फरवरी, 1976 है। धारा 4 द्वारा नगर बस्ती के 4 प्रवर्गों के प्रति निर्देश से अधिकतम सीमा विहित की गई है। 'रिक्त भूमि' अधिनियम की धारा 2(थ) में परिभाषित की गई है, जो इस प्रकार है :—

> "(थ) 'रिक्त भूमि' से ऐसी भूमि अभिप्रेत है जो नगर बस्ती में मुख्यतः कृषि के प्रयोजन के लिए उपयोग में लाई जाने वाली भूमि नहीं है किंतु इसके अंतर्गत निम्नलिखित नहीं हैं, अर्थात्—
>
> (i) वह भूमि जिस पर उस क्षेत्र में जिसमें ऐसी भूमि स्थित है, प्रवृत्त निर्माण विनियमों के अधीन भवन का सन्निर्माण अनुज्ञेय नहीं है,
>
> (ii) किसी ऐसे क्षेत्र में जहां निर्माण विनियम हैं वहां किसी ऐसे भवन द्वारा अधिमुक्त भूमि जिसका समुचित प्राधिकारी के अनुमोदन से नियत दिन के पूर्व या को सन्निर्माण किया गया है, या किया जा रहा है और ऐसे भवन से अनुलग्न भूमि, और
>
> (iii) किसी ऐसे क्षेत्र में जहां कोई निर्माण विनियम नहीं हैं, वहां किसी ऐसे भवन द्वारा अधिभुक्त भूमि जिसका नियत दिन के पूर्व या को सन्निर्माण किया गया है या किया जा रहा है और ऐसे भवन से अनुलग्न भूमि :
>
> परंतु जहां कोई दुग्ध उत्पाद के प्रयोजन से या पशु प्रजनन के प्रयोजन से भिन्न किसी प्रयोजन के लिए किसी नगर बस्ती के भीतर किसी ग्राम में (जिसे राजस्व अभिलेख में ग्राम के रूप में वर्णित किया गया

> हो) स्थित किसी भूमि पर सामान्यतया अपने पशु रखता है, वहां भूमि के उतने विस्तार को इस खंड के प्रयोजनों के लिए 'रिक्त भूमि' नहीं समझा जाएगा, जिसका उपयोग नियत दिन के ठीक पूर्व सामान्यतया ऐसे पशु रखने के लिए किया जाता है।"

उक्त परिभाषा बहुत ही व्यापक शब्दों में है और उसमें "रिक्त भूमि" को ऐसी भूमि के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसका कृषि के प्रयोजन के लिए मुख्यत: उपयोग नहीं किया जाता है, किन्तु परिभाषा के तीनों खण्डों में ऐसी भूमि को वर्णित किया गया है जिसे रिक्त भूमि के रूप में नहीं माना जाना है। हम इन तीनों खण्डों पर कुछ देर में विचार करेंगे। धारा 2(छ) में "अनुलग्न भूमि" शब्दों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :—

> "(छ) किसी भवन के संबंध में 'अनुलग्न भूमि' से अभिप्रेत है —
>
> (i) किसी ऐसे क्षेत्र में जहां निर्माण विनियम हैं वहां ऐसे भवन के उपयोग के लिए खुले स्थान के रूप में रखे जाने के लिए ऐसे विनियमों के अधीन अपेक्षित भूमि का न्यूनतम विस्तार, जो किसी भी दशा में 500 वर्ग मीटर से अधिक नहीं होगा; या
>
> (ii) किसी ऐसे क्षेत्र में जहां कोई निर्माण विनियम नहीं हैं वहां ऐसे भवन द्वारा अधिभुक्त भूमि से लगे हुए 500 वर्ग मीटर का बिस्तार,
>
> और इसके अन्तर्गत, निवास एकक वाले किसी ऐसे भवन की दशा में जिसका नियत दिन के पूर्व सन्निर्माण किया गया है, यथास्थिति, उपखण्ड (i) में निर्दिष्ट न्यूनतम विस्तार से या उपखण्ड (ii) में निर्दिष्ट विस्तार से लगी हुई भूमि का, यदि कोई हो, 500 वर्ग मीटर से अनधिक अतिरिक्त विस्तार भी है।"

ऊपर उद्धृत "अनुलग्न भूमि" की परिभाषा क्षेत्रों के दो प्रवर्गों के संबंध में है— एक ऐसा क्षेत्र है जहां भवन विनियम हैं, और दूसरा ऐसा क्षेत्र है, जहां कोई भी भवन विनियम नहीं है। ऐसे क्षेत्र में जहां भवन विनियम हैं, अनुलग्न भूमि ऐसे भवन के उपभोग के लिए खुले स्थान के रूप में विनियमों के अधीन रखे जाने के लिए अपेक्षित भूमि का न्यूनतम विस्तार है, किन्तु अनुलग्न भूमि किसी भी दशा में 500 वर्ग मीटर से अधिक नहीं हो सकती है। ऐसे क्षेत्र में, जहां भवन विनियम नहीं है, अनुलग्न भूमि भवन द्वारा उपभुक्त भूमि से लगी हुई (के

निकट) 500 वर्ग मीटर भूमि है। 500 वर्ग मीटर अनुलग्न भूमि के अतिरिक्त, जो परिभाषा के मुख्य भाग में विनिर्दिष्ट है, समावेशकारी भाग में परिभाषा का विस्तार किया गया है, जिसमें यह उपबंध किया गया है कि नियत दिन से पूर्व निर्मित भवन (उसमें निवास-एकक सहित) के मामले में परिभाषा के उपखण्ड (i) और (ii) में विनिर्दिष्ट भूमि के न्यूनतम विस्तार से लगी हुई (के निकट) 500 वर्ग मीटर भूमि का अतिरिक्त क्षेत्र भी अनुलग्न भूमि के रूप में माना जाना है। "निवास-एकक" को धारा 2(ङ) में परिभाषित किया गया है। किसी भवन या भवन के किसी भाग के संबंध में निवास-एकक से ऐसे भवन या उसके भाग में कोई आवास-एकक अभिप्रेत है जिसका उपयोग केवल निवास के प्रयोजनों के लिए किया जाता है।

9. अब, अधिशेष भूमि को अभिनिश्चित करने के लिए, जो अधिनियम के अधीन इस प्रकार घोषित की जा सकती है, सर्वप्रथम उस कुल (सम्पूर्ण) भूमि का विनिश्चय करना आवश्यक है, जो किसी व्यक्ति द्वारा धारित की गई है, जिसका अर्थ यह हुआ कि भूमि या तो संबंधित व्यक्ति के स्वामित्वाधीन है या वे ऐसी भूमि पर किराएदार या बन्धकदार के रूप में या अप्रतिसंहरणीय मुख्तारनामे के अधीन या अवक्रय करार के अधीन या भागतः उक्त हैसियतों में से एक हैसियत में और भागतः उक्त हैसियत या हैसियतों में से किसी अन्य हैसियत में कब्जा किए हुए है। ऐसा अधिनियम की धारा 2(i) में "धारित करना" शब्दों की परिभाषा से स्पष्ट है। अब, किसी व्यक्ति द्वारा धारित कुल भूमि के अवधारित किए जाने के पश्चात्, रिक्त भूमि को अवधारित करने के लिए, धारा 2(थ) में दी गई परिभाषा पर विचार करना आवश्यक है, जो, जैसा कि पहले ही उपदर्शित किया जा चुका है, तीन भागों में है। परिभाषा के उपखण्ड (i) से (iii) और परन्तुक द्वारा यह घोषित किया गया है कि कौन-सी भूमि रिक्त भूमि नहीं है। अतः सक्षम प्राधिकारी को यह अभिनिश्चित करना है कि अधिनियम द्वारा यथा-अनुध्यात कौन-सी भूमि रिक्त भूमि नहीं है। उपखण्ड (i) केअधीन यह उपबंध किया गया है कि ऐसी भूमि, जिस पर उस क्षेत्र में प्रवृत्त भवन विनियमों के अधीन भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, जिसमें ऐसी भूमि स्थित है, रिक्त भूमि नहीं है। यह सुविदित है कि नगरपालिक परिषदों या नगर निगमों जैसे स्थानीय प्राधिकरणों द्वारा बनाए गए भवन विनियमों द्वारा संबंधित व्यक्ति के कब्जे और स्वामित्व वाली सम्पूर्ण खुली भूमि में भवन का निर्माण अनुज्ञात नहीं किया गया है। "भवन विनियम" अधिनियम की धारा 2(ख) में इस प्रकार परिभाषित किए गए हैं कि उनसे महा योजना (मास्टर प्लान) में अन्तर्विष्ट विनियम, या भवनों के निर्माण को लागू होने

वाली प्रवृत्त विधि अभिप्रेत है। इस बात के बारे में कोई भी विवाद नहीं उठाया गया है कि जहां तक पुणे नगर निगम का संबंध है, विनियम 18 और 19 के अतिरिक्त, जिनके द्वारा भवन के पार्श्वों में और भवन के पिछले तथा अगले भाग में कुछ खुले स्थान छोड़े जाने की अपेक्षा की गई है, विनियमों में यह अपेक्षा भी की गई है कि कुल क्षेत्र, जिस पर निर्माण किया जाना है, भूखण्ड के एक-तिहाई भाग से अधिक नहीं होगा, जिसका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि भूखण्ड का शेष दो-तिहाई भाग ऐसी भूमि है, जिस पर भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है। उपखण्ड (ii) भी ऐसे क्षेत्र के संबंध में है, जहां भवन विनियम हैं। उक्त उपखण्ड के अधीन ऐसी भूमि जो रिक्त भूमि नहीं है, किसी भवन द्वारा उपयुक्त भूमि है, जिसका निर्माण समुचित प्राधिकारी के अनुमोदन से नियत दिन अर्थात् 17 फरवरी, 1976 से पूर्व किया जा चुका है या को किया जा रहा है, तथा ऐसे भवन से अनुलग्न भूमि भी। जहां तक उपखण्ड (ii) का संबंध है, उसका प्रभाव यह है कि ऐसे क्षेत्र में, जहां भवन विनियम है, अनुलग्न भूमि सहित, अर्थात धारा 2(छ)(i) के अधीन 500 वर्ग मीटर भूमि सहित और यदि भवन का निर्माण नियत दिन से पूर्व किया गया था तो 500 वर्ग मीटर अतिरिक्त भूमि सहित, भवन द्वारा उपयुक्त भूमि रिक्त भूमि नहीं मानी जाएगी। दूसरे शब्दों में, ऐसी भूमि, जिस पर अनुलग्न भूमि के रूप में 500 वर्ग मीटर भूमि सहित, और यदि भवन का निर्माण नियत दिन से पूर्व किया गया है तो 500 वर्ग मीटर अतिरिक्त भूमि सहित, ऐसी भूमि, जिस पर भवन वस्तुतः स्थित है, रिक्त भूमि नहीं मानी जाएगी। उपखण्ड (iii) ऐसे क्षेत्र के संबंध में हैं, जहा भवन विनियम नहीं हैं और ऐसे मामले में, ऐसे भवन द्वारा उपभुक्त भूमि का वास्तविक विस्तार, जिसका निर्माण नियत दिन से पूर्व किया जा चुका है या नियत दिन को किया जा रहा है और ऐसे भवन से अनुलग्न भूमि रिक्त भूमि नहीं मानी जाएगी। उपखण्ड (ii) के अधीन भी यदि भवन में निवास-एकक है और उसका निर्माण नियत दिन से पूर्व किया गया है, तो 500 वर्ग मीटर का अतिरिक्त क्षेत्र उससे अनुलग्न भूमि के रूप में माना जाएगा। यहां हमारा उस परन्तुक से कोई संबंध नहीं है, जो वस्तुतः रिक्त भूमि की गणना से भूमि के ऐसे भाग को अपवर्जित करने के प्रयोजन के लिए विशेष उपबंध के रूप में है, जहां कोई व्यक्ति सामान्यतया नगर बस्ती के भीतर ग्राम में पशु प्रजनन के प्रयोजन के लिए या दुग्ध उत्पाद (उद्योग) के प्रयोजन से भिन्न प्रयोजन के लिए अपने पशु रखता है।

10. अब, रिक्त भूमि की परिभाषा की स्कीम बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत

होती है। इस साधारण उपबंध के अतिरिक्त कि सभी प्रकार की भूमि, जो कृषि के प्रयोजन के लिए मुख्यत: उपयोग में नहीं लाई जाती है, रिक्त भूमि के रूप में वर्गीकृत की जानी है, खण्ड (i) से (iii) और परन्तुक के अधीन इन खण्डों और परन्तुक में विनिर्दिष्ट प्रवर्ग की भूमि उस समय सम्मिलित नहीं की जानी है जब अधिनियम की धारा 9 द्वारा अनुध्यात अन्तिम कथन के रूप में घोषणा करने के प्रयोजन के लिए रिक्त भूमि के विस्तार की संगणना की जानी हो। उपखण्ड (i) से (iii) में जो सामान्य सूत्र विद्यमान है वह यह है कि ऐसी भूमि, जिस पर भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है या ऐसी भूमि, जिस पर भवन का नियत दिन से पूर्व ही निर्माण किया जा चुका है या नियत दिन को निर्माण किया जा रहा है और अनुलग्न भूमि, सुसंगत भवन विनियमों को (यदि कोई हों) देखते हुए, रिक्त भूमि के रूप में सम्मिलित नहीं की जानी हैं। खण्ड (i) से (iii) में ऐसी भूमि के प्रति निर्देश किया गया है जिस पर भवन विनियमों के अधीन भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है और ऐसी भूमि के प्रति भी, जो वस्तुत: भवन द्वारा अधिभुक्त है और जिसका निर्माण समुचित प्राधिकारी के अनुमोदन से नियत दिन से पूर्व पहले ही किया जा चुका है या नियत दिन को किया जा रहा है। उपखण्ड (i) और (iii) दोनों ही में यह अनुध्यात किया गया है कि ऐसी भूमि को, जिस पर भवन स्थित है या जिस पर निर्माण किया जा रहा है, अनुलग्न भूमि सहित, 'रिक्त भूमि' की संकल्पना से अपवर्जित किया जाना है। उक्त दोनों खण्डों में विशेष बात यह है कि खण्ड (ii) में ऐसे क्षेत्र के प्रति निर्देश किया गया है, जहां भवन विनियम हैं और खण्ड (iii) में ऐसे क्षेत्र के प्रति निर्देश किया गया है, जहां भवन विनियम नहीं हैं। जहां भवन विनियम प्रवृत्त हैं, समुचित प्राधिकारी का अनुमोदन अनिवार्यत: लिया जाना है, यदि भवन का निर्माण किया जाना है। ऐसे क्षेत्र में, जहां भवन विनियम नहीं है, समुचित प्राधिकारी के अनुमोदन से भवन के निर्माण का प्रश्न उद्भूत ही नहीं होता है, और इसीलिए उपखण्ड (iii) में केवल ऐसे भवन के प्रति निर्देश किया गया है जिसका नियत दिन से पूर्व निर्माण किया जा चुका है या नियत दिन को निर्माण किया जा रहा है।

11. इस बात के बारे में कोई विवाद नहीं है कि रिक्त भूमि का अवधारण अधिनियम के आरम्भ की तारीख के प्रति निर्देश से किया जाना है और सुसंगत तारीख 17 फरवरी, 1976 है। जहां तक उपखण्ड (i) का सम्बन्ध है, इस प्रश्न का कि भवन का निर्माण भवन विनियमों के अनुसार अनुज्ञेय है या नहीं, अवधारण तारीख 17 फरवरी, 1976 के प्रति निर्देश से किया जाना है। हम "भवन विनियम" की परिभाषा के प्रति पहले ही निर्देश

कर चुके हैं, जिनसे महा योजना (मास्टर प्लान) में अन्तर्विष्ट विनियम अभिप्रेत हैं, और "महा योजना" पद का अर्थ भी अधिनियम की धारा 2(ज) में दिया गया है और उससे नगर वस्ती में किसी क्षेत्र या उसके किसी भाग के सम्बन्ध में, तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन या ऐसे क्षेत्र या उसके भाग के विकास के लिए तथा उन चरणों की व्यवस्था करने के लिए, जिनके द्वारा ऐसा विकास कार्य किया जायेगा, राज्य सरकार द्वारा किये गये आदेश के अनुसरण में तैयार की गई योजना अभिप्रेत है। अब, जब यह प्रश्न उद्‌भूत होता है कि क्या प्रवृत्त भवन विनियमों के अधीन भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, यह सम्भव है कि सुसंगत महा योजना के अधीन पूर्ण प्रतिबंध या प्रतिषेध हो, जहां किसी भी परिस्थिति में भूमि के किसी विशेष खण्ड पर भवन का निर्माण सम्भव नहीं है। भूमि का ऐसा खण्ड ऐसे प्रयोजन के लिए आरक्षित रखा हुआ हो सकता है, जिस पर भवन का निर्माण किसी भी दशा में अनुज्ञेय नहीं होगा। किन्तु जब हम प्रस्तुत उदाहरण जैसे उदाहरण पर आते हैं, जिसमें भूमि का खुला भूखण्ड है, जो स्वीकृततः गृह-स्थल है और ऐसे आरक्षित स्थल पर भवन का निर्माण किया जा सकता है, तो यह समझना कठिन है कि भूमि का कोई भी भाग काल्पनिक विचारणाओं पर धारा 2(थ) के उपखण्ड (i) के अधीन किस प्रकार अपवर्जित किया जा सकता है। अधिनियम की धारा 3 और उसके प्रक्रिया सम्बन्धी उपबन्धों में, जो उक्त धारा के उपबन्धों को कार्यान्वित करने के लिए आशयित हैं, ऐसे तथ्यों के आधार पर रिक्त भूमि के विस्तार का अवधारण अनुध्यात किया गया है, जैसे कि वे अधिनियम के आरम्भ की तारीख को अस्तित्व में हैं। अतः किसी विशेष मामले में, जिसमें भूमि का स्वामी यह दावा करता है कि कुछ भूमि, जो उसके स्वामित्वाधीन है, इस आधार पर अपवर्जित कर दी जानी चाहिए कि भवन का निर्माण प्रवृत्त भवन विनियमों के अधीन अनुज्ञेय नहीं है, यह स्पष्ट है कि उसे यह दर्शित करना होगा कि उसके मामले में भवन विनियम लागू होते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसका आरम्भ की तारीख को अपनी भूमि पर भवन निर्माण करने का कोई आशय तक नहीं था या ऐसे व्यक्ति के लिये, जिसने किसी भवन के निर्माण के लिये रेखांक (प्लान) भी प्रस्तुत नहीं किया है, सुसंगत भवन विनियम पूर्णतः असंगत हैं और यह भवन विनियमों से प्रभावित नहीं होता। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जब उपखण्ड (i) में ऐसी भूमि के प्रति निर्देश किया गया है, जिस पर भवन विनियमों के अधीन भवन का निर्माण अनुज्ञेय नहीं है, तो यह अनुध्यात किया गया था कि अधिनियम के आरम्भ की तारीख को, अर्थात् 17 फरवरी, 1976 को स्वामी का प्रश्नगत भूखण्ड पर भवन का

भी असफल हो गया। अत: अब वे इस न्यायालय के समक्ष आए हैं।

3. मैंने पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल और विद्वान् लोक अभियोजक को कुछ सविस्तार सुना है और अभिलेख का भी अवलोकन किया है।

4. विद्वान् काउन्सेल ने पिटीशनरों की जमानत के लिए दो आधारों पर प्रार्थना की है। उसका पहला आधार यह है कि पिटीशनरों के विरुद्ध मामला एक ऐसा मामला है जो अपने गुणागुण के आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन नहीं आएगा क्योंकि किसी भी पिटीशनर के बारे में यह कथन नहीं किया गया है कि उसने घातक प्रहार किया था। यह अभिकथन किया गया है कि घातक प्रहार शिवकरण ने किया था जो अभी तक गिरफ्तार नहीं किया गया है। इस मामले में केवल यही सर्वग्राही साक्ष्य है कि पिटीशनर घटना के समय उपस्थित थे और उन्होंने उसमें भाग लिया था। जमानत के लिए उसका दूसरा आधार यह है कि पिटीशनरों की गिरफ्तारी के 90 दिन के भीतर न तो पूरा चालान फाइल किया गया था और न ही उस अवधि के भीतर मामले का संज्ञान किया गया था अत: वे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन जमानत पर छोड़े जाने के हकदार हैं।

5. पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल और विद्वान् लोक अभियोजक को सुनने के पश्चात् मेरी स्पष्ट राय यह है कि मामले की सभी परिस्थितियों और मृतक के शरीर पर क्षतियों की संख्या और प्रकृति को देखते हुए यह मामला जमानत प्रदान किए जाने के उपयुक्त नहीं है। मृतक के शरीर के विभिन्न भागों पर विभिन्न प्रकार के हथियारों से कारित 31 क्षतियां हुई हैं।

6. जहां तक पिटीशनरों के विद्वान् काउन्सेल के दूसरे तर्क का संबंध है उसने पहला निवेदन यह किया है कि इस मामले में 30 अप्रैल, 1983 को फाइल किया गया चालान दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 द्वारा यथा-अपेक्षित पूर्ण चालान नहीं था क्योंकि तब तक अन्वेषण-कार्यवाही चल रही थी और छठा अभियुक्त गिरफ्तार नहीं किया गया था। चालान में भी यह उल्लेख किया गया था कि अभियुक्त सं० 6 अर्थात् शिवकरण के संबंध में अन्वेषण चल रहा है और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173(8) के अधीन एक और चालान प्रस्तुत किया जाएगा। उसका दूसरा निवेदन यह है कि जिस मजिस्ट्रेट ने मामला दर्ज किया था उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपराध का संज्ञान किया था और न ही वह संज्ञान करने के लिए सक्षम था इसलिए अन्वेषण भी पूर्ण नहीं माना जा सकता और पिटीशनर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन जमानत के हकदार हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 की भाषा इस प्रकार है :—

संहिता की धारा 167 की भाषा इस प्रकार है :—

"167. जब चौबीस घंटे के अंदर अन्वेषण पूरा न किया जा सके तब प्रक्रिया—(1)जब कभी कोई व्यक्ति गिरफ्तार किया गया है और अभिरक्षा में निरुद्ध है और यह प्रतीत हो कि अन्वेषण धारा 57 द्वारा नियत 24 घंटे की अवधि के अंदर पूरा नहीं किया जा सकता और यह विश्वास करने के लिए आधार है कि अभियोग या इत्तिला दृढ़ आधार पर है तब पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी या यदि अन्वेषण करने वाला पुलिस अधिकारी उप-निरीक्षक से निम्नतर पंक्ति का नहीं है, तो वह निकटतम न्यायिक मजिस्ट्रेट को इसके पश्चात् विहित डायरी के मामले से संबधित प्रविष्टियों की एक प्रतिलिपि भेजेगा और साथ ही अभियुक्त व्यक्ति को भी उस मजिस्ट्रेट के पास भेजेगा।

(2) वह मजिस्ट्रेट जिसके पास अभियुक्त व्यक्ति इस धारा के अधीन भेजा जाता है, चाहे उस मामले के विचारण की उसे अधिकारिता हो या न हो, अभियुक्त का ऐसी अभिरक्षा में जैसी वह मजिस्ट्रेट ठीक समझे, इतनी अवधि के लिए, जो कुल मिलाकर पन्द्रह दिन से अधिक न होगी, निरुद्ध किया जाना समय-समय पर प्राधिकृत कर सकता है तथा यदि उसे मामले के विचारण की या विचारण के लिए सुपुर्द करने की अधिकारिता नहीं है और अधिक निरुद्ध रखना उसके विचार में अनावश्यक है तो वह अभियुक्त को ऐसे मजिस्ट्रेट के पास, जिसे ऐसी अधिकारिता है, भिजवाने के लिए आदेश दे सकता है :

परन्तु—

मजिस्ट्रेट अभियुक्त व्यक्ति का पुलिस अभिरक्षा से अन्यथा निरोध पन्द्रह दिन की अवधि से आगे के लिए उस दशा में प्राधिकृत कर सकता है जिसमें उसका समाधान हो जाता है कि ऐसा करने के लिए पर्याप्त आधार है, किन्तु कोई भी मजिस्ट्रेट अभियुक्त व्यक्ति का इस पैरा के अधीन अभिरक्षा में निरोध :—

(i) कुल मिलाकर नब्वे दिन से अधिक की अवधि के लिए प्राधिकृत नहीं करेगा, जहां अन्वेषण ऐसे अपराध के संबंध में है जो मृत्यु, आजीवन कारावास या दस वर्ष से अन्यून की अवधि के लिए कारावास से दण्डनीय है;

(ii) कुल मिलाकर साठ दिन से अधिक की अवधि के लिए प्राधिकृत नहीं करेगा, जहां अन्वेषण किसी अन्य अपराध के संबंध में है,

और, यथास्थिति, नव्वे दिन या साठ दिन की उक्त अवधि की समाप्ति पर यदि अभियुक्त व्यक्ति जमानत देने के लिए तैयार है और दे देता है तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा और यह समझा जाएगा कि इस उपधारा के अधीन छोड़ा गया प्रत्येक व्यक्ति अध्याय 33 के प्रयोजनों के लिए उस अध्याय के उपबंधों के अधीन छोड़ा गया है।

(ख) कोई मजिस्ट्रेट इस धारा के अधीन किसी अभिरक्षा में निरोध तब तक प्राधिकृत नहीं करेगा जब तक अभियुक्त उसके समक्ष पेश नहीं किया जाता है,

(ग) कोई द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट जो उच्च न्यायालय द्वारा इस निमित्त विशेषतया सशक्त नहीं किया गया है, पुलिस की अभिरक्षा में निरोध प्राधिकृत न करेगा।

स्पष्टीकरण 1—शंकाएं दूर करने के लिए इसके द्वारा यह घोषित किया जाता है कि पैरा (क) में विनिर्दिष्ट अवधि समाप्त हो जाने पर भी अभियुक्त व्यक्ति तब तक अभिरक्षा में निरुद्ध रखा जाएगा जब तक वह जमानत नहीं दे देता है।

स्पष्टीकरण 2—यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई अभियुक्त व्यक्ति मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था जैसा कि पैरा (ख) के अधीन अपेक्षित है तो अभियुक्त व्यक्ति की पेशी को, निरोध प्राधिकृत करने वाले आदेश पर उसके हस्ताक्षर से साबित किया जा सकता है।

2क—उपधारा (1) या उपधारा (2) में किसी बात के होते हुए भी, पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी या अन्वेषण करने वाला पुलिस अधिकारी, यदि उप-निरीक्षक से निम्नतर पंक्ति का नहीं है तो, जहां न्यायायिक मजिस्ट्रेट न मिल सकता हो, वहां कार्यपालक मजिस्ट्रेट को, जिसको न्यायिक मजिस्ट्रेट या महानगर मजिस्ट्रेट की शक्तियां प्रदान की गई हैं, इसमें इसके पश्चात् विहित

डायरी की मामले से संबंधित प्रविष्टियों की एक प्रतिलिपि भेजेगा और साथ ही अभियुक्त व्यक्ति को भी उस कार्यपालक मजिस्ट्रेट के पास भेजेगा और तब ऐसा कार्यपालक मजिस्ट्रेट लेखबद्ध किए जाने वाले कारणों से किसी अभियुक्त व्यक्ति का ऐसी अभिरक्षा में निरोध, जैसा वह ठीक समझे, ऐसी अवधि के लिए प्राधिकृत कर कर सकता है जो कुल मिलाकर सात दिन से अधिक नहीं हो और ऐसे प्राधिकृत निरोध की अवधि की समाप्ति पर उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा, किन्तु उस दशा में नहीं जिसमें अभियुक्त व्यक्ति के आगे और निरोध के लिए आदेश ऐसे मजिस्ट्रेट द्वारा दिया गया है जो ऐसा आदेश करने के लिए सक्षम है और जहां ऐसे आगे और निरोध के लिए आदेश किया जाता है वहां वह अवधि जिसके दौरान अभियुक्त व्यक्ति इस उपधारा के अधीन किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट के आदेशों के अधीन अभिरक्षा में निरुद्ध किया गया था, उपधारा (2) के परन्तुक के पैरा (क) में विनिर्दिष्ट अवधि की संगणना करने में हिसाब में ली जाएगी :

परन्तु उक्त अवधि की समाप्ति के पूर्व कार्यपालक मजिस्ट्रेट, मामले के अभिलेख, मामले से संबंधित डायरी की प्रविष्टियों के सहित, जो यथा-स्थिति, पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी या अन्वेषण करने वाले अधिकारी द्वारा उसे भेजी गई थी, निकटतम न्यायिक मजिस्ट्रेट को भेजेगा।

(3) इस धारा के अधीन पुलिस अभिरक्षा में निरोध प्राधिकृत करने वाला मजिस्ट्रेट ऐसा करने के अपने कारण अभिलिखित करेगा।

(4) मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट से भिन्न कोई मजिस्ट्रेट जो ऐसा आदेश दे अपने आदेश की एक प्रतिलिपि आदेश देने के अपने कारणों के सहित मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को भेजेगा।

(5) यदि समन मामले के रूप में मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय किसी मामले में अन्वेषण, अभियुक्त के गिरफ्तार किए जाने की तारीख से छह मास की अवधि के भीतर समाप्त नहीं होता है तो मजिस्ट्रेट अपराध में आगे और अन्वेषण को रोकने के लिए आदेश करेगा जब तक अन्वेषण करने वाला अधिकारी मजिस्ट्रेट का

> समाधान नहीं कर देता है कि विशेष कारणों से और न्याय के हित में छह मास की अवधि के आगे अन्वेषण जारी रखना आवश्यक है।
>
> (6) जहां उपधारा (5) के अधीन किसी अपराध का आगे और अन्वेषण रोकने के लिए आदेश दिया गया है वहां यदि सेशन न्यायाधीश का उसे आवेदन दिए जाने पर या अन्यथा समाधान हो जाता है कि उस अपराध का आगे और अन्वेषण किया जाना चाहिए तो वह उपधारा (5) के अधीन किए गए आदेश को रद्द कर सकता है और यह निदेश दे सकता है कि जमानत और अन्य मामलों के बारे में ऐसे निदेशों के अधीन रहते हुए जो वह विनिर्दिष्ट करे, अपराध का आगे और अन्वेषण किया जाए।''

वह उपधारा (2) का परन्तुक ही है जिसके आधार पर पिटीशनरों ने जमानत पर छोड़े जाने का दावा किया है। यहां यह इंगित करना उपयोगी होगा कि तथाकथित परन्तुक यह स्पष्ट करता है कि कोई भी मजिस्ट्रेट इस पैराग्राफ के अधीन अभियुक्त व्यक्ति का किसी अभिरक्षा में कुल मिलाकर नब्बे दिन से अधिक अवधि का निरोध उस दशा में प्राधिकृत नहीं करेगा जिसमें अन्वेषण का संबंध मृत्यु, आजीवन कारावास अथवा दस वर्ष से अन्यून अवधि के कारावास से दंडनीय अपराध से होगा। इस धारा 167 के पठन मात्र से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसका संबंध अन्वेषण के दौरान अभियुक्त व्यक्ति के निरोध से है। अत: यदि अन्वेषण विहित अवधि के भीतर पूरा हो जायगा तो जमानत प्रदान किए जाने के संबंध में धारा 167 (2) का परन्तुक लागू नहीं होगा। अत: इस मामले में विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या 30 अप्रैल, 1983 को पिटीशनरों के विरूद्ध चालान फाइल किए जाने तक अन्वेषण की कार्यवाही पूरी हो चुकी थी ?

7. पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल का यह तर्क कि विद्वान् संपर्क मजिस्ट्रेट के पास अपराध का संज्ञान करने की शक्ति नहीं थी, मेरी राय में स्वीकार किए जाने योग्य नहीं है। जिले के लिए मजिस्ट्रेट की नियुक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के अधीन की जाती है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 14 के अधीन मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, उच्च न्यायालय के नियंत्रण के अधीन रहते हुए, समय-समय पर उन क्षेत्रों की स्थानीय सीमाएं परिनिश्चित कर सकता है जिनके अंदर धारा 11 के अधीन नियुक्त मजिस्ट्रेट उन सब शक्तियों का या उनमें से किन्हीं का प्रयोग कर सकेंगे, जो इस संहिता के अधीन उनमें निहित की गई हैं। धारा 14 की उपधारा (2) में यह भी उपबंधित है कि ऐसे परिनिश्चय द्वारा जैसा उपबन्धित है उसके सिवाय प्रत्येक ऐसे मजिस्ट्रेट की

अधिकारिता और शक्तियों का विस्तार जिले में सर्वत्र होगा। इसके पश्चात् दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 15 में यह उपबंधित है कि मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट अपने अधीनस्थ न्यायिक मजिस्ट्रेटों में कार्य के वितरण के बारे में, समय-समय पर, इस संहिता से संगत नियम बना सकता है या विशेष आदेश दे सकता है। इस मामले में इस बाबत कोई विवाद नहीं है कि मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने धारा 15 (2) के अधीन आदेश पारित करके न्यायिक मजिस्ट्रेट सं० 2 को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट सं० 1 की अनुपस्थिति में उसके न्यायालय का कार्य देखने के लिए प्राधिकृत किया था। ऐसा आदेश धारा 14 के उपबंधों से असंगत नहीं कहा जा सकता और इसलिए सम्पर्क मजिस्ट्रेट पुलिस-रिपोर्ट फाइल कर दिए जाने पर अपराध का संज्ञान कर सकता था। अपने तर्क के समर्थन के लिए विद्वान् काउंसेल ने **वी० आर० हरगंगोदर** बनाम **वी० पी० अंगदी**[1] में प्रतिवेदित नजीर का अवलम्ब लिया था परन्तु मेरी राय में वह नजीर स्पष्ट रूप से प्रभेदनीय है क्योंकि उस मामले में मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने धारा 15 (2) के अधीन कोई आदेश पारित नहीं किया था और उच्च न्यायालय ने उस जिले के संबंध में किसी अन्य मजिस्ट्रेट की नियुक्ति नहीं की थी जिसकी बाबत संबंधित मजिस्ट्रेट की नियुक्ति की गई थी। अतः उसका पहला तर्क, कि संपर्क मजिस्ट्रेट के पास अपराध का संज्ञान करने की अधिकारिता नहीं थी, स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन पांचों पिटीशनरों के विरुद्ध 30 अप्रैल, 1983 को जो चालान फाइल किया गया था वह हर दृष्टि से पूर्ण था। जिस एक मात्र आधार पर चालान अपूर्ण बनाया गया है वह यह है कि 30 अप्रैल, 1983 तक शिवकरण नामक अभियुक्त गिरफ्तार नहीं किया गया था और पुलिस ने उसके विरुद्ध अन्वेषण करने और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 (8) के अधीन अनुपूरक चालान फाइल करने का अपना अधिकार सुरक्षित रखा था। मेरी राय में, पिटीशनरों के विरुद्ध फाइल किया गया चालान इन परिस्थितियों में अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस प्रश्न का अवधारण करने की आवश्यकता नहीं है कि अभियोजन मामले की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर धारा 173 की उपधारा (8) का आश्रय ले सकता था। इस संबंध में विद्वान् काउन्सेल ने मेरा ध्यान **टी० वी० शर्मा** बनाम **तुर्गाकमला देवी**[2] और **बांदी कोटैया** बनाम **राज्य**[3] में प्रतिवेदित नज़ीरों की ओर आकर्षित किया था परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन दोनों मामलों का

---

[1] 1976 क्रि० लॉ० ज० 572.

[2] 1976 क्रि० लॉ० ज० 1247.

[3] ए० आई० आर० 1966 आंध्र प्रदेश 377

इस मामले से कोई संबंध है क्योंकि इन दोनों मामलों में जो चालान फाइल किए गए थे वे अपूर्ण अथवा प्रारम्भिक थे जैसा कि इन मामलों में उल्लेख किया गया है जिन अभियुक्तों के विरुद्ध चालान फाइल किया गया था उनके विरुद्ध तब तक अन्वेषण पूरा नहीं हुआ था और केवल प्रारम्भिक रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी। इस मामले में ऐसी स्थिति नहीं है। जैसा कि ऊपर कथन किया गया कि इन पांचों पिटीशनरों के विरुद्ध फाइल किया गया चालान एक पूर्ण चालान था और उसके आधार पर अपराध का संज्ञान किया जा सकता था। यह भी तर्क दिया गया था कि विद्वान् मजिस्ट्रेट की मामले को दर्ज करने तथा उसे संबंधित मजिस्ट्रेट को प्रेषित करने की कार्यवाही मात्र के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपराध का संज्ञान किया था और इसलिए अन्वेषण भी अपूर्ण माना जाना चाहिए। इस संबंध में **बेनी माधव** बनाम **राजस्थान राज्य**[1], **आर० आ० चारी** बनाम **राज्य**[2], **आर० आर० चारी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[3], **पुरुषोत्तम** बनाम **कच्छ राज्य**[4], **जमना सिंह** बनाम **भदै शाह**[5], और **गोपाल दास** बनाम **आसाम राज्य**[6] वाले मामले निर्दिष्ट किए गए हैं। मैं नहीं समझता कि मुझे इस बाबत कोई विनिश्चय करना है कि इस मामले की परिस्थितियों में मजिस्ट्रेट ने संज्ञान किया है अथवा नहीं, क्योंकि मेरी राय में धारा 167 का उपरिनिर्दिष्ट परन्तुक यह अधिकथित नहीं करता कि यदि अपराध का संज्ञान विहित अवधि के भीतर नहीं किया जाएगा तो अभियुक्त जमानत के हकदार होंगे। यह धारा 167, जैसा कि ऊपर कथन किया गया है, अन्वेषण की पूर्णतया से न कि संज्ञान किए जाने से, संबंधित है। **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **लक्ष्मी ब्राह्मण**[7] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्तियों ने स्पष्ट शब्दों में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "धारा 167 में एक ऐसे प्रक्रम की परिकल्पना की गई है जब संदिग्ध व्यक्ति गिरफ्तार कर लिया जाता है और अन्वेषण की कार्यवाही विहित अवधि के भीतर पूरी नहीं की जाती। धारा 170

---

[1] 1982 राज० क्रि० केसेज 145.

[2] ए० आई० आर० 1950 इलाहाबाद 626.

[3] ए० आई० आर० 1951 एस० सी० 207.

[4] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 700.

[5] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1541

[6] ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 986.

[7] 1983 क्रि० ला० ज० 839.

> की अपेक्षाओं के अनुसार आरोप-पत्र के प्रस्तुत किए जाते ही अन्वेषण समाप्त हो जायगा बशर्ते कि मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण का निदेश न दिया हो।''

इस मामले में किसी ने भी यह कथन नहीं किया है कि 30 अप्रैल, 1983 को चालान फाइल कर दिए जाने के बाद मजिस्ट्रेट ने और आगे अन्वेषण किए जाने का आदेश दिया था, अतः यह माना जाना चाहिए कि अन्वेषण 30 अप्रैल, 1983 तक, अर्थात् अभियुक्त व्यक्तियों की गिरफ्तारी से 90 दिन के भीतर, पूरा कर लिया गया था। इन परिस्थितयों में अभियुक्त पिटीशनर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 (2) के अधीन जमानत का फायदा उठाने का दावा नहीं कर सकते। मैं यहां निःसंदेह यह उल्लेख करूंगा कि कुछ नज़ीरें ऐसी हैं जिनमें यह मत व्यक्त किया गया है कि जब तक न्यायालय अपराध का संज्ञान न कर ले अन्वेषण की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूरा हो गया है परन्तु सम्माननीय उच्चतम न्यायालय के मत को देखते हुए यह मत सही प्रतीत नहीं होता।

8. यह उल्लेख करना भी असमीचीन नहीं होगा कि सम्माननीय उच्चतम न्यायालय ने **उत्तर प्रदेश राज्य वाले मामले**[1] (पूर्वकथित) में यह भी अधिकथित किया है कि उच्च न्यायालय ने धारा 167(1) और (2) की परन्तुक सहित परीक्षा करने के बाद सही रूप से यह निष्कर्ष निकाला था कि अभियुक्त का, उसकी गिरफ्तारी की तारीख से 60 दिन की अवधि की समाप्ति के पश्चात्, और आगे निरोध स्वतः अवैध अथवा शून्य नहीं हो जाता, हां यदि 60 दिन की अवधि के भीतर आरोप-पत्र प्रस्तुत नहीं किया जाएगा तो अभियुक्त, धारा 437(1) में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए, जमानत पर छोड़े जाने के आदेश का हकदार हो जाएगा बशर्ते कि वह जमानत देने के लिए तैयार हो और दे देता हो। अतः विद्वान् काउन्सेल का यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता कि चूंकि अभियुक्त की गिरफ्तारी की तारीख से 90 दिन के भीतर अपराध का संज्ञान नहीं किया गया था, अतः उनका निरोध स्वतः अविधिमान्य और अवैध हो गया था।

9. मैं यहां दो और मामलों का भी उल्लेख करूंगा। **बांदी बनाम राज्य**[2] वाले मामले में चालान विहित समय के भीतर फाइल नहीं किया गया

---

[1] *1983 क्रि० लॉ० ज० 839.*

[2] *1979 क्रि० लॉ० ज० 1503.*

था और अभियुक्त ने धारा 167 (2) के अधीन जमानत के लिए आवेदन किया था। लोक अभियोजक को इस आवेदन का नोटिस दिया गया था और विहित अवधि की समाप्ति के पश्चात् उसी दिन चालान फाइल कर दिया गया था तथा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चालान के फाइल कर दिए जाने के पश्चात् मजिस्ट्रेट अभियुक्त को धारा 167(2) के अधीन नहीं छोड़ सकता था। इसके पश्चात् **पुलन्दर सिंह बनाम मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मात्र यह तथ्य, कि चालान संबंधित न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन जमानत की याचना करने का वैध आधार नहीं है।

10. उपर्युक्त कारणों के आधार पर मेरी राय में पिटीशनर जमानत के हकदार नहीं है। तदनुसार, जमानत का आवेदन खारिज किया जाता है।

जमानत का आवेदन खारिज किया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : राजस्थान—201

राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम बनाम न्यायाधीश, श्रम न्यायालय, राजस्थान, जयपुर और अन्य

(Rajasthan State Road Transport Corporation *Vs.* Judge, Labour Court, Rajasthan, Jaipur and others)

तारीख 25 अक्तूबर, 1983

[न्या० एस० सी० अग्रवाल]

राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम के स्थायी आदेश—स्थायी आदेश सं० 13, 35 और 36 की संविधान के अनुच्छेद 311(2) के संदर्भ में प्रयुक्ति —आरोप-पत्रक में अनेक बृहत् अथवा लघु दंडों के प्रस्ताव मात्र से यह स्वयमेव द्योतित नहीं होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी अपचारी के विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रस्त था क्योंकि वहां, जहां जांच नैसर्गिक-न्याय के सिद्धांतों और

---

[1] 1979 क्रि० ला० जॉ०—नोट्स आन केसेज—155.

नियमों के अनुसार हुई तथा अपचारी को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने का अवसर दिया गया हो यह द्योतित होता है कि अनुशासनिक कार्यवाही लोचदार तथा निष्पक्ष थी, तथापि यह वांछनीय है कि आरोप-पत्रक में संविधान के अनुच्छेद 311(2) के उपबंधों के संगत दंड का तनिक भी उल्लेख न किया जाए क्योंकि दंड के प्रस्ताव का प्रश्न आरोपों के विरुद्ध हो जाने के पश्चात् ही उत्पन्न होता है परंतु यदि अनुशासनिक प्राधिकारी आरोप-पत्रक में किसी ऐसी शास्ति का प्रस्ताव कर देगा जिससे अपचारी के विरुद्ध उसकी संकीर्ण बुद्धि और पूर्वाग्रह का संकेत मिलता हो तो स्थिति भिन्न होगी—जांच के प्रारंभ होने से पूर्व आरोप-पत्रक में दंड के ऐसे प्रस्ताव की अभिव्यक्ति से अपचारी के मस्तिष्क में ऐसी युक्तियुक्त आशंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं कि उसके मामले में पूर्वाग्रह बरता जा रहा है जिससे जांच दूषित हो जाएगी—अनुशासनिक कार्यवाही के मामलों का वर्गीकरण—एक, ऐसे मामले जिन में अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक में अनेक वृहत् अथवा लघु शास्तियों का प्रस्ताव किया हो और दो, ऐसे मामले जिन में अनुशासनिक प्राधिकारी ने किसी शास्ति विशेष का प्रस्ताव किया हो—प्रथम प्रकार के मामलों में जांच और दंड के आदेश दूषित नहीं होंगे तथा द्वितीय प्रकार के मामलों में वे दूषित होंगे।

प्रत्यर्थी सं० 2 निगम में संवाहक के रूप में नियुक्त था। उसके विरुद्ध क्षेत्रीय प्रबंधक द्वारा जारी किए गए एक आरोप-पत्रक (चार्ज-शीट) के आधार पर एक अनुशासनिक जांच की गई थी। सहायक भंडार प्रबंधक (जांच) द्वारा की गई। इस अनुशासिक जांच में यह निष्कर्ष निकाला गया था कि प्रत्यर्थी के विरुद्ध लगाया गया आरोप साबित हो गया है। इसके पश्चात् क्षेत्रीय प्रबंधक ने जांच अधिकारी की रिपोर्ट पर विचार करने के बाद तारीख 15 फरवरी, 1972 को एक कारण बताओ नोटिस जारी किया था जिस में प्रत्यर्थी कर्मकार को यह सूचना दी गई थी कि उस पर सेवा से च्युति की शास्ति आरोपित करने का प्रस्ताव है और उससे यह अपेक्षा की ाई थी कि वह उसके विरुद्ध अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे। प्रत्यर्थी ने थाकथित कारण बताओ नोटिस का उत्तर दे दिया था और उस पर विचार रने के बाद क्षेत्रीय प्रबंधक ने 20 जून, 1972 का आदेश पारित करके उसकी वा का पर्यवसान करते हुए उसके निलंबन की अवधि के वेतन का समपहरण र लिया था। उसके पश्चात् राजस्थान सड़क परिवहन कर्मचारी संघ यावर ने प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा के पर्यवसान के संबंध में एक औद्योगिक ववाद उठाया था तथा राज्य सरकार ने तारीख 19 सितंबर, 1973 के

आदेश द्वारा यह विवाद न्यायनिर्णयन के लिए श्रम न्यायालय को निर्देशित कर दिया था कि क्षेत्रीय प्रबंधक द्वारा प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवाओं का पर्यवसान विधिमान्य और उचित था अथवा नहीं और यदि नहीं तो प्रत्यर्थी कर्मकार किस अनुतोष को पाने का हकदार था। श्रम न्यायालय ने अपना अधिनिर्णय तारीख 6 सितंबर, 1974 को दिया था जिस में उसने यह अभिनिर्धारित किया था कि प्रत्यर्थी के विरुद्ध लगाए गए कदाचार के आरोपों के बारे में निगम द्वारा की गई विभागीय जांच इस तथ्य के कारण दूषित हो गई है कि प्रत्यर्थी कर्मकार को जो आरोप-पत्रक दिया गया था उसमें सेवा से हटाए जाने का दंड भी शामिल है जिस से यह द्योतित होता है कि उससे संबंधित विवाद्यक का निर्णय पहले ही कर लिया गया है तथा उसकी सेवा का पर्यवसान करने वाला आदेश निगम द्वारा विरचित स्थायी आदेश सं० 3 के उपबंधों की अवहेलना भी करते हुए पारित किया गया है। क्योंकि प्रत्यर्थी कर्मकार को उसकी सेवा का पर्यवसान करने से पूर्व कोई नोटिस नहीं दिया गया था तथा उसे उसकी मजदूरी तथा अन्य बकाया रकम का संदाय भी सेवा के पर्यवसान के तत्काल बाद के दिन नहीं किया गया था, अतः उसकी सेवा का पर्यवसान अवैध है तथा वह पिछली पूरी मजदूरी सहित बहाली का हकदार है। श्रम न्यायालय के इस निर्णय से व्यथित होकर पिटीशनरों ने (निगम ने) रिट फाइल किया।

पिटीशनरों के विद्वान् काउंसेल ने स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंध के उल्लंघन के संबंध में यह निवेदन किया है कि निगम द्वारा विरचित 'स्थायी आदेश' कर्मचारी की सेवा के पर्यवसान के दो प्रकार अभिधारित करता है: एक, अप्रतिबंधित पर्यवसान और दो, कदाचार के लिए दंड के रूप में पर्यवसान। स्थायी आदेश सं० 13 अप्रतिबंधित पर्यवसान के बारे में व्यवहृत होता है जबकि जांच और कदाचार के लिए अधिरोपित की जाने वाली शास्तियों के संबंध में व्यवहृत होने वाले स्थायी आदेश सं० 35 और 36 में कदाचार के लिए पर्यवसान के दंड के अधिरोपण की व्यवस्था है। यह भी निवेदन किया है कि प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान स्थायी आदेश सं० 35 और 36 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए कदाचार के लिए दंड के रूप में किया गया है और उसकी सेवा का पर्यवसान अप्रतिबंधित पर्यवसान नहीं है तथा इसलिए स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंध इस मामले में बिल्कुल लागू नहीं होते तथा श्रम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में भूल की है कि स्थायी आदेश सं० 13 लागू होता था और निगम को प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने से पूर्व उसका पालन करना चाहिए था। श्रम

न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने वाला आदेश अवैध और अविधिमान्य था, बताए गए दूसरे कारण, अर्थात् प्रत्यर्थी को दिए गए आरोप-पत्रक में सेवा से हटाए जाने का उल्लेख कर दिया गया था, के संबंध में अधिवक्ता ने यह निवेदन किया है कि प्रस्तुत मामले में इस तथ्य के बावजूद, कि प्रस्तावित दंड का उल्लेख आरोप-पत्रक में कर दिया गया था, एक नियमित जांच की गई थी जिसमें प्रत्यर्थी कर्मकार को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का पूरा अवसर दिया गया था तथा जांच समाप्त होने और आरोप के साबित कर दिए जाने के बाद प्रत्यर्थी कर्मकार को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध अभ्यावेदन करने का एक और अवसर दिया गया था तथा उसके स्पष्टीकरण पर विचार करने के बाद अनुशासिक प्राधिकारी ने उस पर सेवा से हटाए जाने का प्रस्तावित दंड अधिरोपित न करके उससे न्यून सेवा के पर्यवसान का दंड, उसके निलंबन की अवधि का वेतन समपहृत करते हुए अधिरोपित किया था। अतः उसके विरुद्ध पारित आदेश किसी विधिक अशक्तता से ग्रस्त नहीं है।

दूसरी ओर, प्रत्यर्थी के अधिक्ता ने यह निवेदन किया है कि यह तथ्य, कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक जारी करते समय उसमें उस दंड का भी उल्लेख कर दिया था जो पिटीशनर पर अधिरोपित किया जाना था, यह दर्शित करता है कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने उसके मामले में पहले से ही निर्णय ले लिया था और आरोप के संबंध में जांच करना एक औपचरिकता मात्र थी। अधिवक्ता ने यह भी निवेदन किया है कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में की गई जांच और ऐसी जांच के आधार पर पारित किए गए दंड के आदेश के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वे पूर्वाग्रह के कारण दूषित हो गए थे तथा श्रम न्यायालय द्वारा किए गए अधिनिर्णय में हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं है।

अतः न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड का उल्लेख जांच तथा ऐसी जांच के आधार पर पारित किए गए दंड के आदेश को दूषित करता है अथवा नहीं ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

आरोपों के विचारण के प्रक्रम पर दंड का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता और यह तथ्य कि प्रस्ताविक दंड का उल्लेख आरोप-पत्रक में कर दिया गया है। यह दर्शित करेगा कि आरोपों के संबंध में जांच करने और ऐसी जांच के आधार पर निष्कर्ष निकालने से पूर्व सरकारी कर्मचारी प्रतिकूलतः प्रभावित हो

गया था। इसलिए कारण बताओ नोटिस तथा उस पर आधारित कार्यवाही, जिस में पदच्युति का आदेश भी शामिल है, मान्य नहीं माने जा सकते। (पैरा 10)

इस बात से, कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक में आरोप का वर्णन करने के बाद यह कथन किया है कि तथाकथित कदाचार 'स्थायी आदेश' के स्थायी आदेश सं० 34 की परिधि के अंतर्गत आता है तथा प्रत्यथी कर्मकार से यह कारण बताने की अपेक्षा की गई है कि उसके तथाकथित आरोप के संबंध में दोषी पाए जाने की स्थिति में उसे सेवा से क्यों न हटा दिया जाए तथा वह अपना उत्तर सात दिन के भीतर प्रस्तुत करे, यह दर्शित होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक जारी करते समय प्रत्यर्थी कर्मकार पर अधिरोपित की जाने वाली शास्ति के बारे में अपनी राय कायम कर ली थी तथा उसने तथाकथित शास्ति का उल्लेख आरोप-पत्रक में भी कर दिया था। इस प्रकार प्रस्तुत मामला पश्चिमी बंगाल राज्य **बनाम** सती प्रसाद राय वाले मामले में निर्दिष्ट किए गए दूसरी श्रेणी के मामलों के अंतर्गत आता है। (पैरा 21)

[1979]	1979 (3) एम० एल० आर० 1 : केशरी मल **बनाम** राजस्थान राज्य (Keshari Mal *Vs*. The State of Rajasthan);	19, 20
[1975]	1975 एस० एल० डब्ल्यू० आर० 65 : पश्चिमी बंगाल राज्य **बनाम** सती प्रसाद राय (State of West Bengal *Vs*. Sati Prasad Roy);	11, 17, 20, 21
[1974]	1974 (2) एस० एल० आर० 465 : मैना जहां **बनाम** उपनिदेशक, पर्यटन (मुख्यालय), गृह (पर्यटन) विभाग, पश्चिमी बंगाल सरकार और अन्य [Meena Jahan *Vs*. the Deputy Director of Tourism (Headquarters), Home (Tourism) Department, Government of West Bengal and others];	11, 21
[1974]	1974 (1) एस० एल० आर० 14 : अब्दुल खालिक शेख **बनाम** उपायुक्त, बारामूला (Abdul Khalik Sheikh *Vs*. Deputy Commissioner, Baramulla);	13, 19, 21

[1969]	ए० आई० आर० 1969 आन्ध्र प्रदेश 234 : एम० चिन्नप्पा रेड्डी **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य और अन्य (M. Chinnappa Reddy *Vs.* State of Andhra Pradesh and others);	16, 21
[1968]	1968 लैब एंड इंड० केसेज, 735 : गौरी प्रसाद घोष **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य (Gauri Prasad Ghosh *Vs.* State of West Bengal and others);	10, 19, 21
[1964]	ए० आई० आर० 1964 मद्रास 375 : एस० मणिक्कम **बनाम** पुलिस अधीक्षक, नीलगिरि और अन्य (S. Manickam *Vs.* Superintendent of Police, Nilgiris and others);	15, 16
[1961]	ए० आई० आर० 1961 कलकत्ता 626 : सुधीर रंजन हालदार **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य और एक अन्य (Sudhir Ranjan Haldar *Vs.* State of West Bengal and another);	9
[1958]	ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 300 : खेमचंद **बनाम** भारत संघ और अन्य (Khem Chand *Vs.* Union of India and others);	7
[1958]	आई० एल० आर० (1958) 18 राजस्थान 253 : लेखराम सैनी **बनाम** भारत संघ और अन्य (Lekh Ram Saini *Vs.* the Union of India and others);	

का अवलंब लिया गया।

[1967]	ए० आई० आर० 1967 कलकत्ता 29 : विभूति भूषण पाल **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य (Bibhuti Bhushan Paul *Vs.* State of West Bengal and others);	9
[1967]	ए० आई० आर० 1967 मध्य प्रदेश 91 : राम शकल यादा **बनाम** मुख्य सुरक्षा अधिकारी, रेलवे सुरक्षा बल,	14

मुम्बई वि० ट० और अन्य (Ram Shakal Yada *Vs*. Chief Security Officer, Railway Protection Force, Bombay V. T. and others);

[1966] आई० एल० आर० (1966) 1 मद्रास 365 : फेलिक्स फर्नांडीज़ और अन्य **बनाम** डिप्टी सी० एम० ई/एस इंटेग्रेल कोच फैक्टरी, मद्रास और अन्य (Felix Fernandes and others *Vs*. The Deputy C. M. E/S Integral Coach Factory, Madras and others); 15

से प्रभेद बताया गया।

आरंभिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1975 का विशेष न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 749.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से	...	श्री आर० एन० मुंशी
प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से	...	सर्वश्री एम० आर० कल्ला और ए० आर० कल्ला

न्या० एस० सी० अग्रवाल :

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन फाइल किए गए इस रिट पिटीशन में राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम (जिसे इसमें आगे "निगम" कहा गया है) और निगम के जोधपुर क्षेत्र के क्षेत्रीय प्रबंधक (जिससे इसमें आगे "क्षेत्रीय प्रबन्धक" कहा गया है) ने यह प्रार्थना की है कि न्यायाधीश, श्रम न्यायालय, राजस्थान, जयपुर (जिसे इसमें आगे "श्रम न्यायालय" कहा गया है) द्वारा मामला सं० एल० सी० 161/73 में पारित तारीख 5 सितंबर, 1974 का अधिनिर्णय (प्रदर्श सं० 13) को अभिखडित करने वाला कोई सर्शियोरेराई अथवा कोई अन्य उचित रिट्, आदेश अथवा निदेश जारी किया जाए।

2. याद राम यादव, प्रत्यर्थी सं० 2 (जिसे इसमें आगे "प्रत्यर्थी कर्मकार" कहा गया है) निगम में संवाहक के रूप में नियुक्त था। उसके विरुद्ध तारीख 9 सितंब्रर, 1971 के एक आरोप-पत्रक (चार्ज-शीट) (प्रदर्श सं० 4) जिसे क्षेत्रीय प्रबंधक ने जारी किया था, के आधार पर एक

अनुशासनिक जांच की गई थी। तथाकथित अनुशासनिक जांच में, जो सहायक भंडार प्रबंधक (जांच) द्वारा की गई थी, यह निष्कर्ष निकाला गया था कि प्रत्यर्थी कर्मकार के विरुद्ध लगाया गया आरोप साबित हो गया है। इसके पश्चात् क्षेत्रीय प्रबंधक ने जांच अधिकारी की रिपोर्ट पर विचार करने के बाद तारीख 15 फरवरी, 1972 को एक कारण बताओ नोटिस (प्रदर्श सं० 7) जारी किया था जिस में प्रत्यर्थी कर्मकार को यह सूचना दी गई थी कि उस पर सेवा से च्युति की शास्ति अधिरोपित करने का प्रस्ताव है और उससे यह अपेक्षा की गई थी कि वह उसके विरुद्ध अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे। प्रत्यर्थी कर्मकार ने तथाकथित कारण बताओ नोटिस का उत्तर दे दिया था और उस पर विचार करने के बाद क्षेत्रीय प्रबंधक ने तारीख 20 जून, 1972 का आदेश (प्रदर्श सं० 8) पारित किया था जिसके द्वारा उसकी सेवा का पर्यवसान कर दिया गया था तथा उसके निलंबन की अवधि का वेतन समपहृत कर लिया गया था। उसके पश्चात् राजस्थान सड़क परिवहन कर्मचारी संघ, ब्यावर (जिसे इसमें आगे "प्रत्यर्थी सं० 3" कहा गया है)ने प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा के पर्यवसान के संबंध में एक औद्योगिक विवाद उठाया था तथा राज्य सरकार ने तारीख 19 सितंबर, 1973 के आदेश द्वारा यह विवाद न्यायनिर्णयन के लिए श्रम न्यायालय को निर्देशित कर दिया था कि क्षेत्रीय प्रबंधक द्वारा प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवाओं का पर्यवसान विधिमान्य और उचित था अथवा नहीं और यदि नहीं तो प्रत्यर्थी कर्मकार किस अनुतोष को पाने का हकदार था। तथाकथित निर्देश में प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से दावे का विवरण (प्रदर्श सं० 9) तथा निगम की ओर से दावे के विवरण का उत्तर (प्रदर्श सं० 10) फाइल किया गया था। श्रम न्यायालय ने अपना अधिनिर्णय (प्रदर्श सं० 13) तारीख 6 सितंबर, 1974 को दिया था। तथाकथित अधिनिर्णय द्वारा श्रम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि प्रत्यर्थी कर्मकार के विरुद्ध लगाए गए कदाचार के आरोपों के बारे में निगम द्वारा की गई विभागीय जांच इस तथ्य के कारण दूषित हो गई है कि प्रत्यर्थी कर्मकार को जो आरोप-पत्रक दिया गया था उसमें उसके सेवा से हटाए जाने का दंड भी शामिल है जिससे यह द्योतित होता है कि उससे संबंधित विवाद्यक का निर्णय पहले ही कर लिया गया है। श्रम न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया था कि प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने वाला आक्षेपित आदेश निगम द्वारा विरचित स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंधों की अवहेलना भी करते हुए पारित किया गया था क्योंकि प्रत्यर्थी कर्मकार को उसकी सेवा का पर्यवसान करने से पूर्व कोई नोटिस नहीं दिया गया था जैसा कि पूर्वोक्त नियम में अपेक्षित है तथा उसे उसकी मजदूरी तथा अन्य बकाया

रकम का संदाय भी सेवा के पर्यवसान के तत्काल बाद के दिन नहीं किया गया था। पूर्वोक्त निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए श्रम न्यायालय ने तथाकथित निर्देश का उत्तर तदनुसार देते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान अवैध था और वह सेवा में पिछली पूरी मजदूरी सहित बहाली का हकदार था। श्रम न्यायालय के पूर्वोक्त अधिनिर्णय से व्यथित होकर पिटीशनरों ने यह रिट फाइल किया है।

3. मैंने पिटीशनरों की ओर से श्री आर०एन० मुंशी और प्रत्यर्थी सं० 1 के विद्वान् काउन्सेल श्री एम० आर० कल्ला की सुनवाई की है। जैसे कि पहले बताया जा चुका है, श्रम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने वाला क्षेत्रीय प्रबंधक द्वारा पारित किया गया आदेश अवैध और अविधिमान्य था, निम्नलिखित दो कारण दिए हैं: (i) कि विभागीय जांच इस तथ्य के कारण दूषित हो गई थी कि प्रत्यर्थी कर्मकार को दिए गए आरोप-पत्रक में उसके सेवा से हटाए जाने के प्रस्तावित दंड का भी उल्लेख था, और (ii) प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने वाला आदेश निगम के "स्थायी आदेश" के स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंधों की अवहेलना करते हुए पारित किया गया था।

4. जहां तक श्रम न्यायालय द्वारा बताए गए दूसरे आधार, अर्थात् स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंध का उल्लंघन, का संबंध है, श्री मुंशी ने यह निवेदन किया है कि निगम द्वारा विरचित "स्थायी आदेश" कर्मचारी की सेवा के पर्यवसान के दो प्रकार अभिधारित करता है, एक, अप्रतिबंधित पर्यवसान और दो, कदाचार के लिए दंड के रूप में पर्यवसान। श्री मुंशी ने यह निवेदन किया था कि स्थायी आदेश सं० 13 अप्रतिबंधित पर्यवसान के संबंध में व्यवहृत होता है जबकि जांच और कदाचार के लिए अधिरोपित की जाने वाली शास्तियों के संबंध में व्यवहृत होने वाले स्थायी आदेश सं० 35 और 36 में कदाचार के लिए पर्यवसान के दंड के अधिरोपण की व्यवस्था है। श्री मुंशी ने यह निवेदन किया है कि प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान स्थायी आदेश सं० 35 और 36 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए कदाचार के लिए दंड के रूप में किया गया है और उसकी सेवा का पर्यवसान अप्रतिबंधित पर्यवसान नहीं है और इसलिए स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंध इस मामले में बिल्कुल लागू नहीं होते तथा श्रम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में भूल की है कि स्थायी आदेश सं० 13 लागू होता था और निगम को प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने से पूर्व उसका अनुपालन करना चाहिए था। मेरे विचार से श्री मुंशी का पूर्वोक्त निवेदन स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

निगम के स्थायी आदेशों के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि कर्मकार की सेवा का पर्यवसान स्थायी आदेश सं० 36 में उल्लिखित शास्तियों में से एक है। तथाकथित शास्ति किसी कर्मकार पर उस दशा में अधिरोपित की जा सकती है जब वह स्थायी आदेश सं० 35 में अधिकथित प्रक्रिया का पालन करने के बाद कदाचार का दोषी पाया जाता है। स्थायी आदेश सं० 35 और 36 में अंतर्विष्ट पूर्वोक्त उपबंध के अतिरिक्त स्थायी आदेश सं० 13 में भी किसी स्थायी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने का उपबंध है। स्थायी आदेश सं० 13 यह अपेक्षा करता है कि संबधित कर्मकार को विहित अवधि का लिखित नोटिस दिया जाना चाहिए और यदि उसने मजदूरी अथवा किसी अन्य सदेय रकम का अर्जन किया हो तो उसे उनका भुगतान उसकी सेवा के पर्यवसान की तारीख से दूसरे दिन की समाप्ति से पूर्व कर दिया जाना चाहिए। स्थायी आदेश सं० 13 और स्थायी आदेश सं० 35 और 36 का संगत निर्वचन करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि यदि स्थायी आदेश सं० 13 दंड के रूप में सेवा के पर्यवसान से अन्यथा अप्रतिबधित पर्यवसान के मामले में लागू होता है तो कदाचार के लिए दंड के रूप में सेवा के पर्यवसान का मामला स्थायी आदेश सं० 35 और 36 की परिधि के अंतर्गत आएगा। दूसरे शब्दों में, यदि किसी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान स्थायी आदेश सं० 35 में अधिकथित प्रक्रिया का पालन करने के बाद कदाचार के कारण दंड के रूप में करने की ईप्सा की जाती है तो स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंधों का पालन करना आवश्यक नहीं रह जाता और ऐसी दशा में स्थायी आदेश सं० 13 किसी भी रूप में लागू नहीं होगा। अतः श्रम न्यायालय ने यह सही रूप से अभिनिर्धारित नहीं किया था कि प्रस्तुत मामले पर स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंध लागू होते थे और प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने वाला आदेश स्थायी आदेश सं० 13 के उपबंधों के अननुपालन के कारण दूषित हो गया था।

5. श्रम न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करने के लिए, कि प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा का पर्यवसान करने वाला आदेश अवैध और अविधिमान्य था, बताए गए दूसरे कारण अर्थात् प्रत्यर्थी कर्मकार को दिए गए आरोप-पत्रक में सेवा से हटाए जाने के प्रस्तावित दंड का उल्लेख कर दिया गया था, के संबंध में श्री मुंशी का यह निवेदन था कि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड के उल्लेख मात्र से आरोप के संबंध में की जाने वाली जांच दूषित नहीं होती। श्री मुंशी ने यह निवेदन किया है कि प्रस्तुत मामले में इस तथ्य के बावजूद, कि प्रस्तावित दंड का उल्लेख आरोप-पत्रक में कर दिया गया था, एक नियमित जांच की गई थी जिसमें प्रत्यर्थी कर्मकार को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का पूरा अवसर

दिया गया था तथा जांच समाप्त होने और आरोप के साबित कर दिए जाने के बाद प्रत्यर्थी कर्मकार को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध अभ्यावेदन करने का एक और अवसर दिया गया था तथा प्रत्यर्थी कर्मकार के स्पष्टीकरण पर विचार करने के बाद अनुशासनिक प्राधिकारी ने उस पर सेवा से हटाए जाने का प्रस्तावित दंड अधिरोपित न करके उससे न्यून सेवा के पर्यवसान का दंड, उसके निलंबन की अवधि की मजदूरी समपहृत करते हुए, अधिरोपित किया था। श्री मुंशी का निवेदन है कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में प्रत्यर्थी कर्मकार के विरुद्ध लगाए गए आरोपों की उचित जांच की गई थी और तथाकथित जांच के आधार पर उसके विरुद्ध दंड का जो आदेश पारित किया गया था वह किसी विधिक अशक्तता से ग्रस्त नहीं है।

6. दूसरी ओर, श्री कल्ला ने यह निवेदन किया है कि यह तथ्य, कि अनुशासनिक प्रधिकारी ने आरोप-पत्रक जारी करते समय उसमें उस दंड का भी उल्लेख कर दिया था जो पिटीशनर पर अधिरोपित किया जाना था, यह दर्शित करता है कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने उसके मामले में पहले से ही निर्णय ले लिया था और आरोप के संबध में जांच करना एक औपचारिकता मात्र था क्योंकि तथाकथित जांच सहायक भंडार प्रबंधक ने की थी जो कि आरोप-पत्रक जारी करने वाले क्षेत्रीय प्रबंधक का अधीनस्थ है। श्री कल्ला ने यह भी निवेदन किया है कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में की गई जांच तथा ऐसी जांच के आधार पर पारित किए गए दंड के आदेश के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वे पूर्वाग्रह के कारण दूषित हो गए थे तथा श्रम न्यायालय ने तथाकथित विचार सही रूप से व्यक्त किया है और श्रम न्यायालय द्वारा दिए गए अधिनिर्णय के साथ हस्तक्षेप करने का कोई कारण नहीं है।

7. यह प्रश्न कि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड का उल्लेख जांच तथा ऐसी जांच के आधार पर पारित किए गए दंड के आदेश को दूषित करता है अथवा नहीं, न्यायालयों के समक्ष अनेक मामलों में उद्भूत हुआ है। यद्यपि तथाकथित प्रश्न उच्चतम न्यायालय के समक्ष किसी भी मामले में प्रत्यक्ष रूप से उद्भूत नहीं हुआ है, तो भी **खेम चंद बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने तत्कालीन संविधान के अनुच्छेद 311 (2) द्वारा अनुध्यात प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने के दूसरे अवसर की सीमा और परिधि की बाबत विचार करते समय सहमति व्यक्त की है :—

---

[1] ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 300.

"यदि सक्षम प्राधिकारी आरोपों के साबित किए जाने से पूर्व यह अवधारित कर ले कि संबंधित सरकारी कर्मचारी को अमुक दंड दिया जाएगा तो सरकारी कर्मचारी भलीभांति यह सोच सकता है कि सक्षम प्राधिकारी ने उसके विरुद्ध अथवा दंड के संबंध में राय सामान्यत: आरोप की विषयवस्तु के आधार पर बनाई थी।"

8. कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इस प्रश्न पर अनेक मामलों में विचार किया है। **सुधीर रंजन हालदार** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य** और एक अन्य[1] वाले मामले में सरकारी कर्मचारी को एक संयोजित नोटिस भेजा गया था जिसमें उससे उसके विरुद्ध आरोप तथा पदच्युति के प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने की अपेक्षा की गई थी। उस मामले में सरकारी कर्मचारी को आरोपों के साबित कर दिए जाने के बाद प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने का दूसरा अवसर नहीं प्रदान किया गया था तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही करने के मामले में नैसर्गिक-न्याय के सर्वाधिक मौलिक सिद्धांतों का अतिक्रमण किया गया था और उसके विरुद्ध पारित किया गया पदच्युति का आदेश अवैध था।

9. **विभूति भूषण पाल** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में सरकारी कर्मचारी को जो आरोप-पत्रक दिया गया था उसमें उस से यह कारण बताने की भी अपेक्षा की गई थी कि क्यों न उसे सेवा से हटाया अथवा अन्यथा समुचित रूप से दंडित किया जाए। कलकत्ता उच्च न्यायालय के एकल विद्वान् न्यायाधीश ने सरकारी कर्मचारी की ओर से किए गए इस निवेदन को अस्वीकार करते समय कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने उसे सेवा से हटाने अथवा अन्यथा दंडित करने का अवधारण कर लिया था और आरोप-पत्रक के संबंध में जो जांच की गई थी वह असद्भाव के कारण दूषित हो गई थी, यह अभिनिर्धारित किया था कि आरोप-पत्रक में सेवा से हटाए जाने के दंड अथवा किसी अन्य दंड के उल्लेख से केवल यह द्योतित होता है कि सरकारी कर्मचारी पर लगाए गए आरोपों को ध्यान में रखते हुए उसे यह कारण बताना था कि उसे संविधान के अनुच्छेद 311 द्वारा अनुध्यात तीनों प्रकार के दंडों में से कोई दंड क्यों न दिया जाए तथा आरोप-पत्रक के संबंध में जो जांच की गई थी वह आरोप-पत्रक में दंड के उल्लेख के कारण दूषित नहीं होती थी।

---

[1] ए० आई० आर० 1961 कलकत्ता 626.

[2] ए० आई० आर० 1967 कलकत्ता 29.

10. **गौरी प्रसाद घोष** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य**[1] में सरकारी कर्मचारी को दिए गए आरोप-पत्रक में सरकारी कर्मचारी पर अधिरोपित की जाने के लिए प्रस्तावित पदच्युति की शास्ति का उल्लेख किया गया था। उस मामले में जांच कर ली जाने तथा सरकारी कर्मचारी के आरोपों के संबंध में दोषी पाए जाने के बाद सरकारी कर्मचारी को कारण बताने का एक दूसरा नोटिस भी दिया गया था जिस में उससे यह बताने की अपेक्षा की गई थी कि वह सेवा से क्यों न च्युत कर दिया जाए और उसके बाद उसकी सेवा से च्युति का आदेश पारित किया गया था। उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि आरोपों के विरचन के प्रक्रम पर दंड का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता और यह तथ्य कि प्रस्तावित दंड का उल्लेख आरोप-पत्रक में कर दिया गया है यह दर्शित करेगा कि आरोपों के संबंध में जांच करने और ऐसी जांच के आधार पर निष्कर्ष निकालने से पूर्व सरकारी कर्मचारी प्रतिकूलतः प्रभावित हो गया था, इसलिए कारण बताओ नोटिस तथा उस पर आधारित कार्यवाही, जिसमें पदच्युति का आदेश भी सम्मिलत है, मान्य नहीं माने जा सकते। विद्वान् न्यायाधीश ने सरकार की ओर से किया गया यह निवेदन अस्वीकार कर दिया था कि सरकारी कर्मचारी को दूसरा कारण बताओ नोटिस दिया गया था तथा जांच अधिकारी की रिपोर्ट तथा सरकारी कर्मचारी को प्रस्तावित शास्ति के विरुद्ध कारण बताने का अवसर दिए जाने तथा आरोप-पत्रक में दंड का उल्लेख करने वाले कारण बताओ नोटिस के जारी किए जाने के बाद दंड का आदेश दूषित नहीं होगा। विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि वे सिद्धांत जिन के आधार पर यह अपेक्षा की गई है कि कारण बताओ नोटिस में केवल आरोपों का उल्लेख किया जाना चाहिए न कि दोषिता के निष्कर्ष अथवा किसी ऐसे प्रस्ताव का जो दोषिता के साबित कर दिए जाने की स्थिति में अधिरोपित किए जाने वाले दंड के बारे में हो, यह अपेक्षा करते हैं कि सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध लगाए गए आरोपों के संबंध में तब तक निष्पक्ष बने रहना चाहिए जब तक आरोप साबित न हो गए हों और यदि कोई जांच इस प्रकार निष्पक्ष न रह कर इस उपधारणा के आधार पर कर ली जाती है कि सरकारी कर्मचारी उस अपराध का दोषी है जिस का उस पर आरोप लगाया गया है तथा वह किसी विशेष दंड को पाने का भी जिम्मेदार है तो ऐसी जांच के बारे में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह नैसर्गिक-न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण करते हुए की गई है।

---

[1] 1968 लैब एंड इंड० केसेज, 735.

11. **गौरी प्रसाद घोष वाले मामले**[1] में किए गए पूर्वोक्त विनिश्चय का अनुसरण कलकत्ता उच्च न्यायालय के एक अन्य एकल न्यायाधीश ने **मीना जहां** बनाम **उप-निदेशक, पर्यटन (मुख्यालय) गृह (पर्यटन) विभाग, पश्चिमी बंगाल सरकार और अन्य**[2] वाले मामले में किया था जिस में सरकारी कर्मचारी को दिए गए आरोप-पत्रक में उससे इस बात का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने की भी अपेक्षा की गई थी कि वह क्यों न सेवोन्मुक्त कर दिया जाए तथा यह अभिनिर्धारित किया था कि यदि आरोप-पत्रक से यह प्रतीत हो कि अनुशासनिक प्राधिकारी अपचारी कर्मचारी द्वारा किए गए अभिकथित अपराध के संबंध में निष्पक्ष नहीं रहा है और ऐसे कर्मचारी को कोई विशेष दंड दे दिया गया है तो ऐसी स्थिति में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि नैसर्गिक-न्याय के सिद्धांतों के अनुपालन पर लागू होने वाले मूलभूत सिद्धांतों का अतिक्रमण किया गया है और आरोप पत्रक, और नोटिस स्वयमेव अविधिमान्य हो गए हैं।

12. **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सती प्रसाद राय**[3] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायायय के खंड न्यायपीठ ने इस संबंध में विचार किया था। उस मामले में सरकारी कर्मचारी को जो आरोप-पत्रक दिया गया था उस में यह उल्लेख किया गया था कि उसके विरुद्ध सेवा से च्युति की शास्ति अधिरोपित करने का प्रस्ताव है और उससे अपेक्षा की जाती है कि वह इस बाबत कारण बताए कि उसके विरुद्ध तथाकथित शास्ति क्यों न अधिरोपित की जाए। न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों की अवेक्षा करने के बाद कलकत्ता उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने किसी ऐसे मामले, जिस में अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक में अनेक वृहत् अथवा लघु शास्तियों का प्रस्ताव किया हो और किसी ऐसे मामले, जिस में अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप-पत्रक में किसी शास्ति विशेष का उल्लेख किया हो, के मध्य अंतर स्थापित किया था। विद्वान् न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पहले प्रकार के मामले में जांच तथा दंड का आदेश दूषित नहीं होंगे परंतु वे दूसरे प्रकार के मामले में दूषित होंगे। इस संबंध में पूर्वोक्त विनिश्चय में की गई निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां सुसंगत होंगी :—

"इस न्यायालय द्वारा उपरिनिर्दिष्ट तथा अन्य विनिश्चयों में

---

[1] 1968 लैब एंड इन्ड० केसेज, 735.

[2] 1974 (2) एस० एल० आर० 465.

[3] 1975 एस० एल० डब्ल्यू० आर० 65.

व्यक्त किए गए संगत और एक से मत को ध्यान में रखते हुए हमारी भी यह राय है कि आरोप-पत्रक में अनेक बृहत् अथवा लघु दंडों के प्रस्ताव मात्र से यह स्वयमेव द्योतित नहीं होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी अपचारी के विरुद्ध पूर्वाग्रह से ग्रस्त था क्योंकि उससे वहां, जहां जांच नैसर्गिक-न्याय के सिद्धांतों और नियमों के अनुसार हुई हो तथा अपचारी को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने का अवसर दिया गया हो, यह द्योतित होता है कि अनुशासनिक कार्यवाही लोचदार तथा निष्पक्ष थी। तथापि यह वांछनीय है कि आरोप-पत्रक में अनुच्छेद 3.11 (2) के उपबंधों के संगत दंड का तनिक भी उल्लेख न किया जाए क्योंकि दंड के प्रस्ताव का प्रश्न आरोपों के सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही उत्पन्न होता है। परंतु यदि अनुशासनिक प्राधिकारी आरोप-पत्रक में किसी ऐसी शास्ति का प्रस्ताव कर देगा जिससे अपचारी के विरुद्ध उसकी संकीर्ण बुद्धि और पूर्वाग्रह का संकेत मिलता हो तो स्थिति भिन्न होगी। जांच के प्रारंभ होने से पूर्व आरोप-पत्रक में दंड के ऐसे प्रस्ताव की अभिव्यक्ति से अपचारी को मस्तिष्क में ऐसी युक्तियुक्त आशंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं कि उसके मामले में पूर्वाग्रह बरता जा रहा है जिससे जांच दूषित हो जाएगी।"

13. इस संबंध में अन्य अन्य उच्च न्यायालयों के विनिश्चय निर्देशित किए जा सकते हैं। **अब्दुल खालिक शेख** बनाम **उपायुक्त, बारामूला**[1] वाले मामले में सरकारी कर्मचारी को जो आरोप-पत्रक दिया गया था उस में भी उस पर अधिरोपित किए जाने के लिए प्रस्तावित दंड निर्देशित किया गया था तथा सरकारी कर्मचारी को उसकी सेवा का पर्यवसान करने वाले आदेश का पालन करने से पूर्व कोई दूसरा कारण बताओ नोटिस नहीं दिया गया था। जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि ऐसा आरोप-पत्रक निरर्थक था और मिथ्या औपचारिकता मात्र था क्योंकि उस में सरकारी कर्मचारी पर अधिरोपित किए जाने के लिए प्रस्तावित दंड का भी उल्लेख कर दिया गया था और इस प्रकार का कोई संश्लिष्ट नोटिस जिसमें आरोपों और प्रस्तावित दंड का उल्लेख साथ-साथ किया गया हो, अविधिमान्य है।

14. **राम शकल यादव** बनाम **मुख्य सुरक्षा अधिकारी, रेलवे सुरक्षा बल,**

---

[1] 1974 (1) एस० एल० आर० 14.

मुम्बई वि० ट० और अन्य[1] वाले मामले में सरकारी कर्मचारी को जो आरोप-पत्रक दिया गया था उस में उस पर अधिरोपित किए जाने के लिए प्रस्तावित दंड का उल्लेख था। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड के उल्लेख से तथा तथाकथित जांच के आधार पर पारित किया गया दंड का आदेश दूषित नहीं होता क्योंकि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड का उल्लेख जांच अधिकारी को जांच के बाद यह निष्कर्ष निकालने से प्रविरत नहीं करता कि आवेदक के विरुद्ध आरोप साबित नहीं हुआ था अथवा पिटीशनर को दायित्व से मुक्त करने से अथवा कारण बताओ नोटिस में किसी अन्य दंड का प्रस्ताव करने से नहीं रोकता।

15. मद्रास उच्च न्यायालय के दो एकल न्यायाधीशों ने इस संबंध में विरोधी मत व्यक्त किए थे। **एस० मणिक्कम बनाम पुलिस अधीक्षक, नीलगिरी और अन्य**[2] वाले मामले में न्या० वीरस्वामी ने यह मत व्यक्त किया था कि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड के उल्लेख के तथ्य से केवल यही दर्शित हो सकता है कि सरकारी कर्मचारी के संबंध में पूर्व-निर्णय आरोपों की जांच की जाने तथा ऐसी जांच के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाने से पूर्व कर लिया गया था तथा इसी कारण से उसने आरोपों के बारे में जांच की जाने के बाद पारित किया गया पदच्युति का आदेश अभिखंडित कर दिया था। एक अन्य मामले में न्या० श्रीनिवासन ने विरोधी मत व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि अपचारी कर्मकार के आरोप के संबंध में दोषी पाये जाने की स्थिति में संभावित दंड का उल्लेख मात्र दोषिता के प्रश्न की बाबत पूर्व-न्याय के समकक्ष नहीं होगा। पूर्वोक्त विवाद उसी उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने **फेलिक्स फर्नाण्डीज और अन्य** बनाम **डिप्टी सी० एम० ई/एस इंटैग्रल कोच फैक्टरी, मद्रास और अन्य**[3] वाले मामले में सुलझा दिया था जिसमें विद्वान् न्यायाधीशों ने न्या० श्रीनिवास के मत से सहमति व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि आरोप-पत्रक के तत्काल बाद अपचारी से इस बात का कारण बताने की अपेक्षा करने से, कि आरोप के सिद्ध कर दिए जाने की दशा में उसे क्यों न दंडित किया जाए, किसी भी रूप में यह दर्शित नहीं होगा कि उसके मामले में पूर्व-निर्णय ले लिया गया है तथा जांच के

---

[1] ए० आई० आर० 1967 मध्य प्रदेश 91.

[2] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 375.

[3] आई० एल० आर० (1966) 1 मद्रास 365.

परिणामस्वरूप आरोपों के सिद्ध हो जाने की दशा में संभावित दंड के उल्लेख मात्र से संविधान के अनुच्छेद 311 की स्कीम का उल्लंघन नहीं होगा।

16. आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के एकल विद्वान् न्यायाधीश ने **एस० चिन्नप्पा रेड्डी बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य और अन्य**[1] का **एस० मणिक्कम बनाम पुलिस अधीक्षक**[2] वाले मामले में विनिश्चय का तथा आन्ध्र प्रदेश उच्चन्यायालय के अन्य पूर्ववर्ती विनिश्चयों का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रारंभिक प्रक्रम पर, जब आरोप विरचित किए जाते हैं और उसकी तामील अपचारी अधिकारी पर कर दी जाती है, दंड देने वाले प्राधिकारी अथवा जांच अधिकारी को उस दंड का प्रस्ताव नहीं करना चाहिए जो अंततोगत्वा अपचारी अधिकारी को दिया जाना है, क्योंकि वह वह अवस्था नहीं है जब दंड के बारे में कोई राय बनाई अथवा अभिव्यक्त की जा सकती है और यदि ऐसा किया जाता है तो वह विवाद्यक के पूर्व निर्णय के समकक्ष होता है जिससे अपचारी अधिकारी के मन में सदैव दुराशंका उत्पन्न होने की संभावना रहती है तथा दंड के बारे में राय तभी बनाई अथवा अभिव्यक्त की जा सकती है जब दंड देने वाले प्राधिकारी ने इस बारे में उचित जांच कर ली हो कि अभियुक्त अधिकारी ने अपराध किया है तथा वह अपचारी अधिकारी से इस बाबत स्पष्टीकरण मांग सकता है कि उस पर उसके विरुद्ध प्रस्तावित दंड क्यों न अधिरोपित किया जाए। विद्वान् न्यायाधीश का यह मत था कि यदि प्रारंभिक अवस्था में विरचित आरोप से प्रस्तावित दंड का संकेत मिलता है तो कार्यवाही दूषित हो जाती है।

17. इस न्यायालय के विनिश्चयों पर ध्यान देने से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालयों के उपरिनिर्दिष्ट अनेक विनिश्चयों पर विचार करने के बाद मैं कलकत्ता उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ के उस विनिश्चय से, जो उसने **पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सती प्रसाद राय**[3] वाले मामले में किया था, सहमति व्यक्त करता हूं तथा किसी ऐसे मामले जिसमें आरोप पत्रक में बृहत् अथवा लघु प्रकृति के अनेक दंडों का प्रस्ताव किया गया हो तथा किसी ऐसे मामले में जिसमें आरोप पत्रक में किसी शास्ति विशेष का उल्लेख किया गया हो, में अंतर स्थापित करने वाले तथाकथित विनिश्चय को अंगीकार करता हूं। इस न्यायालय के विनिश्चयों की जांच करने पर यह दर्शित होता है कि

---

[1] ए० आई० आर० 1969 आन्ध्र प्रदेश 234.

[2] ए० आई० आर० 1964 मद्रास 375.

[3] 1975 एस० एल० डब्ल्यू० आर० 65.

इस न्यायालय के विनिश्चय पूर्वोक्त मत के असंगत नहीं हैं।

18. यह प्रश्न इस न्यायालय के समक्ष दो मामलों में विचारार्थ उद्भूत हो चुका है। **लेख राम सेनी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में सरकारी कर्मचारी को दिए गए आरोप पत्रक में उससे यह कारण बताने की अपेक्षा की गई थी कि उसे सक्षम प्राधिकारी द्वारा क्यों न सेवा से हटाया जाए अथवा स्टेट रेलवे एस्टेब्लिशमेंट कोड, वाल्यूम-I के नियम 1707 में विनिर्दिष्ट किसी अन्य अपेक्षाकृत कम शास्ति से दंडित किया जाए। इस मामले में यह तर्क दिया गया था कि तथाकथित आरोप पत्रक संविधान के अनुच्छेद 311 के अनुरूप नहीं था तथा अनुशासनिक प्राधिकारी ने अपचारी अधिकारी के आचार की बाबत पूर्व निर्णय कर लिया था। इस न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्या० त्यागी) ने पूर्वोक्त तर्क को अस्वीकार करते समय इस तथ्य पर बल दिया था कि आरोप पत्रक के सबंध में जांच कर ली जाने के बाद सरकारी कर्मचारी को एक दूसरा कारण बताओ नोटिस दिया गया था जिसमें उससे प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने की अपेक्षा की गई थी। विद्वान् न्यायाधीश ने इस बात पर भी बल दिया था कि उस मामले में सरकारी कर्मचारी को जो आरोप पत्रक दिया गया था वह विहित प्ररूप में था। तथाकथित प्ररूप में पूर्वोक्त "नियम" में विहित सभी शास्तियों का उल्लेख किया गया था।

19. **केशरी मल** बनाम **राजस्थान राज्य**[2] वाले मामले में सरकारी कर्मचारी को दिए गए आरोप पत्रक में उससे यह कारण बताने की अपेक्षा की गई थी कि उस पर राजस्थान सिविल सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण और अपील) नियम, 1958 के नियम 14 की मद सं० VIII में विनिर्दिष्ट शास्ति, अर्थात् सेवा से च्युति क्यों न अधिरोपित की जाए। इस न्यायालय के एक अन्य विद्वान एकल न्यायाधीश (न्या० डी० पी० गुप्ता) ने जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के **अब्दुल खालिक शेख** बनाम **उपायुक्त, बारामूला**[3] तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय के **गौरी प्रसाद घोष** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[4] वाले मामलों में विनिश्चय का अवलंब लेते हुए निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की है :—

> "नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत, जिसके आधार पर अपचारी सरकारी कर्मचारी को कारण बताओ नोटिस दिया जाता है, यह अपेक्षा करता है

---

[1] आई० एल० आर० (1958) 18 राजस्थान 253.

[2] 1979 (3) एस० एल० आर० 1.

[3] 1974 (1) एस० एल० आर० 14.

[4] 1953 नेब एंड इन्ड० केसेज 735.

कि अनुशासनिक प्राधिकारी को सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध लगाए गए आरोपों के संबंध में तब तक निष्पक्ष बना रहना चाहिए जब तक वे साबित न कर दिए गए हों। यदि कोई जांच निष्पक्ष न रह कर इस उपधारणा के आधार पर कर ली जाती है कि सरकारी कर्मचारी उस पर लगाए गए आरोपों का दोषी है तथा विनिर्दिष्ट शास्ति से दंडनीय भी है, तो ऐसी जांच के बारे में यह समझा जाएगा कि वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण करते हुए की गई है। ऐसी परिस्थितियों में यह स्पष्ट होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने संबंधित सरकारी कर्मचारी की दोषिता के बारे में पहले से ही निर्णय कर लिया था। यदि सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध आरोप साबित किए जाने हैं तो आरोपों के विरचन के प्रक्रम पर यह विनिश्चित करने का प्रश्न ही नहीं उठता कि उस पर संभवत: कौनसी शास्ति अधिरोपित की जा सकती है। यही तथ्य, कि आरोप-पत्रक में प्रस्तावित दंड का उल्लेख किया गया है, यह सिद्ध करेगा कि अपचारी सरकारी कर्मचारी की दोषिता के बारे में निर्णय ऐसी जांच से पूर्व ले लिया गया है जिसके आधार पर आरोपों की जांच की जानी है और उनके संबंध में निष्कर्ष निकाले जाने हैं। इसी आधार पर वह नोटिस न्यायालयों द्वारा अभिखंडित किया गया है जिसमें न केवल अपचारी कर्मचारी के विरुद्ध आरोप बल्कि उस पर अधिरोपित किए जाने के लिए प्रस्तावित दंड का विवरण भी सम्मिलित है। अनुशासनिक जांच के लिए "नियम" में विहित प्रक्रिया संबंधी सरकारी कर्मचारी को थोड़ा-सा यह आश्वासन अवश्य प्रदान करती है कि अनुशासनिक प्राधिकारी उसके विरुद्ध विरचित आरोपों के संबंध में निष्पक्ष रहेगा। यदि सक्षम प्राधिकारी सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध की जाने वाली जांच के परिणामस्वरूप आरोपों के साबित किए जाने से पूर्व यह अवधारित कर ले कि उसे अमुक दंड दिया जाएगा तो उसका यह सोचना न्यायोचित होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने सामान्यत: आरोप की विषय-वस्तु तथा उस पर अधिरोपित किए जाने वाले दंड के परिमाण के बारे में अपनी राय बना ली है। ऐसी परिस्थितियों में सक्षम प्राधिकारी अनुशासनिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप उद्भूत होने वाले तथ्यों पर मुक्त रूप से विचार नहीं कर सकेगा।"

20. पूर्वोक्त दोनों विनिश्चयों का विहंगम दृष्टि से पठन करने पर यह अभास होता है कि उन दोनों में विरोध है। परंतु तथाकथित विनिश्चयों का

ध्यान से परिशीलिन करने पर यह द्योतित होगा कि दोनों विनिश्चयों में कोई विरोध नहीं है तथा उन दोनों का समाधान उस अंतर को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है जो कलकत्ता उच्च न्यायालय के खंड न्यायपीठ ने **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सती प्रसाद राय**[1] वाले मामले में किसी ऐसे मामले में जिसमें आरोप पत्रक में बृहत् अथवा लघु प्रकृति के अनेक दंडों का प्रस्ताव हो तथा किसी ऐसे मामले में जिसमें किसी दंड विशेष का प्रस्ताव हो, के मध्य बताया है। **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सती प्रसाद राय**[2] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि जिन मामलों में आरोप पत्रक में बृहत् अथवा लघु प्रकृति के अनेक दंडों का प्रस्ताव किया गया हो उनमें स्वयमेव यह द्योतित नहीं होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी अपचारी के विरुद्ध किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त था क्योंकि इससे प्रशासनिक अधिकारी की बुद्धि की लोच और निष्पक्षता द्योतित होनी है तथा इससे कोई ऐसी अनुशासनिक कार्यवाही दूषित नहीं होगी जिसमें नियमों और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के अनुसार वास्तव में जांच की गई हो तथा अपचारी को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध कारण बताने का दूसरा अवसर दिया गया हो। परंतु उन मामलों में जिनमें अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप पत्रक में पदच्युति अथवा किसी अन्य बृहत् शास्ति, जिससे अनुशासनिक प्राधिकारी का अपचारी के विरुद्ध पूर्वाग्रह द्योतित होता हो अपचारी के मस्तिष्क में एक ऐसी युक्तियुक्त आशंका उत्पन्न हो सकती है कि उसके मामले में पूर्व-निर्णय ले लिया गया है और उसके परिणामस्वरूप जांच दूषित हो जाएगी। न्या० त्यागी द्वारा विनिश्चित **लेख राम सेनी** बनाम **भारत संघ**[2] वाला मामला पहली श्रेणी के अंतर्गत आता है क्योंकि उस मामले में अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप पत्रक में "नियम" के अधीन अपचारी अधिकारी पर अधिरोपित की जा सकने वाली बृहत् तथा अन्य लघु प्रकार की शास्तियों का उल्लेख किया था तथा यह भी निष्कर्ष निकाला था कि आरोप के संबंध में उचित जांच की गई थी और अपचारी अधिकारी को प्रस्तावित दंड के विरुद्ध अपना स्पष्टीकरण देने की अपेक्षा करने वाला दूसरा कारण बताओ नोटिस भी दिया गया था तथा इन परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि आरोप पत्रक में प्रस्तावित दंड का उल्लेख कर देने से जांच दूषित नहीं होती। न्या० डी० पी० गुप्ता द्वारा विनिश्चित किया गया **केशरी मल**

1975 एस० एल० डब्ल्यू० आर० 65.

आई० एल० आर० 1958 (18) राजस्थान 253.

बनाम **राजस्थान राज्य**[1] वाला मामला **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सती प्रसाद राय**[2] वाले मामले में उल्लिखित मामलों की दूसरी श्रेणी के अंतर्गत आता है क्योंकि उस मामले में अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप पत्रक में केवल एक शास्ति अर्थात् सेवा से च्युति, प्रस्तावित की थी तथा यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप पत्रक में प्रस्तावित दंड का उल्लेख करके सरकारी कर्मचारी की दोषिता के संबंध में मामले का पूर्व-निर्णय कर लिया था और उसके कारण अनुशासनिक जांच तथा उस जांच के परिणामस्वरूप पारित दंड का आदेश दूषित हो गए थे।

21. प्रस्तुत मामले के संबंध में मेरा यह निष्कर्ष है कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप पत्रक (प्रदर्श सं० 4) में आरोप का वर्णन करने के बाद यह कथन किया है कि तथाकथित कदाचार "स्थायी आदेश" के स्थायी आदेश सं० 34 की परिधि के अंतर्गत आता है तथा प्रत्यर्थी कर्मकार से यह कारण बताने की अपेक्षा की गई है कि उसके तथाकथित आरोप के संबंध में दोषी पाए जाने की स्थिति में उसे सेवा से क्यों न हटा दिया जाए तथा वह अपना उत्तर जांच अधिकारी को 7 दिन के भीतर प्रस्तुत करे। इससे यह दर्शित होगा कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने आरोप पत्रक जारी करते समय प्रत्यर्थी कर्मकार पर अधिरोपित की जाने वाली शास्ति के बारे में अपनी राय कायम कर ली थी तथा उसने तथाकथित शास्ति का उल्लेख आरोप पत्रक में भी कर दिया था। यह एक ऐसा मामला है जो **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सती प्रसाद राय**[2] वाले मामले में निर्दिष्ट किए गए दूसरी श्रेणी के मामलों के अंतर्गत आता है और उस पर **केशरी मल वाले मामले**[1] में न्या० गुप्ता का विनिश्चय ही लागू होता है जो **गौरी प्रसाद घोष** बनाम **पश्चिमी बंगाल राज्य**[3], **मीना जहां** बनाम **उप निदेशक पर्यटन (मुख्यालय) (गृह) (पर्यटन) विभाग, पश्चिमी बंगाल सरकार और अन्य**[4], **पश्चिमी बंगाल राज्य** बनाम **सती प्रसाद राय**[2], **अब्दुल खालिक शेख** बनाम **उपायुक्त, बारामूला**[5], तथा **एम० चिनप्पा रेड्डी** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य और अन्य**[6] वाले मामलों में अन्य उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों के

---

[1] 1979 (3) एस० एल० आर० 1.

[2] 1975 एस० एल० डब्ल्यू० आर० 65.

[3] 1968 लेब एंड इन्ड० केसेज 735.

[4] 1974 (2) एस० एल० आर० 465.

[5] 1974 (1) एस० एल० डब्ल्यू० आर० 14.

[6] ए० आई० आर० 1969 आन्ध्र प्रदेश 234.

अनुरूप है। अत: यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि अनुशासनिक प्राधिकारी ने प्रत्यर्थी कर्मकार के विरुद्ध आरोप पत्रक जारी करते समय उसकी दोषिता के संबंध में पूर्व निर्णय ले लिया था और सहायक डिपो प्रबंधक, जो अनुशासनिक प्राधिकारी का अधीनस्थ है, ने उसके विरुद्ध लगाए गए आरोपों में संबंध में जो जांच की थी वह निष्पक्ष रूप से की गई जांच नहीं कह जा सकती तथा तथाकथित जांच के आधार पर प्रत्यर्थी कर्मकार पर जो दंड अधिरोपित किया गया है वह मान्य नहीं माना जा सकता। इन परिस्थितियों में यह नहीं कहा जा सकता कि श्रम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में कोई विधि संबंधी भूल की है कि प्रत्यर्थी कर्मकार के बारे में इस तथ्य के कारण पूर्व निर्णय ले लिया गया था कि प्रस्तावित दंड का उल्लेख आरोप पत्रक में कर दिया गया था तथा उसके बाद जो कार्यवाही की गई थो वह दूषित कार्यवाही समझी जानी चाहिए। अत: मेरे विचार से श्रम न्यायालय ने उपर्युक्त कारण की वजह से यह अभिनिर्धारित करने में कोई भूल नहीं की है कि प्रत्यर्थी कर्मकार की सेवा के पर्यवसान का आदेश अवैध और अविधिमान्य था। ऐसा कोई मामला साबित नहीं किया गया है जिसके आधार पर श्रम न्यायालय के अधिनिर्णय के साथ सर्शियोरेराई रिट जारी करके हस्तक्षेप किया जा सके।

22. परिणामत: यह रिट पिटीशन असफल होता है और तदनुसार खारिज किया जाता है। पिटीनशर प्रत्यर्थी कर्मकार को खर्चे का संदाय करेंगे। खर्चा 250/- रुपये निर्धारित किया जाता है।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : राजस्थान—223

शरबती बनाम साही राम

(Sharbati *Vs.* Sahi Ram)

तारीख 16 नवंबर, 1983

[न्या० एस० के० मल्ल लोढा]

1. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, धारा 24, सपठित धारा 28—यदि कोई पक्षकार उक्त धारा 24 के अधीन न्यायालय के आदेश का अनुपालन न करे, तो यदि वह अपीलार्थी है तो उसकी अपील खारिज कर दी जानी चाहिए और यदि वह प्रत्यर्थी है तो उसके विरुद्ध अपील मंज़र कर ली जानी चाहिए ।

2. हिन्द विवाह अधिनियम, 1955, धारा 28, सपठित धारा 24—यदि कोई पक्षकार उक्त धारा 24 के अधीन न्यायालय के आदेश का अनुपालन न करे, तो यदि वह अपीलार्थी है तो उसकी अपील खारिज कर दी जानी चाहिए और यदि वह प्रत्यर्थी है तो उसके विरुद्ध अपील मंज़ूर कर ली जानी चाहिए ।

प्रत्यर्थी पति ने दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पिटीशन इस आधार पर फाइल किया था कि अपीलार्थी पत्नी ने बिना युक्तियुक्त हेतुक के उसके सहवास से अपने को अलग कर लिया है। पिटीशन का प्रतिरोध पत्नी ने अनेक आधारों पर किया। विवाद्यक विरचित किए गए और पक्षकारों के साक्ष्य अभिलिखित किए गए। अपर जिला न्यायाधीश ने दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पति के पक्ष में डिक्री दे दी। पत्नी डिक्री से संतुष्ट नही थी और उसने अपील फाइल की। अपील के लंबित रहने के दौरान अपीलार्थी पत्नी ने अधिनियम की धारा 24 के अधीन आवेदन फाइल किया। न्यायालय ने आवेदन का अनुशीलन करने के पश्चात् तथा अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल को सुनने के पश्चात् 8 अक्तूबर, 1980 को निम्नलिखित आदेश पारित किया : "मामले की परिस्थितियों में और प्रत्यर्थी की वित्तीय स्थिति को देखते हुए मैं निदेश देता हूं कि अपीलार्थी को प्रत्यर्थी द्वारा इस अपील के खर्चे के लिए 700/- रुपये तथा इस अपील के लंबित रहने के दौरान उसके भरणपोषण के लिए आवेदन की तारीख से 150/- रुपये प्रति मास की राशि संदत्त की जाएगी ।" ऐसा प्रतीत होता है कि 3 दिसम्बर, 1980 को अपीलार्थी की ओर से ऐसा आवेदन प्रस्तुत किया गया, जिसमें यह प्रार्थना की गई कि प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किया गया अधिनियम की धारा 9 के अधीन

पिटीशन खारिज कर दिया जाए और प्रत्यर्थी को इस न्यायालय के समक्ष कोई प्रतिरक्षा करने से अवरुद्ध कर दिया जाए, क्योंकि उसने भरणपोषण की रकम का तथा मुकद्दमे के खर्चे का संदाय नहीं किया है। चूंकि 5 दिसम्बर, 1980 को कोई भी उपस्थित नहीं था, अतः अन्य आदेशों के साथ-साथ यह आदेश किया गया कि कार्यालय 8 अक्तूबर, 1980 के आदेश की, प्रमाणित प्रति तैयार कराएगा और उसे प्रत्यर्थी को नोटिस के साथ-साथ भेजेगा और उसे यह सूचित करेगा कि उसे 8 अक्तूबर, 1980 के आदेश का अनुपालन, जिसकी प्रति उसको भेजी गई है, नोटिस की तामील के एक मास के भीतर करना होगा। तारीख 18 जुलाई, 1983 के समन और नोटिसों की तामील प्रत्यर्थी पर 27 अगस्त, 1983 को की गई, जिसके द्वारा यह भी सूचित किया गया कि सुनवाई 3 सितम्बर, 1983 को होगी। किन्तु संदाय 5 दिसम्बर, 1980 के आदेश के अनुसार एक मास के भीतर नहीं किया गया। अपील 11 अक्तूबर, 1983 को न्यायालय में सुनवाई के लिए सूचीबद्ध की गई। उस दिन अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने कहा कि 5 दिसम्बर, 1980 के आदेश का अनुपालन प्रत्यर्थी द्वारा नहीं किया गया है और भरणपोषण तथा विधिक खर्चों के लिए कोई भी रकम उस समय तक संदत्त नहीं की गई है। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने अनुदेश प्राप्त करने के लिए एक मास का समय मांगा। न्यायालय ने एक मास का समय दे दिया। अपील की सुनवाई के समय अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह साग्रह निवेदन किया कि चूंकि 8 अक्तूबर, 1980 के आदेश के अनुसार भरणपोषण तथा विधिक खर्चों की रकम का संदाय नहीं किया गया है और न तो निदेशानुसार 5 दिसम्बर, 1980 से एक मास के भीतर ही किया गया है, अतः अपील मंजूर की जानी चाहिए और दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन का पिटीशन खारिज किया जाना चाहिए। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने निवेदन किया है कि 11 दिसम्बर, 1983 के एक-दो दिन पश्चात् ही उन्होंने प्रत्यर्थी को एक पत्र लिख दिया था और उससे कहा था कि वह भरणपोषण तथा विधिक खर्चों के अपीलार्थी को संदाय के संबंध में न्यायालय के आदेश का अनुपालन करे किन्तु उन्हें न तो कोई उस पत्र का उत्तर मिला है और न ही उन्हें इस बात की कोई सूचना है कि भरणपोषण तथा विधिक खर्चों की रकम का संदाय किया गया है अथवा नहीं।

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 24 के उपबन्धों के मात्र अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि यह उपबन्ध ऐसे पति या पत्नी को साधन देने के लिए बनाया गया है, जिसके पास वैवाहिक कार्यवाही का

प्रतिरोध करने के लिए स्वतन्त्र आय का साधन नहीं है । अकिंचन पति या पत्नी को अपेक्षित भरणपोषण तथा मुकदमे के खर्चे दूसरे पक्षकार से प्राप्त कराया जाना चाहिए और यह अधिनियम की धारा 24 के अधीन आवेदन के फाइल किये जाने के शीघ्र ही पश्चात् कराया जाना चाहिए, ताकि अकिंचन पति या पत्नी कार्यवाही के लंबित रहने के दौरान अपना भरणपोषण कर सके और साथ ही वैवाहिक विवाद का प्रतिरोध करने के लिए मुकद्दमे के खर्चों को भी वर्दाश्त कर सके । जहां अधिनियम के अधीन अपील में पति द्वारा आदेशों का पालन न किया जाए, वहां यदि वह अपीलार्थी हो तो उसकी अपील खारिज कर देनी चाहिए और यदि वह प्रत्यर्थी हो तो उसके विरुद्ध अपील मंजूर कर ली जानी चाहिए । यह विधिमान्य मत प्रतीत होता है, क्योंकि यह अधिनियम की धारा 24 के उस निर्वचन के अनुसार है जो इस न्यायालय द्वारा तथा अन्य उच्च न्यायालयों द्वारा किया गया है । इससे अधिनियम की धारा 24 के पीछे उद्देश्य की सिद्धि होती है । (पैरा 13)

		पैरा
[1979]	1979 एच० एल० आर० 258 : मुसम्मात बलबीर कौर **बनाम** गुरदेवसिंह (Mst. Balbir Kaur *Vs.* Gurdev Singh);	8,11,14
[1978]	1978 एच० एल० आर० 251 : श्रीमती बंसो **बनाम** श्री श्रवण (Smt. Banso *Vs.* Shri Shravan) का **अनुसरण** किया गया ।	8,11,14
[1983]	ए० आई० आर० 1983 राजस्थान 229 : भंवरलाल **बनाम** श्रीमती कमलादेवी (Bhanwar Lal *Vs.* Smt. Kamla Devi);	8
[1980]	1980 वीकली ला नोट्स (यू० सी०) 82 : जयशंकर **बनाम** चंद्रेश (Jai Shanker *Vs.* Chandresh);	8,9,12
[1977]	ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 176 : श्रीमती चित्रलेखा **बनाम** रणजीतराय (Smt. Chitralekha *Vs.* Ranjit Rai); का **अवलम्ब** लिया गया ।	13
[1978]	ए० आई० आर० 1978 मध्य प्रदेश 45 : जय सिंह **बनाम** श्रीमती होमीं भिक्लू (Jai Singh *Vs.* Smt. Homin Bhiklu);	12
[1976]	ए० आई० आर० 1976 दिल्ली 246 : अनुराधा	12

बनाम संतोष नाथ (Anuradha *Vs.* Santosh Nath);

[1973] ए० आई० आर० 1973 पंजाब-हरियाणा 40 : श्री राम स्वरूप **बनाम** श्रीमती जनक (Shri Ram Swarup *Vs.* Smt. Janak); 12

[1975] 1983 के आदेश से प्रथम अपील सं० 70-एम जिसका विनिश्चय तारीख 25 अगस्त, 1975 को किया गया : सुरेन्द्र कुमार **बनाम** श्रीमती शारदा रानी (Surender Kumar *Vs.* Smt. Sharda Rani); 11

[1969] ए० आई० आर० 1969 मैसूर 76 : रामचंद्र राव **बनाम** कौशल्या (Ram Chandra Rao *Vs.* Kaushalya); 12

[1962] ए० आई० आर० 1962 कलकत्ता 88 : श्रीमती अनिता **बनाम** सिरेन्द्र चन्द्र (Smt. Anita *Vs.* Sirender Chander); 12

[1961] ए० आई० आर० 1961 पंजाब 42 : मलकान रानी **बनाम** कृष्ण कुमार (Malkan Rani *Vs.* Krishan Kumar) 12

निर्दिष्ट किए गए।

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 1979 का एकल न्यायपीठ सिविल प्रकीर्ण अपील सं० 115.

हनुमानगढ़ के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश सं० 2 द्वारा 1979 के सिविल प्रकीर्ण मामला सं० 1 में 26 अक्तूबर, 1979 को पारित डिक्री तथा निर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री बी० आर० अरोड़ा

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री बी० एन० कल्ला

न्या० एस० के० मल्ल लोढ़ा :

यह हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (1955 का 25) (जिसे इसमें इसके पश्चात् संक्षिप्ततः "अधिनियम" कहा जाएगा) की धारा 28 के अधीन पत्नी द्वारा अपील हनुमानगढ़ के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश सं० 2 द्वारा 26 अक्तूबर, 1979 को पारित निर्णय तथा डिक्री के विरुद्ध की गई है। यह डिक्री

अधिनियम की धारा 9 के अधीन दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पिटीशन के फलस्वरूप दी गई थी।

2. प्रत्यर्थी पति ने 28 नवंबर, 1978 को दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पिटीशन इस आधार पर फाइल किया था कि अपीलार्थी पत्नी ने बिना युक्तियुक्त हेतुक के उसके सहवास से अपने को अलग कर लिया है। पिटीशन का प्रतिरोध पत्नी ने अनेक आधारों पर किया। विवाद्यक विरचित किए गए और पक्षकारों के साक्ष्य अभिलिखित किए गए। हनुमानगढ़ के विद्वान् अपर जिला न्यायाधीश सं० 2 ने अपने 26 अक्तूबर, 1979 के निर्णय द्वारा दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पति के पक्ष में डिक्री दे दी। पत्नी डिक्री से संतुष्ट नहीं थी और उसने पूर्वोक्त अपील फाइल की।

3. अपील के लंबित रहने के दौरान अपीलार्थी पत्नी ने अधिनियम की धारा 24 के अधीन आवेदन फाइल किया। न्यायालय ने आवेदन का अनुशीलन करने के पश्चात् तथा अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल को सुनने के पश्चात् 8 अक्तूबर, 1980 को निम्नलिखित आदेश पारित किया :—

> "मामले की परिस्थितियों में और प्रत्यर्थी की वित्तीय स्थिति को देखते हुए मैं निदेश देता हूं कि अपीलार्थी को प्रत्यर्थी द्वारा इस अपील के खर्चे के लिए 700/- रुपये तथा इस अपील के लंबित रहने के दौरान उसके भरणपोषण के लिए आवेदन की तारीख से 150/- रुपये प्रति मास की राशि संदत्त की जाएगी।"

ऐसा प्रतीत होता है कि 3 दिसंबर, 1980 को अपीलार्थी की ओर से एक आवेदन प्रस्तुत किया गया, जिसमें यह प्रार्थना की गई कि प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किया गया अधिनियम की धारा 9 के अधीन पिटीशन खारिज कर दिया जाए और प्रत्यर्थी को इस न्यायालय के समक्ष कोई प्रतिरक्षा करने से अवरुद्ध कर दिया जाए, क्योंकि उसने भरणपोषण की रकम का तथा मुकदमे के खर्चे का संदाय नहीं किया है।

4. चूंकि 5 दिसम्बर, 1980 को कोई भी उपस्थित नहीं था, अतः अन्य आदेशों के साथ-साथ यह आदेश किया गया कि कार्यालय 8 अक्तूबर, 1980 के आदेश की प्रमाणित प्रति तैयार कराएगा और उसे प्रत्यर्थी को नोटिस के साथ-साथ भेजेगा और उसे यह सूचित करेगा कि उसे 8 अक्तूबर, 1980 के आदेश का, अनुपालन जिसकी प्रति उसको भेजी गई है, नोटिस की तामील के एक मास के भीतर करना होगा। तारीख 18 जुलाई, 1983 के समन और नोटिसों की तामील प्रत्यर्थी पर 27 अगस्त, 1983 को की गई, जिसके द्वारा यह भी सूचित किया गया कि सुनवाई 3 सितम्बर, 1983 को होगी।

किन्तु संदाय 5 दिसम्बर, 1980 के आदेश के अनुसार एक मास के भीतर नहीं किया गया। अपील 11 अक्तूबर, 1983 को न्यायालय में सुनवाई के लिए सूचीबद्ध की गई। उस दिन अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने कहा कि 5 दिसम्बर, 1980 के आदेश का अनुपालन प्रत्यर्थी द्वारा नहीं किया गया है और भरणपोषण तथा विधिक खर्चों के लिए कोई भी रकम उस समय तक संदत्त नहीं की गई है। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० एन० कल्ला ने अनुदेश प्राप्त करने के लिए एक मास का समय मांगा। न्यायालय ने एक मास का समय दे दिया। अब अपील आज सुनवाई पर आई है।

5. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० आर० अरोड़ा ने यह साग्रह निवेदन किया कि चूंकि 8 अक्तूबर, 1980 के आदेश के अनुसार भरणपोषण तथा विधिक खर्चों की रकम का संदाय नहीं किया गया है और न तो निदेशानुसार 5 दिसंबर, 1980 से एक मास के भीतर ही किया गया है, अत अपील मंजूर की जानी चाहिए और दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन का पिटीशन खारिज किया जाना चाहिए।

6. प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० एन० कल्ला ने निवेदन किया है कि 11 दिसम्बर, 1983 के एक-दो दिन पश्चात् ही उन्होंने प्रत्यर्थी को एक पत्र लिख दिया था और उससे कहा था कि वह भरणपोषण तथा विधिक खर्चों के अपीलार्थी को संदाय के संबंध में न्यायालय के आदेश का अनुपालन करे किन्तु उन्हें न तो कोई उस पत्र का उत्तर मिला है और न ही उन्हें इस बात की कोई सूचना है कि भरणपोषण तथा विधिक खर्चों की रकम का संदाय किया गया है अथवा नहीं।

7. ऐसी परिस्थितियों में अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि भरणपोषण तथा विधिक खर्चों की रकम का न्यायालय के आदेशानुसार संदाय नहीं किया गया है और इस प्रकार उस आदेश का अननुपालन हुआ है।

8. अब इन परिस्थितियों में यह प्रश्न उठता है कि क्या आदेश पारित किया जाए। अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री बी० आर० अरोड़ा ने **जय शंकर** बनाम **चन्द्रेश**[1], **श्रीमती बंसो** बनाम **श्री श्रवण**[2] तथा **मुसम्मात बलबीर कौर** बनाम **गुरदेव सिंह**[3], प्रोद्धृत किए हैं।

---

[1] 1980 वीकली ला नोट्स (यू०सी०) 82.

[2] 1978 एच० एल० आर० 251.

[3] 1979 एच० एल० आर० 258.

9. **जय शंकर**[1] के मामले में पति अपीलार्थी था और पत्नी प्रत्यर्थी थी। न्यायालय ने अपील के लंबित रहने के दौरान पति को यह निदेश किया कि वह प्रत्यर्थी को अपील का विरोध करने के लिए वकील की फीस के रूप में 330/- रुपये का तथा आनुषंगिक खर्चों के रूप में 120/- रुपये का संदाय करे। इस प्रकार उसे कुल 450/- रुपये का संदाय करने के लिए एक मास का समय दिया गया। आदेश का अनुपालन नहीं किया गया। यह दलील दी गई कि अपीलार्थी को अपनी अपील के समर्थन में सुनवाई का हक नहीं था, क्योंकि उसने न्यायालय के उस आदेश का जानबूझ कर उल्लंघन किया था, जिसमें उसे प्रत्यर्थी को संदाय करने का निदेश दिया गया था। खंड न्यायपीठ ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमारा यह विचार है कि न्यायालय के आदेश के अनुपालन के आधार पर अपील की सुनवाई रोकने का निदेश करने से कोई उपादेय प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। धारा 24 के पीछे विधानमंडल का आशय स्पष्ट है और वह यह है कि यदि पति पत्नी में से कोई वैवाहिक मामले का न्यायालय में प्रतिवाद करने के लिए आवश्यक खर्चे दिए जाने के योग्य है तो न्यायालय को उस आशय का आदेश करना चाहिए ताकि प्रभावित पति या पत्नी अपने पक्षकथन को न्यायालय के समक्ष प्रभावी रूप में प्रस्तुत कर सके। परिणामतः हमारी यह राय है कि न्यायोचित और उचित मार्ग मात्र यह होगा कि न्यायालय के आदेश का अनुपालन करने के लिए न्याय के हित में अपीलार्थी को एक या दो बार अवसर दिया जाए और यदि आदेश का अनुपालन नहीं किया जाता है तो अंतिम अवसर देते समय यह स्पष्ट कर दिया जाए कि अनुपालन न किए जाने की दशा में अपील खारिज कर दी जाएगी।"

न्यायालय ने यह निदेश किया कि अपीलार्थी 6 नवम्बर, 1979 के न्यायालय के आदेश के अनुसार 15 अप्रैल, 1980 (मंगलवार) को या उससे पूर्व प्रत्यर्थी से रसीद लेकर उसे रकम का संदाय कर दे और उसमें असफल होने की दशा में अपील खारिज हो जाएगी। **जय शंकर के मामले**[1] में विद्वान् न्यायाधीश ने अपील की कार्यवाही को रोकने का आदेश नहीं किया किन्तु यह आज्ञापक आदेश किया कि यदि आदेश का अनुपालन नहीं किया जाएगा तो अपील खारिज हो जाएगी।

---

[1] 1980 वीकली ला नोट्स (यू० सी०) 82.

10. **श्रीमती बंसो**[1] के मामले के तथ्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है। अधिनियम की धारा 10 के अधीन प्रत्यर्थी पति के विरुद्ध न्यायिक पृथक्करण के लिए आवेदन खारिज कर दिया गया। पत्नी ने अपील फाइल की। उसने अधिनियम की धारा 24 के अधीन मुकदमे के खर्चे तथा वाद के लंबित रहने के दौरान भरणपोषण के लिए आवेदन प्रस्तुत किया। आवेदन मंजूर कर लिया गया। आदेश का पालन नहीं किया गया। अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने न्यायालय के समक्ष यह दलील दी कि प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी को वाद के लंबित रहने के दौरान कोई भरणपोषण नहीं दिया है। प्रत्यर्थी की ओर से उसके काउंसेल द्वारा यह कहा गया कि उसे पत्र लिख दिए गए थे, किन्तु उसे इस बात की कोई सूचना नहीं है कि प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी को भरणपोषण भत्ते का संदाय किया है अथवा नहीं। **सुरेन्द्र कुमार** बनाम **श्रीमती शारदा रानी**[2] का अवलंब लेते हुए पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने अपील मंजूर कर ली और डिक्री को अपास्त कर दिया तथा अधिनियम की धारा 10 के अधीन प्रत्यर्थी के विरुद्ध न्यायिक पृथक्करण का पिटीशन डिक्री कर दिया।

11. जहां तक **मुसम्मात बलबीर कौर**[3] के मामले का सम्बन्ध है, वह लगभग प्रस्तुत मामले जैसा ही है। उस मामले में, प्रत्यर्थी पति ने अधिनियम की धारा 9 के अधीन अपीलार्थी पत्नी के विरुद्ध दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पिटीशन फाइल किया था। पिटीशन मंजूर कर लिया गया और दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित कर दी गई। अपीलार्थी पत्नी ने अधिनियम की धारा 28 के अधीन उस डिक्री को चुनौती देते हुए अपील फाइल की। अपील के लंबित रहने के दौरान वाद के लंबित रहने के दौरान भरणपोषण तथा मुकदमे के खर्चे के लिए आवेदन फाइल किया गया। न्यायालय ने आवेदन मंजूर कर लिया और अपीलार्थी को वाद के लंबित रहने के दौरान भरणपोषण के लिए तथा मुकदमों के खर्चों के लिए संदाय के लिए आदेश किया। जब अपील सुनवाई पर आई तो अपीलार्थी की ओर से यह निवेदन किया गया कि प्रत्यर्थी पति ने भरणपोषण तथा मुकदमे के खर्चे के लिए किसी रकम का तब तक संदाय नहीं किया था। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल ने समय लिया। अपील स्थगित कर दी गई। जब अगली तारीख पर अपील

---

[1] 1978 एच० एल० आर० 251.

[2] 1983 के आदेश से प्रथम अपील सं० 70-एम जिसका विनिश्चय तारीख 25 अगस्त, 1975 को किया गया।

[3] 1979 एच० एल० आर० 258.

सुनवाई के लिए आई तो अपीलार्थी की ओर से वही दलील दी गई। यह दलील दी गई कि न्यायालय के आदेश के अनुसरण में अपीलार्थी को किसी रकम का कोई संदाय नहीं किया गया है। प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने कहा कि उसने रजिस्ट्रीकृत पत्र भेज दिया था, किन्तु उसे अभी तक कोई भी उत्तर नहीं मिला है, अत: वह अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल की दलील को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की स्थिति में नहीं है। विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल की दलील पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि न्यायालय के आदेश के बावजूद भी प्रत्यर्थी ने आदेश के अनुपालन की परवाह नहीं की है और उसने भरणपोषण तथा मुकदमे के खर्चे के लिए कोई भी संदाय नहीं किया है। **सुरेन्द्र कुमार**[1] के मामले तथा **श्रीमती बंसो**[2] के मामले का अवलंब लेते हुए विद्वान् न्यायाधीश ने अपील मंजूर कर ली और यह आदेश किया कि अधिनियम की धारा 9 के अधीन पिटीशन, जो प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किया गया था, खर्चे सहित खारिज कर दिया जाए। दूसरे शब्दों में, उसने अपीलार्थी पत्नी की ओर से दी गई दलील स्वीकार कर ली कि अपील उसके गुणागुण पर विचार किए विना मंजूर की जानी चाहिए।

12. **जय शंकर**[3] के मामले में खंड न्यायपीठ के समक्ष अपीलार्थी के विद्वान काउंसेल ने **मलकान रानी** बनाम **कृष्ण कुमार**[4], **श्रीमती अनिता** बनाम **सिरेन्द्र चंद्र**[5], **राम चंद्र राव** बनाम **कौशल्या**[6] तथा **अनुराधा** बनाम **संतोष नाथ**[7] को अपनी इस दलील के समर्थन में प्रोद्धृत किया कि अपील की कार्यवाही को तव तक के लिए रोक दिया जाए जब तक कि आदेश का अनुपालन नहीं किया जाता है। प्रत्यर्थी की ओर से श्री **रामस्वरूप** बनाम **श्रीमती जनक**[8] तथा **जय सिंह** बनाम **श्रीमती होमीं भिक्लू**[9] का अवलंब लिया गया। खंड न्यायपीठ ने **जय सिंह के मामले**[9] में यह मत व्यक्त किया था कि कार्यवाही के रोके जाने से

---

[1] 1983 के आदेश से प्रथम अपील सं० 70-एम जिसका विनिश्चय तारीख 25 अगस्त, 1975 को किया गया।

[2] 1978 एच० एल० आर० 251.

[3] 1980 वीकली ला नोट्स (यू० सी०) 82.

[4] ए० आई० आर० 1961 पंजाब 42.

[5] ए० आई० आर० 1962 कलकत्ता 88.

[6] ए० आई० आर० 1969 मैसूर 76.

[7] ए० आई० आर० 1976 दिल्ली 246.

[8] ए० आई० आर० 1973 पंजाब-हरियाणा 40.

[9] ए० आई० आर० 1978 एम० पी० 45.

न्यायालय की आदेशिका के दुरुपयोग को निवारित नहीं किया जा सकता और न ही उससे न्याय के उद्देश्य की पूर्ति होगी, क्योंकि यह ऐसी रोक होगी, जिसे पति वस्तुतः चाहता था, जिसने न्यायिक पृथक्करण के पिटीशन का प्रतिरोध किया है। यह भी मत व्यक्त किया गया कि दोनों की आनुकल्पिक उपचारों अर्थात् निष्पादन के उपचार तथा न्यायालय अवमान की कार्यवाही प्रारम्भ करने के उपचार का परिणाम न्याय की विफलता होगी और इससे उस प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी, जिसके लिए धारा 24 अधिनियमित की गई।

13. **श्रीमती चित्रलेखा** बनाम **रणजीत राय**[1] के प्रति निर्देश करना उपादेय होगा, जिसमें अधिनियम की धारा 24 पर विचार करते समय विद्वान् न्यायाधीश ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "विधि के उपबन्ध के पीछे उद्देश्य यह है कि कार्यवाही लंबित रहने के दौरान निर्धन ऐसे पति या पत्नी को जो स्वयं का भरणपोषण करने में असमर्थ हो वित्तीय सहायता दी जाए ताकि वह मुकदमेबाजी के खर्चे को या कार्यवाही का प्रतिवाद करने के खर्चे को बर्दाश्त कर सके और इस प्रकार धन की कमी के कारण अपने मामले की पैरवी करने में उस पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।"

इस विनिश्चय की अपेक्षा **भंवर लाल** बनाम **श्रीमती कमला देवी**[2] में किया गया था और विद्वान् न्यायाधीश ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "अधिनियम की धारा 24 के उपबंधों के मात्र अनुशीलन से यह प्रतीतहोता है कि यह उपबंध ऐसे पति या पत्नी को साधन देने के लिए बनाया गया है जिस के पास वैवाहिक कार्यवाही का प्रतिरोध करने के लिए स्वतंत्र आय का साधन नहीं है। अकिंचन पति या पत्नी को अपेक्षित भरणपोषण तथा मुकदमे के खर्चे दूसरे पक्षकार से प्राप्त कराया जाना चाहिए और यह अधिनियम की धारा 24 के अधीन आवेदन के फाइल किए जाने के शीघ्र ही पश्चात् कराया जाना चाहिए ताकि अकिंचन पति या पत्नी कार्यवाही के लंबित रहने के दौरान अपना भरणपोषण कर सके और साथ ही वैवाहिक विवाद का प्रतिरोध करने के लिए मुकदमे के खर्चों को भी बर्दाश्त कर सके।"

ऐसा प्रतीत होता है कि पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय का मत यह है कि जहां अधिनियम के अधीन अपील में पति द्वारा आदेशों का पालन न

---

[1] ए० आई० आर० 1977 दिल्ली 176.

[2] ए०.आई० आर० 1983 राजस्थान 229.

किया जाए, वहां यदि वह अपीलार्थी हो तो उसकी अपील खारिज कर देनी चाहिए और यदि वह प्रत्यर्थी हो तो उसके विरुद्ध अपील मंजूर कर ली जानी चाहिए। यह विधिमान्य मत प्रतीत होता है, क्योंकि यह अधिनियम की धारा 24 के उस निर्वचन के अनुसार है जो इस न्यायालय द्वारा तथा अन्य उच्च न्यायालयों द्वारा किया गया है। इससे अधिनियम की धारा 24 के पीछे उद्देश्य की सिद्धि होती है। मैं **श्रीमती बंसो**[1] के मामले में तथा **श्रीमती बलबीर कौर**[2] के मामले में अपनाए गए विचार से सादर सहमत हूं।

14. प्रत्यर्थी ने न्यायालय के 5 दिसम्बर, 1980 के आदेश का अनुपालन नहीं किया है जिसके द्वारा उसे भरणपोषण तथा मुकदमे के खर्चे की रकम के संदाय हेतु एक मास का समय दिया गया था। उसने भरणपोषण या मुकदमे के खर्चे के मद्दे एक भी पैसे का संदाय नहीं किया है। अधिनियम की धारा 24 के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए तथा **श्रीमती बंसो**[1] के मामले तथा **श्रीमती बलबीर कौर**[2] के मामले का अनुसरण करते हुए अपील मंजूर की जानी चाहिए।

15. परिणामस्वरूप अपील मंजूर की जाती है और अधिनियम की धारा 9 के अधीन प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किया गया पिटीशन खारिज किया जाता है। इस अपील के खर्चे के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

अपील मंजूर की गई।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : राजस्थान—233

जसवंत सिंह और अन्य बनाम राजस्व बोर्ड

(Jaswant Singh and others *Vs*. Board of Revenue)

तारीख 18 नवंबर, 1983

[न्या० डी० एल० मेहता]

राजस्थान काश्तकारी (भू-अभिधृति) अधिनियम, 1955, धारा 88, सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 9— यदि किसी काश्तकारी के

---

[1] 1978 एच० एल० आर० 251.

[2] 1979 एच० एल० आर० 258.

संबंध में काश्तकार या सहकाश्तकार होने तथा उसके कब्जे की घोषणा के मुख्य अनुतोष के लिए वाद हो तो आनुषंगिक अनुतोषों के सिविल न्यायालय द्वारा विचारणीय होने के बावजूद वाद राजस्व न्यायालय में ही चलेगा ।

2. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 9, सपठित राजस्थान काश्तकारी (भू-अभिधृति) अधिनियम, 1955, धारा 88—यदि किसी काश्तकारी के संबंध में काश्तकार या सहकाश्तकार होने तथा उसके कब्जे की घोषणा के मुख्य अनुतोषों के लिए वाद हो तो आनुषंगिक अनुतोषों के सिविल न्यायालय द्वारा विचारणीय होने के बावजूद वाद राजस्व न्यायालय में ही चलेगा ।

प्रत्यर्थी सं० 3 ने उपखण्ड अधिकारी के न्यायालय में यह अभिकथन करते हुए वाद फाइल किया कि उसके पति की मृत्यु हो गई थी और उसे कोई संतान नहीं थी, इसलिए उसके पति के सभी अधिकार उस पर न्यागत हो गए। यह भी अभिकथन किया गया कि किसी व्यक्ति ने उसके नाम से पिटीशनर के पक्ष में विक्रय-विलेख निष्पादित कर दिया। यह निवेदन किया गया कि उसने पिटीशनर के पक्ष में कोई विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया है। वाद में उसने इस आशय की घोषणा की प्रार्थना की कि वादी (प्रत्यर्थी सं० 3) वाद पत्र में निर्दिष्ट कृषि भूमि की काश्तकार है और पिटीशनर का उक्त भूमि में कोई अधिकार या हित नहीं है। वाद पत्र में कब्जे के अनुतोष की भी प्रार्थना की गई। उसने यह भी प्रार्थना की कि उसे राजस्थान भू राजस्व अधिनियम तथा राजस्थान भू राजस्व नियमावली के उपबन्धों के अनुसार प्रतिकर भी दिलाया जाए। वाद राजस्व न्यायालयों द्वारा डिक्री कर दिया गया। पिटीशनर ने राजस्व न्यायालयों के निर्णय को रिट पिटीशन द्वारा चुनौती दी। उसकी यह दलील थी कि उक्त वाद राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, 1955 के अध्याय 8 के अधीन घोषणा से सम्बद्ध उपबंधों के अंतर्गत नहीं आता। अतः राजस्व न्यायालयों द्वारा विचारणीय नहीं था। प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से यह दलील दी गई कि विक्रय-विलेख के रद्दकरण की कोई प्रार्थना नहीं की गई थी और न ही विक्रय-विलेख पिटीशनर द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा घोषणा इस आधार पर ईप्सित थी कि उसके पति की मृत्यु हो गई थी और संपत्ति उत्तराधिकार के रूप में उस पर न्यागत हो गई थी।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

राजस्थान काश्तकारी (भू-अभिधृति) अधिनियम, 1955 की धारा 88 अधिकार की घोषणा के सम्बन्ध में है। इसमें यह उपबन्ध किया गया है

कि काश्तकार या सहकाश्तकार होने का दावा करने वाला कोई व्यक्ति इस घोषणा के लिए वाद कर सकता है कि वह काश्तकार है अथवा वह संयुक्त काश्तकारी में अपने अंश की घोषणा के लिए भी वाद कर सकता है। अधिनियम की धारा 88 काश्तकारी के सम्बन्ध में काश्तकार के अधिकार को निर्बन्धित नहीं करती और उस पर किसी प्रकार की कोई शर्त नहीं लगाई गई है। जब कभी कोई काश्तकार इसे आवश्यक या सुविधापूर्ण समझता है कि अपनी समस्याओं के आधार पर उसे घोषणा के लिए आवेदन करना चाहिए, वह घोषणा के लिए वाद फाइल करने का हकदार है। काश्तकार मात्र इस बात की घोषणा की प्रार्थना कर सकता है कि वह काश्तकार है अथवा वह संयुक्त काश्तकारी में अपने अंश की घोषणा की प्रार्थना कर सकता है। प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी सं० 3 ने इस घोषणा की प्रार्थना की है कि वह काश्तकार है। अतः प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल किया गया वाद अधिनियम की धारा 88 की परिधि में आता है। इसके अतिरिक्त अधिनियम की धारा 89 में यह उपबन्ध है कि काश्तकारी के चलते रहने के दौरान किसी भी समय काश्तकार अथवा राज्य सरकार से भिन्न भूधारक उसमें निर्दिष्ट सभी या किन्हीं बातों की घोषणा के लिए वाद कर सकता है। इस प्रकार काश्तकार इस बात की घोषणा प्राप्त कर सकता है कि वह काश्तकार है और वह विनिर्दिष्ट क्षेत्र में भूधृति के भूखंडों या स्वामियों के काश्तकार के रूप में रह रहा है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि घोषणा के लिए वाद उस दशा में नहीं हो सकता, जबकि कोई पक्षकार यह निवेदन करे कि दूसरे पक्षकार ने अस्तित्वहीन दस्तावेज का प्रयोग किया है और वह यह घोषणा चाहता है कि वह उक्त भूमि का अधिकारवान् काश्तकार है। अपरंच, प्रस्तुत मामले में कब्जे का अनुतोष तथा अन्य आनुषंगिक अनुतोष भी मांगे गए हैं। मैंने वाद पत्र (प्रदर्श-1) की प्रति का अनुशीलन कर लिया है। वादपत्र के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि वादी (प्रत्यर्थी सं०3) यह निवेदन करना चाहता है कि प्रस्तुत पिटीशनर के पक्ष में कोई भी विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया गया है। प्रार्थित अन्य अनुतोष कब्जे तथा नुकसानी के लिए हैं। इस प्रकार मुख्य अनुतोष कब्जे के सम्बन्ध में है और यह मामला मात्र घोषणा का नहीं है। वादी को कब्जा देने के लिए काश्तकारी के वर्ग का अवधारण करना होगा। काश्तकारी के वर्गों तथा काश्तकारी के अधिकारों का अवधारण केवल राजस्व न्यायालय ही कर सकता है और इस सम्बन्ध में सिविल न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं होती। अतः काश्तकारी के वर्ग का अवधारण तथा काश्तकारी के अधिकार का अवधारण कब्जे के सम्बन्ध में मुख्य अनुतोष देने से पूर्व अवश्य ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार मुख्य अनुतोष कब्जे के सम्बन्ध

में है और उस प्रयोजन के लिए आनुषंगिक अनुतोष काश्तकार के अधिकार का अवधारण है। वादी के अधिकार का अवधारण इस तथ्य का अवधारण है कि कौन भूधारक है और कौन राज्य का काश्तकार है, सभी प्रयोजनों के लिए आवश्यक है और घोषणा के पश्चात् ही कब्जा दिया जा सकता है। यदि कोई पक्षकार कब्जे के सम्बन्ध में अनुतोष चाहता है और घोषणा के सम्बन्ध में कोई प्रार्थना नहीं करता है तो सिविल न्यायालय को कोई भी अधिकारिता नहीं होती है। प्रस्तुत मामले में काश्तकारी के आधार पर कब्जे के अधिकार के अवधारण के प्रयोजन के लिए काश्तकारी के अधिकार के अवधारण का प्रश्न आवश्यक है और इस प्रयोजन के लिए भी मुख्य अनुतोष कब्जे का है। कोई पक्षकार इस बात की घोषणा चाह सकता है कि निष्पादित दस्तावेज शून्य है। पक्षकार यह भी प्रार्थना कर सकता है कि दस्तावेज रद्द कर दिया जाए। किन्तु कोई पक्षकार ऐसे दस्तावेज का रद्दकरण नहीं चाह सकता, जो उसके अनुसार अस्तित्व में ही नहीं है। (पैरा 5)

किसी दस्तावेज की शून्यकरणीयता का प्रश्न केवल तभी उठता है, जब दस्तावेज के अस्तित्व का प्रश्न स्वीकार कर लिया जाए। प्रस्तुत मामले में, वादी (प्रत्यर्थी सं० 3) का निवेदन है कि उसने सम्बद्ध दस्तावेज निष्पादित नहीं किया है। अतः उस दस्तावेज की शून्यता या शून्यकरणीयता का प्रश्न उठता ही नहीं। यहां अंतर्वलित प्रश्न यह है कि क्या दस्तावेज का निष्पादन किया गया है अथवा नहीं और यदि दस्तावेज निष्पादन सम्बद्ध पक्षकार द्वारा नहीं किया गया है तो दस्तावेज प्रारम्भतः अस्तित्वहीन है और कोई भी यह प्रार्थना नहीं कर सकता कि प्रारम्भतः अस्तित्वहीन दस्तावेज को रद्द किया जाए। (पैरा 6)

		पैरा
[1977]	1977 वीकली ला नोट्स (यू० सी०) 454 : संग्राम सिंह **बनाम** रूप लाल (Sangram Singh *Vs.* Roop Lal) का **अवलंब** लिया गया।	6
[1979]	ए०आई०आर० 1979 राजस्थान 142 : बद्री लाल **बनाम** मोदा (Badri Lal *Vs.* Mauda);	6
[1977]	ए०आई०आर० 1977 राजस्थान ला वीकली 131 : श्याम कुमार **बनाम** बुध सिंह (Shyam Kumar *Vs.* Budh Singh);	6
[1962]	ए०आई०आर० 1962 राजस्थान 91 : गुरचरण सिंह **बनाम** गुरदयाल कौर (Gurcharan Singh *Vs.* Gurdayal Kaur);	6

निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक (सिविल) रिट अधिकारिता : 1983 का एकल न्यायाधीश सिविल रिट पिटीशन सं० 678, जिसके साथ 1983 के एकल न्यायपीठ सिविल रिट पिटीशन सं० 698 तथा 699 की भी सुनवाई की गई ।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनरों की ओर से … श्री एस०एन० शर्मा (श्री एच०एस० सन्धू की ओर से)

प्रत्यर्थी स० 3 की ओर से … श्री बी० आर० अरोड़ा तथा श्री के० आर० चौधरी

न्या० डी०एल० मेहता :

मैंने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों की सुनवाई कर ली है । पिटीशनर ने 11 जून, 1982 के राजस्थान राजस्व बोर्ड (अजमेर) के आदेश (प्रदर्श 3) को चुनौती दी है । उसने यह भी प्रार्थना की है कि यह घोषित किया जाए कि प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल किया गया वाद (प्रदर्श 1) राजस्व न्यायालय द्वारा विचारणीय नहीं है और उसका विचारण केवल सिविल न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । रिट पिटीशन में और भी आनुषंगिक प्रार्थनाएं की गई हैं ।

2. प्रत्यर्थी सं० 3 ने हनुमानगढ़ के उपखण्ड अधिकारी के न्यायालय में वाद फाइल किया । उक्त वाद के पैरा 2 में यह अभिकथन किया गया है कि 22 सितम्बर, 1979 को उसके (प्रत्यर्थी सं० 3 के) पति की मृत्यु हो गई थी और उसे कोई संतान नहीं थी इसलिए उसके पति के सभी अधिकार उस पर न्यागत हो गए । वादपत्र के पैरा 4 में यह निवेदन किया गया है कि 4 जुलाई, 1980 को किसी व्यक्ति ने उसके नाम से पिटीशनर के पक्ष में विक्रय-विलेख निष्पादित कर दिया । यह निवेदन किया गया है कि उसने पिटीशनर के पक्ष में कोई विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया है । वाद में उसने इस आशय की घोषणा की प्रार्थना की है कि वादी (प्रत्यर्थी सं० 3) वादपत्र में निर्दिष्ट कृषिक भूमि की काश्तकार है और पिटीशनर का उक्त भूमि में कोई अधिकार या हित नहीं है । वादपत्र में कब्जे के अनुतोष की भी प्रार्थना की गई । उसने यह भी प्रार्थना की है कि उसे राजस्थान भू-राजस्व अधिनियम तथा राजस्थान भू-राजस्व नियमावली के उपबन्धों के अनुसार प्रतिकर भी दिलाया जाए ।

3. पिटीशनर के विद्वान काउंसेल ने राजस्व बोर्ड के निर्णय को चुनौती दी है और यह निवेदन किया है कि वाद राजस्व न्यायालय द्वारा विचारणीय नहीं है। उसका निवेदन यह है कि राजस्थान काश्तकारी (भू अभिधृति) अधिनियम, 1955 (संक्षेप में 'अधिनियम') के अध्याय 8 के अधीन घोषणा से सम्बद्ध वाद फाइल किए जाते हैं और प्रस्तुत वाद अधिनियम के अध्याय 8 के किसी भी उपबन्ध की परिधि में नहीं आता। अतः घोषणा के लिए वाद चलने योग्य नहीं है। विद्वान् काउंसेल के अनुसार प्रस्तुत मामले में मुख्य अनुतोष विक्रय-विलेख का रद्दकरण है और घोषणा तथा कब्जा पारिणामिक अनुतोष हैं।

4. दूसरी ओर, प्रत्यर्थी सं० 3 के विद्वान् काउन्सेल श्री वी० आर० अरोड़ा का निवेदन है कि विक्रय-विलेख के रद्दकरण की कोई प्रार्थना नहीं की गई है और विक्रय-विलेख पिटीशनर द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत भी नहीं किया गया है। उसका निवेदन है कि विक्रय-विलेख के रद्दकरण से सम्बद्ध अनुतोष की प्रार्थना नहीं की गई है। अतः उसके सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने की आवश्यकता ही नहीं है। श्री अरोड़ा के अनुसार मुख्य अनुतोष घोषणा तथा कब्जे के लिए है और वाद के निपटारे के लिए विक्रय-विलेख के निष्पादन का प्रश्न आवश्यक नहीं है। श्री अरोड़ा का निवेदन है कि प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा घोषणा इस आधार पर ईप्सित है कि उसके पति की मृत्यु हो गई है और सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में उस पर न्यागत हो गई है।

5. अधिनियम की धारा 88 अधिकार की घोषणा के सम्बन्ध में है। इसमें यह उपबन्ध किया गया है कि काश्तकार या सहकाश्तकार होने का दावा करने वाला कोई व्यक्ति इस घोषणा के लिए वाद कर सकता है कि वह काश्तकार है अथवा वह संयुक्त काश्तकारी में अपने अंश की घोषणा के लिए भी वाद कर सकता है। अधिनियम की धारा 88 काश्तकारी के सम्बन्ध में काश्तकार के अधिकार को निर्बन्धित नहीं करती और उस पर किसी प्रकार की कोई शर्त नहीं लगाई गई है। जब कभी कोई काश्तकार इसे आवश्यक या सुविधापूर्ण समझता है कि अपनी समस्याओं के आधार पर उसे घोषणा के लिए आवेदन करना चाहिए, वह घोषणा के लिए वाद फाइल करने का हकदार है। काश्तकार मात्र इस बात की घोषणा की प्रार्थना कर सकता है कि वह काश्तकार है अथवा वह संयुक्त काश्तकारी में अपने अंश की घोषणा की प्रार्थना कर सकता है। प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी सं० 3 ने इस घोषणा की प्रार्थना की है कि वह काश्तकार है। अतः प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा फाइल किया गया वाद अधिनियम की धारा 88 की परिधि में आता है। इसके अतिरिक्त

अधिनियम की धारा 89 में यह उपबन्ध है कि काश्तकारी के चलते रहने के दौरान किसी भी समय काश्तकार अथवा राज्य सरकार से भिन्न भूधारक उसमें निर्दिष्ट सभी या किन्हीं बातों की घोषणा के लिए वाद कर सकता है। इस प्रकार काश्तकार इस बात की घोषणा प्राप्त कर सकता है कि वह, काश्तकार है और वह विनिर्दिष्ट क्षेत्र में भू-धृति के भूखण्डों या स्वामियों के काश्तकार के रूप में रह रहा है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि घोषणा के लिए वाद उस दशा में नहीं हो सकता जबकि कोई पक्षकार यह निवेदन करे कि दूसरे पक्षकार ने अस्तित्वहीन दस्तावेज का प्रयोग किया है और वह यह घोषणा चाहता है कि वह उक्त भूमि का अधिकारवान् काश्तकार है। अपरंच प्रस्तुत मामले में कब्जे का अनुतोष तथा अन्य आनुषंगिक अनुतोष भी मांगे गए हैं। मैंने वाद पत्र (प्रदर्श 1) की प्रति का अनुशीलन कर लिया है। वाद पत्र के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि वादी प्रत्यर्थी सं० 3 यह निवेदन करना चाहता है कि प्रस्तुत पिटीशनर के पक्ष में कोई भी विक्रय-विलेख निष्पादित नहीं किया गया है। प्रार्थित अन्य अनुतोष कब्जे तथा नुकसानी के लिए हैं। इस प्रकार मुख्य अनुतोष कब्जे के सम्बन्ध में है और यह मामला मात्र घोषणा का नहीं है। वादी को कब्जा देने के लिए काश्तकारी के वर्ग का अवधारण करना होगा। काश्तकारी के वर्गों तथा काश्तकारी के अधिकारों का अवधारण केवल राजस्व न्यायालय ही कर सकता है और इस सम्बन्ध में सिविल न्यायालय को कोई अधिकारिता नहीं होती। अतः काश्तकारी के वर्ग का अवधारण तथा काश्तकारी के अधिकार का अवधारण कब्जे के सम्बन्ध में मुख्य अनुतोष देने से पूर्व अवश्य ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार मुख्य अनुतोष कब्जे के सम्बन्ध में है और उस प्रयोजन के लिए आनुषंगिक अनुतोष काश्तकार के अधिकार का अवधारण है। वादी के अधिकार का अवधारण – इस तथ्य का अवधारण है कि कौन भूधारक है और कौन राज्य का काश्तकार है, सभी प्रयोजनों के लिए आवश्यक है और घोषणा के पश्चात् ही कब्जा दिया जा सकता है। यदि कोई पक्षकार कब्जे के सम्बन्ध में अनुतोष चाहता है और घोषणा के सम्बन्ध में कोई प्रार्थना नहीं करता है तो सिविल न्यायालय को कोई भी अधिकारिता नहीं होती है। प्रस्तुत मामले में काश्तकारी के अधिकार पर कब्जे के अधिकार के अवधारण के प्रयोजन के लिए काश्तकारी के अधिकार के अवधारण का प्रश्न आवश्यक है और इस प्रयोजन के लिए भी मुख्य अनुतोष कब्जे का है। कोई पक्षकार इस बात की घोषणा चाह सकता है कि निष्पादित दस्तावेज शून्य है। पक्षकार यह भी प्रार्थना कर सकता है कि दस्तावेज रद्द कर दिया जाए। किन्तु कोई पक्षकार ऐसे दस्तावेज का रद्दकरण नहीं चाह सकता, जो उसके अनुसार

अस्तित्व में ही नहीं है।

6. पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री एस० एन० शर्मा की यह दलील है कि दस्तावेज को शून्यकरणीय समझा जाना चाहिए। किसी दस्तावेज की शून्यकरणीयता का प्रश्न केवल तभी उठता है, जब दस्तावेज के अस्तित्व का प्रश्न स्वीकार कर लिया जाए। प्रस्तुत मामले में वादी प्रत्यर्थी सं० 3 का निवेदन है कि उसने सम्बद्ध दस्तावेज निष्पादित नहीं किया है। अतः उस दस्तावेज की शून्यता या शून्यकरणीयता का प्रश्न उठता ही नहीं। यहां अंतर्वलित प्रश्न यह है कि क्या दस्तावेज का निष्पादन किया गया है अथवा नहीं और यदि दस्तावेज निष्पादन सम्बद्ध पक्षकार द्वारा नहीं किया गया है तो दस्तावेज प्रारम्भतः अस्तित्वहीन है और कोई भी यह प्रार्थना नहीं कर सकता कि प्रारम्भतः अस्तित्वहीन दस्तावेज को रद्द किया जाए। प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री बी० आर० अरोड़ा ने हमारा ध्यान **संग्राम सिंह** बनाम **रूप लाल**[1] के प्रति आकर्षित किया है जिसमें न्या० पी० एन० सिंघल (जैसे कि वे उस समय थे) ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "वादी और उसके पिता वादगत भूमि के काश्तकार थे। स्वयं वादी का यह पक्षकथन था कि विक्रय संपूर्णतः शून्य था। अतः मात्र सारवान अनुतोष जिसकी उसने मांग की वह कब्जे का परिदान इस आधार पर था कि उन्हें कब्जा लेने से विक्रय के आधार पर निवारित किया गया था, यद्यपि कि वह और उसके पिता भूरा लाल विक्रय से पूर्व वादगत भूमि पर नियुक्ततः स्वामी के रूप में काबिज थे अतः मामला राजस्थान भूधृति अधिनियम, 1955 की धारा 187 की परिधि के अंतर्गत आता था क्योंकि वादी का यह दावा था कि उसे आक्षेपित विक्रय के कारण अपनी भूमि का कब्जा लेने से निवारित किया गया था।"

पिटीशनर की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री एस० एन० शर्मा ने मेरा ध्यान **श्याम कुमार** बनाम **बुध सिंह**[2], **बद्री लाल** बनाम **मोदा**[3] तथा **गुरचरण सिंह** बनाम **गुरदयाल कौर**[4] के प्रति आकर्षित किया है। इन सभी मामलों में अधिकथित प्रतिपादनाएं एक ही निष्कर्ष पर पहुंचती हैं और

---

[1] 1977 वीकली ला नोट्स (यू० सी०) 454.

[2] 1977 राजस्थान ला वीकली 131.

[3] ए० आई० आर० 1979 राजस्थान 142.

[4] ए० आई० आर० 1962 राजस्थान 91.

पिटीशनर और प्रत्यर्थी के अलावा निर्वाचन लड़ने वाले अन्य 9 उम्मीदवार थे। इस बात की ओर संकेत किया गया है कि पिटीशनर को 12085 मत प्राप्त हुए थे जबकि प्रत्यर्थी को 15384 मत मिले। अन्य अभ्यर्थियों द्वारा प्राप्त मतों का ब्यौरा देने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्यर्थी को निर्वाचन में सफल अभ्यर्थी के रूप में घोषित किया गया था। पिटीशनर ने प्रत्यर्थी के निर्वाचन को मुख्यतः इस आधार पर चुनौती दी है कि प्रत्यर्थी ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 123 की उपधारा (1)(क) और (ख) के अधीन यथा परिभाषित रिश्वत का भ्रष्ट आचरण अपनाया था। निर्वाचन अर्जी में भ्रष्ट आचरण के उदाहरण भी दिए गए हैं।

3. पक्षकारों के अभिवचनों पर निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए गए थे:—

"(1) क्या पिटीशन में सारवान तथ्यों और पूर्ण विशिष्टियों का अभाव है? यदि ऐसा है तो इसका क्या प्रभाव है?

साबित करने का भार प्रत्यर्थी पर।

(2) क्या पिटीशन के साथ संलग्न किया गया शपथ-पत्र विधि के अनुसार संगत नहीं है। यदि ऐसा है तो इसका क्या प्रभाव है?

साबित करने का भार प्रत्यर्थी पर।

(3) क्या पिटीशन विधि के अनुसार सत्यापित नहीं किया गया है? यदि ऐसा है तो इसका क्या प्रभाव है?

साबित करने का भार प्रत्यर्थी पर।

(4) क्या निर्वाचन अर्जी के पैरा 4 (क) से 4 (ढ) तक में अंतर्विष्ट अभिकथनों से लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 में यथा परिभाषित भ्रष्ट आचरण गठित होता है?

साबित करने का भार प्रत्यर्थी पर।

(5) क्या पिटीशनर ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम और उसके नियमों के अधीन यथा अपेक्षित विधि और नियमों के उपबन्धों का अनुपालन नहीं किया है? यदि ऐसा है तो इसका क्या प्रभाव है?

साबित करने का भार प्रत्यर्थी पर।

(6) क्या प्रत्यर्थी ने विकास खण्ड अधिकारी नूरपुर के माध्यम से वैवेकिक अनुदान का वितरण करके रिश्वत का भ्रष्ट आचरण किया है, जैसा कि पिटीशन के पैरा 4 (i) और (ii) में अभिकथित किया गया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(7) क्या प्रत्यर्थी ने पिटीशन के पैरा 4 (ख) में उल्लिखित व्यक्तियों को वृद्धावस्था पैंशन का वितरण करके रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(8) क्या प्रत्यर्थी ने पिटीशन के पैरा 4 (ग) में उल्लिखित व्यक्तियों को वृद्धावस्था पैंशन दिलाने के लिए वचन देकर भ्रष्ट आचरण को अपनाया है ?

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(9) क्या प्रत्यर्थी ने चैमरा परियोजना में नियोजित दानी ग्राम के 100 लड़कों को लेने का वचन देकर भ्रष्ट आचरण को अपनाया है, जैसाकि पिटीशनर के पैरा 4 (घ) में अभिकथित किया गया है ?

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(10) क्या प्रत्यर्थी ने अभिकथित रीति में पिटीशन के पैरा 4(ङ) में उल्लिखित व्यक्तियों को पट्टों का वितरण करके रिश्वत का भ्रष्ट आचरण अपनाया है ?

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(11) क्या प्रत्यर्थी ने तीन औषधालयों (डिस्पेंसरियों) को प्रारम्भ करने में स्वास्थ्य विभाग के राजपत्रित अधिकारियों की मदद लेकर रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है जैसा कि पिटीशन के पैरा 4 (च) में अभिकथित किया गया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(12) क्या प्रत्यर्थी ने पांच बालवाड़ियों को खोलकर रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है जैसा कि पिटीशन के पैरा 4(छ) में अभिकथित किया गया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(13) क्या प्रत्यर्थी ने पिटीशन के पैरा 4(ज) में उल्लिखित स्थानों पर विद्यालयों को खोलकर राजपत्रित अधिकारियों की सहायता लेकर रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(14) क्या प्रत्यर्थी ने पानी के नल लगवाकर रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है जैसा कि पिटीशनर के पैरा 4 (ङ) और (ट) में

उल्लिखित किया गया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(15) क्या प्रत्यर्थी ने सरकार की सेवा में नियुक्त व्यक्तियों और प्रतिषिद्ध वर्ग से सम्बद्ध व्यक्तियों की सहायता अभिप्राप्त करके रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है और क्या उसने निर्वाचन के दौरान सरकारी कार सं० एच० पी० एस० 3503 का प्रयोग किया है। जैसा कि पिटीशन के पैरा 4(ङ) में अभिकथित किया गया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(16) क्या प्रत्यर्थी ने निर्धन छात्रों की सहायता के लिए धन राशि वितरित करके रिश्वत के भ्रष्ट आचरण को अपनाया है जैसा कि पिटीशन के पैरा 4 (ढ) में अभिकथित किया गया है।

साबित करने का भार पिटीशनर पर।

(17) अनुतोष।"

4. विवाद्यक विरचित करने के पश्चात् प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री एच. एस. दोआबिया द्वारा यह दलील दी गई थी कि साक्ष्य अभिलिखित करने से पूर्व वह न्यायालय से प्रारम्भिक आक्षेपों के बारे में निवेदन करेगा। उसके अनुसार विवाद्यक सं० 1 से 5 को प्रारम्भिक विवाद्यक समझा गया है। पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल ने उपर्युक्त प्रारम्भिक विवाद्यकों पर दलील दी। इन दलीलों की सुनवाई कुछ दिनों तक की गई। उन्होंने विस्तृत लिखित तर्क भी प्रस्तुत करने के लिए सहमति प्रकट की। प्रत्यर्थी के विद्वान काउन्सेल ने 30 मार्च, 1983 को लिखित तर्क प्रस्तुत किए किन्तु पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने पिटीशनर की ओर से लिखित तर्क फाइल करने के लिए समय मांगा। अंततः 8 जून, 1982 को पिटीशनर की ओर से लिखित तर्क फाइल किए गए।

5. प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल की मुख्य दलील यह है कि पिटीशन में सारवान तथ्य और विशिष्टियां नहीं हैं और उस कारण निर्वाचन अर्जी खारिज की जा सकती है। पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेल के तर्कों को समझने के लिए तत्काल संदर्भ के लिए निर्वाचन अर्जी में दिए गए विवरणों को पुनः उद्धृत करना वांछनीय होगा—

"4 (क)..............

(i) यह कि प्रत्यर्थी मुख्य मंत्री श्री राम लाल की अध्यक्षता में कांग्रेस-इ द्वारा बनाए गए मंत्री-मंडल में वर्ष 1980 में राजस्व, पर्यटन और निर्वाचन विभाग का प्रभारी मंत्री हो गया था। प्रत्यर्थी

2. श्री मुन्शी राम सुपुत्र श्री महतू राम निवासी गांव तेलन डाकखाना कुखेर

3. श्री पुन्नू राम सुपुत्र श्री बतोलू निवासी गांव थेरा बैलून

4. श्री विक्रम सिंह सुपुत्र श्री भिकम सिंह निवासी गांव रतील।

(घ) यह कि 14 मई, 1982 को प्रत्यर्थी गांव थैर और गांव दानी पहुंचा और उसने एक बैठक को सम्बोधित किया और उनको बताया कि यदि वे उसके लिए मत देंगे वह उनके गांव से कम से कम 100 लड़कों को केन्द्रीय सरकार मे ऊर्जा राज्य मंत्री श्री विक्रम महाजन के माध्यम से चमेरा परियोजना में रोजगार दिला देगा।

(ङ) यह कि हिमाचल प्रदेश में भूमिहीन लोगों को 10 कनाल 11 मरला तक भूमि आबंटित करने की एक स्कीम है जो कि लगभग 1 मानक एकड़ के बराबर है। भूमि का उपर्युक्त वितरण राजस्व विभाग द्वारा किया जाता है जिसका कि प्रत्यर्थी प्रभारी मंत्री है। भूमिहीन व्यक्ति को हिमाचल प्रदेश गांव शामलात भूमि निहित और उपयोग अधिनियम, 1974 की धारा 2 की उपधारा (ग) के अधीन निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है।

> *"(ग) 'भूमिहीन व्यक्ति' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जिसके पास कृषि के प्रयोजन के लिए भूमि नहीं है चाहे वह स्वामी या किराएदार के रूप में हो और वह प्रधानतः अपनी भूमि पर शारीरिक श्रम द्वारा अपनी जीविका अर्जित करता है और कृषि का व्यवसाय करता है और व्यक्तिगत रूप से भूमि को जोतने में समर्थ है।"

ऐसे व्यक्तियों को भूमि एक मानक एकड़ की सीमा तक आबंटित की जाती है और उसकी कमी को अतिशेष भूमि आवंटित करके पूरी की

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

"C. Landless person means a person who holding no land for agricultural purposes, whether as an owner or a tenant, earns his livelihood principally by manual labonr on land and intends to take a profession of agriculture and is capable of cultivating the land personally."

जाती है। प्रत्यर्थी ने उत्प्रेरण के रूप में और नियमों और विधि का घोर उल्लंघन करके निम्नलिखित व्यक्तियों को निर्वाचन के दौरान उनके नाम के सामने दिए गए गांवों में भूमि के सम्बन्ध में पट्टे वितरित किए थे। यह निवेदन है कि ये भूमियां अनेक व्यक्तियों को उत्प्रेरणा या इनाम या रिश्वत के रूप में प्रत्यर्थी के लिए मत देने और उसके विरोधियों के लिए मत न देने के लिए दी गई थी। पट्टे निर्वाचन कार्यक्रम के दौरान अनेक गांव में प्रत्यर्थी द्वारा व्यक्तिगत रूप से वितरित किए गए थे अर्थात् 24 अप्रैल, 1982 से 18 मई, 1982 तक। ब्यौरा नीचे दिया गया है। पट्टे ग्राम पंचायत रामपाला में भलेटा और कैथील गांव में वितरित किए गए थे।

1. …………

(12 व्यक्ति)

यह निवेदन किया जाता है कि उपर्युक्त सभी व्यक्ति भूमि को मंजूरी के लिए हकदार नहीं थे क्योंकि वे अविभक्त कुटुम्ब के सदस्य हैं और भूमि के स्वामी हैं यद्यपि राजस्व अभिलेखों में भूमि के स्वामी के रूप में उनके पिता का नाम अभिलिखित किया गया है। ऊपर उल्लिखित व्यक्ति यदि अपनी पैतृक भूमि के विभाजन का दावा करते हैं तो वे विहित सीमा से अधिक क हकदार होंगे। किन्तु यह अनियमितता और अवैधता उपर्युक्त व्यक्तियों को मात्र उत्प्रेरणा और इनाम के रूप में निर्वाचन में प्रत्यर्थी के लिए मत देन क लिए की गई थी और इससे शक्ति का अवैध प्रयोग किया गया था और उचित जांच करके मंजूरी न देने में भी अनियमितता बरती गई था जैसा की विधि के उपबन्धों के अधीन विहित है।

(च) यह कि प्रत्यर्थी ने राजपत्रित अधिकारियों की अवैध रूप से सहायता ली अर्थात् निर्वाचन के दौरान अपने निर्वाचन क्षेत्र में तीन औषधालयों को शुरू करने में चिकित्सा विभाग के राजपत्रित अधिकारियों और शक्ति का दुरुपयोग करके उसके लिए मत देने के लिए अपने घटक के लोगों के लिए उत्प्रेरणा या परितोषण भी दिया किन्तु उन औषधालयों का खोलना नियमों और इसके पश्चात् उल्लिखित रीति के घोर उल्लंघन में था। निम्नलिखित औषधालय खोले गए थे :—

1. चिकित्सा औषधालय हटली, जामवालान।
2. चिकित्सा औषधालय, ओंडी।

जोर दिया गया कि अत्यल्प साक्ष्य या एक भी प्राख्यान इस बारे में नहीं कि सौदेबाजी का कोई तत्त्व था। प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल के अनुसार पिटीशन में यह अभिकथित नहीं किया गया है कि उन विशिष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क किया गया था जिन्हें कोई वचन दिए गए थे या कोई परितोषण प्रस्थापित किया गया था। अंततः यह दलील दी गई कि निर्वाचन अर्जी में किए गए अनेक अभिकथनों में सारवान् तथ्य की कमी है।

9. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री छबीलदास ने प्रत्यर्थी की ओर से उठाई गई दलीलों का जोरदार विरोध किया। उसके द्वारा इस बात की ओर संकेत किया गया कि विनिश्चय के लिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या पिटीशन में पूर्ण वाद हेतुक दर्शित होता है या नहीं। उसके अनुसार सारवान विशिष्टियों और भ्रष्ट आचरण को गठित करने के लिए सारवान् तथ्यों के बीच में काफी अंतर है। यदि सारवान् तथ्यों का अभाव है तो निश्चय ही कोई सम्पूर्ण वाद हेतुक नहीं है। किंतु यदि विशिष्टियों का अभाव है तो न्यायालय उसके लिए हमेशा कह सकता है। उसने **बेली राम** बनाम **जे० बी० एल० खच्ची**[1] वाले मामले में विनिश्चय को निर्देशित किया है। इस विनिश्चय के आधार पर यह दलील दी गई कि पिटीशन सारवान् विशिष्टियों के अभाव में खारिज नहीं किया जा सकता और यह कि उनकी मांग की जा सकती है। इसके अतिरिक्त विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि यह बात बिल्कुल ही गलत है कि हित का साधारण कार्य या वैवेकिक अनुदान का वितरण रिश्वत की कोटि में तब तक नहीं आएगा जब तक किसी प्रकार की कोई सौदेबाजी नहीं दर्शाई जाती। उन्होंने यह दर्शित करने का प्रयास किया है कि **घासी राम** बनाम **दल सिंह**[2] वाले मामले में विनिश्चय का प्रभाव प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल द्वारा उचित रूप से अर्थान्वयन नहीं किया गया है। इस बात की ओर संकेत किया गया कि उस मामले में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों ने इस बात की ओर विशिष्ट रूप से संकेत किया था कि यदि ऐसा साक्ष्य है कि मंत्री ने मतों के लिए प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से कोई आयोजन किया चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो किन्तु ऐसा कोई साक्ष्य नहीं था। ओम प्रभा वाले उपरोक्त मामले में विनिश्चय पर विचार करते हुए उन्होंने निर्णय के पैरा 12 को निर्देशित किया है। उक्त पैराग्राफ को तत्काल संदर्भ के लिए निम्न रूप में पुनः उद्धृत किया जा सकता है :—

"अब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या इस मामले की

---

[1] आई० एल० आर० 1972 हिमाचल प्रदेश 264.

[2] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1191.

परिस्थितियों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है कि अनुदान किए जाने से पूर्व किसी प्रकार की सौदेबाजी अवश्य रही होगी और यह कि यह सौदेबाजी अपीलार्थी की अभ्यर्थिता का समर्थन करने के लिए मतदाताओं को उत्प्रेरित करने के उद्देश्य से की गई थी। घासीराम बनाम दल सिंह और अन्य, [1967 की सिविल अपील सं० 1632= आज (7-2-68) विनिश्चित] में, जिसमें इस न्यायालय का निर्णय आज सुनाया गया था, विशेष रूप से वैवेकिक अनुदानों के देने के मामले में भ्रष्ट आचरण सम्बन्धी विधि पर किया गया है और उसकी व्याख्या की गई है। उसमें यह बताया गया है कि मंत्री से अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में प्रशासन के कुछ ऐसे कार्य करने की अपेक्षा की जा सकती है जिसमें कतिपय समुदायों की समुन्नति के लिए धन का अनुदान करना शामिल है और मंत्री के इस कार्य का अर्थ उसके विरुद्ध तब तक नहीं लगाया जाना चाहिए जब तक यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि निर्वाचन में उनकी (मतदाताओं की) सहायता प्राप्त करने के लिए मतदाताओं के साथ सौदेबाजी की गई थी। चूंकि इस मामले में मौखिक साक्ष्य लगभग अविद्यमान है, इसलिए हमें परिस्थितियों पर इस दृष्टि से विचार करना होगा कि क्या अपरिहार्य रूप से यह निश्चय, जिस पर उच्च न्यायालय पहुंचा है, किया जा सकता है।"

इसी प्रकार विद्वान् काउन्सेल ने मोहन लाल वाले उपरोक्त मामले में विनिश्चय के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्होंने उक्त निर्णय के पैरा 57 को निर्दिष्ट किया है। उसका सुसंगत भाग निम्न प्रकार पुनः उद्धृत किया गया है :—

"……प्रत्यर्थी की ओर से यह कहा गया है कि यदि मंत्री निर्वाचन से पूर्व सड़कें बनवा कर या नल लगवा कर या गन्दी नालियों या गड्ढों को पाट कर लोक व्यथाओं को दूर करते हैं और तद्द्वारा लोक या समाज की सेवा करते हैं, तो इन कामों को दान या परितोषण की प्रस्थापना या वचन नहीं माना जा सकता। किसी निरपेक्ष प्रस्थापना का अधिकथन कठिन है। मामूली तौर से लोक-व्यथाओं को दूर करने वाले कार्य अनपकारी प्रतीत होते हैं। किंतु यदि यह उपदर्शित करने के लिए साक्ष्य हो कि किसी निर्वाचन में अभ्यर्थी ने सरकार के अधीन मंत्री होने के नाते अपनी शक्तियों एवं प्रास्थिति का दुरुपयोग करके जनता के मतों को प्राप्त करने के प्रयोजन से उसके किसी विशिष्ट ग्रुप को फायदा या लाभ पहुंचाने के लिए लोक राजस्व का प्रयोग किया है तो निश्चय ही

> इससे अन्य बातें पैदा होंगी। न्यायालय न केवल अभ्यर्थियों के आचरण पर चौकसी रखने एवं उनके शील को अपमानित होने से बचाने के लिए ही सतर्क रहता है, वरन् वह यह भी देखता है कि जनता का शील एवं आचरण अभ्यर्थियों के भ्रष्ट उद्देश्यों या दूषित प्रयोजनों द्वारा प्रदूषित न होने पाएं। एक ओर तो अभ्यर्थियों के अकृत्रिम एवं सद्भाविक उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं को संरक्षित करना होता है और दूसरी ओर शक्ति के असद्भाविक दुरुपयोग एवं दर्प को तिरस्कृत करना होता है।"

किन्तु इस निर्णय में इसके अतिरिक्त यह मत व्यक्त किया गया कि इस बात का पता लगाना है कि क्या प्रत्यर्थी ने कोई ऐसा कार्य किया था जो कि मतदाताओं के साथ निर्वाचन के बारे में सौदेबाजी करने की दृष्टि से साधारण कार्य को गठित कर सकता है।

10. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि यह आवश्यक नहीं है कि रिश्वत की प्रस्थापना का प्रतिग्रहण होना चाहिए और यह कि रिश्वत की प्रस्थापना सौदेबाजी के रूप में पर्याप्त है और उसका प्रतिग्रहण आवश्यक नहीं है। उन्होंने **मोहन सिंह लक्ष्मण सिंह** बनाम **भंवरी लाल राज मल नाहटा और अन्य**[1] वाले मामले में विनिश्चय को निर्देशित किया है। इसके अतिरिक्त इस बात की ओर संकेत किया गया कि **मंगल लाल बागड़ी** बनाम **हरि विष्णु कामत**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों द्वारा ऐसा ही मत अपनाया गया था। मोहन सिंह वाले उपरोक्त मामले में यह मत व्यक्त किया गया कि यह आवश्यक है कि कोई परितोषण यदि उम्मीदवार द्वारा प्रस्थापित किया भी जाता है तो वह पर्याप्त नहीं है किंतु यह अनिवार्य है कि प्रस्थापना के निबंधनों के अनुसार परितोषण को प्राप्त करने के लिए उस व्यक्ति की सहमति भी हो।

11. मैंने पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों की दलील पर विचार किया है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, प्रत्यर्थी की मुख्य दलील यह है कि अभिकथित भ्रष्टाचार के संबंध में पिटीशन में सारवान् तथ्यों और विशिष्टियों की कमी है। इसके अतिरिक्त यह दलील दी गई कि अभिकथन अस्पष्ट हैं और अभिकथित भ्रष्ट आचरण की तारीख, स्थान और रीति भी नहीं दी गई है। इस बात पर भी जोर दिया गया कि निर्वाचन अर्जी को कायम रखने के लिए कसौटी

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एम० पी० 137.

[2] 1958 इलैक्शन लॉ रिपोर्ट 205 जिल्द 15.